Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय सांस्कृतिक विकास

(१५०० - १९४७)

2016

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या..... आगत संख्या.....

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRESENTATION COPY

With best compliments

To Shri Arya Vaidya

By The Author & The Publishers.

K. N. Gupta

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय सांविधानिक विकास

(१७७३ – १९४७)

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त
अपने संग्रह 9076

लेखक
प्रोफेसर ज्योति प्रसाद सूद, एम. ए.,
भूतपूर्व अध्यक्ष, राज्य विज्ञान विभाग,
मेरठ कालिज, मेरठ

लेखक की अन्य रचनायें

History of Political Thought, Vol. I, Ancient and Medieval, Vol. II, From Machiavelli to Burke, Vol. III, From Bentham to Marx and Vol. IV, Recent Times (all in English and Hindi); Elements of Political Science (English and Hindi); Government of Great Britain (English and Hindi); Governments of U. S. A., U. S. S. R. and Switzerland (English and Hindi); Government of France (English and Hindi); The Development of Indian Constitution and National Movement (English and Hindi); Introduction to Civic Life and Administration (English and Hindi) etc.

अनुवादक—
गंगा प्रसाद गर्ग, एम. ए.,
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
वैश्य डिगरी कॉलिज, शामली।

जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी
पुस्तक प्रकाशक, मेरठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक—
कान्ति नाथ गुप्ता,
व्यवस्थापक,
जयप्रकाश नाथ एण्ड क०,
मेरठ।

प्रथम हिन्दी संस्करण
१९६१
सर्वाधिकार लेखक के पास सुरक्षित
मूल्य १०) रु०

मुद्रक—
निष्काम प्रेस,
मेरठ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो शब्द : अनुवादक की ओर से

प्रस्तुत ग्रंथ मेरे परम पूज्य गुरु प्रोफ़ेसर ज्योति प्रसाद सूद की कृति 'Indian Constitutional Development' का अनुवाद है। यह १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट से लेकर १९४७ के भारतीय स्वाधीनता अधिनियम तक भारत के सांविधानिक विकास की कहानी है। १८५८ के उपरान्त हमारे सांविधानिक विकास पर हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का गहरा प्रभाव पड़ा, इसलिये उसका एक संक्षिप्त विवरण भी इसमें देना आवश्यक ही था। इस रचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें उन समस्त शक्तियों और कारकों की विवेचना की गई है जिन्होंने कि ब्रिटिश संसद को भारत की शासन व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न अधिनियमों को बनाने के लिये प्रेरित अथवा विवश किया।

लेखक की इच्छा प्रस्तुत रचना में *भारतीय गणराज्य* के संविधान को भी सम्मिलित कर देने की थी। किन्तु कई कारणों से उन्हें इस विचार का परित्याग करना पड़ा। अब भारत का नवीन संविधान एक अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित होगा। आशा है कि वह शीघ्र ही विद्यार्थियों के समक्ष रख दिया जायेगा।

इस ग्रंथ में बहुत सा भाग लेखक की एक अन्य पुस्तक 'Indian Constitutional Development and National Movement', जोकि मुख्यरूप से बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई थी, में से लिया गया है। १९१९ तथा १९३५ के भारत सरकार अधिनियमों को तो प्रायः मूल रूप में ही उसमें से ले लिया गया है। (उस पुस्तक का अनुवाद 'भारतीय सांविधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन' के रूप में मेरे एक आदरणीय शिक्षक प्रो० सूर्यकान्त शर्मा कर चुके थे। प्रस्तुत रचना में पहली पुस्तक में से जो कुछ लिया गया है वह प्रो० शर्मा का ही अनुवाद है; मैंने तो केवल नवीन सामग्री के साथ संगति स्थापित करने के लिये ही उसमें एकाध जगह शाब्दिक परिवर्तन किया है। इसलिये भाषा-प्रवाह में कुछ विभिन्नता आ जानी स्वाभाविक ही थी।)

हिन्दी में राज्य विज्ञान सम्बन्धी टेक्नीकल शब्दावली में बड़ा मत-वैभिन्य है; एक एक शब्द के लिये कई कई पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग राजनीति शास्त्र पर हिन्दी में रचना करने वाले लेखक कर रहे हैं। मैंने सभी ऐसे पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है जोकि काफ़ी प्रचलित हो चुके हैं। इससे पाठकों को जो कठिनाई हो सकती थी उसे अंग्रेज़ी के मूल शब्दों को देकर मैंने दूर करने का प्रयास किया है। प्रो० सूद की बृहद कृति 'A History of Political Thought' (चार भाग) के अनुवाद में भाषा का मैंने जो स्तर रक्खा था, प्रस्तुत रचना में उसकी अपेक्षा भाषा को काफ़ी सरल बनाने की चेष्टा की है।

आशा है कि यह पुस्तक राज्य विज्ञान के स्नातकोत्तर (Post-graduate) कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये तथा सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

गंगाप्रसाद गर्ग
अध्यक्ष, राज्य विज्ञान विभाग,
वैश्य कॉलिज, शामली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

भाग १

कम्पनी के अधीन भारत

अध्याय १. *ईस्ट इण्डिया कम्पनी* (व्यापार युग : १६००-१७६५) ३—१७

विषय प्रवेश : ३; विषय का विभाजन : ४; अंग्रेज़ों का आगमन : ४; कम्पनी का राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना : ६; कम्पनी के स्वरूप में परिवर्तन : १०; बंगाल में द्वैध शासन : ११; संसद द्वारा हस्तक्षेप की माँग : १४।

अध्याय २. *ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन* [संसदीय नियंत्रण का काल (१७७३-१८५८)] १८—६२

विषय प्रवेश : १८; (१) रेग्यूलेटिंग ऐक्ट, १७७३—ऐक्ट की मुख्य प्रस्थापनायें : १८; ऐक्ट के दोष : २२; ऐक्ट का सांविधानिक महत्व : २७; (२) १७८१ का संशोधन अधिनियम : २८; (३) पिट का भारत अधिनियम, १७८४— अधिनियम को पास कराने वाली परिस्थितियाँ : ३०; पिट के भारत अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाएँ : ३१; पिट के भारत अधिनियम का सांविधानिक महत्व : ३७; अधिनियम के दोष : ३७; १७८६ का व्यवस्थापन : ३८; (४) १७९३ और १८१३ के चार्टर अधिनियम— १७९३ का चार्टर अधिनियम : ३९; १७९३ तथा १८१३ के बीच व्यवस्थापन : ४०; १८१३ का चार्टर ऐक्ट : ४१; (५) १८३३ तथा १८५३ के चार्टर अधिनियम— १८३३ का चार्टर अधिनियम : ४५; १८३३ और १८५३ के बीच व्यवस्थापन : ५१; १८५३ का चार्टर ऐक्ट : ५२; १८५४ का अधिनियम : ५६; (६) प्रशासकीय यन्त्र का विकास : ५७।

अध्याय ३. *कम्पनी के शासन का अन्त* (१८५८ का भारत सरकार अधिनियम) ६३—७६

परिचयात्मक : ६३; पामर्स्टन का विधेयक : ६४; सिपाही विद्रोह : ६५; १८५८ का भारत शासन अधिनियम : ६९; १८५८ के अधिनियम का सांविधानिक महत्व : ७२; शाही प्रतिघोषणा : ७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग २

क्राउन के अधीन भारत

प्रतिनिधि संस्थाओं का अभ्युदय

(१८५८—१९१९)

अध्याय ४. *१८६१ का भारतीय परिषद् अधिनियम* ७९—८९

परिचयात्मक : ७९; १८६१ का भारतीय परिषद् अधिनियम—(अ) इसके कारण : ८०; (ब) अधिनियम की व्यवस्थायें : ८१; विधान परिषदों का स्वरूप : ८६; १८६१ और १८९२ के बीच में किये गये परिवर्त्तन : ८६; भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, १८६१ : ८७; भारत सरकार अधिनियम, १८७० : ८९।

अध्याय ५. *भारत परिषद् अधिनियम, १८९२* ९०—९८

विषय प्रवेश : ९०; भारत में परिवर्त्तन : ९०; १८९२ के अधिनियम का मूल : ९२; १८९२ के अधिनियम की व्यवस्थायें : ९५; अधिनियम का मूल्यांकन : ९७।

अध्याय ६. *भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति और विकास* ९९—१३१

विषय प्रवेश : ९९; कांग्रेस को जन्म देने वाले कारण : ९९; राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख कारण : १००— (i) धार्मिक जागृति : १००; (ii) पश्चिमी शिक्षा : १०४; (iii) : १०७; (iv) : १०७; (v) : १०७; (vi) : १०८; (vii) : १०९; (viii) राजनीतिक कारण : १०९; (ix) : ११३; (x) इलबर्ट बिल आन्दोलन : ११३; कांग्रेस का जन्म : ११५; कांग्रेस की स्थापना में ह्यूम का भाग : ११६; राष्ट्रीय महासभा का स्वरूप एवं उद्देश्य : ११८; उग्रवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव : १२१; उग्र दल : १२६; आतंकवादी आन्दोलन : १२८; मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद : १२९; सरकार का रवैया : १३०।

अध्याय ७. *भारतीय परिषद् अधिनियम, १९०९* १३२—१४५

विषय प्रवेश : १३२; अधिनियम की व्यवस्थायें : (१) विधान परिषदों का आकार : १३४; (२) परिषदों का निर्माण : १३४; (३) निर्वाचन सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त होना : १३५; (४) विधान परिषदों के कार्यों में वृद्धि : १३६; (५) और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) : १३६; (७) : १३७; मॉर्ले-मिन्टो सुधारों का मूल्यांकन : १३७; सुधारों के विफल होने के अन्य कारण : १४१; मॉर्ले-मिन्टो सुधारों के गुण : १४३; १९११ का भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम : १४४; दिल्ली दरबार : १४४।

अध्याय ८. *विश्व युद्ध का भारत पर प्रभाव* १४६—१५०

विषय प्रवेश : १४६; भारत तथा युद्ध : १४७; इंग्लैण्ड में युद्ध का प्रभाव : १४९; मेसोपटामिया की समस्या : १४९।

भाग ३

क्राउन के अधीन भारत

उत्तरदायी शासन का विकास

(१९१९ तथा १९३५ के अधिनियम)

अध्याय ९. *१९१९ का भारत सरकार अधिनियम* १५३—१८६

विषय प्रवेश : १५३; श्री मान्टेगु की प्रतिघोषणा : १५३; मांटेगु की भारत यात्रा : १५५; मान्ट-फोर्ड योजना : १५५; उदार संघ का जन्म : १५६; विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी नियम : १५९; १९१९ का भारत सरकार अधिनियम— अधिनियम की क्रान्तिकारी विशेषता : १६२; १९१९ के ऐक्ट की भूमिका : १६२; *भारत सरकार* (१९१९ के ऐक्ट के मातहत)— विषय प्रवेश : १६४; केन्द्रीय कार्यपालिका : १६४; गवर्नर-जनरल : १६५; केन्द्र के नियन्त्रण में ढील : १६७; गवर्नर-जनरल और भारत-मन्त्री : १६८; केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा : १६९; धारासभा की शक्तियाँ : १७१; दोनों सभाओं में संघर्ष : १७२; १९४७ तक की स्थिति : १७३; कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका सभा में सम्बन्ध : १७४; *प्रान्तीय शासन*— विषय प्रवेश : १७४; दोहरे शासन का अर्थ : १७५; मन्त्रीगण : १७६; मन्त्रियों का संयुक्त उत्तरदायित्व : १७७; कार्यकारिणी के सदस्य : १७८; कार्यपालिका के दो भागों में सम्बन्ध : १७८; गवर्नर : १७९; व्यवस्थापिका सभा : १८०; *गृह प्रशासन*— विषय प्रवेश : १८४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १०. *१९१९ के सुधारों का व्यावहारिक रूप* १८७—२००

विषय प्रवेश : १८७; सुधारों से पूर्व की राजनीतिक दशा : १८७; द्वैध शासन की समालोचना : १९१; द्वैध शासन प्रणाली की विफलता के कारण : १९२; सफलताएँ : १९८।

अध्याय ११. *राष्ट्रीय आन्दोलन : १९१९-१९३५* २०१—२५३

विषय प्रवेश : २०१; महात्मा गाँधी का प्रवेश : २०१; सत्याग्रह में उनके प्रथम परीक्षण : २०२; महात्मा जी सहयोगी के रूप में : २०२; महात्मा जी असहयोगी के रूप में : २०४; रॉलेट ऐक्ट और उसके उपरान्त : २०५; खिलाफत : २०८; कांग्रेस द्वारा असहयोग की स्वीकृति : २०९; असहयोग आन्दोलन : २१२; असहयोग आन्दोलन स्थगित : २१३; आन्दोलन का मूल्यांकन : २१४; स्वराज्य दल का जन्म : २१४; महात्मा गाँधी की रिहाई : २१८; साइमन कमीशन : २२०; साइमन रिपोर्ट : २२२; नेहरू रिपोर्ट : २२४; गाँधी जी ने फिर कांग्रेस का नेतृत्व संभाला : २२५; १९२८-२९ की घटनायें : २२७; लॉर्ड इरविन की घोषणा : २२७; पूर्ण स्वराज्य : २२९; सविनय अवज्ञा आन्दोलन : २३१; गोल मेज़ परिषद् : २३५; गाँधी-इरविंन समझौता : २३८; दिल्ली समझौते के बाद : २४०; द्वितीय गोल मेज़ परिषद् : २४१; सत्याग्रह पुनः प्रारम्भ : २४५; गाँधी जी का उपवास, पूना पैक्ट और उसके बाद : २४८; असेम्बली के चुनाव : २५१; तीसरी गोल मेज़ कान्फ्रेंस : २५१।

अध्याय १२. *१९३५ का भारत सरकार अधिनियम : संघ सरकार* २५४—२९९

विषय प्रवेश : २५४; अधिनियम की मूलभूत विशेषताएँ : २५४; शक्ति वितरण : २५६; भारतीय संघ योजना की विशेषताएँ : २५९; संघ शासन की स्थापना : २६२; संघ में रियासतों का प्रवेश : २६४; *संघ सरकार*— विषय प्रवेश : २६४; *संघीय कार्यपालिका*— गवर्नर जनरल : २६५; कार्यकारिणी शक्ति के प्रयोग के विभिन्न प्रकार : २६७; मन्त्रि-परिषद् : २६८; गवर्नर-जनरल की स्वविवेक-शक्तियाँ : २६९; गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व एवं अन्य शक्तियाँ : २७१; उपसंहार : २७४; महाधिवक्ता : २७५; निर्देश-पत्र : २७५;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संरक्षण व अभिरक्षण : २७६; *संघीय व्यवस्थापिका*— विषय प्रवेश : २७७; कौंसिल ऑफ स्टेट : २७७; हाउस ऑफ असेम्बली : २७८; सदस्यों की योग्यतायें व विशेषाधिकार : २८२; व्यवस्थापिका सभा की शक्तियाँ : २८२—(क) विधायक शक्तियाँ : २८२; (ख) राष्ट्रीय नीति का निर्धारण : २८३; (ग) वित्तीय शक्तियाँ : २८३; (घ) प्रशासन पर नियंत्रण : २८८; दोनों आगारों का सम्बन्ध : २८९; गवर्नर-जनरल और धारा सभा : २९०; व्यवस्थापिका सभा की शक्तियों पर प्रतिबन्ध : २९२; संविधान की विफलता की अवस्था में आयोजन : २९३; *संघीय न्यायालय*— संघीय न्यायालय की आवश्यकता : २९४; इसकी रचना : २९४; न्यायाधीशों की योग्यता : २९५; न्यायालय का अधिकार क्षेत्र : २९५; *संघीय रेलवे प्राधिकार*— विषय परिचय : २९७; *संघीय वित्त* : २९७; भारतीय संचित अधिकोष : २९८; उधार इत्यादि लेना : २९९।

अध्याय १३. *१९३५ का भारत सरकार अधिनियम : प्रान्तीय स्व-शासन एवं गृह शासन* ३००—३२८

विषय प्रवेश : ३००; प्रान्तीय स्व-शासन : ३००; *प्रान्तीय कार्यपालिका*— इसका स्वरूप एवं विस्तार : ३०२; गवर्नर : ३०२; गवर्नर की विवेक सम्बन्धी शक्तियां : ३०३; गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व : ३०४; मंत्रि-परिषद् : ३०६; *प्रान्तीय विधान मंडल*— इसकी रचना : ३०८; लेजिस्लेटिव कौंसिल का गठन : ३१०; लेजिस्लेटिव असेम्बलियों की रचना : ३११; संयुक्त प्रान्तीय धारासभा का गठन : ३१४; असेम्बली के लिए मताधिकार : ३१४; व्यवस्थापिका सभा के अधिवेशन व पदाधिकारी आदि : ३१५; शक्तियाँ व कृत्य : ३१५— (i) विधायक शक्तियाँ : ३१६; (ii) वित्तीय शक्तियाँ : ३१६; (iii) प्रशासन पर नियन्त्रण : ३१८; (iv) विचारात्मक शक्तियाँ : ३१८; विधायक प्रक्रिया : ३१९; गवर्नर और धारासभा : ३१९; गवर्नर की विधायक शक्तियाँ : ३२०; *अपवर्जित तथा आंशिक अपवर्जित क्षेत्र* : ३२१; *भारत की गृह सरकार*— विषय परिचय : ३२२, सपरिषद् भारत मंत्री : ३२२; भारत मन्त्री के सलाहकार : ३२४; भारत का हाई कमिश्नर : ३२५; ब्रिटिश संसद का नियंत्रण : ३२६; संविधान में संशोधन : ३२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १४. *प्रान्तीय स्वशासन का कार्यान्वित रूप* ३२९—३३७

विषय प्रवेश : ३२९; १९३७ के ग्राम चुनाव : ३२९; पद-ग्रहण पर विवाद : ३३१; कांग्रेस का पद-ग्रहण का निश्चय : ३३२; लीग के साथ गठ-बन्धन नहीं : ३३३; प्रान्तीय स्व-शासन का कार्यान्वित रूप : ३३४; कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों का त्याग-पत्र : ३३६; कूपलैंड की समालोचना : ३३६ ।

भाग ४

स्वराज प्राप्ति

अध्याय १५. *द्वितीय विश्व युद्ध तथा गतिरोध* ३४१—४०६

विषय परिचय : ३४१; युद्ध के प्रति कांग्रेस का रुख : ३४१; लीग का रुख : ३४४; कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र तथा तदुपरान्त : ३४४; पूना का सशर्त युद्ध-सहायता सम्बन्धी प्रस्ताव : ३४५; अगस्त-योजना : ३४६; व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा : ३४८; सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित : ३५०; क्रिप्स मिशन और उसके बाद : ३५०; बाद की घटनाएँ : ३५८; १९४२ का विप्लव : ३६१; महात्मा जी का उपवास : ३६२; महात्मा जी की रिहाई और उसके बाद : ३६४; राजगोपालाचारी की योजना : ३६५; फिलिप्स घटना : ३६६; वेवल-योजना व शिमला सम्मेलन : ३६६; शिमला सम्मेलन की असफलता के कारण : ३६९; शिमला सम्मेलन के बाद : ३७१; कांग्रेस चुनाव-घोषणा-पत्र : ३७२; निर्वाचन परिणाम : ३७२; एटली की घोषणा : ३७३; कैबिनेट-मिशन : ३७४; कैबिनेट-मिशन-योजना : ३७६; कैबिनेट-मिशन-योजना का मूल्यांकन : ३७९; योजना के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण : ३८२; लीग का दृष्टि-कोण : ३८२; कैबिनेट-मिशन का स्पष्टीकरण : ३८२; अन्तरिम सरकार के विषय में वाद-विवाद : ३८३; १६ जून की घोषणा : ३८४; कांग्रेस को १६ जून की योजना अस्वीकृत : ३८५; सिक्ख तथा अन्य वर्गों का मिशन के प्रति दृष्टिकोण : ३८६; मिशन-योजना के सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार : ३८७; राष्ट्रीय सरकार की स्थापना : ३८८; लीग की प्रतिक्रिया : सीधी कार्यवाही : ३८९; अन्तरिम सरकार में लीग का प्रवेश :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३९०; लीग तथा संविधान-परिषद: ३९१; उपसंहार: ३९२; लन्दन-सम्मेलन: ३९२; लन्दन-सम्मेलन पर कांग्रेस की प्रतिक्रिया: ३९४; संविधान-परिषद्: ३९४; ब्रिटेन का भारत छोड़ने का निश्चय: ३९५; लार्ड वेवल वापिस बुलाये गये: जून ३ की घोषणा: ३९७; देश का विभाजन अनिवार्य: ४०१; १९४७ का भारतीय स्वातन्त्र्य अधिनियम: ४०३; भारतीय राष्ट्रीयता का स्वरूप: ४०४।

अध्याय १६. *भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता* ४०७—४३५

विषय परिचय: ४०७; समस्या का स्वरूप: ४०७; साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति: ४०८; मुस्लिम लीग की स्थापना तथा अलग निर्वाचन क्षेत्र की माँग: ४११; मुस्लिम लीग: ४१२; लीग और कांग्रेस: ४१७; लीग और सरकार: ४२१; अन्य कारण: ४२३; पाकिस्तान की माँग: ४२३; अन्य साम्प्रदायिक संस्थाएँ: ४२६; हिन्दू महासभा: ४२७; राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ: ४२८; साम्प्रदायिक निर्णय: ४२९; एकता सम्मेलन: ४३२; साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की समाप्ति: ४३३; नवीन साम्प्रदायिकता: ४३३।

भाग ५

न्याय व्यवस्था का विकास, स्थानीय स्वायत्त शासन, इत्यादि

अध्याय १७. *न्यायिक व्यवस्था का विकास* ४३९—४४९

विषय प्रवेश: ४३९; न्यायालयों की दोहरी प्रणाली: ४३९; लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा किये गये सुधार: ४४१; लार्ड विलियम बेंटिक द्वारा किये गये सुधार: ४४२; उच्च न्यायालय: ४४३; १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत न्यायिक गठन: ४४५; अधीनस्थ न्यायालय: ४४५; ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत न्यायिक व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ: (१) जूरी प्रणाली: ४४६; (२) फौजदारी के मुकदमों में यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजन की विशिष्ट स्थिति: ४४७, (३) न्यायिक तथा कार्यपालिक कार्यों का सम्मिश्रण: ४४७, (४) अपील: ४४८।

अध्याय १८. *वित्तीय विकेन्द्रीकरण* ४५०—४५६

विषय प्रवेश: ४५०; १८७० तक की स्थिति: ४५०;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वित्तीय विकेन्द्रीकरण की ओर : ४५१; रॉयल कमीशन : ४५४; १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत वित्तीय सम्बन्ध : ४५५; १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत वित्तीय सम्बन्ध : ४५६।

अध्याय १९. *स्थानीय स्वायत्त शासन का विकास* ४५७—४६८

विषय प्रवेश : ४५७; पूर्व-ब्रिटिश भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएँ : ४५७; अंग्रेज तथा प्राचीन प्रणाली : ४५८; कम्पनी की सरकार द्वारा नगर तथा ग्राम परिषदों की स्थापना : ४५९; लार्ड मेयो का प्रस्ताव : ४६०; स्थानीय स्वशासन पर लार्ड रिपन का प्रस्ताव : ४६०; विकेन्द्रीकरण आयोग की रिपोर्ट : ४६२; १९१८ का प्रस्ताव : ४६२; सारांश : ४६३; द्वैध शासन प्रणाली के अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन : ४६४; प्रान्तीय स्वायत्त शासन के काल में प्रगति : ४६४; स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रगति : ४६५; स्थानीय संस्थाओं के प्रकार : ४६५; स्थानीय संस्थाओं के कार्य : ४६६; स्थानीय संस्थाओं के ऊपर राज्य का नियंत्रण : ४६७।

अध्याय २०. *नागरिक सेवाओं का विकास* ४६९—४७६

विषय प्रवेश : ४६९; सबसे पहला युग : ४६९; अगला युग : ४७०; एचीसन कमीशन : ४७१; इंग्लैण्ड के साथ साथ भारत में प्रवेश परीक्षा करने का प्रस्ताव : ४७२; इस्लिंग्टन कमीशन : ४७२; मॉण्ट-फोर्ड रिपोर्ट की सिफारिशें : ४७३; ली कमीशन की सिफारिशें : ४७४; १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत सरकारी नौकरियाँ : ४७४; उपसंहार : ४७५।

अध्याय २१. *व्यवस्थापिका का विकास* ४७७—४८१

विषय प्रवेश : ४७७; प्रारम्भिक अवस्था में स्वतन्त्र व्यवस्थापिका का अभाव : ४७७; व्यवस्थापिका का विकास : ४७७; १९१९ के अधिनियम द्वारा नवीन तत्त्व का प्रवेश : ४७८; १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रगति : ४७९; व्यवस्थापिका के विकास की एक विलक्षण विशेषता : ४८०।

अध्याय २२. *भारतीय राज्य* ४८२—५११

विषय प्रवेश : ४८२; भारतीय राज्यों तथा कम्पनी के बीच सम्बन्ध : ४८३; रिंग-फेन्स नीति : ४८३; अधीनस्थ मैत्री की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति : ४८३; क्राउन तथा भारतीय राज्य : ४८५; सर्वोच्च सत्ता : ४८६; रियासतों पर नियंत्रण करने का यन्त्र : ४९०; रियासतों के सम्बन्ध में मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट : ४९१; नरेन्द्र मण्डल : ४९१; सर्वोच्च सत्ता के विषय में बटलर समिति : ४९२; रियासतों का प्रशासन : ४९४; रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए आन्दोलन : ४९४; रियासतें तथा क्रिप्स मिशन : ४९५; लॉर्ड वेवल का परामर्श : ४९६; केबिनेट मिशन तथा रियासतें : ४९६; सर्वोच्च सत्ता का अन्त तथा उसके बाद : ४९८; रियासतों का भारतीय संघ से मिलन : ४९९; सरदार पटेल की नीति : ५००; राजाओं का उत्तर : ५००; जूनागढ़ : ५०१; हैदराबाद : ५०१; काश्मीर : ५०४; विलय तथा एकीकरण : ५०६; रियासतों का लोकतन्त्रीकरण : ५०९।

चुने हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों एवं प्रकाशनों की सूची ५१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग १

कम्पनी के अधीन भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय १
ईस्ट इण्डिया कम्पनी

व्यापार युग : १६००–१७६५

विषय प्रवेश :— एक देश का संविधान कभी भी एक प्राणहीन और गतिहीन चीज़ नहीं होता; वह एक जीवित वस्तु होता है जिसका कि विकास होता है। यह गतिशील रहता है जो सदैव कुछ न कुछ भूत से वर्त्तमान में और वर्त्तमान से भविष्य में ले जाता रहता है। एक समय विशेष के संविधान को भली प्रकार समझने के लिये हमें अतीत की गहराइयों में गोता लगाना होगा और यह देखना होगा कि इसका किस प्रकार निर्माण हुआ और किस प्रकार उसने शनैः शनैः यह वर्त्तमान रूप धारण किया है। यदि हो सके तो हमें शासन व्यवस्था चलाने वाले लोगों की मानसिक प्रक्रिया को भी समझने का प्रयास करना चाहिये, क्योंकि उससे संविधान के समझने में सहायता मिलती है। किन्तु जो लोग एक देश के सांविधानिक इतिहास के मूल और विकास को जानना चाहते हैं, वे इस बात पर ध्यान नहीं देते। प्रस्तुत ग्रंथ में हम उस समय से लेकर जब कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी यहां व्यापार के लिए आई आज तक भारत के संविधान के विकास की कहानी लिखना चाहते हैं। यहां हमें अपने मस्तिष्क के क्षेत्र को इतना विस्तृत बनाने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन काल की हिन्दू शासन व्यवस्था और मध्य काल की मुस्लिम शासन पद्धति भी उसके क्रोड में आजाय। जो थाती हमें अपने अतीत से मिली है— यह एक बड़ी भव्य थाती है जिस पर कि कोई भी राष्ट्र गर्व कर सकता है— वह राजनीतिक होने की अपेक्षा सामाजिक और धार्मिक अधिक है। अपने अपने प्रभुत्व-काल में हिन्दुओं और मुसलमानों ने जिन राजनीतिक संस्थाओं को जन्म दिया था, वे सब भूत के गर्त में विलीन हो गई, आज वे किसी भी रूप में नहीं पाई जातीं। जब हमारे देश की शासन सत्ता अंग्रेज़ों के हाथों में आई तो उन्होंने उनकी पूर्ण रूप से अवहेलना और उपेक्षा की और अपने देश इंग्लैण्ड के अनुभव के आधार पर ही यहां की शासन व्यवस्था की रचना की। किन्तु सामाजिक थाती का अन्त वे न कर सके; वह चलती रही और ब्रिटिश युग में हमारे जीवन को प्रभावित करती रही, जैसा कि वह आज भी कर रही है। हमारी जाति प्रथा, हमारा सामाजिक पार्थक्य, हमारी दरिद्रता, हमारी निरक्षरता, हमारे पक्षपात और अन्धविश्वास इत्यादि सब ने मिलकर १८५७ से हमारे राष्ट्रीय संग्राम की धारा और संविधान के विकास को प्रभावित किया है। जो कोई भी हमारे आज के राजनीतिक जीवन की जटिलताओं को समझना चाहता है उसे उन सामाजिक और आर्थिक कारकों को ध्यान में रखना चाहिये जोकि सुदूर भूत से वर्तते रहे हैं। उनमें हम यहां नहीं जा सकते। हम तो यहां पर अंग्रेज़ों के आगमन से आरंभ करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय का विभाजन :— अंग्रेज़ी युग में संविधान के विकास को हम दो कालों में विभक्त कर सकते हैं: एक तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन और दूसरा 'क्राउन' (Crown) के अधीन। १८५८ इन दोनों की विभाजक रेखा है; वह पहिले युग के अन्त की और दूसरे युग के आरंभ की सूचना देता है। पहिले युग को दो भागों में बांटा जा सकता है; एक तो वह जोकि १६०० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्माण से १७६५ तक रहा जिसमें कि कम्पनी केवल एक व्यापारी संघ के रूप में रही, और दूसरा वह जोकि १७६५ में बक्सर के युद्ध में दिल्ली सम्राट् की सेनाओं को पराजित करके कम्पनी के राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के समय से आरम्भ हुआ। दूसरे भाग में ही कम्पनी के ऊपर ब्रिटिश संसद ने कुछ नियन्त्रण करना आरम्भ किया।

'क्राउन' द्वारा शासन काल को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहिला १८५८ से १९१९ तक रहा। इसे प्रतिनिधि संस्थाओं का युग कहा जाता है। इस युग में देश में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय और उत्थान हुआ। उस आन्दोलन से उत्पन्न हुई स्थिति का सामना करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने शासन व्यवस्था में कुछ विकेन्द्रीकरण किया और धारा सभायें स्थापित कीं जिनमें कुछ अंश जनप्रिय भी होता था और जिसकी संख्या में समय समय पर वृद्धि की गई, किन्तु भारत की जनता को शक्ति कभी नहीं दी गई। दूसरे युग में जाकर जोकि १९१९ के भारत शासन अधिनियम के बनने से आरंभ होता है, धीरे धीरे स्वशासन की स्थापना की जाने लगी। उस युग का अन्त १९४७ में हुआ जबकि भारत एक पूर्ण स्वशासी उपनिवेश बन गया। भारत एक सम्पूर्ण संप्रभुता-सम्पन्न लोकतंत्री गणतंत्र १९५० में बना।

इस अध्याय में हम भारत में अंग्रेज़ों के आगमन और देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शक्ति प्राप्त करने की चर्चा करेंगे। अगले अध्याय में हम कम्पनी के अधीन १७७३ से लेकर १८५८ तक संविधान के विकास का वर्णन करेंगे।

अंग्रेज़ों का आगमन :— भारत में पुर्तगाल, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के व्यापारियों के आने से पूर्व भारत तथा यूरोप के बीच व्यापार थल मार्ग के द्वारा होता था। व्यापारियों के काफिले भारत तथा सुदूर पूर्व के देशों की सामग्री— मसाले, धातु की वस्तुएं, हीरे जवाहरात, सिल्क का कपड़ा इत्यादि— भूमध्य सागर की ओर ले जाते थे जहां से कि वह सामान यूरोप के बाज़ारों में पहुँच जाता था। जेनेवा तथा वेनिस वितरण के मुख्य केन्द्र थे। तुर्कों तथा मंगोलों की लूटमार के कारण थल मार्ग असुरक्षित हो गया; कुछ समय के लिए तुर्की सरकार ने भी उसे रोक दिया। पुर्तगाली लोग, जिन्होंने कि सागर की नाविक कला सीख ली थी, भारत के लिए एक समुद्री मार्ग खोजना चाहते थे ताकि वे भारत तथा पूर्वी देशों के माल का केन्द्र लिस्बन को बना सकें। १५वीं शताब्दी के अन्त में वे आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) का चक्कर काटते हुए भारतीय महासागर को पार करके भारत के पश्चिमी किनारे पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँचने में सफल हो गए। अल्बूक़र्क़ तथा अल्मीडा के नेतृत्व में भारतीय महासागर पर उन्होंने अपना आधिपत्य जमा लिया, और सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों में से अधिकतर पर अपने दृढ़ और सुरक्षित अड्डे बना लिए। गोआ उनकी राजधानी थी। बड़े भारी आयपूर्ण भारतीय व्यापार पर डच लोग भी अधिकार जमाना चाहते थे, इसलिए वे पुर्तगालियों के घोर प्रतिद्वन्द्वी बन गए; किन्तु उनका मुख्य क्षेत्र मलाया आर्कीपिलागो था। भारत के अपार धन की कहानियों ने अंग्रेज़ों को भी आकृष्ट किया, और पुर्तगालियों की देखा देखी उन्होंने भी इस देश के लिये एक नया समुद्री मार्ग खोजने की चेष्टा की। परन्तु वे अपने इस उद्देश्य में सफल नहीं हुए, और रानी एलिज़ाबेथ के युग में इंग्लैण्ड की बढ़ती हुई समुद्री शक्ति से प्रोत्साहित होकर अन्त में उन्होंने आशा अन्तरीप से घूम कर आने वाले मार्ग को अपनाने का ही निर्णय किया। भारत तथा सुदूर पूर्व से व्यापार करने के ध्येय को लेकर लन्दन के कुछ साहसी व्यापारियों ने १५९९ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का निर्माण किया। १६०० के अन्तिम दिन रानी एलिज़ाबेथ ने इस कम्पनी को शाही परवाना (Royal Charter) प्रदान किया। उसने कम्पनी को पूर्व में व्यापार पर एकाधिकार और अपनी रक्षा के लिए सीमित सशस्त्र समुद्री शक्ति रखने का अधिकार दे दिया।

कम्पनी का एकमात्र उद्देश्य व्यापार था। इसके चार्टर और उत्तरी अमरीका में कार्य करने के लिये वर्जीनिया तथा अन्य कम्पनियों के चार्टरों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। अन्य कम्पनियों का उद्देश्य नवीन संसार (अमरीका) में भूमि पर अधिकार करना और उसके खनिज पदार्थों तथा कृषि के साधनों से लाभ उठाने के लिए अंग्रेज़ों को वहाँ बसाना था; किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी को केवल व्यापार तक ही सीमित रखना था, और व्यापार शांतिमय उपायों तथा रज़ामन्दी के साथ करना था, बल के द्वारा नहीं। कम्पनी ने सबसे पहिला कार्य यह किया कि उसने 'व्यापार बस्तियां' स्थापित करने और अपने कानूनों के अनुसार ही उनका प्रबन्ध करने की अनुमति लेने के लिए अपना एक दूत दिल्ली में मुग़ल सम्राट के दर्बार में भेजा। सर टॉमस रो ने, जिसे कि १६१५ में जेम्स प्रथम ने अपना राजदूत बनाकर दिल्ली जहांगीर के दरबार में भेजा था, ईस्ट इण्डिया कम्पनी को यह परामर्श दिया कि उसे पुर्तगालियों ने सैनिक शक्ति द्वारा भूमि पर अधिकार जमाने की चेष्टा करके, और डच लोगों ने तलवार के बल पर बस्तियां बसाने का प्रयास करके जो गलती की थी, वह नहीं करनी चाहिये। उसने कहा :— "तुम्हें सदैव इस नियम का पालन करना चाहिये कि यदि तुम लाभ उठाना चाहते हो तो उसे समुद्र पर और शांतिपूर्ण व्यापार में खोजो; क्योंकि यह एक निर्विवाद सत्य है कि भारत में सेनायें रखना और थल युद्ध करना एक ग़लती है।"

इसके बाद के सौ वर्षों में इस दूरदर्शितापूर्ण नियम का केवल एक बार उल्लंघन किया गया। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में सर जोसियाह चाइल्ड, मुख्य रूप से जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव के कारण इंग्लैण्ड में राजतन्त्र के पुनः स्थापित हो जाने पर कम्पनी को राजा की ओर से रियायतें मिली थीं, कम्पनी को डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ढर्रे पर शक्तिशाली बनाना और यहाँ की उस समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए 'एक महान्, निश्चित तथा अमर अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव डालना' चाहता था। उसने कम्पनी की राजनीतिक और न्यायिक शक्तियों में ज़बर्दस्त वृद्धि कराली। कम्पनी को सेनायें रखने, सैनिक क़ानून लागू करने तथा ग़ैर-ईसाई राष्ट्रों से युद्ध तथा संधि करने के अधिकार मिल गए (१६८३ का चार्टर)। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की कल्पना को साकार रूप देने के लिए उसने मुग़ल साम्राज्य पर कम्पनी द्वारा आक्रमण करने का एक बहाना निकाला और औरंगज़ेब से समर्पण की माँग करने के लिए दस समुद्री जहाज़ और छः सौ सैनिक भेज दिये। इसके फलस्वरूप कम्पनी संकट में पड़ गई और उसे बंगाल में अपनी सारी बस्तियों से हाथ धोना पड़ा। किन्तु समुद्र पर कम्पनी का अधिकार था और वह मक्का जाने वाले हज के यात्रियों के मार्ग में बाधा डाल सकती थी। इसलिए औरंगज़ेब ने कम्पनी की संधि के लिए प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और इस शर्त पर कि वह फिर कभी ऐसी निर्लज्ज हरकत नहीं करेगी उसने कम्पनी को व्यापार करने की इजाज़त दे दी। कम्पनी फिर शान्तिपूर्ण व्यापार में लग गई।

किन्तु औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् देश में जो स्थिति उत्पन्न हो गई, उसने कम्पनी को शान्तिपूर्ण व्यापार तक ही सीमित नहीं रहने दिया। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने के फलस्वरूप देश में जो अव्यवस्था फैली, कम्पनी उसका पूरा लाभ उठाने के लोभ का संवरन न कर सकी; उसके अभिकर्त्ताओं और कर्मचारियों ने शांतिपूर्ण व्यापार की अपेक्षा राजनीतिक शक्ति के प्रयोग को अधिक लाभप्रद पाया। उन स्थितियों का वर्णन करने से पूर्व जिन्होंने कि कम्पनी को अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत करने और राजनीतिक शक्ति के लिए संघर्ष में भाग लेने को उत्प्रेरित किया हम एक ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख करना चाहते हैं जिसने कि भारत के इतिहास के प्रवाह पर गहरा प्रभाव डाला है। यह था डच लोगों का कम्पनी के प्रति शत्रुता भाव जो कि मलायन आर्कीपिलागो के अपने सुरक्षित क्षेत्र में किसी भी यूरोपियन देश को नहीं घुसने देना चाहते थे। १६२३ में डच लोगों ने एम्बोयना में अंग्रेज़ व्यापारियों की हत्या कर डाली। इस घटना ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सुदूर पूर्व में व्यापार करने के अपने विचार का परित्याग कर देने और भारत पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करने के लिए विवश कर दिया। पहिले उसका विचार भारत की अपेक्षा सुदूर पूर्व में व्यापार करने का अधिक था।

कम्पनी का राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना :— कम्पनी को शान्तिपूर्ण व्यापार की नीति का परित्याग करने और राजनीतिक संघर्ष में भाग लेने को प्रेरित करने में दो बातों का मुख्य हाथ है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, उनमें से एक बात तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह थी कि मुग़ल साम्राज्य (जो कि औरंगज़ेब की मृत्यु से पहिले ही विघटित होना आरंभ हो गया था) के छिन्न भिन्न हो जाने से देश के विभिन्न भागों में बड़ी गड़बड़ और अव्यवस्था फैल गई थी। दूसरी बात ब्रिटिश और फ्रेंच कम्पनियों में प्रतिद्वन्द्विता की भावना थी ; उनमें प्रत्येक प्रभुत्व प्राप्त करना और दूसरी को नष्ट कर देना चाहती थी। इन दोनों कारणों की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया हुई। यहां इस बात का विवरण देना आवश्यक नहीं। यहाँ तो केवल इतना ही कहना काफ़ी होगा कि औरंगज़ेब की मृत्यु के तुरन्त ही बाद उसके उत्तराधिकारियों की नियंत्रण और संगठन की शक्ति बहुत क्षीण हो गई और उनका शासनाधिकार दिल्ली तथा उसके आसपास के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। बंगाल और बिहार में तथा कर्नाटक के उत्तरी भाग और हैदराबाद में मुग़ल सूबेदारों ने अपने अपने स्वतंत्र और निरंकुश राज्य स्थापित कर लिये। मध्य भारत में मराठों की तूती बोल रही थी। दक्षिण में मैसूर तथा ट्रावन्कोर में फिर से हिन्दू राज्य स्थापित हो गए थे। सारांश यह कि अकबर से लेकर औरंगज़ेब तक भारत में जो भी राजनीतिक एकता रही थी, वह लुप्त हो गई, और 'हर कहीं स्थानीय प्रधान व्यक्तियों, क़बीलों अथवा जातियों के सरदारों अथवा महत्त्वाकांक्षी लोगों में भूमि और सत्ता के लिए छीना झपटी हो रही थी। क़ानूनी अधिकार की कोई मान्यता ही न रह गई थी। सर्वत्र जिसकी लाठी, उसी की भैंस का नियम लागू था।'* ऐसी परिस्थितियों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपनी सुरक्षा के लिए उस लाइसेन्स पर निर्भर नहीं कर सकती थी जो कि उसे दिल्ली के सम्राट से मिला हुआ था ; उसे अपनी ही शक्ति के सहारे की आवश्यकता अनुभव हुई। उसने अपनी क़िलेबन्दियों को मज़बूत बनाया और अधिक सिपाहियों को भरती किया। कम्पनी ने शायद आत्म-रक्षा के हेतु ही ऐसा किया था, दूसरों पर आक्रमण करने के लिए नहीं। परन्तु वह शीघ्र ही फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ एक घोर संघर्ष में फँस गई, जो कि १६६४ में बनी थी और जिसने बंगाल में तथा पाण्डेचेरी और किनारे के अन्य कई स्थानों पर अपने व्यापार केन्द्र स्थापित कर लिए थे।

डुप्ले (Dupleix) ने, जो १७४२ से १७५४ तक पांडेचेरी का गवर्नर था, भारत में एक फ्रेंच उपनिवेश स्थापित करने की बात सोची, जैसा कि इंग्लैण्ड में जोसियाह चाइल्ड ने उससे पहिले सोचा था। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उसने दक्षिणी भारत के स्थानीय शासकों पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास किया। हैदराबाद के शासक की मृत्यु के बाद वहाँ जो झगड़ा हुआ उसमें उसने हस्तक्षेप किया और अपने उम्मीदवार को

* '..... and everywhere the local magnates, heads of old tribal or caste communities or ambitious upstarts and soldiers of fortune were scrambling for territory and power. Legal prescription was no longer valid. Everywhere might was right.' Coupland : *India, A Restatement*, page 19.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजसिंहासन पर बैठा दिया, और इस प्रकार उस राज्य पर फ्रांस का नियन्त्रण हो गया। कर्नाटक में भी उसने ऐसी ही चालें चलीं। परन्तु उसने पाया कि वहाँ अंग्रेज़ लोग पहिले ही अपना काम कर चुके थे; उन्होंने अपना एक पिट्ठू गद्दी पर बैठा दिया था जिसकी कि वे सहायता कर रहे थे। परिणामस्वरूप भारत में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों में खुल्लमखुल्ला युद्ध हुआ जिसमें अन्त में फ्रांस वालों की पराजय हुई। उनको पराजित करने का मुख्य श्रेय रॉबर्ट क्लाइव (Robert Clive) को है।

दक्षिण में डुप्ले तथा क्लाइव के कारनामों से सिराजुद्दौला भयभीत हो उठा, जोकि १७५६ में अलीवर्दी खाँ के उत्तराधिकारी के रूप में बंगाल का शासक बना था। हुगली पर बसे हुए यूरोपियनों के कार्यकलाप को वह बड़े ध्यानपूर्वक देख रहा था क्योंकि उसे यह भय था कि कहीं ये लोग बंगाल में भी वे ही हरकतें न करने लगें जोकि इन्होंने दक्षिण और कर्नाटक में की थीं और जिनके फलस्वरूप वहाँ के चार मुसलमान शासकों को अपनी गद्दी या प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। किसी भी सम्भव फ्रांसीसी आक्रमण से रक्षा करने के हेतु अंग्रेज़ों ने नदी के किनारे पर नवीन क़िलेबन्दियाँ कर ली थीं और नये तोपखाने स्थापित कर लिए थे। सिराजुद्दौला ने इसके लिए अंग्रेज़ों से जवाब तलब किया और इन सब क़िलेबन्दियों और तोपखानों को हटाने का आदेश दिया। अंग्रेज़ बस्ती के गवर्नर ने इस आदेश का पालन करने से इन्कार कर दिया। इस पर नवाब ने कलकत्ते पर आक्रमण किया और उसे ले लिया। कुछ अंग्रेज़ भाग निकले और कुछ को बन्दी बना लिया गया। बन्दियों को एक छोटे से कमरे में रख दिया गया, जहां कि, कहा जाता है, दम घुटने के कारण उनमें से बहुत से मर गए। इसे *'ब्लैक होल'* (Black Hole) काण्ड कहा जाता है। कुछ इतिहासकार इसे एक कोरी मनघड़न्त कहानी बतलाते हैं। किन्तु इसकी असत्यता या सत्यता की समीक्षा करना हमारे लिये यहाँ अप्रासंगिक होगा। हमारा सम्बन्ध तो उसके बाद में होने वाली घटनाओं से है। मद्रास में रहने वाले अंग्रेज़ अधिकारियों ने तुरन्त ही क्लाइव के अधीन समुद्री बेड़ा और सेनायें भेजीं; उसने सुगमता से ही कलकत्ते को फिर से ले लिया। नवाब ने अंग्रेज़ों के साथ संधि करली जिसके अनुसार उसने उनके पुराने विशेषाधिकारों को लौटा देने और उनकी क्षति की पूर्ति कर देने का वचन दिया और उन्हें नदी के किनारे पर तोपखाने स्थापित कर लेने की इजाज़त दे दी। परन्तु इससे इस मामले का अन्त नहीं हो पाया। यह सोचकर कि सिराजुद्दौला अंग्रेज़ों के साथ न्याय नहीं कर रहा है, बल्कि उनके विरुद्ध फ्रांस वालों की सहायता ले रहा है, क्लाइव ने उस पर आक्रमण कर दिया। नवाब की सेनाओं के पास अच्छे शस्त्रास्त्र न थे और उनकी कमान भी योग्य तथा दक्ष हाथों में न थी। प्लासी में नवाब की करारी हार हुई। क्लाइव ने मीर जाफ़र को नवाब की गद्दी पर बैठा दिया। मुग़ल सम्राट् की छायामात्र संप्रभुता को भी स्वीकार कर लिया गया। परन्तु नवाब का अधिकार केवल नाममात्र का था; वास्तविक सत्ता क्लाइव तथा उसके आदमियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हाथ में ही थी। यह कहना गलत न होगा कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य की आधार-शिला उस दिन रखी गई जबकि क्लाइव ने १७५७ में प्लासी में सिराजुद्दौला को परास्त किया।

१७६० में क्लाइव ने त्याग-पत्र दे दिया और वह इंग्लैण्ड चला गया। किन्तु १७६३ में उसे 'फ़ोर्ट विलियम' का गवर्नर बनाकर फिर से भारत भेज दिया गया। यहाँ आकर उसने शाह आलम के साथ एक राजनीतिक समझौता किया जिसके अनुसार शाह आलम कम्पनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी देने के लिये तैयार हो गया; उसके बदले में कम्पनी ने प्रान्त की मालगुज़ारी में से २६ लाख रुपये वार्षिक नवाब को देने का वचन दिया। सम्राट् कर्नाटक को हैदराबाद से अलग करने और *सरकारों* (Sirkars) को अंग्रेज़ों को देने के लिये भी सहमत हो गया। अब तक उसे जो विजय प्राप्त हुई थी उसे दृढ़ और स्थिर बनाने के लिए क्लाइव ने शक्तिशाली मरहटों से संघर्ष को टालने का प्रयास किया। इसलिये उसने उड़ीसा में उनके चौथ के अधिकार को स्वीकार कर लिया। दक्षिण में पेशवा की शक्ति को संतुलित रखने के लिए उसने निज़ाम से मैत्री कर ली। इन तथा ऐसे ही अन्य साधनों से क्लाइव ने भारत में कम्पनी की स्थिति को दृढ़ बनाया और अंग्रेजी साम्राज्य की आधार-शिला रखी। भारत में अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को केवल मरहटे (मराठे) रोक सकते थे; किन्तु अंग्रेज़ों के सौभाग्य से पानीपत में उनकी पराजय ने उनको बहुत अशक्त बना दिया। इस प्रकार अंग्रेज़ों के लिए मार्ग साफ हो गया।

भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना का जो कार्य क्लाइव ने आरम्भ किया था, उसे वारन हेस्टिंग्स, वेल्ज़ली तथा अन्य गवर्नर जनरलों ने जारी रखा। इस देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी किस प्रकार सब से बड़ी राजनीतिक सत्ता बनी, इसका वर्णन करना हमारे लिए यहाँ प्रासंगिक न होगा; भारत में अंग्रेज़ी राज की स्थापना की कहानी इतिहास का विषय है। हम तो यहाँ पर केवल एक बात पर ज़ोर देना चाहते हैं, वह यह कि औरंगज़ेब की मृत्यु के उपरान्त भारत में जो राजनीतिक अव्यवस्था फैली और एकता भंग हुई उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सत्तारूढ़ हो जाने के लिए एक अत्यन्त अनुकूल वातावरण तैयार कर दिया। इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच युद्ध और तद्जनित इस आशंका से कि फ्रांसीसी लोग कहीं भारत में अंग्रेज़ों के विरुद्ध मराठों और निज़ाम का साथ न दें वेल्ज़ली को पेशवा तथा मराठे सरदारों के बीच झगड़ों में हस्तक्षेप करने का बहाना मिल गया। उसने पेशवा को मराठा संघ का सर्वोपरि प्रभु स्वीकार कर लिया जिसके बदले में पेशवा ने अंग्रेज़ी संप्रभुता (Paramountcy) को मान लिया। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि उसकी देश में बढ़ती हुई राजनीतिक शक्ति के कारण कम्पनी के स्वरूप में ज़बर्दस्त परिवर्तन हो गया। कम्पनी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राजनीतिक शक्ति के कारण ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी की क्रियाओं को नियमित करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए बहुत से कानून बनाए जिनमें सब से प्रथम था १७७३ का *रेगूलेटिंग एक्ट*। इन कानूनों ने उस राजनीतिक तथा प्रशासकीय व्यवस्था का रूप निर्धारित किया जोकि भारत में कम्पनी के शासनकाल में तथा उसके उपरान्त विकसित हुई।

कम्पनी के स्वरूप में परिवर्तन :— १८वीं शताब्दी में भारत में राजनीतिक प्रपंच और संघर्ष में घुसने के फलस्वरूप कम्पनी के स्वरूप में जो घोर परिवर्तन हुआ उसे भली भांति समझने के लिए हमें यह याद रखना चाहिये कि अपने प्रारंभ में वह केवल एक व्यापार संस्था थी। अपना व्यापार चलाने के लिए कानून बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने के लिये अपने कर्मचारियों को आवश्यक दण्ड देने की परिमित शक्तियां जो उसे १६०० के चार्टर द्वारा प्राप्त हुई थीं, वे ऐसी थीं जिन्हें कि उस समय स्थानीय तथा व्यापारिक मिश्रित संस्थाओं के लिए आवश्यक समझा जाता था। १६६१, १६८३, १७२६ तथा १७५५ के *शाही परवानों* (Royal Charters) ने उसे धीरे धीरे अधिकाधिक शक्तियां प्रदान कीं, जिनका उद्देश्य आरंभ में तो उसे आत्मरक्षा तथा अपने कर्मचारियों को नियंत्रित करने की सामर्थ्य प्रदान करना था, और आगे चल कर जबकि उसने भारत में प्रदेश प्राप्त कर लिये तो उन पर शासन करना भी उनका एक ध्येय बन गया। दूसरे शब्दों में, कम्पनी एक निरी व्यापारिक संस्था से एक राजनीतिक सत्ता बन गई जिसके अधिकार में लगभग उतना क्षेत्र आ गया जितना कि ब्रिटिश द्वीपों का। यदि राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेने पर वह अपनी राजनीतिक क्रियाओं का परित्याग कर देती तो परिणाम भयंकर न होते। परन्तु उसने अपने दोनों रूप बनाए रखे; वह एक व्यापारिक तथा राजनीतिक संस्था बन गई और जिन प्रदेशों में उसे दीवानी अधिकार प्राप्त थे वहां वह उत्तरदायित्वहीन शक्ति का प्रयोग करने लगी। एक ही हाथ में व्यापारिक और राजनीतिक शक्तियों के आ जाने से जो दुष्परिणाम निकले, उनका वर्णन करने से पूर्व हम संक्षेप में उन राजनीतिक शक्तियों का उल्लेख करेंगे जोकि कम्पनी को १६६१, १६६९, १६८३ तथा १७५८ के परवानों द्वारा प्राप्त हुई थीं।

१६६१ के परवाने ने कम्पनी को क़िलों के शासन के लिए गवर्नरों तथा अधिकारियों को नियुक्त करने, अपने कारख़ानों की रक्षा के हेतु युद्ध सामग्री भेजने, किले बनाने और ग़ैर-ईसाई राष्ट्रों से संधि तथा युद्ध करने के अधिकार का प्रयोग करने के लिए अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार मिल गया। १६६९ के परवाने ने कम्पनी को बम्बई द्वीप (जोकि राजा को पुर्तगालियों से मिला था और जिसे राजा ने कम्पनी को दे दिया था) पर नागरिक तथा सैनिक अधिकार दे दिये। १६८३ के परवाने द्वारा कम्पनी को सेनायें रखने, विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह की दशा में सैनिक कानून (Martial law) लागू करने तथा ग़ैर-ईसाई देशों से संधि अथवा युद्ध करने की पूर्ण शक्तियां प्राप्त हो गईं। १६८६ के परवाने ने कम्पनी को जलसेना रखने, जलसेना के अधिकारियों को नियुक्त करने तथा अपने किलों में उस प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिक्के बनाने जैसे कि भारतीय शासक बनाते थे, का अधिकार प्रदान कर दिया। १६८७ में जेम्स द्वितीय ने कम्पनी को मद्रास में एक नगरपालिका स्थापित करने का अधिकार दे दिया। १७२६ तथा १७५३ के परवानों द्वारा बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता में न्यायिक निकायों का पुनर्गठन किया गया। १७५८ के परवाने ने कम्पनी को भारतीय राजाओं अथवा सरकारों से विजय द्वारा प्राप्त किये हुए किलों, जिलों तथा प्रदेशों को किसी भी प्रकार दूसरों को दे देने या लौटा देने का अधिकार दे दिया। सिक्के बनाने तथा नगरपालिकायें स्थापित करने का अधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; यह इस बात का सूचक है कि कम्पनी के शासन ने औपनिवेशिक स्वरूप ग्रहण कर लिया था और ब्रिटिश सरकार कम्पनी को पूर्ण शक्तियां देने को तय्यार थी। इससे यह प्रकट होता है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने की नीति को स्वीकार कर लिया था, किन्तु वह कम्पनी की व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करती थी।

बंगाल में द्वैध शासन :— जिस एक घटना ने कम्पनी को महान् राजनीतिक शक्ति प्रदान की और जिसने बंगाल में कुशासन के युग का सूत्रपात किया, वह थी द्वैध शासन की स्थापना। यद्यपि उसका सूत्रपात १७६५ में क्लाइव ने उस समझौते द्वारा किया था जोकि उसने नवाब के साथ किया था जिसे कि सिंहासन पर बैठाया गया था, किन्तु उसने अपना पूर्ण रूप उस समय ग्रहण किया जबकि उसी वर्ष अगस्त में सम्राट शाह आलम ने कम्पनी को दीवानी के अधिकार दे दिये। कम्पनी को दीवानी मिल जाने का परिणाम यह हुआ कि प्रान्त का सम्पूर्ण नागरिक (Civil) शासन और वित्त सम्बन्धी अधिकार उसके हाथों में आ गए। सेनाओं पर अंग्रेज़ों का अधिकार तो पहिले ही हो चुका था।

यदि मालगुज़ारी वसूल करने का कार्य क्लाइव कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा करवाता तो शायद परिणाम इतने भयंकर न होते जितने कि वे हुए। परन्तु दीवानी को स्वीकार करके उसने व्यावहारिक प्रशासन नवाब के चार अधीनस्थ पदाधिकारियों के हाथों में छोड़ दिया जिन्हें नायब दीवान कहा जाता था। किन्तु नायब दीवान व्यावहारिक रूप में कम्पनी के ही नौकर थे, इसलिये उनका अस्तित्व कम्पनी की शक्ति का केवल एक आवरण मात्र था। डाइरेक्टरों (Directors) को यह सन्देह हुआ कि नायब दीवान जनता से जो धन वसूल करते हैं उसका एक बड़ा भाग वे स्वयं ग़बन कर जाते हैं, इसलिए इस प्रणाली का अन्त करने के उद्देश्य से उन्होंने हेस्टिंग्स को भारत भेजा। इस प्रणाली का सब से बड़ा दोष यह था कि इसके अन्तर्गत शक्ति तथा उत्तरदायित्व में पृथक्करण हो गया था। वास्तव में कम्पनी के कर्मचारी बंगाल तथा अन्य प्रदेशों के शासक थे, किन्तु वे अपने शासन के लिए उत्तरदायी नहीं थे।

"यद्यपि वे तथा उनके भारतीय एजेण्ट ही वास्तव में शासन करते थे, सिंहासन पर बैठे हुए कठपुतले नहीं, तथापि वे अपने आप को केवल व्यापारी ही समझते थे;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनमें से कुछ अपनी शक्ति का प्रयोग धन कमाने के लिये करते थे। सत्ताधिकार के कारण भारत की जनता के प्रति उनका जो कर्त्तव्य था उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था।"*

क्लाइव अवश्य ही उन दोषों को जानता होगा जो कि इस प्रणाली में निहित थे; शायद उस युग में वे इतने हेय नहीं समझे जाते थे जितने कि आज। उसने इस व्यवस्था को इसलिए पसन्द किया क्योंकि इसने मुग़ल सम्राट के प्रतिनिधि नवाब के नाम मात्र के अधिकार के आवरण में कम्पनी की वास्तविक शक्ति को छिपा लिया और इसके कारण वह खुल्लमखुल्ला शासन की असुविधाओं और उत्तरदायित्व के बिना ही कम्पनी के हित में बंगाल पर नियन्त्रण कर पाया। वह फ्रांसीसियों की ईर्ष्या भावना को उत्तेजित नहीं करना चाहता था; और सबसे बढ़कर, वह ब्रिटिश अधिकारियों तथा इंग्लैण्ड में कम्पनी के आलोचकों के विरोध के कारण किसी बड़े भू-भाग पर खुल्लम-खुल्ला प्रभुत्व जमाने से डरता था। १६ जनवरी, १७६७ को कलकत्ता परिषद को क्लाइव ने जो अन्तिम आदेश भेजे, उनसे उसके आन्तरिक ध्येय और उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। उनमें उसने इस बात के ऊपर ज़ोर दिया कि "यद्यपि नवाब का केवल नाम ही रह गया है और वह एक छाया मात्र है, किन्तु नीति की मांग यह है कि उसका सम्मान किया जाना चाहिये और विदेशियों द्वारा उचित सम्मान न मिलने पर उसे विक्षोभ प्रकट करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। उसके पद का प्रयोग विदेशियों द्वारा नियन्त्रण करने के प्रयासों को विफल करने के लिए किया जाना चाहिये और किसी भी वास्तविक शिकायत का निवारण उसके द्वारा होना चाहिये। जबकि राजस्व पर अधिकार तो कम्पनी का है, प्रशासन का कार्य नवाब के अधीन देश के सरदारों द्वारा और प्रेज़ीडेंसी के सहयोग के साथ होना चाहिये।'†

---

* "Though it was they and their Indian agents rather than the puppets on the throne who were in fact obeyed, they still regarded themselves as traders only; and since they had always been tacitly allowed to implement their nominal salaries in their own account, some of them used their power to enrich themselves without any sense of duty towards the Indian people which possession of that power implied." Coupland: *India, A Restatement*, page 42.

† Clive insisted that "while the Nawab was but a name and a shadow, policy required that he should be venerated and encouraged to show resentment at any lack of respect by foreign nations. His office should be used to repel any foreign efforts at control, and genuine grievances should be adjusted through him. While the revenue belonged to the company, the territorial jurisdiction must be exercised through the chiefs of the country acting under him and the presidency in conjunction." Keith: *Constitutional History of India*, pages 54–5.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ओर तो कम्पनी के कर्मचारी भारत की जनता का शोषण करके बड़ी मात्रा में धन इकट्ठा कर रहे थे, और दूसरी ओर इंग्लैण्ड में *डायरेक्टर्स* (Directors) लाभांश (Dividend) को १७६६ में बढ़ाकर ६ % से १० % और १७६७ में १२½ % कर देने तथा दो वर्ष तक ब्रिटिश सरकार को ४००,००० पाउण्ड प्रति वर्ष देने (जिसके बदले में कम्पनी को प्राप्त किये हुए भू-भाग तथा उससे होने वाली आय को अपने पास रखने की इजाज़त मिल जाती) के लिए अधिकाधिक धन की मांग कर रहे थे। इस मांग के अतिरिक्त उसे अपनी सेना रखनी पड़ती थी और दीवानी के बदले में सम्राट को तथा अन्य भारतीय शासकों को नज़राना देना पड़ता था। इन समस्त मांगों को पूरा करने के लिए भारी कर लगाये गए और उन्हें ज़बर्दस्ती वसूल किया गया, जिसके परिणामस्वरूप जनता अकथनीय संकट में पड़ गई। अंग्रेज़ों की नीति और साधनों का वर्णन गोरहम डी० साण्डरसन के शब्दों में करना अधिक अच्छा होगा। वह लिखता है :—

"अपने द्वारा विजय किये हुए ज़िलों में से अंग्रेज़ों ने जिस प्रकार कर वसूल किया उससे ब्रिटिश साम्राज्य अपने वास्तविक रंग में प्रकट हो गया। आइये, हम बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर दृष्टिपात करें। अंग्रेज़ों के आगमन से पूर्व बंगाल संसार में, निस्संदेह, सबसे अधिक सम्पन्न प्रदेश था। मानो, वह वसुन्धरा पर एक स्वर्ग था जिसके करोड़ों निवासी अच्छा खाते थे, अच्छा पहिनते थे, अच्छे मकानों में रहते थे, और एक अच्छे शासन के अधीन रहते थे, जो कि हज़ारों आनन्दमय वर्षों से मधुमक्षिकाओं की भाँति कृषि तथा वाणिज्य और व्यापार से मधु संग्रह कर रहे थे। उस सम्पन्न और मानव-परिपूर्ण भूमि में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा। हज़ारों वर्षों से बंगाल अपनी सतत तथा परिपूर्ण समृद्धि के लिए विख्यात रहा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने केवल तेरह वर्षों में ही बंगाल प्रान्त को विनाश, दुर्भिक्ष तथा मृत्यु के गर्त में धकेल दिया। मालगुज़ारी के रूप में बंगाल की शस्यश्यामला भूमि से कितनी मात्रा में खाद्यान्न ले जाया गया इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि एक दशक से कुछ अधिक के अल्पकाल में ऐसे भूमिकर ने बंगाल को नष्ट कर दिया।"*

---

* "British Imperialism exhibited its true colours when engaged in the collection of revenue in a conquered district. Let us follow British Imperialism to Bengal. The province of Bengal, until the advent of the British, was undoubtedly the richest in the world. It was a veritable Garden of Eden inhabited by millions of well-fed, well-housed, well-clothed, and well-governed people who for thousands of happy years had been as bees gathering in abundant honey from field and farm, from commerce and industry. No famine was ever recorded by history to have entered the rich and populous area. For millenia,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७७० में बंगाल में सब से पहिला दुर्भिक्ष पड़ा, जिसमें पुर्निया के कोई एक तिहाई निवासी भूख से तड़प तड़प कर मर गये। दूसरे भागों में भी जनता को ऐसे ही संकट का सामना करना पड़ा। बंगालवासियों पर भूमिकर का कितना भारी भार पड़ा, उसका अनुमान रमेशचन्द्र दत्त की पुस्तक 'The Economic History of India under Early British Rule' से लगाया जा सकता है। उसमें वह कहता है कि जबकि बंगाल के मुसलिम शासक कुल मिलाकर प्रतिवर्ष ८१७,५३३ पाउण्ड कर के रूप में वसूल करते थे, कोई तीस वर्ष पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा वसूल किये गये करों का योग २,६८०,००० पाउण्ड था।

संसद द्वारा हस्तक्षेप की मांग :— १६०० से १७७३ तक के समय को *शाही परवानों* (Royal Charters) का युग कहा जाता है। सन् १६०० का चार्टर, जिसने कि कम्पनी को पूर्व में व्यापार करने का एकाकी अधिकार प्रदान किया, महारानी एलिज़ाबेथ द्वारा जारी किया गया था। बाद के चार्टर, जिनके द्वारा कि समय समय पर कम्पनी के इस अधिकार को पुनः मान्यता दी गई और जिन्होंने कम्पनी को प्रदेश प्राप्त करने, सेनायें रखने, गवर्नरों को नियुक्त करने, मुद्रा बनाने तथा ग़ैर-ईसाई राष्ट्रों के साथ युद्ध तथा शान्ति करने का अधिकार भी दिया, ब्रिटिश सम्राटों द्वारा स्वीकार किये गये। वे सभी शाही चार्टर थे; ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मामलों में संसद हस्तक्षेप नहीं करती थी। संसद का हस्तक्षेप १६९४ में आरम्भ हुआ जबकि 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' ने यह प्रस्ताव पास किया कि समस्त ब्रिटिश प्रजाजन को ईस्ट इण्डीज़ के साथ व्यापार करने का समान अधिकार है जबकि संसद के किसी अधिनियम द्वारा उसका निषेध न हो। १६९८ से कम्पनी के व्यापार का एकाधिकार संसद के अधिनियमों द्वारा दिया गया, शाही चार्टरों द्वारा नहीं। संसद यह अधिकार उस ऋण के बदले में देती थी जो कि राज्य को समय समय पर दिया जाता था। किन्तु संसद का हस्तक्षेप केवल १७६५ के बाद ही सक्रिय हुआ। संसद द्वारा पास किया हुआ प्रथम महान् अधिनियम १७७३ का रेगूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) था जिसके द्वारा उसने उन प्रदेशों की शासन पद्धति को निर्धारित करने के अधिकार का दावा किया जोकि कम्पनी की निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। उन कारणों का अध्ययन करना दिलचस्पी से खाली न होगा जिन्होंने कि इस मांग को जन्म दिया कि भारत में कम्पनी द्वारा स्थापित शासन प्रणाली का पुनर्गठन करने के लिए संसद को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिये।

Bengal had been famous for its continuous and abundant prosperity. British imperialism needed only thirteen years to bring destruction, destitution, death and imperial famine to the province of Bengal. The amount of food taken from the lands of rich Bengal by the land revenue system may be judged by the fact that in little over a decade such land taxes brought about the ruination of Bengal." Gorham D. Sanderson: *India and British Imperialism*, page 102.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें सब से महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि १७६५ में दीवानी के अधिकार प्राप्त कर लेने से कम्पनी को जो ज़बर्दस्त राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो गई थी उसने ईर्ष्या भाव को जाग्रत कर दिया। यह कहा जाने लगा कि कम्पनी राज्य के अन्दर एक राज्य को उत्पन्न कर रही है और यह कि अब भारत में ब्रिटिश प्रजाजन पर ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण करने का समय आ गया है। दूसरा कारण यह था कि कम्पनी के जो कर्मचारी लौट कर इंग्लैण्ड पहुँचे वे युवावस्था में होते हुए भी बहुत धनी हो गये थे और वे अपने धन के बल पर समाज में प्रतिष्ठा और संसद में स्थान तक प्राप्त कर रहे थे। इन व्यक्तियों को नवाब कहकर पुकारा जाता था। उन पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने भ्रष्टाचार के द्वारा इतनी बड़ी धन राशि एकत्रित की है; उनके आचरण की जांच की जाय और अपराधियों को दण्ड दिया जाय। आरोप यह भी लगाया गया कि कुछ ऊंचे पदाधिकारियों की स्वार्थसिद्धि के लिए कम्पनी ने लड़ाइयाँ लड़ी हैं और निर्लज्जतापूर्ण आचरण किया है। परिणाम यह हुआ कि १७६६ में कम्पनी के मामलों की जांच करने के लिए 'हाउस ऑफ कॉमन्स' ने एक समिति नियुक्त की; और उससे अगले वर्ष में भारतीय विषयों के सम्बन्ध में संसद ने पाँच अधिनियम पारित किये। तीसरी बात यह कि भारत में कम्पनी के कुशासन और तद्जनित जनता के संकट के जो समाचार इंग्लैण्ड पहुँचे उनकी ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में हम सांडर्सन का एक लम्बा अवतरण पहिले ही उद्धृत कर चुके हैं। इसी सम्बन्ध में एक ब्रिटिश लेखक– लैकी लिखता है: "ज़िले के ज़िले, जो कि पहिले जन और धन से परिपूरित थे, पूर्ण रूप से उजड़ गये, और यह देखा गया कि अंग्रेज़ व्यापारियों को देखते ही गांव के गांव एकदम खाली हो जाते थे और दुकानें बन्द हो जाती थीं, तथा भयभीत होकर भाग खड़ी होने वाली जनता से सड़कें भर जाती थीं।"* ऐसी भयावह स्थिति को देखकर ब्रिटेन के विचारशील लोगों के मन में यह प्रश्न उठने लगा कि क्या एक प्राइवेट व्यापार कम्पनी का राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करना उचित है। यह सुझाव पेश किया गया कि भारत में कम्पनी ने जो प्रदेश ले लिये थे उन्हें 'क्राउन' (Crown) को स्वयं अपने हाथों में ले लेना चाहिये और दीवानी के अधिकारों का स्वयं प्रयोग करना चाहिये। यहाँ तक कि व्यापारी वर्ग भी यह कहने लगा कि कुशासन अच्छे व्यापार के लिए घातक है, और भारत में सब से बड़ी आवश्यकता सुशासन की है। अमरीकन उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने पर तो यह आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई थी।

---

* "Whole districts which had been populous and flourishing were at last utterly depopulated, and it was noticed that on the appearance of a party of English merchants the villages were at once deserted and the shops shut, and the roads thronged with panic-striken fugitives." Quoted by G. N. Singh, *Landmarks in Indian Constitutional and National Development*, page 13.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि, एक ओर तो, अपने कर्मचारियों की स्वार्थपरता और लोभान्धता के कारण कम्पनी की आय घटती जा रही थी, और दूसरी ओर, युद्धों (जिनमें से कुछ तो उसे केवल कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की सनक और स्वार्थों को संतुष्ट करने के लिये ही लड़ने पड़ते थे) के कारण उसका व्यय बढ़ता जा रहा था। इस स्थिति के परिणामस्वरूप कम्पनी के हिस्सेदारों के लाभ में बहुत कमी हो गई। इसलिये भारतीय विषयों में संसद के हस्तक्षेप के वे विरोधी न थे।

अन्तिम उल्लेखनीय बात है १७७० का घोर दुर्भिक्ष जिसने कि बंगाल को बर्बाद कर दिया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उसमें 'बंगाल की जनसंख्या (जोकि उस समय शायद डेढ़ करोड़ थी) का कम से कम पांचवां भाग नष्ट हो गया जबकि कम्पनी के कुछ कर्मचारी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं में मुनाफाखोरी कर रहे थे और कम्पनी के एक मुख्य अधिकारी ने इतने बड़े पैमाने पर मरने वालों के कारण कर में जो हानि हुई थी, उसे पूरा करने के लिये जीवित रहने वालों पर कर में दस प्रतिशत की वृद्धि कर दी।'*

सारांश यह कि बंगाल में दोहरी सरकार के स्थापित हो जाने और १७६५ में कम्पनी को दीवानी मिल जाने का फल यह हुआ कि सारी शासन प्रणाली भ्रष्ट हो गई जिसमें कि राजनीतिक शक्ति और जनता के कल्याण के लिए उत्तरदायित्व में पृथक्करण हो गया। ऐसे भ्रष्ट शासन के अधीन कम्पनी के कर्मचारियों की घोर स्वार्थ-परता के कारण जनता को अवर्णनीय कष्ट झेलने पड़े। यह सुझाव रखा गया कि कम्पनी के कुशासन से उत्पन्न दोषों को दूर करने और जनता के कष्टों के निवारण का सर्वोत्तम उपाय यह था कि कम्पनी के अधिकार में आए हुए समस्त प्रदेशों को 'क्राउन' अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में ले ले और कम्पनी के कर्मचारियों को अपनी सिविल सर्विस के रूप में परिवर्तित कर दे। बहुत कारणों से ऐसा करना सम्भव न समझा गया। यह न केवल एक ज़बर्दस्त और क्रान्तिकारी परिवर्तन होता, बल्कि इससे कुछ गम्भीर क़ानूनी और सांविधानिक समस्यायें भी उत्पन्न होतीं। इसके अतिरिक्त १८वीं शताब्दी में प्रचलित सम्पत्ति की पवित्रता की धारणा के भी यह विरुद्ध होता। ईस्ट इण्डिया कम्पनी जैसी एक प्राइवेट व्यापार संस्था तो मुग़ल सम्राट के दीवान के रूप में काम कर सकती थी; किन्तु ब्रिटिश क्राउन के लिए ऐसी स्थिति स्वीकार करना असम्भव था।

---

* "..... at least a fifth of the population of Bengal, then perhaps fifteen millions, perished while some of the Company's servants profiteered in necessities and the principal deputy added 10 per cent to the assessments to make good at the expense of the living the losses involved in the wholesale depopulation." Keith: *Constitutional History of India*, page 58.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः क्राउन के सामने एकमात्र मार्ग यह था कि वह शासन नीति के उच्चतर विषयों में तो हस्तक्षेप करे और नियन्त्रण करे, किन्तु व्यापार के ऊपर एकाधिकार और प्रशासन की छोटी छोटी बातों को कम्पनी के हाथों में ही छोड़ दे। दूसरे शब्दों में, कम्पनी के कार्य-कलाप पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण करके, व्यापार के क्षेत्र में उसे स्वच्छन्द छोड़ते हुए, उस स्थिति का सामना किया जा सकता था। ऐसा करना तत्कालीन सांविधानिक क़ानूनों और व्यवहार के अनुकूल था।

भारत में कम्पनी के अधीनस्थ प्रदेशों में उसकी राजनीतिक क्रियाओं को नियन्त्रित करने और शासन की रूपरेखा के विषय में उसे आदेश देने का अवसर ब्रिटिश संसद को शीघ्र हा मिल गया जब कि कम्पनी ने राज्य को एक ऋण देकर उससे सहायता की याचना की। अगस्त, १७७२ में की गई इस याचना से यह स्पष्ट हो गया कि गत मार्च में घोषित १२½ के लाभांश के लिए कोई भी औचित्य न था। कम्पनी के मामलों की जांच पड़ताल करने के लिए संसद ने एक गुप्त समिति नियुक्त की। उस समिति ने बड़ी गहरी छानबीन के उपरांत मई, १७७३ में अपनी रिपोर्ट पेश की जिसके परिणाम-स्वरूप प्रसिद्ध १७७३ का रेगूलेटिंग ऐक्ट पास किया गया। उस समिति का तत्काल फल यह निकला था कि संसद ने एक क़ानून पास करके कम्पनी के डायरेक्टरों को एक सीमित काल के लिये भारत में कमिश्नरों के भेजने का निषेध कर दिया। ऐसा इसलिए किया गया कि कम्पनी अपने प्रशासन को सुधारने का कोई प्रयास न कर सके जिससे कि संसद के हस्तक्षेप का औचित्य कम हो सकता था।

१७७३ के रेगूलेटिंग ऐक्ट की पृष्ठभूमि के रूप में इस विवरण के बाद हम अब अगले अध्याय में उसकी मुख्य प्रस्थापनाओं तथा उनके सांविधानिक महत्त्व का अध्ययन करेंगे।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय २

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन

संसदीय नियन्त्रण का काल (१७७३–१८५८)

विषय प्रवेश :— हमने गत अध्याय में देखा कि एक बहुत लम्बे समय तक संसद ने भारत में कम्पनी के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं ली। कम्पनी के द्वारा बसाये गये लोग केवल डायरेक्टरों के प्रति उत्तरदायी थे जोकि अपनी शक्तियाँ उन्हें मिलने वाले क्राउन के चार्टरों द्वारा प्राप्त करते थे। १७६५ में बंगाल में दोहरी सरकार की स्थापना से उत्पन्न स्थिति ने, जिसमें कि कम्पनी के अभिकर्ता एक सम्राट के नाम में एक बड़े प्रान्त के राजस्व पर नियन्त्रण करते थे, एक भ्रष्ट तथा शोषक सरकार द्वारा उत्पन्न जनता के कष्टों की दारुण कहानियों ने जोकि इंग्लैण्ड पहुँची, तथा भारत से इंग्लैण्ड लौट कर जाने वाले कम्पनी के कर्मचारियों की अप्रियता, समृद्धि तथा उद्दण्डता, इन सब बातों ने मिलकर इस मांग को जन्म दिया कि भारतीय मामलों में संसद को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिये। 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' में कर्नल बगॉयन ने जो आन्दोलन किया उसके फलस्वरूप भारत में कम्पनी के मामलों की छानबीन करने के लिए १७७२ में एक गुप्त समिति का निर्माण किया गया। यह एक नवीन युग की सूचना देता है जिसमें कि भारतीय विषयों में ब्रिटिश संसद अधिकाधिक दिलचस्पी लेने लगी। १७७२ से १७८६ तक के चौदह वर्षों में वे समस्त महान् क़ानून बनाये गये जिन्होंने कि कम्पनी पर निश्चित रूप से क्राउन तथा संसद का नियन्त्रण स्थापित कर दिया और उसे एक अर्द्ध-राजकीय विभाग में परिवर्तित कर दिया। १७८६ तथा १८५८ (जिस वर्ष कि क्राउन ने भारत के प्रशासन का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथों में ले लिया) के बीच के काल में जो परिवर्तन हुए वे इतने महत्त्वपूर्ण न थे जितने कि उक्त चौदह वर्षों के।

१– रेगूलेटिंग ऐक्ट, १७७३

ऐक्ट की मुख्य प्रस्थापनायें :— भारतीय विषयों पर संसदीय नियंत्रण का आरंभ १७७३ के रेगूलेटिंग ऐक्ट से होता है। १८ मई को लॉर्ड नॉर्थ ने इसे पेश किया; १० जून को हाउस ऑफ़ कॉमन्स ने और १९ जून १७७३ को हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स ने इसे पास किया। यद्यपि भारत में कम्पनी द्वारा स्थापित शासन-प्रणाली के दोषों का पूर्ण रूप से निवारण यह न कर पाया, तथापि इस दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण क़दम अवश्य था। भारत की शासन व्यवस्था की रूपरेखा को जिन बहुत से अधिनियमों ने निर्धारित किया है उनमें यह सर्वप्रथम है। इसने तीन काम किये :— (१) इसने इंग्लैण्ड में कम्पनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के संघटन में परिवर्तन कर दिया, और भारत में कम्पनी की शासन-व्यवस्था को भी इसने बदल दिया। (२) इसने एक हद तक बम्बई तथा मद्रास प्रेज़ीडेन्सियों को बंगाल के गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिया और इसके परिणामस्वरूप भारत में कम्पनी के अधीनस्थ समस्त प्रदेश एक सर्वोच्च सत्ता के नियन्त्रण में आ गए। (३) इसने मंत्रीमण्डल द्वारा कम्पनी की देखभाल (यद्यपि बहुत ही अकुशल ढंग से) करने की व्यवस्था की। आइये देखें कि इन सब बातों को किस प्रकार किया गया।

रेगूलेटिंग ऐक्ट से पूर्व कम्पनी के कार्य-व्यापार पर *कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स* (Court of Directors) का नियंत्रण रहता था जिसमें २४ सदस्य होते थे जिन्हें प्रति वर्ष *कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स* (Court of Proprietors) द्वारा चुना जाता था। डायरेक्टरों को चुनने का अधिकार उन लोगों को होता था जो कि निर्वाचन की तिथि से पहिले छः मास तक कम से कम ५०० पाउण्ड के माल के स्वामी होते थे। रेगूलेटिंग ऐक्ट ने यह व्यवस्था की कि डायरेक्टरों का चुनाव चार वर्ष की अवधि के लिए किया जाय जिनमें से एक चौथाई प्रति वर्ष निवृत्त हो जायें। निवृत्त होने वाले डायरेक्टर केवल एक वर्ष पुनः-निर्वाचन के लिए खड़े नहीं हो सकते थे। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो कि भारत या सुदूर-पूर्व में कर्मचारी रहा हो डायरेक्टर नहीं चुना जा सकता था जब तक कि वह वापिस इंग्लैण्ड न चला गया हो और वहां कम से कम दो वर्ष तक न रह लिया हो। जिस मालिक के पास कम से कम १००० पाउण्ड के मूल्य का स्टॉक कम से कम एक वर्ष तक रहा हो, उसे एक वोट, जिनके पास तीन हज़ार पाउण्ड का स्टॉक हो उन्हें दो वोट, ६००० पाउण्ड वालों को तीन वोट और १०००० पाउण्ड वालों को चार वोट देने का अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था के फलस्वरूप १२४६ छोटे मालिक वोट देने के अधिकार से वंचित हो गए। किन्तु इससे *बोर्ड ऑफ प्रोप्राइटर्स* में कोई सुधार नहीं हुआ, और न ही इससे पूर्व में धन संग्रह करके इंग्लैण्ड लौट कर जाने वाले कम्पनी के कर्मचारियों को अपने धन द्वारा शक्ति खरीदने से रोका जा सका।

१७७३ के ऐक्ट ने भारत में कम्पनी की शासन-व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। इसके बनने के पूर्व भारत में कम्पनी के अधीनस्थ प्रदेश तीन भागों में विभक्त थे जिन्हें फोर्ट विलियम (बंगाल), बम्बई तथा मद्रास की प्रेज़ीडेन्सी कहा जाता था। इनमें से प्रत्येक एक दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र था। प्रत्येक प्रेज़ीडेन्सी का अपना गवर्नर (जिसे सामान्यतया प्रेज़ीडेण्ट कहा जाता था) होता था और साधारणतया १२ से १६ तक बड़े व्यापारियों की एक परिषद होती थी। कलकत्ते की परिषद में १६ सदस्य थे, किन्तु क्लाइव ने उसको हटाकर उसके बदले में चार व्यक्तियों की एक परामर्शदात्री परिषद बनादी थी। प्रत्येक प्रेज़ीडेन्सी का गवर्नर इंग्लैण्ड में *कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स*, जो कि सर्वोच्च शासक सत्ता थी, के साथ सीधा सम्बन्ध रखता था। किसी भी प्रेज़ीडेन्सी के गवर्नर को अन्य गवर्नरों पर किसी भी प्रकार की प्रधानता प्राप्त न थी। रेगूलेटिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐक्ट ने यह सब कुछ बदल दिया। इसने फोर्ट विलियम की प्रेज़ीडेन्सी के शासन के लिए एक गवर्नर-जनरल तथा चार पार्षद (Councillors) नियुक्त किये जिनका कार्य-काल पांच वर्ष था और जिन्हें उनकी अवधि से पूर्व केवल *कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स* की प्रार्थना पर सम्राट द्वारा ही हटाया जा सकता था। इस ऐक्ट में वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर-जनरल तथा क्लेवरिंग, मॉन्सन, बारवेल तथा फ्रांसिस को पार्षद (Councillors) नियुक्त किया गया। इस ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल तथा चार पार्षदों को न केवल बङ्गाल का नागरिक (Civil) तथा सैनिक शासन सौंप दिया, बल्कि भारतीय शासकों के साथ युद्ध की घोषणा करने, शांति स्थापित करने तथा संधि करने के विषयों में बम्बई और मद्रास (तथा सुमात्रा में बेन्कूलन भी) की सरकारों पर नियंत्रण करने का अधिकार भी दे दिया। यद्यपि अन्य विषयों में बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को अधिकतर स्वतन्त्र छोड़ दिया गया और एक तुरन्त आवश्यकता पड़ने पर अथवा 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' से विशेष आदेश प्राप्त होने पर इनमें से प्रत्येक प्रेज़ीडेन्सी के गवर्नर-इन-काउन्सिल (Governor-in-Council) को गवर्नर-जनरल की अनुमति के बिना भी युद्ध की घोषणा करने तथा संधि स्थापित करने का अधिकार दे दिया, तथापि यह कहा जा सकता है कि १७७३ के ऐक्ट ने एक एकात्मक शासन का शिलान्यास कर दिया। दोनों प्रेज़ीडेन्सियों के गवर्नरों के लिए बंगाल के गवर्नर-जनरल के आदेशों का पालन करना और कम्पनी के हितों, राजस्व तथा शासन सम्बन्धित सूचना उसे देना आवश्यक था। बंगाल के गवर्नर-जनरल-इन-काउन्सिल को किसी भी अवज्ञाकारी गवर्नर तथा उसकी काउन्सिल को मुअत्तिल करने का अधिकार दिया गया। सारांश यह कि बंगाल का गवर्नर-जनरल तथा परिषद भारत की सर्वोच्च सत्ता बन गये। फोर्ट विलियम में कम्पनी की बस्तियों तथा दूसरे स्थानों में अन्य कारखानों में सुव्यवस्था तथा सुशासन के लिये नियम और अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी उन्हें दे दिया गया। भारत में एक संघात्मक शासन की स्थापना की व्यवस्था तो सब से पहिले १९३५ के अधिनियम में की गई; जब तक वह अधिनियम लागू नहीं किया गया और ब्रिटिश भारत के प्रान्त स्वशासी नहीं बन गये तब तक रेगूलेटिंग ऐक्ट द्वारा स्थापित एकात्मक शासन ही चलता रहा।

रेगूलेटिंग ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के साथ और उत्तरोक्त के क्राउन के साथ सम्बन्धों को विनियमित करने की भी व्यवस्था की। गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के आदेशों का पालन करना था और कम्पनी के हितों से सम्बन्धित समस्त विषयों से उसे निरन्तर सूचित रखना था। गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल से पत्र तथा परामर्श प्राप्त करने के उपरान्त चौदह दिन के अन्दर डायरेक्टरों को कम्पनी की आय से सम्बन्धित भाग की प्रतिलिपि ट्रेजरी (वित्त मंत्रालय) को तथा कम्पनी के नागरिक तथा सैनिक विषयों से सम्बन्धित भाग की प्रतिलिपि राज्य मंत्री को भेजनी थी। इस प्रकार कम्पनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति स्मृति संग्रह 9076

को इंग्लैंड में सरकार के नियन्त्रण में लाने का प्रयास किया गया, यद्यपि वह एक अधूरा और अकुशल प्रयास था।

गुप्त समिति (जो कि १७७२ में नियुक्त हुई थी) ने अपनी रिपोर्ट में तत्कालीन भारत में पाई जाने वाली न्याय-प्रणाली को अवांछनीय बताया था ; इसलिए रेगूलेटिंग ऐक्ट ने बंगाल में न्याय-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने की व्यवस्था की। उसने फ़ोर्ट विलियम में एक ऐसे उच्चतम न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की जिसमें एक प्रधान न्यायाधीश तथा तीन अन्य ऐसे न्यायाधीश हों जो कि कम से कम पाँच वर्ष तक बैरिस्टर रह चुके हों। उनकी नियुक्ति 'क्राउन' के द्वारा होनी थी और उनका कार्य-काल राजा की इच्छापर्यन्त था। इस प्रकार वे कम्पनी के अधिकार से स्वतंत्र थे और निर्भीक तथा निष्पक्ष होकर कम्पनी के कर्मचारियों को दण्ड दे सकते थे तथा उसके विरुद्ध दावों का निर्णय कर सकते थे। उच्चतम न्यायालय को दीवानी, फ़ौजदारी, जल सेना तथा धार्मिक विषयों का अधिकार दिया गया और न्याय प्रशासन के लिए आवश्यक नियम बनाने का अधिकार उसे दिया गया। वह क्लर्क इत्यादि कर्मचारियों को भी नियुक्त कर सकता था। उसका अधिकारक्षेत्र बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के प्रान्त में रहने वाले समस्त प्रजाजन पर लागू होता था। उसे 'सम्राट के समस्त प्रजाजन के विरुद्ध किसी भी अपराध, दुर्व्यवहार, अथवा अत्याचार के अभियोग को सुनने और उनका निर्णय करने, तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में सम्राट के किसी भी प्रजाजन के विरुद्ध किसी भी वाद का निर्णय करने और कम्पनी अथवा सम्राट के किसी भी प्रजाजन के किसी भी नौकर के विरुद्ध किसी भी प्रकार के अभियोग अथवा वाद को सुनने और उसका निर्णय करने का अधिकार था।' उसके न्यायाधिकार पर केवल एक यह सीमा थी कि वह गवर्नर-जनरल अथवा उसकी काउन्सिल के किसी सदस्य के विरुद्ध राजद्रोह अथवा किसी घोर अपराध के अतिरिक्त अन्य किसी आरोप को नहीं सुन सकता था। उन्हें किसी भी अभियोग में न्यायालय के आदेश द्वारा गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता और कारागार में नहीं डाला जा सकता था। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपील 'सपरिषद राजा' (King-in-Council) के समक्ष की जा सकती थी।

भूतकाल के भ्रष्टाचार और दुर्व्यवहारों को रोकने के लिए रेगूलेटिंग ऐक्ट ने यह व्यवस्था की कि गवर्नर-जनरल, उसकी काउंसिल के सदस्यों तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को न तो कोई उपहार ग्रहण करने चाहियें और न व्यापार में भाग लेना चाहिये। कम्पनी के अधीनस्थ किसी भी नागरिक अथवा सैनिक कर्मचारी को किसी भी देशी राजा अथवा सत्ता से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी उपहार अथवा पुरस्कार के प्राप्त करने और स्वीकार करने का निषेध कर दिया गया। इस नियम का उल्लंघन करने वालों को दोगुणा धन देना पड़ता और उन्हें भारत से हटाया भी जा सकता। कर संग्रह के कार्य में लगा हुआ कोई भी कर्मचारी व्यापार अथवा राज्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी एकाधिकार व्यापार (monopoly) में भाग नहीं ले सकता था। सम्राट का कोई भी प्रजाजन १२ % से अधिक ब्याज की दर पर धन उधार नहीं दे सकता था। उपहार या पुरस्कार स्वीकार करने के प्रलोभन को दूर करने के लिए गवर्नर जनरल के लिये २५००० पाउण्ड, उसकी काउंसिल के प्रत्येक सदस्य के लिए १०००० पाउण्ड, मुख्य न्यायाधीश के लिए ८००० पाउण्ड, तथा एक न्यायाधीश के लिए ६००० पाउण्ड वार्षिक वेतन की व्यवस्था कर दी गई।

रेगूलेटिंग ऐक्ट की एक अन्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यवस्था भी उल्लेखनीय है। फोर्ट विलियम तथा अधीनस्थ फैक्ट्रियों के सुशासन और सुव्यवस्था के लिये गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउंसिल द्वारा बनाया गया कोई भी नियम तथा अध्यादेश तब तक क्रियान्वित नहीं किया जा सकता था जब तक कि उसकी उच्चतम न्यायालय में रजिस्ट्री न करा दी जाये और वह उसे स्वीकार न कर ले। इन नियम और अध्यादेशों की प्रतिलिपियाँ इंग्लैण्ड भेजी जातीं और वहाँ उन्हें इण्डिया हाउस में दिखाया जाता तथा एक राज्य मंत्री के पास भेज दिया जाता।

कम्पनी ने जिस ऋण के लिए याचना की थी संसद ने उसे स्वीकार कर दिया।

ऐक्ट के दोष :— जिन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर रेगूलेटिंग ऐक्ट को बनाया गया वे निस्संदेह प्रशंसनीय थे; किन्तु उनकी कोई विशेष पूर्ति नहीं हो पाई। इस विफलता के कई कारण थे। प्रथम, कुछ लोगों का कहना है कि कम्पनी के भारतीय मामलों में संसद के हस्तक्षेप करने का उद्देश्य यहां कम्पनी के अधीनस्थ प्रदेशों के लिये सुशासन और व्यवस्था इतना नहीं था जितना कि राजनीतिक तथा वित्तीय विचार। दूसरे, यदि हम यह बात भी मान लें कि अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ भारतवासियों की दशा सुधारना चाहते थे तो उनके पास वास्तविक वस्तुस्थिति और आवश्यक तथ्यों को जानने के लिए समुचित साधन नहीं थे और न ही कोई विशेषज्ञ और योग्य व्यक्ति उसे परामर्श देने वाले थे। तीसरे, लॉर्ड नॉर्थ, जिसका कि ऐक्ट के बनवाने में मुख्य हाथ था, एक ऐसा व्यक्ति था जोकि दृढ़ और निर्णयात्मक नीति नहीं अपना सकता था। "स्वाभाविक आलस्यप्रियता तथा 'सोते हुए कुत्तों' को सोते रहने देने की इच्छा से प्रेरित होते हुए उसने यथापूर्व स्थिति में, जहाँ तक सम्भव हो सका, विघ्न नहीं डाला।"* संसद द्वारा कम्पनी के मामलों का निरीक्षण करने के लिये जो व्यवस्था उसने की वह अकुशल सिद्ध हुई। इनके अतिरिक्त ऐक्ट में बहुत से दोष थे जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

---

* "Habitual indolence, coupled with the desire to let, 'sleeping dogs lie' led him to leave the *status quo* as much undisturbed as possible." Bannerjee: *Indian Constitutional Documents, Vol. I, Introduction*, page XXI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण दोष यह था कि इसके द्वारा जिन सुधारों के करने का प्रयास किया गया वे इंग्लैण्ड में कम्पनी के संघटन तक ही सीमित थे; बंगाल की जनता की आवश्यकताओं पर समुचित ध्यान उनमें नहीं दिया गया। लॉर्ड नॉर्थ का विश्वास यह था कि भारत की जनता के कष्टों का मुख्य कारण राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभाव नहीं, बल्कि 'यूरोपियनों के शासन का अभाव, कम्पनी के कर्मचारी तथा कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा रक्षित लोग' हैं। इसलिए उसने इस अभाव को दूर करने का प्रयास किया और यह सोचा कि ऐसा करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि बंगाल में द्वैध शासन प्रणाली का अन्त करके सुशासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल तथा उसकी काउन्सिल के हाथों में दे दिया जाय और कार्यपालिका के अनाचार से जनता की रक्षा करने के लिए एक उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना कर दी जाय। लॉर्ड नॉर्थ का यह प्रयास विफल होना ही था, क्योंकि 'एक ऐसे गवर्नर जनरल की स्थापना करके जो कि अपनी काउंसिल के सामने शक्तिहीन था, और एक ऐसी कार्यपालिका का निर्माण करके जो कि उच्चतम न्यायालय के सामने अशक्त थी, और जो स्वयं देश की शांति तथा भलाई के समस्त उत्तरदायित्व से अभिमुक्त थी,' इसने प्रशासन यन्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों का उल्लंघन कर डाला था।

यह व्यवस्था करके कि गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल के समस्त निर्णय बहुमत के द्वारा होंगे और गवर्नर-जनरल अपनी काउंसिल की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकेगा इसने गवर्नर-जनरल को उसकी काउंसिल के सामने बहुत अशक्त बना दिया। यह व्यवस्था यद्यपि फ़ोर्ट विलियम, मद्रास तथा बम्बई की प्रेज़ीडेन्सियों में पाई जाने वाली व्यवस्था के अनुसार थी, तथापि यह उन उपनिवेशों की प्रणाली से भिन्न थी जहां कि गवर्नर को काउंसिल केवल परामर्श देती थी, उसे नियन्त्रित नहीं कर सकती थी। ऐक्ट में उल्लिखित चार काउंसिलर्स में तीन— क्लेवरिंग, मॉन्सन तथा फ्रांसिस— हेस्टिंग्स का निरन्तर विरोध करते थे; केवल एक बारवेल उसका समर्थन करता था। लॉरेन्स सलीवन को लिखे हुए पत्रों में से एक में बारवेल लिखता है कि उसके तीन सहकर्मियों ने आरंभ से ही गवर्नर-जनरल का विरोध करने की नीति अपनाई; वे उसका ऐसा घोर और निरन्तर विरोध करते थे कि गवर्नर-जनरल व्यवहार में गवर्नर-जनरल ही नहीं रह गया। वारेन हेस्टिंग्स स्वयं बड़े दर्दभरे शब्दों में लिखता है:— "मेरी स्थिति सचमुच वेदनाजनक और अपमानजनक है, मुझे उन शक्तियों से वंचित कर दिया गया है जो कि व्यवस्थापिका के एक महान् क़ानून ने मुझे प्रदान की थीं,..... मुझे वह सम्मान नहीं मिलता जो कि मेरे पद और चरित्र के कारण मुझे मिलना चाहिये,..... और मुझे उन कामों के उत्तरदायित्व का भार वहन करना पड़ता है जिन्हें कि मैं पसन्द नहीं करता....."* वह इतना हताश हो गया कि १७७६ में उसने इंग्लैण्ड में अपने

* "My situation is truly painful and mortifying, deprived of the powers with which I have been invested by a solemn act of the Legis-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिकर्ताओं को अपना सशर्त्त त्यागपत्र दे देने का अधिकार दे दिया। त्यागपत्र दिया गया और वह स्वीकार भी कर लिया गया। परन्तु उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति होने से पूर्व ही मॉन्सन का, जो काउंसिल में गवर्नर-जनरल का मुख्य विरोधी था, देहान्त हो गया। तदुपरान्त हेस्टिंग्स काउंसिल में अपने निर्णायक मत (Casting vote) द्वारा अपना प्रभुत्व बनाये रख सकता था। इसलिए उसने अपना त्यागपत्र वापिस ले लिया। १७७७ में क्लेवरिंग की भी मृत्यु हो गई और उसके बाद हेस्टिंग्स की स्थिति काफी दृढ़ हो गई। यह बात स्पष्ट है कि यह व्यवस्था गलत थी कि गवर्नर-जनरल को प्रत्येक कार्य काउंसिल के बहुमत के अनुसार करना होगा। इस दोष को तब तक दूर नहीं किया गया जब तक कि लार्ड कार्नवालिस ने उसका आग्रह नहीं किया; उसने कहा कि मैं गवर्नर-जनरल का पद तभी स्वीकार कर सकता हूँ जब कि इस दोष को दूर कर दिया जाय।

ऐक्ट का दूसरा बड़ा दोष यह था कि (१) गवर्नर जनरल तथा उसकी काउन्सिल के अधिकार क्षेत्र, (२) उच्चतम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र, तथा (३) बंगाल सरकार और न्यायालय के बीच सम्बन्धों से सम्बन्धित व्यवस्थायें अस्पष्ट और दोषपूर्ण थीं। ऐक्ट की अस्पष्टताओं का कारण शायद वह दुष्कर स्थिति थी जोकि दीवानी के अधिकारों के प्रदान करने से उत्पन्न हो गई थी। बंगाल के क्षेत्रों पर कम्पनी का निश्चित रूप से अधिकार नहीं हुआ था; दिल्ली के सम्राट् और उसके अधीन नवाब की सत्ता को मान्यता दी जाती थी। राजसत्ता (Sovereignty) के लक्षण इन दोनों तथा कम्पनी में इस प्रकार विभक्त थे कि उसका मूल तत्त्व तो कम्पनी के पास आ चुका था किन्तु उसकी छाया अभी सम्राट तथा नवाब के ही पास थी।

"किन्तु यह एक ऐसी छाया थी जिसके अन्दर छिपी हुई शोब्देबाज़ियाँ चल सकती थीं। जब कभी भी कम्पनी को सुविधाजनक प्रतीत होता तभी वह मुगल द्वारा प्राप्त शक्ति को अंग्रेज़ी क़ानून द्वारा प्राप्त शक्ति से भिड़ा देती थी और किसी एक के अधीन ऐसे कार्यों को उचित ठहरा देती थी जो दूसरी के अधीन अनुचित होते। एक हैसियत से कम्पनी एक अनुत्तरदायी आततायी की सर्वशक्तिसम्पन्न एजेण्ट थी; दूसरी हैसियत से वह शाही परवानों तथा संसद के क़ानूनों से जकड़ी हुई थी। यह स्वाभाविक ही था कि कम्पनी के कर्मचारी पहली हैसियत से काम करना पसन्द करते थे। यह भी स्वाभाविक था कि उनके राजकाज चलाने के पूर्वी ढंग अंग्रेज़ी राजनीतिज्ञों द्वारा अरुचि तथा सन्देह की दृष्टि से देखे जाते थे और वेस्टमिन्स्टर हॉल की परम्पराओं में निमग्न अंग्रेज़ी वकीलों

---

lature,.... denied the respect which is due to my station and character, ...and condemned to bear my share in the responsibility of measures of which I do not approve ....." Quoted by Bannerjee, *op. cit*, page XXIII.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा न समझे जा सकते थे, न काम में लाये जा सकते थे।"*

रेगूलेटिंग ऐक्ट ने दो ऐसी सत्ताओं की स्थापना की जो कि अपने अपने क्षेत्र में सर्वोच्च थीं, किन्तु उन दोनों के बीच सम्बन्धों की कोई स्पष्ट और सुनिश्चित व्यवस्था उसमें न थी। प्रशासन और सेना से सम्बन्धित विषयों में सर्वोच्च सत्ता गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल को दे दी गई और न्यायिक विषयों में सर्वोपरि शक्ति न्यायालय को दे दी गई। बंगाल के निवासियों की दमनकारी क़ानूनों से रक्षा करने के प्रशंसनीय तथा पवित्र उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल द्वारा बनाया गया कोई नियम अथवा अध्यादेश तब तक क्रियान्वित नहीं हो सकता जब तक कि उच्चतम न्यायालय के पास उसकी रजिस्ट्री न करा दी जाय और वह उसे स्वीकार न कर ले। इस बात के ऊपर ध्यान नहीं दिया गया कि न्यायपालिका को कार्यपालिका को नियन्त्रित करने का अधिकार देने का परिणाम यह होगा कि प्रशासन की जड़ें खोखली हो जायेंगी। इस ऐक्ट का यह एक गम्भीर दोष था कि इसने व्यवस्थापन पर नियन्त्रण का पूर्ण अधिकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के हाथों में दे दिया जिनका कोई शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व न था और जो जनता की जीवन पद्धतियों से सर्वथा अपरिचित थे। इसके अतिरिक्त रेगुलेटिंग ऐक्ट में यह बात भी स्पष्ट नहीं थी कि उच्चतम न्यायालय कौन से कानून को क्रियान्वित करेगा और किन लोगों के ऊपर। 'ब्रिटिश प्रजा' की कोई सुनिश्चित परिभाषा उसमें न थी। न्यायालय को स्थानीय कानून को क्रियान्वित करना था या अंग्रेज़ी कानून को? क्या कलकत्ता के सभी निवासी उसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत थे या वहाँ रहने वाले केवल अंग्रेज़ लोग? सम्राट द्वारा नियुक्त किये गये प्रधान न्यायाधीश तथा अन्य तीनों न्यायाधीश सभी अंग्रेज़ थे और हिन्दू कानून तथा मुस्लिम कानून और जनता की प्रथाओं

* "But it was a shadow with which potent conjuring tricks could be performed. Whenever the company found it convenient, they could play off the authority derived from the Mughal against the authority derived from the British law, and justify under the one proceedings which it could have been difficult to justify under the other. In the one capacity the company was the all powerful agent of an irresponsible despot; in the other it was tied and bound by the provisions of Charters and Acts of Parliament. It was natural that the Company's servants should prefer to act in the former capacity. It was also natural that their oriental principles of government should be regarded with dislike and suspicion by English statesmen, and should be found unintelligible and unworkable by English lawyers steeped in the traditions of Westminster Hall." Ilbert: *Government of India, Historical Survey*, page 52.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और परम्पराओं से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने बंगाल की जनता के अपने अपने जातीय कानून (Personal law) को क्रियान्वित करने से इन्कार कर दिया और अंग्रेज़ी कानून को लागू करने का आग्रह किया। जनता अंग्रेज़ी कानून और कानून तथा स्वाभाविक न्याय (Equity) के भेद से पूर्णतया अपरिचित थी; इसलिये वह न्यायालय की इस नीति से असंतुष्ट हो उठी। दूसरे, यह प्रश्न उठा कि क्या उच्चतम न्यायालय कम्पनी के न्यायिक अधिकारियों के विरुद्ध ऐसे कार्यों के लिये कार्यवाही कर सकता था जिन्हें कि वे अपना कानूनी कर्त्तव्य समझते थे। यह समस्या इसलिये उठी क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने ज़मींदारों के मुफस्सिल न्यायालयों की न्यायिक सत्ता को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि १७६५ में दूषित द्वैध शासन प्रणाली का अन्त करते हुए क्लाइव ने न्याय प्रशासन को पुनर्गठित किया था। उसने प्रत्येक ज़िले के मुख्य स्थान पर एक दीवानी और एक फौजदारी अदालत की स्थापना की थी जिनके निर्णयों की अपील *सदर दीवानी* और *सदर निज़ामत* के पास हो सकती थीं। पंचायतों तथा ज़मींदारों की अदालतों को भी क़ायम रक्खा गया था। इन प्राचीन न्यायालयों को उच्चतम न्यायालय ने मान्यता देने से इन्कार कर दिया, इससे एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। इस समस्या का निराकरण करने के लिए हेस्टिंग्स ने प्रधान न्यायाधीश इम्पे को सदर दीवानी अदालत का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया और इस प्रकार ग्रामीण न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील तथा पुनर्विचार की याचिकाओं को सुनने का अधिकार उसे दे दिया। किन्तु यह असंतोषजनक था क्योंकि उसके कम्पनी (जिसके अभिकर्ताओं पर उसे रेगूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार नियन्त्रण करना था) से वेतन लेने की व्यवस्था के कारण प्रधान न्यायाधीश की स्वाधीनता में बाधा पड़ती थी।

एक विवादग्रस्त विषय और भी था जिसके कारण उच्चतम न्यायालय तथा गवर्नर-जनरल और उसकी कांउसिल में एक कटु संघर्ष छिड़ गया। न्यायालय राजस्व के विषयों में भी अधिकार जताता था, किन्तु गवर्नर-जनरल और काउन्सिल उससे इन्कार करते थे। उच्चतम न्यायालय अपने दावे को इस व्यवस्था पर आधारित करता था कि उसके अधिकारक्षेत्र के अन्तर्गत समस्त ब्रिटिश प्रजाजन तथा कम्पनी के कर्मचारी थे। इसका उत्तर गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल की ओर से यह दिया जाता था कि राजस्व के अधिकारीगण की भक्ति सम्राट् के प्रति थी, इसलिए वे कम्पनी के कर्मचारियों की श्रेणी में नहीं आते थे। समस्या बहुत ही जटिल थी; कौन कम्पनी का कर्मचारी है, इसका निर्णय करना सुगम न था।

अंतिम बात यह कि भारत में कम्पनी के प्रदेशों के लिये एक सर्वोच्च सत्ता की स्थापना का ऐक्ट में जो प्रयास किया गया था वह बहुत अधूरा तथा अपूर्ण था। बम्बई तथा मद्रास की प्रेज़ीडेन्सियों पर नियन्त्रण का जो अधिकार बंगाल के गवर्नर-जनरल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को दिया गया, वह बहुत अपूर्ण था। उसके अधिकार को भारतीय शासकों के साथ शांति तथा युद्ध और वार्तालाप करने तक सीमित रखना तो अनुचित था ही, किन्तु इस क्षेत्र में भी वह अधूरा था। अधीनस्थ प्रेज़ीडेन्सियों को गवर्नर-जनरल के आदेशों का उल्लंघन करने की काफ़ी गुंजायश छोड़ दी गई थी।

अन्त में, हम यह भी देख सकते हैं कि रेगूलेटिंग ऐक्ट की वे व्यवस्थायें, जिन्हें कि इंग्लैण्ड में कम्पनी के संघटन को सुधारने के लिए बनाया गया था, भी अपने ध्येय में सफल नहीं हुईं। १७८१ में नियुक्त की गई प्रवर समिति की नवीं रिपोर्ट के लेखकों का कहना था कि *कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स* से सम्बन्धित नियम जिन दो सिद्धान्तों पर आधारित थे, वे मिथ्या थे। लघुतर संख्या से ही गुटबन्दी तथा अव्यवस्था का सदैव अन्त नहीं हो जाता और अधिक सम्पत्ति से सदाचार का आ जाना आवश्यक नहीं। मतदाताओं की योग्यता को बढ़ा कर एक हज़ार पाउण्ड के स्टॉक के स्वामित्व तक कर देने के फलस्वरूप छोटे स्वामियों को क्षति पहुँची जो कि वोटों को विभक्त नहीं कर सकते थे, और उनको लाभ पहुँचा जो कि ऐसा कर सकते थे। *कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स* के प्रतिवर्ष आंशिक रूप से पुनर्निर्माण की व्यवस्था सर्वथा विफल रही; निवृत्त होने वाले छः डायरेक्टर अगले वर्ष में भी चुन लिये जाते थे। के (Kaye) के शब्दों में रेगूलेटिंग ऐक्ट के परिणामस्वरूप तीस डायरेक्टरों की एक ऐसी संस्था बन गई जिसमें से छः बारी बारी से निकल जाते थे।

रेगूलेटिंग ऐक्ट के कुछ वर्षों तक क्रियान्वित रहने के फलस्वरूप जो कठिनाइयाँ सामने आईं उनके विषय में काफी कहा जा चुका है। १७८१ में संसद ने बंगाल प्रेज़ीडेन्सी में न्याय प्रशासन की जांच कराई जिसके परिणामस्वरूप उसी वर्ष संशोधन अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थाओं का उल्लेख करने से पूर्व हम रेगूलेटिंग ऐक्ट की उन विशेषताओं का उल्लेख करना चाहते हैं जिन्होंने कि इसे इतना महान् सांविधानिक महत्त्व प्रदान किया है।

ऐक्ट का सांविधानिक महत्त्व :— १७७३ के रेगूलेटिंग ऐक्ट में कुछ भी दोष और त्रुटियां क्यों न रही हों, किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यह भारत के सांविधानिक विकास के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण युग के आवर्त्तन की सूचना देता है। इससे भारत में कम्पनी के मामलों पर संसद के नियन्त्रण का आरंभ होता है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है यह उन कतिपय अधिनियमों में सर्वप्रथम है जिन्होंने कि कम्पनी को एक अर्द्ध-राजकीय विभाग सा बनाकर छोड़ दिया। दूसरे, यह उन बहुत से अधिनियमों में भी सर्वप्रथम है जिन्होंने कि समय समय पर भारत सरकार के ढांचे की रूपरेखा को निर्धारित किया है। तीसरे, बंगाल के गवर्नर को गवर्नर-जनरल की संज्ञा देकर और बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों को कुछ विषयों में उसके अधीन बनाकर इस ऐक्ट ने भारत में कम्पनी के समस्त प्रदेशों के लिए एक सर्वोच्च सत्ता की स्थापना का एक प्रयास किया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ऐसा करके भारत में एक एकात्मक (Unitary) प्रणाली की आधार-शिला रक्खी। अन्तिम बात यह कि इसने कम्पनी के अस्पष्ट और निरंकुश शासन के स्थान में भारत को एक बहुकल (Collegiate) कार्यपालिका प्रदान की। यह ऐक्ट भारत में कम्पनी के प्रदेशों में सुशासन स्थापित करने का एक साहसिक प्रयास था।

२– १७८१ का संशोधन अधिनियम

जैसा कि इसके नाम, *बंगाल न्यायिक अधिनियम* (The Bengal Judicature Act), से ही प्रकट है, इसका ध्येय उच्चतम न्यायालय की शक्तियों को परिभाषित करना, और उसके अधिकार-क्षेत्र तथा गवर्नर-जनरल और उसकी काउन्सिल के साथ उसके सम्बन्धों से सम्बन्धित प्रश्नों (जो कि रेगूलेटिंग ऐक्ट से उत्पन्न हो गये थे) का समाधान करना था। इसने यह व्यवस्था की कि राजस्व से सम्बन्धित तथा उसके वसूल करने के लिए किये गये किसी भी कार्य में हस्तक्षेप करने का उच्चतम न्यायालय को कोई अधिकार न होगा। इसने यह भी निर्धारित किया कि कोई व्यक्ति न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में केवल इसी लिये नहीं आजायेगा कि वह एक भूस्वामी, भूमिधर अथवा खेतिहर है, अथवा अपने भूमि पर अधिकार के बदले में, या सरकार को दिये जाने वाले लगान के वसूल करने के बदले में कुछ प्रतिफल प्राप्त कर रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि मालगुज़ारी अथवा लगान के वसूल करने में लगे हुए व्यक्तियों पर उच्चतम न्यायालय के अधिकार का निषेध कर दिया गया। गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल के सार्वजनिक स्थिति में किये गये प्रत्येक कार्य को, चाहे वह व्यक्तिगत रूप से किया गया हो या सामूहिक रूप से, इस अधिनियम के द्वारा उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर कर दिया गया। एक अधीनस्थ पदाधिकारी अपने कार्य के लिये गवर्नर-जनरल और उसकी काउन्सिल के आदेश के नाम पर अभिमुक्ति की मांग कर सकता था। इस अधिनियम ने मुफ़स्सिल न्यायालयों को भी अभिमुक्त कर दिया। इसका अर्थ यह है कि उच्चतम न्यायालय तथा गवर्नर-जनरल और उसकी काउन्सिल के बीच प्रायः प्रत्येक विवादग्रस्त प्रश्न पर इस अधिनियम ने उत्तरोक्त का ही समर्थन किया। इस प्रकार इसने उच्चतम न्यायालय के मुक़ाबिले में कार्यपालिका की स्थिति को काफ़ी मज़बूत बना दिया।

इस अधिनियम ने उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र को भी निश्चित कर दिया। इसे कलकत्ता के समस्त निवासियों पर समस्त मामलों में अधिकार प्राप्त था। उत्तराधिकार तथा संविदा सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय यदि सम्बन्धित पक्षकार मुसलमान हों तो मुस्लिम क़ानून के अनुसार, और हिन्दू हों तो हिन्दू क़ानून के अनुसार होना था। यदि दो पक्षकार विभिन्न धर्मों के मानने वाले हों तो प्रतिवादी का व्यक्तिगत क़ानून लागू होना था। भारत में अंग्रेज़ों तथा कम्पनी के कर्मचारियों पर न्यायालय का अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल कुछ दीवानी के मामलों में था, और वह भी पक्षकारों की रज़ामन्दी से; उनके उत्तराधिकार विषयक मामलों में उसे कोई अधिकार प्राप्त न था।

इस अधिनियम ने ग्रामों के मामलों में गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल के अधिकार को स्वीकार किया, और कुछ दबे शब्दों में उसकी पुष्टि की।

अन्त में हम इस अधिनियम की एक अन्य व्यवस्था की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिसका कि भारत के व्यवस्थापन के इतिहास में बहुत बड़ा महत्त्व है। इसमें गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल को परिषदों तथा न्यायालयों के लिए नियम बनाने का अधिकार दे दिया। इन नियमों की प्रतिलिपियां *कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स* को तथा एक मंत्री को भेजने की व्यवस्था की गई। दो वर्ष के अन्दर इनको सम्राट (King-in-Council) रद कर सकता था। इसमें इस बात की कोई व्यवस्था नहीं की गई कि क्रियान्वित होने से पूर्व इन नियमों को उच्चतम न्यायालय के पास रजिस्टर कराया जाय और उसकी स्वीकृति ली जाय। १७७२ में न्याय प्रशासन के लिए वारन हेस्टिंग्स ने जो नियम जारी किये उन्हें कुछ परिवर्धित रूप में जारी किया गया, और १७८१ में उन्हें एक संहिता (Code) का रूप दे दिया गया। तदुपरान्त गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल ने १७८१ के अधिनियम द्वारा दी गई शक्तियों के अन्तर्गत काम करना अधिक पसन्द किया जिसके अनुसार नियमों को उच्चतम न्यायालय के पास भेजना आवश्यक न था।

१७८१ में पारित एक अन्य अधिनियम के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने प्रदेशों से प्राप्त होने वाले कर में ब्रिटिश सरकार के उस वर्ष की एक मार्च तक के भाग के बदले में चार लाख पाउण्ड अदा करे। उसके बदले में उसके अधिकारों की अवधि १ मार्च १७९१ के बाद तीन वर्ष के नोटिस तक बढ़ा दी गई। कम्पनी से उसकी इच्छानुसार भारत भेजी जाने वाली सेनाओं के लिए प्रति एक हज़ार के दस्ते के लिए ब्रिटिश सरकार को २१ लाख रुपया प्रति वर्ष देने की मांग की गई।

१७८१ के संशोधन अधिनियम के इस विवरण को समाप्त करने से पूर्व हम एक विलक्षण तथ्य का उल्लेख करना चाहते हैं। १७७३ के अधिनियम में गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल के सदस्यों की अवधि पांच वर्ष नियत की गई थी। साधारणतः वारन हेस्टिंग्स की अवधि १७७९ में समाप्त होती। किन्तु वह अपने पद पर बना रहा। अमरीका में ख़तरनाक स्थिति ने उसकी सहायता की। १७७९ और १७८० में कम्पनी के अधिकारों को एक वर्ष के लिये बढ़ाने और गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल के अपने पदों पर बने रहने के उद्देश्य को लेकर अधिनियम बनाए गये। जैसा कि हम पहिले ही देख चुके हैं, १७८१ के अधिनियम ने कम्पनी के अधिकारों को अनिश्चित काल के लिए बढ़ा दिया, जिन्हें कि १ मार्च, १७९१ के बाद तीन वर्ष के नोटिस पर ही समाप्त किया जा सकता था। वारन हेस्टिंग्स भी गवर्नर-जनरल के पद पर आरूढ़ रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३– पिट का भारत अधिनियम : १७८४

अधिनियम को पास कराने वाली परिस्थितियाँ :— भारत के सांविधानिक विकास के इतिहास में अगला महत्त्वपूर्ण क़दम है १७८४ का सुविख्यात पिट का भारत अधिनियम। इसे भली प्रकार समझने के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं जिन के कारण कि यह अधिनियम बनाया गया।

भारत में कम्पनी के मामलों पर प्रभावक नियन्त्रण के लिए आन्दोलन १७८१ के संशोधन अधिनियम के बाद भी चलता रहा। संसदीय समिति (Parliamentary Committee), जिसकी रिपोर्ट के आधार पर संशोधन अधिनियम को बनाया गया था, ने अपना काम जारी रखा और उसने कई रिपोर्ट पेश कीं। उसके अतिरिक्त एक समिति और भी थी जो कि गुप्त रूप से मिलती थी और जिसने कर्नाटक में युद्ध के कारणों की खोज की। इन दोनों समितियों ने भारत में शासन प्रणाली की तथा उसे चलाने वालों की तीव्र आलोचना की। 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' ने वारन हेस्टिंग्स तथा इम्पे को वापिस बुलाने का प्रस्ताव किया। किन्तु 'कोर्ट ऑफ़ प्रोप्राइटर्स' ने उन्हें अपने पदों पर रखने का आग्रह किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कम्पनी तथा उसके प्रशासन पर मन्त्री मण्डल तथा संसद का नियन्त्रण कितना अपर्याप्त था। इसी बीच में लॉर्ड नॉर्थ की सरकार परास्त हो गई और उसके स्थान पर फ़ॉक्स तथा नॉर्थ की संयुक्त सरकार बन गई। डून्डस ने, जो कि विरोध पक्ष में था, यह प्रस्ताव पेश किया कि सम्राट को कम्पनी के मुख्य कर्मचारियों को वापिस बुलाने का अधिकार हो और गवर्नर-जनरल को प्रायः निरंकुश शक्तियां प्राप्त हों। इसने सरकार का इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक बना दिया।

फ़ॉक्स के अनुसार भारत में कम्पनी की दशा इतनी ख़राब थी कि उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता और उसका शासन अराजकता और अव्यवस्था का शासन था। इस स्थिति का अन्त करने के लिये उसने १८ नवम्बर, १७८३ को अपना प्रसिद्ध विधेयक पेश किया। उसका उद्देश्य बड़ा स्पष्ट और सरल था; वह था भारतीय प्रदेशों पर शासन करने के अधिकार को कम्पनी से छीन लेना। अपने इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसने यह प्रस्थापना रखी कि 'कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स' तथा 'कोर्ट ऑफ़ प्रोप्राइटर्स' को हटाकर उनके स्थान पर सात कमिश्नरों का एक निकाय स्थापित कर दिया जाय। कमिश्नरों के नाम अधिनियम में ही दिये जाने थे और उनकी कार्यावधि चार वर्ष थी। उन्हें संसद के किसी भी सदन की प्रार्थना पर सम्राट द्वारा ही हटाया जा सकता था। उस निकाय में रिक्त स्थानों की पूर्ति सम्राट द्वारा होनी थी। यदि यह विधेयक क़ानून बन जाता तो कम्पनी पर पूर्णरूप से ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो जाता और उसकी महान् शक्तियां छिन जातीं। एक ब्रिटिश इतिहासकार का कहना है कि यह एक बड़ी समस्या को सुलझाने का एक सच्चा और दूरदर्शितापूर्ण प्रयास था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु फ़ॉक्स-नॉर्थ मन्त्रीमण्डल की अप्रियता और फॉक्स की चातुर्यहीनता ने इसे नष्ट कर दिया। कम्पनी का विश्वास प्राप्त करने के बजाय फॉक्स ने उसे दिवालिया कह कर और यह घोषित कर के कि बंगाल के कुशासन के कारण उसने भारत का प्रबन्ध करने का अधिकार खो दिया है कम्पनी को विक्षुब्ध कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने कमिश्नरों का चुनाव संसद के समस्त दलों में से नहीं किया, वरन् अपने समर्थकों में से ही उन सब की नियुक्ति कर दी। सम्राट ने भी उस विधेयक का विरोध किया। इसलिये यद्यपि 'हाउस ऑफ कॉमन्स' ने उसे पास कर दिया, 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' में वह गिर गया। उसके गिरने के फलस्वरूप फॉक्स-नॉर्थ मंत्रीमण्डल को त्याग-पत्र देना पड़ा और उसके स्थान में 'पिट दी यङ्गर' (Pitt the Younger) के नेतृत्व में एक नया मंत्रीमण्डल बना।

जिस समय वह विरोध पक्ष में था तो पिट ने फॉक्स के विधेयक का घोर विरोध किया था। परन्तु वह भी भारत की स्थिति में परिवर्तन होने को न रोक सकता था। इसलिये उसने संसद में एक अपना विधेयक पेश किया जिस के अनुसार कम्पनी पर सरकार का प्रत्यक्ष तथा स्थायी नियन्त्रण तो स्थापित हो जाता, किन्तु उसके संविधान में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन न होता और संरक्षण तथा पोषण की उसकी शक्तियां एकदम 'क्राउन' के हाथों में न पहुँच जातीं। वह फॉक्स की उन प्रस्थापनाओं से बिल्कुल दूर रहा जिन से कि कम्पनी रुष्ट हो गई थी। यह विधेयक जनवरी, १७८४ में पेश किया गया। हाउस ऑफ कॉमन्स में भारी बहुमत वाले विरोधी पक्ष ने इस विधेयक की जो कटु आलोचना की उससे विवश होकर पिट ने हाउस को विघटित करा दिया और उसने देश से अपील की। आम चुनाव का परिणाम उसके बहुत अनुकूल रहा। वह भारी बहुमत के साथ विजयी हुआ। उसने कुछ थोड़ा सा संशोधन करके अपने विधेयक को फिर से पेश किया और अगस्त में वह पास हो गया। अब हम इसकी मुख्य व्यवस्थाओं का वर्णन करेंगे।

पिट के भारत अधिनियम की मुख्य व्यवस्थायें :— पिट के भारत अधिनियम का मसविदा बड़े चातुर्य के साथ तय्यार किया गया था; बर्क के शब्दों में 'यह अपने उद्देश्य की दृष्टि से इतनी योग्यता और चातुर्य के साथ तय्यार किया गया था जितनी कि मनुष्य की बुद्धि में कभी पाई जाती थी।' इस का महान् गुण यह था कि इसके द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर ब्रिटिश सरकार का प्रत्यक्ष तथा स्थायी नियन्त्रण तो स्थापित हो गया, किन्तु यह उन बातों से मुक्त था जिन के कारण कि फॉक्स के विधेयक से कम्पनी अत्यन्त विक्षुब्ध हो गई थी और वह परास्त हो गया था। इसने कम्पनी के संविधान में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किया और संरक्षण तथा पोषण का अधिकार कम्पनी से छीन कर ब्रिटिश सरकार को नहीं दिया। उसने रेगुलेटिंग ऐक्ट के क्रियान्वित रूप के अनुभव और फॉक्स के भारत अधिनियम के विरुद्ध जो आलोचना की गई थी उससे लाभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठाया। इसलिए उसने अपना विधेयक इस प्रकार बनाया जिससे कम्पनी के ऊपर प्रभावक नियन्त्रण तो हो जाय किन्तु उसके अधिकार समाप्त न हों, और जिस से उस की शासन-प्रणाली में परिवर्तन तो हो जाय, किन्तु मनुष्य के अधिकारों पर जिस से आघात न हो।

कम्पनी को सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में लाने के लिए पिट ने छः कमिश्नरों के एक बोर्ड की व्यवस्था की, जिसे सामान्यतया *'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल'* (Board of Control) कहते हैं। इस में वित्त मंत्री (Chancellor of the Exchequer), एक प्रमुख मंत्री तथा प्रिवी काउन्सिल के चार सदस्य सम्मिलित होते। कमिश्नरों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती और उनका कार्यकाल सम्राट की इच्छापर्यन्त होता। यह 'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल' एक स्वतन्त्र कार्यपालक निकाय नहीं था जैसा कि फॉक्स के अधिनियम में पाया जाता था; यह सरकार के साथ सम्बद्ध था। इस के दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य वित्त मंत्री तथा एक अन्य मंत्री— प्रत्येक मंत्रीमण्डल के साथ बदल जाते। इसके अतिरिक्त बोर्ड को कम्पनी के कर्मचारियों को नियुक्त करने या हटाने का कोई अधिकार न था। परन्तु दूसरी बातों में यह कम्पनी पर उतना ही व्यापक नियन्त्रण कर सकता था जितना कि फॉक्स के अधिनियम के द्वारा सम्भव हो सकता था। बोर्ड को ईस्ट इण्डीज़ में ब्रिटिश प्रदेशों के वित्त तथा नागरिक अथवा सैनिक शासन से सम्बन्धित समस्त कार्यों को निर्दिष्ट और नियंत्रित करने का अधिकार दिया गया। कम्पनी के समस्त कागज़ों, पत्रों, लेख्यों इत्यादि को देखने का भी इसे अधिकार था। 'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल' जो भी सूचना उस से मांगे 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' उसे देने के लिये बाध्य था। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये डायरेक्टर्स भारत में अपने कर्मचारियों से प्रत्येक पत्र की दो प्रतिलिपियां मंगाते थे जिन में से एक तुरन्त 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' के पास भेज दी जाती थी। बोर्ड जो आदेश आवश्यक समझता जारी कर सकता था। सारांश यह कि बोर्ड को भारतीय विषयों की पूर्ण जानकारी रखने का और डायरेक्टरों की भूलों को सुधारने का पूर्ण अधिकार था। भारत को भेजे जाने वाले प्रत्येक आदेश के लिये बोर्ड की सहमति आवश्यक थी; बोर्ड को उसमें कोई भी संशोधन करने, अथवा उसके स्थान में एक नवीन आदेश रख देने का अधिकार था। साधारणतया बोर्ड अपने आदेश कोर्ट के नाम और उसके द्वारा भेजता था, किन्तु उसे उन्हें सीधे अधिनियम द्वारा स्थापित तीन व्यक्तियों की एक 'गुप्त समिति' (Committee of Secrecy) के पास भेजने का भी अधिकार था जो कि उन्हें डायरेक्टरों को दिखाये बिना ही भारत में कम्पनी के अधिकारियों के पास भेज देती थी। डायरेक्टरों के लिए बोर्ड के आदेशों का पालन करना आवश्यक था। इस प्रकार न केवल वे अधिकार जो 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' के पास थे बोर्ड को हस्तान्तरित कर दिये गये, वरन् 'कोर्ट ऑफ़ प्रोप्राइटर्स' की प्रधानता भी छीन ली गई। वह 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' के एक ऐसे निर्णय को रद नहीं कर सकता था जिसे कि बोर्ड की स्वीकृति मिल चुकी हो। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार राजनीतिक शक्ति बोर्ड को हस्तान्तरित कर दी गई; 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' का स्थान गौण रह गया। उनके पास एकमात्र उपचार यह रह गया कि वे सम्राट के पास याचिका भेजकर बोर्ड के किसी आदेश को इस आधार पर चुनौती दे सकते थे कि वह भारत में कम्पनी के राजस्व अथवा नागरिक अथवा सैनिक प्रशासन से सम्बन्धित है। 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' ने इस अधिकार का प्रयोग केवल एक बार किया, १७८६ में।

बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल की शक्तियों के उक्त विवरण से यह प्रकट होता है कि भारतीय प्रशासन में डायरेक्टरों की स्थिति बड़ी हीन कर दी गई। परन्तु स्थिति ऐसी नहीं थी। डायरेक्टर्स अब भी काफी शक्तिशाली थे; उन्हें भारत में अपने कर्मचारियों को नियुक्त करने, उन्हें पदच्युत करने, नीति निर्धारित करने तथा बहुत बड़े व्यापार को नियन्त्रित करने की महान् शक्तियाँ प्राप्त थीं। साधारणतया बोर्ड एक नीति निर्धारित करने वाला निकाय नहीं था; वह केवल डायरेक्टरों के कार्यों में संशोधन कर सकता था और उन पर नियन्त्रण कर सकता था। यदि डायरेक्टरों की समस्त शक्तियों को छीना जाता तो वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका विरोध करते जैसा कि उन्होंने फॉक्स के अधिनियम का किया था। इसके अतिरिक्त बोर्ड डायरेक्टरों को तफसील की बातों में स्वच्छन्द छोड़ने के लिये तैयार था; उनमें हस्तक्षेप करने का उसका कोई विशेष इरादा न था। उसकी दिलचस्पी तो केवल भारत के शासकों की विदेश नीति तथा कम्पनी की व्यापारिक नीति में थी।

यह बहुत सम्भाव्य है कि डायरेक्टरों के ऊपर नियन्त्रण करने में यदि बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल कानून का अक्षरशः पालन करता तो काफी कठिनाइयां उत्पन्न हो जातीं। "परन्तु अंग्रेज़ों की समझौते की स्वाभाविक भावना ने दोनों पक्षों का कार्य सुगम बना दिया। डायरेक्टरों को ज्योंही पत्र मिलते थे वे उन्हें तुरन्त बोर्ड के पास भेज देते थे। तत्पश्चात् चेयरमैन तथा प्रेज़ीडेन्ट साथ साथ चाय पीते हुए वार्तालाप करते थे जबकि चेयरमैन इस बात को इंगित करता था कि पत्र के ऊपर वह क्या कार्यवाही करना चाहता है। इस पर विचार विनिमय होता था और प्रायः दोनों एक निश्चित नीति पर सहमत हो जाते थे। तब चेयरमैन डायरेक्टरों की एक बैठक बुलाता था जिसमें कि वह उस नीति के लिए स्वीकृति प्राप्त कर लेता था जिस पर कि वह तथा प्रेज़ीडेन्ट पहिले ही सहमत हो चुके थे। उचित समय पर प्रस्तावित पत्र का मसविदा बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के पास भेज दिया जाता था। तब प्रेज़ीडेन्ट अपनी स्वीकृति देता था जिसके पश्चात् अंतिम मसविदा प्रस्तुत किया जाता और स्वीकृत कर लिया जाता था। अनुमान किया जाता है कि १७८४ और १८३३ के बीच में कोई पचास प्रतिशत पत्रों को बोर्ड ने पूर्णतया स्वीकार किया।..... जो पत्र डायरेक्टरों के स्पष्ट और दृढ़ विरोध के बावजूद जारी किये गए उनकी संख्या केवल पांच प्रतिशत थी।"*

* Shri Ram Sharma: *A Constitutional History of India*, page 27.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोर्ड के प्रेज़ीडेन्ट के पद का आविर्भाव किस प्रकार हुआ और किस प्रकार प्रेज़ीडेन्ट बोर्ड की ओर से कार्य करने लगा, इस विषय में यहां पर दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। बोर्ड की बैठक के लिए आवश्यक कोरम तीन था। उसकी बैठकों का सभापतित्व चान्सलर को और उसकी अनुपस्थिति में, 'सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट' को करना था। यदि ये दोनों ही अनुपस्थिति होते जैसा कि वे आम तौर से होते थे क्योंकि वे दोनों व्यस्त मंत्री थे और बोर्ड की बैठकों में आने के लिए उनके पास समय न था, और इसलिए शीघ्र ही उन्होंने उनमें आना छोड़ दिया, तो सीनियर सदस्य सभापतित्व करता था। इस प्रकार सीनियर सदस्य स्वतः ही बोर्ड का प्रेज़ीडेन्ट बन गया। तीन जूनियर सदस्यों को भी बैठकों में आने की कोई रुचि न थी, इसलिये वे भी चुपचाप अलग हो गये। इस प्रकार प्रेज़ीडेन्ट ही बोर्ड का कार्य करने लगा। कोरम की औपचारिकता की पूर्ति करने के लिए प्रेज़ीडेन्ट चान्सलर तथा सेक्रेटरी के हस्ताक्षर प्राप्त कर लेता था। इस आरोप से बचने के लिए कि भारत के प्रशासन के नियन्त्रण का भार अंग्रेज़ करदाता पर डाला जा रहा है, ऐक्ट में यह व्यवस्था की गई कि प्रिवी काउन्सिल के चार सदस्यों को कोई वेतन नहीं मिलेगा। परन्तु ऐसा इरादा भी कभी नहीं था कि वे बिना किसी प्रतिफल के ही कार्य करेंगे। उनके लिए ऐसे पदों की व्यवस्था की गई जिनसे कुछ प्रतिफल मिले किन्तु काम कुछ न करना पड़े। इस प्रकार बोर्ड के सदस्य मंत्री परिषद का एक भाग बन गए, जिन्हें सरकार के बदल जाने पर अपना पद छोड़ना पड़ता था। कीथ के शब्दों में "व्यवहार में प्रेज़ीडेन्ट ही भारत मन्त्री था और भारतीय विषय उसी प्रकार मंत्री मण्डल के अधिकार क्षेत्र में आ गये जिस प्रकार कि वे औपनिवेशिक विषय जोकि एक मंत्री के हाथ में थे।"

इस पद्धति को आम तौर से द्वैध शासन प्रणाली कहा जाता था। इसे इस नाम से इसलिए पुकारा जाता था क्योंकि इसके अन्तर्गत इंग्लैण्ड में भारतीय विषयों का प्रबन्ध दो स्वतन्त्र अधिकारियों— 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' तथा 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स'— के द्वारा किया जाता था। पिट के भारत अधिनियम के पास होने से पहिले कम्पनी के विषयों का प्रबन्ध 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' द्वारा होता था (जोकि 'कोर्ट ऑफ़ प्रोप्राइटर्स' के उच्चतर अधिकार के अधीन था।) गवर्नर जनरल, गवर्नर तथा काउन्सिलर सरीखे उच्चाधिकारियों की नियुक्ति और भारतीय विषयों से सम्बन्धित नीति को निर्धारित करने का कार्य डायरेक्टरों का ही था। १७८४ के अधिनियम ने इस अधिकार को बनाये रखा, किन्तु इसे 'बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल' के अधीन कर दिया जिसे कि भारत में कम्पनी के शासन पर नियन्त्रण करने का अधिकार दिया गया। नियन्त्रण तथा विनियमन की यह जटिल प्रणाली, जिसमें कि समय समय पर संशोधन होता रहा, १८५८ तक चलती रही जब कि भारत के सुशासन का उत्तरदायित्व 'क्राउन' ने अपने हाथों में ले लिया। (पिट के अधिनियम ने इंग्लैण्ड में कम्पनी के मामलों के लिये जो द्वैध शासन प्रणाली क़ायम की वह उस द्वैध शासन से सर्वथा भिन्न है जो कि क्लाइव ने बंगाल में स्थापित किया था।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अधिनियम द्वारा भारत में शासन व्यवस्था में जो परिवर्तन किये गये उनका वर्णन करने से पूर्व हम यह देख सकते हैं कि सर्वप्रथम इसमें भारत में कम्पनी के प्रदेशों को 'ब्रिटिश प्रदेश' कहकर पुकारा गया।

१७८४ के अधिनियम ने विभिन्न प्रेज़ीडेन्सियों के शासन में जो परिवर्तन किये और बम्बई तथा मद्रास की सरकारों पर गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल के अधिकार को बढ़ाने के लिये इसमें जो क़दम उठाये गये, अब हम उनका संक्षेप में उल्लेख करेंगे। इसने कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में काउन्सिलों के सदस्यों की संख्या को घटा कर तीन कर दिया, जिनमें से एक प्रेज़ीडेन्सी में कम्पनी की सेना का प्रधान सेनापति होना था। यदि बंगाल का प्रधान सेनापति बम्बई या मद्रास में होता तो वह काउन्सिल में स्थानीय प्रधान सेनापति का स्थान लेता, यद्यपि उत्तरोक्त वहां उपस्थित हो सकता था। काउन्सिल में प्रधान सेनापति का स्थान गवर्नर-जनरल (अथवा गवर्नर, जैसी भी स्थिति हो) से दूसरा होता था। काउन्सिलों की सदस्य संख्या चार से घटा कर तीन कर देना एक महत्त्वपूर्ण बात थी, क्योंकि इससे गवर्नर-जनरल (तथा गवर्नर) अपने निर्णायक मत का अधिक प्रभावक रूप से प्रयोग कर सकते थे। यदि वह एक सदस्य को भी अपने पक्ष में करने में सफल हो जाता तो वह अपने निर्णायक मत की सहायता से अपनी इच्छानुसार शासन चला सकता था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि काउंसिलों के सदस्यों को भारत में कम्पनी के सीनियर कर्मचारियों में से नियुक्त करने की व्यवस्था की गई, इंग्लैण्ड के सार्वजनिक व्यक्तियों में से नियुक्ति करने की व्यवस्था का, जो १७७३ के अधिनियम ने की थी, परित्याग कर दिया गया; वह पूर्णतया असफल रही थी। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि १७७६ में वारन हेस्टिंग्स ने किस प्रकार त्याग-पत्र दिया था, और उस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए इस अधिनियम ने यह व्यवस्था की कि समस्त त्याग-पत्र लिखित रूप में दिये जाने चाहियें।

१७८४ के अधिनियम ने भारत में नागरिक तथा सैनिक पदों पर नियुक्ति करने का अधिकार 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' को सौंप दिया; नौकरियां देकर दूसरों को कृतज्ञ करने का अधिकार बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल को नहीं दिया गया। इस प्रकार डायरेक्टर्स ही गवर्नर-जनरल, बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों, तथा कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की काउंसिलों के सदस्यों तथा प्रधान सेनापतियों की नियुक्तियां करते थे। क्राउन को उन्हें हटा देने का अधिकार था, यद्यपि उनकी नियुक्ति में उसका कोई हाथ नहीं होता था। डायरेक्टरों को भी कम्पनी के किसी भी कर्मचारी को हटा देने का अधिकार था। कम्पनी के किसी भी कर्मचारी को हटा देने के क्राउन के अधिकार के प्रयोग से सम्भाव्य कठिनाइयों को उत्पन्न होने से रोकने के लिए एक परम्परा यह बन गई कि गवर्नर-जनरल, बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों, तथा तीनों प्रेज़ीडेन्सियों के प्रधान सेनापतियों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काउंसिल सदस्यों की नियुक्ति ब्रिटिश मंत्रिमंडल के परामर्श से की जाय। प्रत्यावर्त्तन (Recall), अर्थात् किसी को पद से हटा देने का प्रयोग, एक बार क्राउन ने और एक बार डायरेक्टरों ने किया था। यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि काउंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति तो कम्पनी के मान्यता-प्राप्त कर्मचारियों में से ही हो सकती थी, किन्तु गवर्नर-जनरल, गवर्नरों तथा प्रधान सेनापतियों की नियुक्ति ब्रिटेन के राजनीतिक जीवन में भाग लेने वाले व्यक्तियों में से की जा सकती थी, और आम तौर से ऐसा ही होता भी था। केवल असाधारण और अपवादस्वरूप स्थिति में ही भारत में कम्पनी के कर्मचारियों में से बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों की नियुक्ति की गई।

एक केन्द्रीय सरकार के अधीन भारत के एकीकरण की जिस प्रक्रिया को मोटे रूप से १७७३ के रेगुलेटिंग ऐक्ट ने आरम्भ कर दिया था, उसे पिट के अधिनियम ने एक कदम और आगे बढ़ाया। इस के द्वारा बम्बई तथा मद्रास के शासन पर बंगाल के गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल का पहिले की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण हो गया। बंगाल के गवर्नर जनरल तथा उसकी काउंसिल को दूसरी प्रेज़ीडेन्सियों का निर्देशन तथा नियन्त्रण करने का अधिकार ऐसे समस्त विषयों में दे दिया गया जोकि युद्ध या संधि, अथवा युद्ध में उन प्रेज़ीडेन्सियों के वित्त या सेना के प्रयोग से सम्बन्ध रखते हों, तथा वे समस्त विषय जोकि 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' समय समय पर उनके पास भेजे। बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को, गवर्नर जनरल तथा उसकी काउंसिल की स्पष्ट स्वीकृति के (आकस्मिक खतरे और आपत्ति की स्थिति के अतिरिक्त) बिना किसी भी भारतीय राजा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने, अथवा उससे संधि करने का निषेध कर दिया गया। यदि किसी प्रेज़ीडेन्सी की सरकार गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउंसिल की आज्ञाओं का उल्लंघन करती तो उत्तरोक्त द्वारा उसे मुअत्तिल (Suspend) किया जा सकता था। अधीनस्थ प्रेज़ीडेन्सियों की सरकारों के लिये अपने बनाये हुए समस्त नियमों की प्रतिलिपियां गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउंसिल के पास भेजना आवश्यक था। इस प्रकार सैनिक तथा कूटनीतिक विषयों का संचालन गवर्नर-जनरल तथा उस की काउंसिल के हाथों में केन्द्रित हो गया; संधियां करने का अधिकार केवल उन्हें ही था।

१७७३ के अधिनियम में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये जो व्यवस्थायें की गई थीं, १७८४ के अधिनियम में भी वे दी गईं और उन्हें अधिक दृढ़ बनाया गया। उपहारों को स्वीकार करना बलात् सम्पत्तिहरण समझा गया और इसलिये उसे दण्डनीय बना दिया गया। भारत में कम्पनी के कर्मचारियों के लिए यह आवश्यक बना दिया गया कि इंग्लैण्ड लौट कर जाने पर वे सशपथ उस सम्पत्ति की घोषणा करें जोकि वे भारत से अपने साथ ले गए हों, और उनके अपराधों का निर्णय करने के लिए तीन न्यायाधीशों, चार लॉर्डों तथा छः 'हाउस ऑफ कॉमन्स' के सदस्यों को मिला कर एक विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की गई। किन्तु ऐसे न्यायालय की स्थापना हुई कभी नहीं। गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों को ऐसे व्यक्तियों को गिरफ्तार करने का अधिकार दिया गया जिन पर कि अधिकारसम्पन्न व्यक्तियों (चाहे वे यूरोपियन बस्तियों में हों, चाहे देशी रियासतों में) के साथ पत्र-व्यवहार करने का सन्देह हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया गया।

पिट के भारत अधिनियम का सांविधानिक महत्त्व :— १७८४ के अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाओं के उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि यह अधिनियम भारत के सांविधानिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने न केवल भारत में कम्पनी के शासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये बल्कि इसने जो बात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण की वह यह कि इसके द्वारा भारत में कम्पनी का शासन ब्रिटिश शासन के निर्देशन तथा नियन्त्रण में आ गया। समस्त राजनीतिक तथा कूटनीतिक शक्ति जोकि पहिले डायरेक्टरों के पास थी बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल को हस्तान्तरित कर दी गई। यद्यपि डायरेक्टर लोग ही कम्पनी के कर्मचारियों की नियुक्तियां करते और उन्हें आदेश देते थे, किन्तु बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल उन कर्मचारियों को हटा सकता था और उनको दिये गए आदेशों में संशोधन कर सकता था। यद्यपि डायरेक्टरों के पास अब भी काफी शक्तियां थीं, किन्तु उन्हें पूर्ण रूप से बोर्ड के अधीन कर दिया गया। संक्षेप में, भारत में कम्पनी के शासन पर नियन्त्रण करने की वास्तविक और प्रभावक शक्ति बोर्ड को हस्तान्तरित कर दी गई। इस अधिनियम के द्वारा जो शासन व्यवस्था स्थापित की गई वह (जिस में कि बाद के अधिनियमों द्वारा कुछ संशोधन होता रहा) १८५८ तक चलती रही।

अधिनियम के दोष :— १७८४ के अधिनियम का मुख्य दोष यह था कि इसने एक ऐसी द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना की जिसके अन्तर्गत नियुक्तियाँ करने तथा नीति निर्धारित करने का अधिकार एक सत्ता के हाथों में और उन कर्मचारियों को पद से हटा देने तथा नीतियों में परिवर्तन करने का अधिकार दूसरी सत्ता के हाथों में दे दिया गया। इस प्रकार की प्रणाली निश्चित रूप से ही कठिनाइयाँ और गड़बड़ उत्पन्न करती है। यह सत्य है कि डायरेक्टरों तथा बोर्ड के प्रेज़ीडेन्ट के बीच बहुत अधिक संघर्ष नहीं हुए। किन्तु इसका श्रेय अधिनियम के अन्तर्हित गुणों को नहीं, वरन् उसे चलाने वालों की उदार तथा समझौते की भावना को दिया जाना चाहिये। इस व्यवस्था को सर कोर्टीने इल्बर्ट ने 'जटिल तथा विलम्बजनक' कह कर पुकारा है। इसके अन्तर्गत एक विषय को बार बार कभी 'बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल' के प्रेज़ीडेन्ट और कभी 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' के चेयरमैन के पास भेजना पड़ता था, जिसके कारण अनावश्यक रूप से विलम्ब होता था और यह सारी प्रक्रिया बहुत थकाने वाली भी थी। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत से भेजे हुए किसी पत्र का उत्तर आने में औसतन दो वर्ष लग जाते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका परिणाम यह हुआ कि प्रशासन पर वास्तविक अधिकार उन्हीं पदाधिकारियों का हो गया जो कि यहीं रहते थे, और 'भारतीय प्रशासन पर ब्रिटिश नियन्त्रण प्रायः ऐसा ही होता था जैसी कि शव परीक्षा'।

बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल जिस प्रकार कार्य करता था, उसका परिणाम यह हुआ कि नियन्त्रण का सारा कार्य एक व्यक्ति अर्थात् बोर्ड के प्रेज़ीडेन्ट के हाथों में आ गया। उसका मंत्रीपरिषद से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण संसद का बहुमत उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाता था। फलतः भारतीय प्रशासन पर व्यावहारिक रूप में संसदीय राजनीति का कोई अधिकार नहीं रहा ; ऐसा इसलिए और भी अधिक हो गया क्योंकि बोर्ड के प्रेज़ीडेन्ट के लिए भारतीय प्रश्नों के विषय में संसद के समक्ष कोई वार्षिक या अन्य किसी समय पर रिपोर्ट पेश करना आवश्यक नहीं था। फलतः प्रेज़ीडेन्ट प्रायः पूर्णतया उत्तर-दायित्वहीन हो उठा और संसद भारतीय विषयों से पूर्णतया अनभिज्ञ रह गई। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि डायरेक्टर प्रेज़ीडेन्ट को परिपोषण (Patronage) का अधिकार प्रत्येक डायरेक्टर से दोगुणा देकर उसे सन्तुष्ट और प्रसन्न रखते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि पिट का ध्येय चाहे कितना ही शुभ क्यों न रहा हो, और उसने इस अधिनियम का मसविदा कितनी ही बुद्धिमत्ता और चातुर्य के साथ क्यों न तय्यार किया हो, किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि अपने क्रियात्मक रूप में यह, भारतीय दृष्टिकोण से, अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं हुआ।

इस अधिनियम के दोषों का सारांश बहुत ही सुन्दर शब्दों में लॉर्ड पामर्स्टन के १८५८ में दिये गये एक भाषण के निम्नलिखित अवतरण में पाया जाता है। उसने कहा, "सरकार के कार्यों तथा उत्तरदायित्व का डायरेक्टरों, बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल तथा भारत में गवर्नर-जनरल के बीच विभाजन हो गया है, और यह बात स्पष्ट है कि इन तीनों के बीच ध्येय तथा उद्देश्य की कोई एकता नहीं हो सकती। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय के ऊपर भी किसी पत्र को भारत भेजने से पहिले उसे 'केनन रो' तथा इण्डिया हाउस के बीच चक्कर काटना पड़ता है, ... और राजधानी के इन दो छोरों के बीच एक पत्र का विचरण उतना ही विलक्षण है जितना कि 'गिनी' की भ्रमण कथायें जो कि हम सब ने पढ़ी हैं।"*

१७८६ का व्यवस्थापन :— हम ऊपर कह चुके हैं कि गवर्नर-जनरल की काउन्सिल के सदस्यों की संख्या को चार से घटाकर तीन कर देने का एक प्रभाव यह हुआ कि गवर्नर-जनरल अपने निर्णयात्मक मत का प्रयोग अधिक कर सकता था और प्रशासन को अपनी इच्छा के अनुसार चला सकता था। परन्तु लॉर्ड कार्नवालिस ने, जो कि वारन हेस्टिंग्स के पश्चात् गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ था, प्रधान सेनापति बनने का भी आग्रह

* Quoted by Sethi and Mahajan : *Constitutional History of India*, page 26.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। इसका अर्थ यह था कि उसकी काउन्सिल के सदस्यों की संख्या केवल दो ही रह गई। इस प्रकार गवर्नर-जनरल का निर्णयात्मक मत प्रभावहीन हो गया। इसलिये कार्नवालिस ने यह मांग की कि मेरे आवश्यक समझने पर मुझे काउन्सिल के निर्णयों को रद कर देने का अधिकार दिया जाय। १७८६ के अधिनियम द्वारा गवर्नर-जनरल की इन दोनों मांगों को स्वीकार कर लिया गया। इसके द्वारा यह व्यवस्था भी की गई कि गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति के नाम के लिये सम्राट् की स्वीकृति आवश्यक नहीं होगी। उसी वर्ष एक अन्य अधिनियम के द्वारा १७८४ के अधिनियम की इस व्यवस्था को रद कर दिया गया कि कम्पनी के कर्मचारियों को भारत से इंग्लैण्ड लौट कर जाने पर अपनी सम्पत्ति का विवरण देना होगा। लॉर्ड कार्नवालिस ने बंगाल के न्याय प्रशासन का पुनर्गठन किया और प्रसिद्ध *'स्थायी बन्दोबस्त'* (Permanent Settlement) को लागू किया।

४– १७९३ और १८१३ के चार्टर अधिनियम

१७९३ का चार्टर अधिनियम :— कम्पनी के चार्टर को हर बीस वर्ष बाद पुनस्स्वीकृति (Renewal) मिलने की आवश्यकता थी। पुनस्स्वीकृति देने के अवसर पर संसद भारत तथा इंग्लैण्ड में कम्पनी के मामलों की भली भाँति जांच पड़ताल करती थी और उसके व्यापार करने की अनुमति की शर्तों में कुछ परिवर्त्तन कर देती थी। जिस अधिनियम ने १७९३ में चार्टर को पुनस्स्वीकृति प्रदान की, उसे बिना किसी विशेष विरोध के ही पास कर दिया गया क्योंकि एक तो संसद का सारा ध्यान फ्रांस के साथ युद्ध पर केन्द्रित था और दूसरे कम्पनी की वित्तीय अवस्था कुछ सन्तोषजनक थी। यद्यपि १७९३ का चार्टर अधिनियम काफी दीर्घकाय है, किन्तु इसके द्वारा शासन प्रणाली में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया।

इसके द्वारा जो परिवर्तन किये गये, उनका महत्त्व बहुत साधारण है। उनमें कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है। इसने अगले बीस वर्षों के लिए कम्पनी के व्यापार के एकाधिकार को पुनस्स्वीकृति प्रदान की; सदस्यों की संख्या तथा योग्यताओं के सम्बन्ध में इसने बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के संविधान में परिवर्तन कर दिया, और बोर्ड के कर्मचारियों के वेतन तथा व्यय को भारतीय वित्त में से दिये जाने की व्यवस्था की। बोर्ड के सदस्यों की संख्या छः के बजाय पाँच कर दी गई क्योंकि जूनियर सदस्यों की संख्या को घटा कर चार से तीन कर दिया गया था। जूनियर सदस्यों में सब से सीनियर सदस्य को बोर्ड का प्रेज़ीडेन्ट बना दिया गया। शेष दो जूनियर सदस्यों का अब प्रिवी काउन्सिल के सदस्य होना आवश्यक नहीं रह गया। बोर्ड के सेक्रेट्री को संसद में बैठने की इजाज़त दे दी गई। डायरेक्टरों को लाभांश बढ़ा कर १०% तक कर देने की शक्ति दे दी गई।

गवर्नर-जनरल की अपनी काउन्सिल के निर्णय को रद करने की शक्ति की पुनरावृत्ति की गई। बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों को भी आवश्यकता पड़ने पर अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काउन्सिलों के निर्णयों को रद करने की शक्ति दे दी गई, किन्तु न्याय सम्बन्धी तथा करारोपण के विषयों में वे ऐसा नहीं कर सकते थे। गवर्नर-जनरल को अपनी काउन्सिल के लिए एक उपाध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार दे दिया गया जोकि उसकी अनुपस्थिति में उसके स्थान पर कार्य कर सके। गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल को बम्बई और मद्रास की सरकारों पर युद्ध तथा शांति, भारतीय रियासतों से सम्बन्ध, कर वसूल करने तथा उसे व्यय करने और सेना के प्रयोग करने से सम्बन्धित विषयों पर निर्देशन और नियन्त्रण के और अधिक व्यापक अधिकार दे दिये गए। इन सरकारों को गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउन्सिल के आदेशों का पालन करना, जब तक कि वे इंग्लैण्ड से आये हुए आदेशों के विरुद्ध न हों, आवश्यक बना दिया गया।

यहाँ इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि १७९३ के चार्टर ऐक्ट ने किस प्रकार भारत में केन्द्रीय शक्ति की वृद्धि में योग दिया। गवर्नर-जनरल बङ्गाल का गवर्नर-जनरल था किन्तु भारत का नहीं; वह बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को निर्देशन दे सकता था तथा उन पर नियन्त्रण रख सकता था, परन्तु वह वहाँ कम्पनी के कर्मचारियों को आदेश नहीं दे सकता था। १७९३ के अधिनियम ने यह व्यवस्था की कि गवर्नर-जनरल यदि मद्रास अथवा बम्बई में हो तो वह प्रशासन के अध्यक्ष के रूप में स्थानीय गवर्नर के अधिकार को छीन सकता था और कौंसिल की बैठकों का सभापतित्व कर सकता था। स्थानीय गवर्नर ऐसी बैठकों में उपस्थित रह सकता था। गवर्नर-जनरल को यह भी अधिकार दिया गया कि वह स्थानीय काउंसिल को पूर्व-सूचना दिये बिना ही कम्पनी के किसी भी कर्मचारी को आदेश दे सकता है। वह स्थानीय काउंसिल के साथ सभी बातों में वैसे ही कार्य कर सकता था जैसे कि बङ्गाल की काउंसिल के साथ। इन व्यवस्थाओं का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि देश में एक केन्द्रीय सत्ता का विकास हुआ।

१७९३ के अधिनियम ने स्थानीय सरकारों को प्रेज़ीडेन्सी नगरों के लिए मेहतर नियुक्त करने तथा इस व्यय की पूर्ति करने के लिये एक सफाई कर लगाने का अधिकार दिया। इसने उन्हें नशीली वस्तुओं की बिक्री के लिये लाइसेन्स देने का भी अधिकार दिया। इस प्रकार उस घातक अभिशाप का सूत्रपात हुआ जिससे कि हम आज तक पीड़ित हैं।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस अधिनियम ने यह व्यवस्था की कि भारत में तथा इंग्लैण्ड में कम्पनी के विषयों का एक वार्षिक विवरण तैयार किया जाय और उसे संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।

१७९३ तथा १८१३ के बीच व्यवस्थापन :— १७९७, १७९९ तथा १८०० में संसद ने अधिनियम बनाये जिनके द्वारा उस प्रशासन व्यवस्था में कुछ साधारण परिवर्तन किये गए जो कि १७९३ के अधिनियम द्वारा स्थापित की गई थी। १७९७ के अधिनियम ने ब्रिटिश प्रजा द्वारा भारतीय राजाओं को अनधिकृत ऋण देने का निषेध कर दिया और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलकत्ता के उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या घटा कर तीन कर दी। इसने कार्नवालिस के उस रेगुलेशन को प्रमाणित तथा पुष्ट किया जिससे बङ्गाल में ब्रिटिश प्रदेशों के लिए बनाये जाने वाले समस्त रेगुलेशनों को संहिताबद्ध करने की योजना की गई थी। १७९९ के अधिनियम ने कम्पनी को भारत में ब्रिटिश सेनायें भरती करने तथा रखने का अधिकार प्रदान किया। १८०० के अधिनियम ने मद्रास में एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की और कलकत्ते के उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में बनारस ज़िले को भी सम्मिलित कर दिया।

१८१३ का चार्टर ऐक्ट :— जिन परिस्थितियों में १८१३ का चार्टर अधिनियम बनाया गया वे १७९३ की परिस्थितियों से बहुत भिन्न थीं। इसके बनने से पूर्व भारतीय विषयों की ऐसी ज़बर्दस्त जांच पड़ताल की गई जैसी कि उससे पहिले कभी नहीं की गई थी। इस जांच पड़ताल का अवसर तब आया जब कि कम्पनी ने सरकार से १२ लाख पाउण्ड (जो कि कम्पनी का सरकार पर वाजिब था) के अदा करने की याचना की और अपने गवर्नर-जनरल के पद के सात वर्षों में लॉर्ड वेल्ज़ली के युद्धों के कारण जो आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था उसे दूर करने के लिये उसने उतने ही धन का ऋण माँगा। कम्पनी का व्यापार गिर गया था और उस पर सार्वजनिक ऋण बहुत अधिक बढ़ गया था; १८०५ में यह दो करोड़ दस लाख पाउण्ड था। कम्पनी को सहायता देने से पूर्व संसद ने भारत में कम्पनी की स्थिति की जांच करने और सहायता की शर्तों का सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने चार वर्ष तक कार्य किया और इसने कई रिपोर्ट पेश कीं। इल्बर्ट के अनुसार १८१२ में प्रकाशित हुई इसकी पाँचवीं रिपोर्ट उस समय के भारतीय भूमि अधिकरण और न्यायिक तथा पुलिस व्यवस्था की सबसे अधिक अधिकारपूर्ण विवेचना है। इस प्रकार जब १८१३ में कम्पनी के चार्टर को पुनस्स्वीकृति देने का प्रश्न संसद के सामने आया तो उस समय उसे भारतीय स्थिति का समुचित ज्ञान प्राप्त हो चुका था।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उल्लेखनीय है जो कि उस समय वादविवाद के लिये उठा। वह प्रश्न यह था कि भारत तथा चीन के साथ व्यापार करने के कम्पनी के अधिकार को रहने दिया जाय या नहीं। यह प्रश्न इसलिए उठा क्योंकि नैपोलियन के एक आदेश द्वारा यूरोप के समस्त बन्दरगाह ब्रिटिश व्यापारियों के लिए बन्द कर दिये गये। इसलिए उन्होंने यह मांग की कि भारत तथा चीन के साथ व्यापार करने का अधिकार हमें भी मिलना चाहिये। उनका तर्क यह था कि जब कम्पनी के क्षेत्रों में अमरीका का झण्डा लगाये हुए जहाज़ आ सकते थे तो ब्रिटिश व्यापारियों को ही उनमें व्यापार करने का निषेध क्यों हो? ब्रिटिश व्यापारियों, उद्योगपतियों तथा जहाज़ों के स्वामियों ने एक ज़बर्दस्त आन्दोलन खड़ा कर दिया और संसद के पास एक याचिका भेजकर यह मांग की कि भारत में कम्पनी के व्यापार करने के एकाधिकार को पुनस्स्वीकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदान न की जाय और भारत के व्यापार को समस्त ब्रिटिश प्रजा के लिए खुला रखा जाय। उन्होंने तर्क किया कि प्रत्येक ब्रिटिश प्रजाजन को कहीं भी व्यापार करने का अधिकार है। उन्होंने कुछ अन्य तर्क भी पेश किये, किन्तु हमारे लिये उन सब का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। स्वाभाविक रूप से ही कम्पनी ने अपने विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए घोर संघर्ष किया ; उसने इस आशंका पर अत्यन्त ज़ोर दिया कि भारत तथा चीन में यूरोप के बहुत से व्यापारियों के पहुँच जाने के बड़े गम्भीर परिणाम निकलेंगे ; वे लोग भारत तथा चीन की जनता को अपमानित, पीड़ित तथा शोषित करेंगे क्योंकि ब्रिटेन का कोई भी क़ानून ब्रिटेन के बाहर उनके आचरण को अनुशासित नहीं करता, इसलिये वे निर्भीक होकर भारत तथा चीन को लूटेंगे। इस विवाद का अन्त एक समझौते के द्वारा हुआ, जिसके अनुसार चीन के व्यापार पर तो कम्पनी का एकाधिकार क़ायम रहा, किन्तु भारत के साथ व्यापार करने का अधिकार समस्त ब्रिटिश प्रजा को प्राप्त हो गया। परन्तु भारत में भी चाय के व्यापार पर कम्पनी का ही एकाधिकार बना रहा।

भारत के व्यापार को समस्त ब्रिटिश प्रजाजन के लिए उन्मुक्त करने की मांग से सम्बद्ध एक प्रश्न यह था कि क्या भारत में ईसाई प्रचारकों को जाकर वहाँ ईसाई धर्म का प्रचार करना और भारतवासियों को ईसाई बनाने का प्रयास करना चाहिये। कुछ लोगों का तर्क था कि भारत में धर्म और नैतिकता का उत्थान करना ब्रिटेन का कर्त्तव्य है। किन्तु कम्पनी ने इस मांग का विरोध किया और अपने पक्ष में यह दलील पेश की कि ऐसा करना भारत में धर्म में हस्तक्षेप करना होगा, जिससे वहाँ के लोग विक्षुब्ध हो उठेंगे और ब्रिटेन के शत्रु बन जायेंगे।

इन समस्त प्रश्नों पर बड़ी गहराई से विचार किया गया। १८१३ में सरकार ने तेरह प्रस्ताव संसद के सामने प्रस्तुत किये जिनके आधार पर उस वर्ष का चार्टर अधिनियम बनाया गया जिसकी मुख्य व्यवस्थाओं का वर्णन अब हम यहां करेंगे।

१८१३ के अधिनियम ने भारत में कम्पनी के व्यापार करने के चार्टर को अगले बीस वर्ष के लिए फिर से स्वीकृति प्रदान कर दी। इसमें यद्यपि भारत में कम्पनी के प्रदेशों पर 'क्राउन के असंदिग्ध प्रभुत्व' का दावा किया गया, किन्तु उन पर आधिपत्य रखने और कर लगाने के कम्पनी के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। इस अधिनियम की भूमिका की भाषा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; इसमें सर्वप्रथम भारतीय प्रदेशों पर क्राउन की संप्रभुता का दावा किया गया, और इस प्रकार उससे पिछली शताब्दी के विवाद का अन्त कर दिया गया।

इस अधिनियम ने चीन में व्यापार करने के कम्पनी के एकाधिकार को सुरक्षित रखा, किन्तु भारत में सामान्य व्यापार (चाय व्यापार के अतिरिक्त जिस पर कि कम्पनी का एकाधिकार पूर्ववत् बना रहा) समस्त ब्रिटिश व्यापारियों के लिए उन्मुक्त कर दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। किन्तु ब्रिटिश व्यापारियों, उद्योगपतियों इत्यादि पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये। लाइसेन्स लिये बिना कोई भी ब्रिटिश नागरिक भारत नहीं आ सकता था। यदि कोई व्यक्ति भारत में सुधार अथवा प्रचार करने या अन्य किसी विधि-सम्मत कार्य के लिये भारत आना चाहता तो उसे डायरेक्टरों से, या उनके इन्कार कर देने पर बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल से लाइसेंस लेना आवश्यक था। बिना लाइसेंस लिए हुए भारत में आने वाले व्यक्ति को गिरफ्तार किया जा सकता था और उसे दण्ड दिया जा सकता था।

इस अधिनियम ने कम्पनी पर सरकार के ऋण को घटा दिया और लाभांश की दर बढ़ाकर १०½ % कर दी। इसके द्वारा कम्पनी के लिए व्यापारिक तथा कर सम्बन्धी हिसाबों को अलग अलग रखना आवश्यक कर दिया गया। इसने यह भी व्यवस्था की कि भारत में से प्राप्त कर की आय को सेना, ब्याज अदा करने और नागरिक तथा व्यापारिक प्रशासनों के ऊपर ही व्यय किया जा सकता है।

सरकार ने संसद के सामने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया था कि 'भारत में ब्रिटिश उपनिवेशों के निवासियों की सुख वृद्धि करना' हमारा कर्त्तव्य है। इस प्रस्ताव को ध्यान में रखते हुए, और उनमें ज्ञान का प्रसार करने तथा उनका धार्मिक और नैतिक उत्थान करने के लिए १८१३ के अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि भारत के निवासियों में साहित्य और विज्ञान का प्रसार करने के हेतु एक लाख रुपया प्रति वर्ष व्यय किया जाय। इसने कलकत्ते में एक बिशप और उसके अधीन तीन अन्य धर्माधिकारियों की नियुक्ति की भी व्यवस्था की। आगे चल कर विकसित होकर इसने ही धर्म-विभाग का रूप धारण कर लिया। ईसाई प्रचारक परमिट (Permits) लेकर भारत आ सकते थे।

इस अधिनियम ने कम्पनी की परिपोषण (Patronage) की शक्ति को दो प्रकार सीमित किया। गवर्नर-जनरल, गवर्नरों तथा प्रधान सेनापति की नियुक्ति के लिए क्राउन की और काउंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति के लिए बोर्ड के प्रेज़ीडेन्ट की स्वीकृति आवश्यक थी। दूसरे यह कि कम्पनी के अधीन नौकरी किसी व्यक्ति को केवल तभी मिल सकती थी जब कि वह कम से कम चार अवधियों तक हेलीबरी में रह चुका हो और वह यह प्रमाणपत्र पेश करे कि वह कालिज की आवश्यकताओं को पूरा करता है। इसी प्रकार सैनिक नौकरी के लिए एडिस्कम के कालिज में रहना अनिवार्य बना दिया गया। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के प्रेज़ीडेन्ट को इन दोनों संस्थाओं की देखभाल करने और उन पर नियन्त्रण करने का अधिकार दिया गया। अपने मनोनीत उम्मीदवारों को सीधे भारत भेज देने के बजाय, डायरेक्टरों को उन्हें पहिले इन दोनों में से किसी संस्था में भेजना पड़ता था। इस प्रकार सिविल सर्विस के सदस्यों के लिए नियमित प्रदीक्षा का सूत्रपात हुआ।

क्योंकि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बन चुका था (क्राउन की संप्रभुता का दावा औपचारिक रूप से सबसे पहिले १८१३ के अधिनियम में ही किया गया), इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए ब्रिटिश सरकार को कम्पनी के व्यय पर भारत में बीस हज़ार शाही सैनिक रखने का अधिकार दिया गया। भारत में व्यापार करने तथा अन्य किसी विधि विहित कार्य करने के लिए लाइसेंस लेकर आने वाले ब्रिटिश नागरिकों पर भारत में कम्पनी की सरकार को कर लगाने का अधिकार दिया गया। भूमि अपहरण, मारपीट तथा छोटे ऋणों के लिये उन पर लगाये गये आरोपों का निर्णय करने के लिए न्यायरक्षक (Justice of the Peace) नियुक्त किये गए। इसने उस अन्यायपूर्ण प्रणाली को जन्म दिया जिस के अनुसार भारत में यूरोपियनों पर लगाये गए आरोपों का निर्णय केवल यूरोपियन न्यायाधीश ही कर सकते थे।

१८१३ में कम्पनी के चार्टर को पुनस्स्वीकृति प्रदान करने के अनन्तर बीस वर्षों में संसद ने कई अधिनियम बनाये जिनके द्वारा कम्पनी की शक्तियों को परिभाषित किया गया और उनमें वृद्धि की गई। १८१४ में पारित एक अधिनियम के द्वारा कम्पनी को आयात कर तथा अन्य करों को लगाने का अधिकार दिया गया; १८१८ में पारित एक अन्य अधिनियम ने भारत में स्कॉच पादरियों द्वारा सम्पन्न ईसाइयों के विवाहों को वैध कर दिया। १८२० के एक अधिनियम ने कम्पनी को अपने कर्मचारियों में से एक स्वयं-सेवक दल खड़ा करने का अधिकार दिया, और १८२३ में पास किये गये एक अन्य अधिनियम के द्वारा भारत में ब्रिटिश सेना के वेतन तथा पेन्शन, उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन तथा पेन्शन, तथा कलकत्ता के बिशप और उसके अधीनस्थ अधिकारियों की पेन्शन का भार भारत के सिर मढ़ दिया गया। इस अधिनियम के द्वारा बम्बई में पुराने रिकार्डर न्यायालय के स्थान पर एक उच्चतम न्यायालय की भी स्थापना की गई। १८३२ के अधिनियम ने कम्पनी को अपने कर्मचारियों के अतिरिक्त भारत में अन्य यूरोपियन लोगों में से भी न्यायरक्षक नियुक्त करने का अधिकार दे दिया।

इन वर्षों में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार हुआ। मराठों की पराजय के फलस्वरूप महाराष्ट्र तथा मध्य भारत कम्पनी के अधीनस्थ प्रदेशों की श्रेणी में आ गये और राजपूताने के राजपूत राज्यों पर भी उसका प्रभाव जम गया। १८३३ में केवल पंजाब, सिन्ध, ग्वालियर, इन्दौर तथा भूटान ही कम्पनी के प्रभाव से बचे रह गये। साम्राज्य प्रसार का यह कार्य अधिकतर लॉर्ड हेस्टिंग्स की गवर्नर-जनरलशिप के काल में हुआ, जिसने कि उस कार्य को पूरा किया जिसे कि लॉर्ड वेल्ज़ली ने आरम्भ किया था। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने अपने शासन काल में बहुत से प्रशासकीय परिवर्तन भी किये। उसने लॉर्ड कार्नवालिस की नीति को पलट दिया और न्यायरक्षक के कार्यों को करों की वसूलयाबी तथा प्रशासन के कार्यों के साथ सम्बद्ध कर दिया। यह कहा जा सकता है कि ज़िलाधीश तथा कलक्टर के पद को जन्म हेस्टिंग्स ने ही दिया। उसने न्यायिक पदों पर भारतीयों की नियुक्तियों को प्रोत्साहित किया और भारतवासियों की शिक्षा की प्रगति में भी दिलचस्पी ली। कलकत्ते में हिन्दू कॉलिज की स्थापना उसी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन-काल में हुई। प्रेस पर नियन्त्रण का प्रश्न भी उसके कार्यकाल में महत्त्वपूर्ण हो उठा। हेस्टिंग्स प्रेस की स्वतन्त्रता में विश्वास करता था इसलिये उसने प्रेस पर अपने पूर्ववर्त्तियों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों को संशोधित कर दिया और आगे चलकर सेन्सरशिप (Censorship) को हटा दिया। परन्तु आपत्तिजनक लेखों के प्रकाशन को रोकने के लिये नवीन नियम बनाये गये। हेस्टिंग्स ने देश के विभिन्न भागों में अस्थायी रूप से भूमि का बन्दोबस्त भी कराया। १८२९ में देश की न्याय पद्धति में बहुत से परिवर्त्तन किये गये; बहुत से पुराने न्यायालयों को हटा दिया गया और उनके स्थान में नवीन न्यायालयों की स्थापना कर दी गई। नवस्थापित न्यायालयों में एक न्यायालय ज़िला तथा सेशन्स जज का था जो कि ज़िले का सबसे ऊँचा दीवानी तथा फ़ौजदारी का न्यायालय था।

अब हम १८३३ के चार्टर अधिनियम की विवेचना करेंगे जिसने कि कम्पनी के व्यापारिक कार्य कलाप का अन्त कर दिया और देश में एक अत्यन्त केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना की। भारत के सांविधानिक इतिहास के विद्यार्थी के लिये १७७३ तथा १७८४ के अधिनियमों के बाद १८३३ का अधिनियम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

५– १८३३ तथा १८५३ के चार्टर अधिनियम

१८३३ का चार्टर अधिनियम :— १८३३ के चार्टर अधिनियम (इस अधिनियम को लॉर्ड मॉर्ले ने १७८४ के प्रसिद्ध पिट के अधिनियम और महारानी विक्टोरिया द्वारा भारत का शासन संभालने तक के बीच के समय में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भारतीय शासन का कानून कह कर पुकारा है) को भली प्रकार समझने के लिए हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वह उस समय बनाया गया था जब कि 'ह्विग (Whig) तथा लिबरल सिद्धान्तों की राजनीतिक विजय हो चुकी थी, जबकि मैकॉले बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल का सेक्रेटरी था, और बेन्थम का शिष्य जेम्स मिल इण्डिया हाउस में पत्रव्यवहार का परीक्षक था।' इससे पहिले के बीस वर्षों में बहुत से उदारवादी (Liberal) सिद्धान्त अंग्रेज़ी क़ानूनों में प्रतिबिम्बित हो चुके थे। "१८११ में दास व्यापार का उन्मूलन हो चुका था; १८२३ में सैंकड़ों अपराधों को मृत्यु दण्ड से अभिमुक्त कर दिया गया था; और १८२९ में कैथोलिकों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी। अब तक मताधिकार के विस्तार का विरोध करने वाली ड्यूक ऑफ वेलिंगटन की सरकार त्यागपत्र दे चुकी थी और उसके स्थान में लॉर्ड ग्रे का ह्विग मंत्रीमण्डल बन गया था।"* बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के प्रेज़ीडेन्ट चार्ल्स ग्रान्ट ने हाउस ऑफ़ कॉमन्स के समक्ष भाषण देते हुए ये उद्गार प्रकट किये कि भारत में शासन की कुशलता के मार्ग में सब से बड़ी बाधा यह है कि वहाँ व्यापारी तथा संप्रभु का सम्मिश्रण हो गया है, और यह कि भारत के प्रशासन में इंग्लैण्ड का हस्तक्षेप केवल असाधारण स्थिति में ही होना चाहिये, और प्रशासन को भारत के लोगों के हाथों में ही

* C. L. Anand : *The Government of India*, page 26.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़ देना चाहिये। हाउस ऑफ़ लार्ड्स में वादविवाद इस बात पर हुआ कि अपने देश के प्रशासन के पदों पर भारतीयों की भी नियुक्ति होनी चाहिये। हाउस ऑफ़ कॉमन्स में बकिंघम ने कहा कि यद्यपि यह हर्ष का विषय है कि भारत में कम्पनी की व्यापारिक क्रियाओं का अन्त किया जा रहा है, किन्तु यह बात अत्यन्त खेदजनक है कि इतने बड़े साम्राज्य का शासन-भार केवल मिश्रित कम्पनी के हाथों में छोड़ दिया जाय जिसका उद्देश्य केवल अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना है और जिसकी शासित जनता की सुख-वृद्धि में कोई दिलचस्पी नहीं है जो कि प्रत्येक सरकार का एकमात्र उचित ध्येय होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, जबकि १८१३ में कम्पनी के राजनीतिक कार्यों का अन्त करने का कोई विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ था, १८३३ में इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार किया गया। किन्तु मैकॉले ने जिस चातुर्य के साथ कम्पनी के कॉज़ का अधिवक्तन किया उसने कम्पनी के पतन की घड़ी को टाल दिया। उसने कहा कि भारत में अपने प्रदेशों का शासन संचालन करने का कम्पनी का अधिकार कायम रहना चाहिये क्योंकि भारत अभी प्रतिनिधि शासन के लिये योग्य नहीं है। उसने जेम्स मिल को उद्धृत किया जिसने कि लोकतंत्र का सबल समर्थन किया किन्तु जिसने भारत के विषय में यह लिखा था कि भारत में प्रतिनिधि शासन का बिल्कुल कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

१८३३ का चार्टर अधिनियम २८ अगस्त को पास हुआ और २२ अप्रेल, १८३४ को लागू किया गया। इसने प्रशासकीय तथा राजनीतिक शक्तियां ३० अप्रेल, १८५४ तक कम्पनी के पास छोड़ दीं। कम्पनी को प्रदत्त प्रदेशों का वित्त का प्रबन्ध उसे सम्राट और उसके उत्तराधिकारियों की धरोहर समझते हुए, भारत सरकार की सेवा के लिये करना था; किन्तु कम्पनी की व्यापारिक क्रियाओं का अन्त कर दिया गया। चीन के साथ व्यापार तथा चाय के व्यापार पर एकाधिकार को उससे छीन लिया गया। इस प्रकार कम्पनी एक व्यापारिक संस्था न रही जैसी कि वह अपने जन्म से चली आ रही थी; वह विशुद्ध रूप से एक प्रशासकीय निकाय बन गया। कम्पनी के समस्त ऋणों और देनदारी के लिए भारतीय वित्त को उत्तरदायी बना दिया गया और कम्पनी को अपनी पूँजी पर दस पाउण्ड और दस शिलिंग प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से लाभांश दिये जाने की व्यवस्था की गई। अप्रेल, १८७४ के पश्चात् किसी भी समय प्रत्येक एक सौ पाउण्ड की पँजी के बदले में दो सौ पाउण्ड अदा करने पर लाभांश को समाप्त किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में हिस्सेदारों को अगले चालीस वर्षों तक लाभांश मिलना था। बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल को कायम रखा गया और उसकी परिपोषण की शक्ति को निम्नलिखित ढङ्ग से कम किया गया। रिक्त स्थानों से दोगुणी संख्या में उम्मीदवारों को डायरेक्टरों द्वारा मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की गई; इन उम्मीदवारों को हेलीबरी के कालिज में प्रशिक्षा लेनी थी और अन्त में इनकी परीक्षा होनी थी। इस परीक्षा में सफल होने वाले उच्चतम श्रेणी के उम्मीदवारों को ही कम्पनी के कर्मचारी नियुक्त किया जा सकता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस व्यवस्था के विरुद्ध डायरेक्टरों ने घोर संघर्ष किया और १८३४ के संशोधक अधिनियम के द्वारा उन्हें परिपोषण की शक्ति बीस वर्षों के लिये और दे दी गई।

दूसरे, इस अधिनियम ने बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के विधान में परिवर्तन कर दिया। इसके सदस्य थे काउंसिल का लॉर्ड प्रेज़ीडेन्ट, लॉर्ड प्रिवी सील, ट्रेज़री का प्रथम लॉर्ड, राज्य के मुख्य सचिव, वित्त मंत्री [ये तो पदेन (ex-officio) सदस्य थे], तथा ऐसे अन्य सदस्य जो कि नियुक्त किये जायें। परन्तु इसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग इसके प्रेज़ीडेन्ट (लैटर्स पेटेन्ट में दिया हुआ प्रथम सदस्य प्रेज़ीडेन्ट होता था) द्वारा होना था, इसलिये इस अधिनियम द्वारा किये गये परिवर्तनों का कोई व्यावहारिक प्रभाव नहीं हुआ। व्यावहारिक अन्तर तो केवल एक यह हुआ कि प्रेज़ीडेन्ट भारतीय विषयों का मंत्री हो गया और दो सदस्य उसके सहायक हो गए। वे उसके सहकर्मी नहीं, बल्कि सहायक थे। गोपनीय पत्रों को भेजने के लिए पुरानी गुप्त समिति को भी कायम रखा गया।

तीसरे यह कि इस अधिनियम ने ब्रिटिश प्रजाजन के व्यापार, उद्योग, प्रचार, अथवा अन्य किसी भी विधिविहित कार्य के लिये आने पर लगे हुए समस्त प्रतिबन्धों को हटा दिया। कोई भी ब्रिटिश प्रजाजन बिना किसी परमिट या लाइसेन्स के देश में भूमि खरीद सकता था और बस सकता था। उक्त प्रदेशों के मूल निवासियों के धर्म, शरीर तथा सम्मान की रक्षा करने का कर्त्तव्य कानून द्वारा गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउंसिल को सौंप दिया गया।

चौथी बात यह कि इस अधिनियम के द्वारा भारत का प्रशासन केन्द्रीकृत हो गया। ऐसा कई प्रकार से किया गया। बंगाल के गवर्नर-जनरल को भारत का गवर्नर-जनरल कह कर पुकारा गया। क्योंकि उसका कार्य अपनी काउंसिल के परामर्श से शासन चलाना था, इसलिये उसको गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल (Governor-General-in-Council), अथवा सपरिषद गवर्नर-जनरल कहा जाने लगा और नागरिक तथा सैनिक विषयों में प्रेज़ीडेन्सियों की सरकारों की जांच-पड़ताल करने तथा उन पर नियन्त्रण करने की उसे पूर्ण शक्तियां प्रदान कर दी गईं। गवर्नरों तथा उनकी काउन्सिलों को गवर्नर-जनरल तथा काउन्सिल के समस्त आदेशों का पालन करना आवश्यक हो गया। समस्त करारोपण का कार्य सपरिषद् गवर्नर-जनरल के अधिकार से ही हो सकता था और समस्त व्यय पर भी उसे पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार दे दिया गया। प्रेज़ीडेन्सी सरकार केवल उसी धन को व्यय कर सकती थीं जिसे कि सपरिषद् गवर्नर-जनरल ने स्वीकृति प्रदान कर दी हो।

संक्षेप में यह कि सम्पूर्ण देश के लिए एक ही बजट था और वह सपरिषद गवर्नर-जनरल द्वारा तैयार किया जाता था। किसी ऐसे नये पद को उत्पन्न करने के लिए जिसे कि पेन्शन का अधिकार हो सपरिषद गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति आवश्यक थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बम्बई तथा मद्रास सरकार के किसी भी सदस्य को अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने पर मुअत्तिल करने का सपरिषद गवर्नर-जनरल को जो अधिकार १७८४ के अधिनियम ने दिया था, १८३३ के अधिनियम में भी उसे क़ायम रखा गया। सपरिषद गवर्नर-जनरल के आदेशों का पालन न करने पर किसी भी प्रांतीय सरकार को मुअत्तिल किया जा सकता था। इस अधिनियम के द्वारा कितना अधिक केन्द्रीकरण हुआ उसका अनुमान उस पत्र से लगाया जा सकता है जोकि १८३४ में डायरेक्टरों ने गवर्नर-जनरल के पास भेजा था। उन्होंने लिखा था :

"आपको इस प्रश्न पर विचार करना है कि शासन की शक्तियों का प्रयोग स्थानीय अधिकारियों द्वारा सर्वोत्तम रीति से किस हद तक किया जा सकता है, और किस रीति से, किस हद तक, और किस विशेष ढंग से उनका प्रयोग सुचारु रूप से तब हो सकता है जब कि वे स्वयं आपके हाथों में ही रहें।"

इस सम्बन्ध में हम प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा को उद्धृत कर सकते हैं। वह लिखते हैं :

"जो विषय स्थानीय अधिकारियों के पास छोड़ दिये गये थे, उनके सम्बन्ध में भी पाँच वर्ष बाद गवर्नर-जनरल को यह कहा गया कि आपको 'किसी भी ऐसे विषय को जो कि आपके विचार में ऐसा हो जो कि या तो किसी एक प्रेज़ीडेन्सी के लिये अथवा (भारतीय) साम्राज्य के लिये घातक हो, बिना आलोचना के, अथवा, आवश्यक हो तो, बिना सक्रिय हस्तक्षेप के नहीं जाने देना चाहिये।' इस नीति का एकदम प्रभाव यह हुआ कि व्यवहार में समस्त शक्तियां केन्द्रीय सरकार के हाथों में केन्द्रित हो गईं। व्यय को स्वीकृति देने में वह प्रत्येक मद की जांच पड़ताल करती थी और प्रशासन की तथा प्रशासन की नीति की समस्याओं को उठा सकती थी। समस्त अधीनस्थ सरकारें प्रान्तीय प्रशासन के समस्त विभागों में अपनी प्रगति की सूचना भारत सरकार को देती रहती थीं। इस प्रकार की सूचनाओं की प्राप्ति को सूचित करते समय भारत सरकार प्रान्तीय सरकारों के कार्यों पर टीका टिप्पणी करने के अधिकार का प्रयोग करती थी।"

इस अधिनियम ने सपरिषद गवर्नर-जनरल को समस्त व्यक्तियों, चाहे वे ब्रिटिश हों या देशी, चाहे वे विदेशी हों अथवा अन्य, तथा समस्त न्यायालयों, चाहे वे चार्टर द्वारा स्थापित किये गये हों, या अन्य किसी प्रकार, और सारे भारतीय प्रदेशों के अन्तर्गत समस्त स्थानों तथा वस्तुओं, तथा कम्पनी के साथ सन्धि करने वाली रियासतों में कम्पनी के कर्मचारियों के लिये कानून तथा नियम बनाने का अधिकार दे दिया। इसका परिणाम भी शासन का केन्द्रीकरण हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेज़ीडेन्सी सरकारों से कानून तथा नियम बनाने की वह शक्ति छीन ली गई जोकि अब तक उनके पास थी। अब यदि वे किसी कानून या नियम को वांछनीय समझते तो उसका मसविदा बना कर वे सपरिषद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गवर्नर-जनरल के समक्ष प्रस्तुत कर सकते थे। सपरिषद गवर्नर-जनरल उनके ऊपर विचार करता और उन पर अपने प्रस्तावों सहित उन्हें उस सरकार के पास वापिस भेज देता जिसने कि उन्हें प्रस्थापित किया हो।

आज के विकेन्द्रीकरण के युग में हमें उक्त बातें प्रतिगामी दिखाई दे सकती हैं। किन्तु उस समय के भारत की परिस्थितियों में ये बड़े आवश्यक सुधार थे। उस समय हमारा देश जिन रोगों से पीड़ित था उनमें सब से घातक यह था कि कानूनों के और सत्ता के अनेक स्रोत थे, जिनकी कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं की गई थी, और जिनमें बहुत विविधता थी। इस रोग का उपचार करना आवश्यक था। सर कोर्टीने इलबर्ट के अनुसार उन दिनों भारत में पाँच विभिन्न प्रकार के व्यवस्थापित कानून थे। वे थे:— (१) जार्ज प्रथम के चार्टर द्वारा चलाया हुआ क़ानून जोकि प्रेज़ीडेन्सी नगरों में लागू था; (२) तदुपरान्त ब्रिटिश संसद द्वारा बनाये हुए अधिनियम; (३) बंगाल के गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद द्वारा बनाये हुए नियम जोकि बंगाल में लागू थे; (४) मद्रास प्रेज़ीडेन्सी के लिए बनाये हुए मद्रास के गवर्नर तथा उसकी परिषद द्वारा बनाये हुए नियम; तथा (५) बम्बई के लिए बनाये हुए बम्बई के गवर्नर तथा उसकी परिषद द्वारा बनाये हुए कानून। १८३३ के अधिनियम की इस व्यवस्था के लागू होते ही इस सारी विविधता का अन्त हो गया। उस प्रणाली के अन्य दोषों को जैसे कि कानूनों का स्वरूप तथा उनकी व्याख्या करने वाले विभिन्न न्यायालयों के अधिकारक्षेत्रों में कभी कभी होने वाला विरोध, दूर करने के लिए अधिनियम ने सपरिषद गवर्नर-जनरल को एक आयोग (Commission) नियुक्त करने का अधिकार दिया। देश में पाये जाने वाले विभिन्न दीवानी व फ़ौजदारी, लिखित व प्रथागत कानूनों तथा नियमों, उस समय के न्यायालयों के अधिकारक्षेत्रों तथा न्यायिक विधियों इत्यादि बातों का अध्ययन करने और कानूनों को संहिताबद्ध करने के लिए 'भारतीय कानून आयोग' को नियुक्त किया गया। मैकॉले इस आयोग का अध्यक्ष था। इसमें जब तक मैकॉले रहा इसने काफी उपयोगी कार्य किया, किन्तु उसके जाने के बाद उसकी क्षमता का बहुत ह्रास हो गया। यह कई वर्षों तक रहा और इसने कई महाकाय रिपोर्ट प्रकाशित कीं। १८५३ की एक धारा के अनुसार इसका कार्य इंग्लैण्ड में चलता रहा।

सपरिषद गवर्नर-जनरल की क़ानून बनाने की शक्ति पर कई सीमायें लगा दी गईं। वह कोई ऐसा क़ानून नहीं बना सकता था जिससे कि १८३३ के अधिनियम अथवा क्राउन या कम्पनी के अधीन अधिकारियों और सैनिकों पर लागू होने वाले विद्रोह अधिनियमों की किसी धारा में कोई संशोधन होता हो, या वह अवरुद्ध अथवा रद होती हो, या जो किसी भी प्रकार क्राउन के विशेषाधिकारों में कोई परिवर्तन करता हो अथवा ब्रिटेन के अलिखित क़ानून अथवा संविधान के किसी ऐसे भाग को प्रभावित करता हो जिस पर कि क्राउन के प्रति किसी व्यक्ति की राजभक्ति निर्भर करती हो। वह कोई ऐसा

CC-0.In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क़ानून नहीं बना सकता था जो कि एक चार्टर्ड न्यायालय के अतिरिक्त अन्य किसी न्यायालय को 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' की पूर्व-स्वीकृति के बिना यूरोप में उत्पन्न किसी ब्रिटिश प्रजा-जन को मृत्यु दण्ड देने का अधिकार देता हो।

सपरिषद गवर्नर-जनरल द्वारा बनाये गए क़ानूनों को किसी न्यायालय में रजिस्ट्री कराना आवश्यक नहीं था। वे संसद के समक्ष रखे जाते, और 'बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल' के आदेश से 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' उन्हें रद कर सकता था। भारत की जनता के लिए संसद भी पूर्ववत् क़ानून बना सकती थी। यह बात भी उल्लेखनीय है कि जबकि बंगाल के गवर्नर-जनरल तथा बम्बई और मद्रास के गवर्नरों (अपनी परिषदों के साथ काम करते हुए) के बनाए हुए क़ानूनों को 'विनियम' (Regulation) कहा जाता था, १८३३ के अधिनियम के उपरान्त सपरिषद गवर्नर-जनरल के बनाए हुए क़ानूनों को 'अधिनियम' (Acts) कहा जाने लगा।

चौथी बात यह कि गवर्नर-जनरल की काउंसिल के लिये एक चौथा सदस्य और नियुक्त कर दिया गया जिसको कि *विधि सदस्य* (Law Member) कहते थे। इस बात के औचित्य को सिद्ध करने के लिए दो कारण दिये गए। (१) इसने काउंसिल को एक ऐसा सदस्य दिया जो कि अपने सारे समय, शक्ति तथा योग्यता का उपयोग उसके व्यवस्थापन सम्बन्धों को सुचारु रूप से करने के लिये कर सकता था। (२) विधि सदस्य काउन्सिल-सहित-गवर्नर-जनरल द्वारा बनाये गए अधिनियमों के लिये उच्चतम न्यायालय की स्वीकृति के लिये एक विकल्प हो सकता था (इस प्रकार की स्वीकृति अब आवश्यक नहीं रह गई थी)। इस अधिनियम के अधीन सबसे पहिला विधि सदस्य मैकॉले था।

अधिनियम की यह व्यवस्था थी कि अभिवर्धित (Additional) विधि सदस्य काउन्सिल की कार्यवाही में केवल उसी समय भाग ले सकता था और वोट दे सकता था जबकि उसमें विधि तथा विनियम निर्माण पर विचार हो रहा हो। परन्तु डायरेक्टरों ने भारत सरकार को भेजे गए एक पत्र में लिखा था कि भारत सरकार यदि चाहे तो वह किसी अन्य विषय पर भी विधि सदस्य की उपस्थिति का लाभ उठा सकती है, किन्तु ऐसी स्थिति में उसे वोट देने का अधिकार नहीं होगा। डायरेक्टरों ने यह भी लिखा कि काउन्सिल की कार्यवाही से यदि विधि सदस्य को भली प्रकार अवगत रखा गया तो वह अपने विधि निर्माण सम्बन्धी कर्त्तव्य का पालन अधिक सुचारु रूप से कर सकेगा। मैकॉले गवर्नर-जनरल की काउन्सिल की बैठकों में भाग लेता था; उसने भारत सरकार की शिक्षा सम्बन्धी नीति पर बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव डाला। ध्यान रहे कि कम्पनी के अधीन कोई भी कर्मचारी काउन्सिल का सदस्य नहीं बन सकता था।

पांचवे, इस अधिनियम ने बंगाल की प्रेज़ीडेन्सी को दो प्रेज़ीडेन्सियों— बंगाल की तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की— में विभक्त करने की व्यवस्था की। किन्तु इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था के क्रियान्वित किये जाने से पूर्व ही १८३५ के एक अधिनियम ने इसे स्थगित कर दिया।

छटी बात यह कि इस अधिनियम में यह घोषित कर दिया गया कि भारत में रहने वाले 'क्राउन' के किसी भी जन्मजात प्रजाजन को 'केवल धर्म, जन्मस्थान, वंश, रंग, अथवा इनमें से किसी एक के कारण' कम्पनी के अधीन किसी पद अथवा रोज़गार को प्राप्त करने से नहीं रोका जा सकेगा। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस व्यवस्था ने कम्पनी के अधीन नौकरी के लिये किन्हीं सकारात्मक योग्यताओं का वर्णन नहीं किया; इसके द्वारा केवल कुछ अयोग्यताओं को हटा दिया गया। १८३३ के अधिनियम पर अपने पत्र में 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' ने यह लिखा: "इस अधिनियम का अर्थ हम यह समझते हैं कि ब्रिटिश भारत में कोई शासक जाति नहीं होगी, यह कि योग्यता का मापदण्ड और कोई कुछ भी क्यों न निश्चित किया जाय किन्तु प्रजाति तथा धर्म उसके कोई आधार नहीं होंगे; यह कि सम्राट के किसी भी प्रजाजन को, चाहे वह भारतीय हो, ब्रिटिश हो, अथवा मिश्रित रक्त का हो, नौकरी प्राप्त करने से नहीं रोका जायेगा, बशर्ते कि वह और सब बातों में नौकरी का पात्र हो और इस नियम की कसौटी पर पूरा उतरता हो कि 'अब से पात्रता की कसौटी योग्यता होगी'।"

परन्तु इस पवित्र भावना को व्यावहारिक रूप नहीं दिया गया; ऊंची नौकरियाँ भारतीयों को नहीं दी गई। इसका मुख्य कारण यह था कि १७९३ के अधिनियम की उस धारा को रद नहीं किया गया जिसके अनुसार कि कम्पनी के मान्यता प्राप्त (Covenanted) कर्मचारी के अतिरिक्त किसी को भी कम्पनी के अधीन ऐसा पद नहीं दिया जा सकता जिसका वेतन ५०० पाउण्ड प्रति वर्ष से अधिक हो। पुरानी व्यवस्था के होते हुए नये नियम से कोई विशेष अन्तर पड़ जाने की आशा स्वयं डायरेक्टरों को भी न थी।

अन्त में, हम इस अधिनियम की कुछ साधारण धाराओं की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे। इसने भारत सरकार को दासों (slaves) की स्थिति में सुधार करने तथा समस्त भारतीय प्रदेशों में स्थिति के अनुकूल होने पर शीघ्र से शीघ्र दास प्रथा का उन्मूलन कर देने का निर्देश दिया। इसने भारत में बिशप पद की संख्या एक से बढ़ाकर तीन कर दी और कलकत्ते के बिशप को भारत का बिशप बना दिया। इसने सरकारी कर्मचारियों की हेलबरी कॉलिज में प्रदीक्षा और उसके लिये प्रवेश के नियमों की भी व्यवस्था की।

१८३३ और १८५३ के बीच व्यवस्थापन :— १८३३ के अधिनियम के उपरान्त बीस वर्षों में भारत के लिए संसद ने बहुत कम व्यवस्थापन किया। १८३५ के एक अधिनियम के द्वारा १८३३ के अधिनियम की उस प्रस्थापना को स्थगित कर दिया जिसके अनुसार आवश्यकता से अधिक बड़ी बंगाल प्रेज़ीडेन्सी को दो में विभक्त होना था और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगरा के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लिये एक लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति होनी थी।

१८५३ का चार्टर ऐक्ट :— जब १८३३ के चार्टर अधिनियम की अवधि समाप्त होने को आई तो लन्दन में शासनाधिकारियों ने भारत के गवर्नर-जनरल से यह पूछा कि भारत के शासन में क्या परिवर्तन किये जाने चाहियें। उत्तर में लॉर्ड डलहौज़ी ने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखा जिसमें उसने इस बात की ज़ोरदार मांग की कि काउंसिल-सहित-गवर्नर-जनरल को प्राप्त सर्वोच्च सत्ता तथा अपनी काउंसिल के निर्णय को रद कर देने के गवर्नर-जनरल के अधिकार को बनाये रखना चाहिये और व्यवस्थापिका का पूर्णरूपेण पुनर्गठन होना चाहिये। उसका तर्क था कि काउंसिल के सिविलियन सदस्यों को, जो कि बङ्गाल सर्विस में से लिये जाते थे, बम्बई तथा मद्रास की स्थानीय स्थितियों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता था और क़ानूनी मसविदे तैयार करने में उन्हें कोई कुशलता प्राप्त न थी। प्रधान सेनापति को इस विषय का कोई ज्ञान नहीं था, और स्वयं गवर्नर-जनरल अपने कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में इतना व्यस्त रहता था कि वह विधि निर्माण के कार्यों पर समुचित ध्यान नहीं दे सकता था। यहाँ तक कि विधि सदस्य (Law Member) भी 'यद्यपि उसे अंग्रेज़ी क़ानून का बड़ा गहरा ज्ञान होता है, भारत में प्रचलित कानूनों, हिन्दू कानून, मुस्लिम कानून इत्यादि, से पूर्णतया अनभिज्ञ होता है। जिस देश में वह आता है, उसके निवासियों के आचार, विचार, व्यवहार, प्रथाओं तथा परम्पराओं के विषय में वह कुछ नहीं जानता, और जब उसकी ये कठिनाइयां कुछ दूर हो जाती हैं तो उसे वहां से कदाचित् वापिस बुला लिया जाता है। इसलिये लॉर्ड डलहौज़ी ने यह सुझाव पेश किया कि व्यवस्थापन के लिये कुछ और अधिक सदस्य काउंसिल-सहित-गवर्नर-जनरल के साथ सम्बद्ध किये जाने चाहियें। उसके अधिकतर सुझावों को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात और उल्लेखनीय है जिसने कि १८५३ के चार्टर अधिनियम की एक व्यवस्था विशेष को निर्धारित करने में ब्रिटिश शासकों को सम्भवतया प्रभावित किया हो। पाठकों को याद होगा कि जिस समय १८३३ का अधिनियम संसद में विचाराधीन था तो उस समय बकिंघम सरीखे व्यक्तियों ने इस बात का घोर विरोध किया था कि एक विस्तृत साम्राज्य पर शासन करने का कार्य एक व्यापारिक कम्पनी के हाथों में छोड़ दिया जाय। कम्पनी द्वारा राजनीतिक सत्ता के प्रयोग का जो भी विरोध उस समय हुआ, वह सब अंग्रेज़ों की ओर से हुआ; भारतीयों की ओर से कोई विरोध नहीं हुआ। किन्तु १८५३ में स्थिति काफी बदल चुकी थी; अब भारतीयों की ओर से भी विरोध होने लगा। तीनों प्रेज़ीडेन्सियों के निवासियों की ओर से बहुत बड़ी संख्या में हस्ताक्षर कराकर संसद के पास याचिकायें भेजी गईं जिनमें चार्टर की पुनस्स्वीकृति का विरोध किया गया। मद्रास के लोगों ने अपनी याचिका लार्ड एलनबोरो के द्वारा भेजी, जिसमें उन्होंने, अन्य बातों के साथ, सार्वजनिक सुविधाओं तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करने की मांग की। बम्बई की जनता की ओर से जो याचिका (लार्ड मॉन्टगिल के द्वारा) भेजी गई उसमें यह मांग की गई कि इंग्लैण्ड में 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' तथा 'कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स' द्वारा द्वैध शासन प्रणाली का अन्त कर दिया जाय और कोर्ट के स्थान पर एक इण्डिया काउन्सिल की स्थापना की जाय। बंगाल के निवासियों ने भी (लॉर्ड हैरोबी के द्वारा) एक याचिका भेजी जिसमें यह प्रार्थना की गई कि द्वैध शासन प्रणाली का अन्त करके उसके स्थान में एक भारत मंत्री नियुक्त किया जाय जिसकी सहायता के लिये एक भारत परिषद (Council of India) बनाई जाय जो आंशिक रूप से निर्वाचित और आंशिक रूप से मनोनीत हो। उसमें यह भी मांग की गई कि भारत में व्यवस्थापिका को कार्यपालिका से अलग कर दिया जाय और उसमें कुछ जनप्रिय तत्त्व को भी स्थान दिया जाय। कम्पनी के शासन के विरुद्ध भारतीयों के असंतोष का एक मुख्य कारण यह था कि कम्पनी के अधीन उच्च पदों पर भारतीयों को नियुक्त नहीं किया गया, यद्यपि १८३३ के अधिनियम में इस बात की व्यवस्था की गई थी जिसमें कि समस्त पदों को भारतवासियों के लिये खुला रखा गया था। इस घोषणा से कि नियुक्तियों का एकमात्र मानदण्ड योग्यता होगी भारतवासियों के मन में बड़ी बड़ी आशायें उत्पन्न हो गई थीं; किन्तु कम्पनी के व्यवहार ने उनकी समस्त आशाओं पर तुषारापात कर दिया। संसद के पास इन याचिकाओं का भेजा जाना भारत में उस राजनीतिक आन्दोलन के सूत्रपात का सूचक था जिसने कि आगे चलकर ऐसा ज़बर्दस्त रूप धारण कर लिया। भारतवासियों के इस विरोध ने उन स्थितियों को बिल्कुल विलक्षण बना दिया जिनमें कि १८५३ का अधिनियम बनाया गया। यह अन्तिम चार्टर अधिनियम सिद्ध हुआ।

अब हम १८५३ के अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाओं पर विचार करेंगे। गत अधिनियमों तथा इस में एक मुख्य भेद यह था कि इसके द्वारा कम्पनी को जो शक्तियां प्रदान की गईं उनके लिये कोई अवधि निश्चित नहीं की गई। इसमें केवल यह व्यवस्था की गई कि भारतीय प्रदेशों पर कम्पनी का अधिकार तथा शासन "सम्राज्ञी तथा उत्तराधिकारियों की ओर से एक ट्रस्ट के रूप में तब तक रहेगा जब तक कि संसद उसके विपरीत आदेश न दे"। इसका अर्थ यह हुआ कि उस ट्रस्ट का किसी भी समय अन्त किया जा सकता था। इस प्रकार कम्पनी को राजनीतिक सत्ता से किसी भी समय वंचित करने के लिये संसद को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। अब तक की व्यवस्था से यह सब कुछ बहुत भिन्न था।

दूसरे यह कि इस अधिनियम ने डायरेक्टरों की संख्या घटाकर चौबीस से अठारह कर दी और उनमें से छः के क्राउन द्वारा मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की। उनके लिये यह आवश्यक था कि कम से कम दस वर्षों तक उन्होंने भारत में नौकरी की हो। शेष बारह में से छः के लिये यह योग्यता आवश्यक थी। इस प्रकार इस अधिनियम ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषज्ञों की एक परामर्शदात्री परिषद की व्यवस्था की। कोरम (Quorum) की संख्या घटाकर दस कर दी गई जिससे कि उसमें क्राउन द्वारा मनोनीत डायरेक्टरों का बहुमत होना संभव हो गया क्योंकि कोर्ट की बैठकों में वे सदैव उपस्थित रहते थे जब कि दूसरे डायरेक्टर उपस्थिति के लिए इतने सचेत न रहते थे। इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस अधिनियम के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि कम्पनी के अधीन कर्मचारियों को मनोनीत नहीं किया जायेगा, वरन् उनकी नियुक्ति प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर होगी। इस प्रकार डाइरेक्टरों की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति (नियुक्तियाँ करने की) छीन ली गई। प्रतियोगिता समस्त ब्रिटिश प्रजाजन के लिये खुली थी जिसकी योजना 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' द्वारा बनाई जाती। इस नवीन पद्धति में एक गम्भीर दोष था ; इसने भारतीयों के लिए उच्च सरकारी पद प्राप्त करना बड़ा कठिन बना दिया। वेतन के दृष्टिकोण से 'बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल' के अध्यक्ष को राज्य के प्रधान सचिवों के समकक्ष बना दिया गया। भारत में काउन्सिलों की समस्त नियुक्तियों के लिए क्राउन की स्वीकृति आवश्यक बना दी गई।

१८३३ के अधिनियम ने बंगाल को दो प्रेज़ीडेन्सियों में विभक्त कर देने की व्यवस्था की थी। किन्तु उस व्यवस्था को स्थगित कर दिया गया था। १८५३ के अधिनियम ने भी उस स्थगन को जारी रखा, किन्तु इसने बंगाल के लिए एक गवर्नर की नियुक्ति का अधिकार दे दिया जो कि भारत के गवर्नर-जनरल से भिन्न होता। किन्तु बंगाल के लिए एक अलग गवर्नर की नियुक्ति कहीं जा कर १९१२ में हुई; उससे पहिले बंगाल में केवल एक लेफ्टीनेन्ट गवर्नर ही होता था।

तीसरे, १८५३ के अधिनियम द्वारा भारत में विधि-निर्माण की व्यवस्था में बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। विधि सदस्य को काउंसिल की कार्यपालिका सम्बन्धी बैठकों में भाग लेने और वोट देने का अधिकार देकर उसे काउंसिल के तीन साधारण सदस्यों के समकक्ष बना दिया गया। विधि-निर्माण के कार्य के लिए काउंसिल में उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधिपति तथा एक अन्य न्यायाधीश, और चार प्रान्तीय प्रतिनिधियों को सम्मिलित कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, व्यवस्थापन के लिये काउंसिल का जो विस्तार किया गया उसके अनुसार उसमें बारह सदस्य होते। वे थे: गवर्नर-जनरल, प्रधान सेनापति, काउन्सिल के चार साधारण सदस्य, बंगाल का प्रधान न्यायाधिपति, एक सहायक न्यायाधीश, तथा चार प्रान्तों में से प्रत्येक का एक एक सिविल सर्विस का प्रतिनिधि। (चार प्रान्त थे: बंगाल, बम्बई, मद्रास तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त।) काउंसिल में विभिन्न प्रेज़ीडेन्सियों तथा प्रान्तों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति की व्यवस्था करके १८५३ के अधिनियम ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया, क्योंकि इसका अर्थ यह था कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका में स्थानीय प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। स्थानीय प्रतिनिधि स्थानीय परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण अपने विवेक के अनुसार अपने अपने क्षेत्रों के लिये वांछनीय नीतियों पर ज़ोर दे सकते थे और हानिकर प्रस्तावों का विरोध कर सकते थे। व्यवस्थापिका काउंसिल की बैठकों को सार्वजनिक बना दिया गया और उसकी कार्यवाही को सरकार द्वारा प्रकाशित कराया जाता था।

इस प्रकार हम भारत सरकार के एक पृथक् व्यवस्थापिक अङ्ग का सूत्रपात देखते हैं। कार्यपालिक तथा व्यवस्थापिक कार्यों में विभेद किया जाने लगा। कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य को गवर्नर-जनरल अपनी काउंसिल के एक सदस्य के साथ कर सकता था; गवर्नर-जनरल अपनी कार्यपालिक काउन्सिल के बहुमत के निर्णय को रद कर सकता था। व्यवस्थापन कार्य के लिये कोरम की संख्या निर्धारित कर दी गई; उसके लिए गवर्नर-जनरल, अथवा उसकी अनुपस्थिति में वाइस-प्रेज़ीडेन्ट, के अतिरिक्त कम से कम छः सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा पास किये हुए प्रस्तावों को गवर्नर-जनरल रद तो नहीं कर सकता था, किन्तु उसका बनाया हुआ कोई भी कानून तब तक लागू नहीं किया जा सकता था जब तक कि उसे गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त न हो जाय, चाहे उसके बनते समय वह काउन्सिल की बैठकों में उपस्थिति हो या न हो।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि १८५३ के अधिनियम द्वारा निर्मित व्यवस्थापिका परिषद् में केवल सरकारी सदस्य ही थे; उसमें कोई भी ग़ैरसरकारी भारतीय अथवा यूरोपीय सदस्य न था। इसमें दो ग़ैरसरकारी सदस्यों को रखने का भी सुझाव पेश किया, किन्तु उसे इस आधार पर ठुकरा दिया गया कि एक ऐसे हिन्दू और एक ऐसे मुसलमान सदस्य को मनोनीत करना असम्भव होगा जिसे कि अपनी अपनी जाति का सच्चा प्रतिनिधि समझा जा सके।

ध्यान रहे कि छः अतिरिक्त सदस्य प्रसरित काउन्सिल की संख्या के ठीक आधे थे। यदि कार्यपालिका काउन्सिल का एक भी सदस्य अनुपस्थित होता तो भारत सरकार अल्प संख्या में रह जाती। यह तथ्य काफी महत्त्वपूर्ण हो उठा कि छः अतिरिक्त सदस्य केवल व्यवस्थापन कार्य में भाग लेकर ही सन्तुष्ट नहीं होते थे; वे प्रसरित काउन्सिल को 'एक लघु आकार प्रतिनिधि सभा का रूप देना चाहते थे जिसका उद्देश्य शिकायतों की जांच करना तथा उसे दूर करना हो।' उन्होंने संसद का आदर्श अपने सामने रखा और यह मांग की कि व्यवस्थापन के अतिरिक्त कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले कागज भी उनके सामने पेश किये जायें। "उन्होंने कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों की जांच करने तथा यहां तक कि मैसूर के शासक को सरकार द्वारा दिये गये अनुदान (Grants) की भी आलोचना करने की इच्छा प्रकट की। सरकार की बुद्धिमत्ता में सन्देह प्रकट करने के इस प्रयास को न तो ब्रिटेन में किसी ने पसन्द किया और न भारत में, और १८६१ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस स्थिति को दूर कर दिया गया।"* व्यवस्थापिका परिषद में वादविवाद संसद की भाँति मौखिक होता था और विधेयकों का परीक्षण किसी एक सदस्य के बजाय प्रवर समितियों (Select Committees) द्वारा होता था। इसलिये हम १८५३ के अधिनियम में भारतीय व्यवस्थापिका परिषद का सूत्रपात देख सकते हैं। भारत में ब्रिटिश राज के इतिहास में सर्वप्रथम अब व्यवस्थापन को सरकार का एक विशेष कार्य समझा जाने लगा जिसके लिए विशेष संस्था और विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता थी।

अंतिम बात यह कि १८५३ के अधिनियम ने इंग्लैण्ड में अंग्रेज़ कमिश्नरों के एक ऐसे निकाय की नियुक्ति की व्यवस्था की जोकि १८३३ के अधिनियम के अनुसार नियुक्त 'भारतीय विधि आयोग' (जोकि मैकॉले के चले जाने के बाद मृतप्राय हो गया था) के कार्य को अंतिम कानूनी रूप देता। इस प्रकार पहिले विधि आयोग के परिश्रम का उपयोग किया गया।

१८५४ का अधिनियम :— ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन भारत में किस प्रकार का शासन स्थापित हुआ और कम्पनी की शक्तियों को स्वीकृति तथा पुनस्स्वीकृति देने के लिये जो विभिन्न चार्टर अधिनियम पास किये गये, उन सब की समीक्षा को समाप्त करने से पूर्व हम संक्षेप में उन परिस्थितियों का वर्णन करेंगे जिनके अन्तर्गत संसद ने १८५४ का अधिनियम पारित किया जिसने कि काउन्सिल-सहित-गवर्नर-जनरल को देश में चीफ कमिश्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया।

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में कम्पनी के प्रदेशों का ज़बर्दस्त विस्तार हुआ। नव-प्राप्त प्रदेश की शासन व्यवस्था कम्पनी केवल इस प्रकार करती थी कि वह उसको तीनों में से किसी एक प्रेज़ीडेन्सी के साथ युक्त कर देती थी। इसके परिणाम-स्वरूप बंगाल की प्रेज़ीडेन्सी इतनी बड़ी हो गई कि उसका प्रबन्ध करना ही कठिन हो गया। जैसा कि हम पहिले ही देख चुके हैं, १८३३ के अधिनियम ने उत्तर-पश्चिमी प्रांत नाम के एक नवीन प्रान्त के बनाने की व्यवस्था की थी। परन्तु १८३५ के अधिनियम द्वारा इस विचार को स्थगित कर दिया गया; उसमें इस प्रान्त के लिए एक लेफ्टीनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था को पर्याप्त नहीं समझा गया। १८५३ के अधिनियम में बंगाल की प्रेज़ीडेन्सी के लिए एक पृथक् गवर्नर अथवा लेफ्टीनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। परन्तु नव-प्राप्त प्रदेशों के समुचित शासन की समस्या का हल इससे भी नहीं हो पाया।

१८५४ में एक अधिनियम पास किया गया जिसके द्वारा काउन्सिल-सहित-गवर्नर-जनरल को ('कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' तथा 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' की अनुमति से) कम्पनी के अधीनस्थ किसी भी क्षेत्र को अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में ले लेने तथा उस पर कुछ समय तक के लिये शासन करने, और प्रशासन के लिए आवश्यक आदेश तथा निर्देशन जारी

* Keith : *op. cit.*, page 138.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने का अधिकार दिया गया। उनके प्रशासन के लिए वह विशेष अधिकारियों को नियुक्त कर सकता था और उन्हें ऐसी शक्तियां प्रदान कर सकता था जिन्हें कि उसे अपने पास सुरक्षित रखना आवश्यक नहीं था। इन विशेष अधिकारियों को चीफ़ कमिश्नर कहा जाता था। चीफ़ कमिश्नर आसाम, मध्यप्रान्त, बर्मा तथा अन्य प्रदेशों के लिए नियुक्त किये गए। १८९७ में बर्मा एक लेफ्टीनेन्ट गवर्नर के अधीन कर दिया गया।

इस अधिनियम ने काउन्सिल-सहित-गवर्नर-जनरल को भारत में कुछ प्रान्तों की सीमाओं को निर्धारित करने का भी अधिकार दिया तथा जो शक्तियां स्थानीय सरकारों को नहीं दी गईं वे सब स्पष्ट रूप से उसे दे दी गईं। अब गवर्नर-जनरल बंगाल का गवर्नर नहीं रह गया।

६– प्रशासकीय यन्त्र का विकास

कम्पनी के हाथों से भारत का शासन क्यों और किस प्रकार ब्रिटिश क्राउन के हाथों में आया, उसका और क्राउन के अधीन भारत में सांविधानिक विकास का अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व हम दो शब्द उस प्रशासन यन्त्र के सम्बन्ध में कहना चाहेंगे जोकि १८५७ में सिपाही विद्रोह के समय यहां पाया जाता था।

१७७३ के रेगुलेटिंग अधिनियम तथा १७८४ के पिट के भारत अधिनियम द्वारा रखी गई आधारशिला पर १८३३ के अधिनियम द्वारा एक अत्यन्त केन्द्रीकृत प्रशासन पद्धति का निर्माण किया गया था। काउंसिल-सहित-गवर्नर-जनरल को भारत में कम्पनी के समस्त प्रदेशों का (जिन्हें कि प्रशासन के उद्देश्य से कई प्रान्तों में विभक्त कर दिया गया था) सर्वोपरि कार्यपालिक अधिकारी बना दिया गया था। इन प्रदेशों में से कुछ को प्रान्त और कुछ को प्रेज़ीडेन्सी कहा जाता था। बंगाल, बम्बई तथा मद्रास को प्रेज़ीडेन्सी कहा जाता था। बम्बई तथा मद्रास काउंसिल-सहित-गवर्नरों के अधीन थे, और बंगाल पर एक लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर का शासन था। आगरा भी एक लेफ्टीनेन्ट गवर्नर के अधीन था, और आसाम, पंजाब, नागपुर, अजमेर इत्यादि को चीफ़ कमिश्नरों के प्रान्त कहा जाता था। एक लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर तथा चीफ़ कमिश्नर की कोई काउंसिल नहीं होती थी, जैसी कि एक गवर्नर की होती थी; उनके ऊपर गवर्नर-जनरल का नियन्त्रण प्रेज़ीडेन्सियों के गवर्नरों की अपेक्षा अधिक होता था; गवर्नरों को तो इंग्लैण्ड में डायरेक्टरों के साथ सीधे पत्र-व्यवहार करने का भी अधिकार था। गवर्नरों तथा उनकी काउन्सिलों के सदस्यों की नियुक्ति क्राउन की अनुमति से डायरेक्टर करते थे, जबकि लेफ़्टीनेन्ट गवर्नरों तथा चीफ़ कमिश्नरों की नियुक्ति काउन्सिल-सहित-गवर्नर-जनरल करता था। यह बात भी याद रखने योग्य है कि गवर्नर-जनरल की भाँति प्रेज़ीडेन्सियों के गवर्नरों को अपनी काउन्सिलों के निर्णयों के उल्लंघन करने का अधिकार था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना भी अत्यन्त केन्द्रीकृत थी। यद्यपि वह बंगाल, बम्बई तथा मद्रास की तीन अलग अलग कमानों में विभक्त थी और प्रत्येक कमान अलग अलग एक प्रधान सेनापति के अधीन थी, किन्तु बंगाल का प्रधान सेनापति भारत का भी सेनापति था और जब भी वह एक प्रेज़ीडेन्सी में होता था वह स्थानीय प्रधान सेनापति के ऊपर अधिकार रखता था। इस व्यवस्था से देश में सेना का एकीकरण हो गया। इन तीन सेनाओं के अतिरिक्त, ब्रिटिश अफ़सरों के अधीन भारतीय सैनिक टुकड़ियों को विभिन्न भारतीय राज्यों में रखा जाता था ; यह सैनिक शक्ति का एक अतिरिक्त साधन था।

प्रशासन कार्य के लिए एक सिविल सर्विस का जन्म हुआ जिसके सदस्यों को बड़े ऊँचे ऊँचे वेतन दिये जाते थे। पाठकों को याद होगा कि १७६५ में दीवानी प्राप्त हो जाने के फलस्वरूप कम्पनी के हाथों में जब राजनीतिक तथा प्रशासकीय सत्ता आई तो उस समय जो थोड़े से कर्मचारी उसके पास थे, उन्हें प्रशासन की कोई प्रशिक्षा नहीं मिली थी और उनको बहुत थोड़ा वेतन दिया जाता था। इसकी पूर्ति वे व्यक्तिगत रूप से व्यापार करके तथा उपहार ग्रहण करके करते थे। इसलिए प्रशासन में बहुत भ्रष्टाचार आ गया था। क्लाइव ने इस स्थिति में सुधार करने के लिये कम्पनी के कर्मचारियों को एक नई संविदा करने तथा रिश्वत न लेने के लिये विवश किया। इसीलिये इन सर्विसों को कम्पनी की 'संविदाबद्ध सर्विस' (Covenanted services) कहा जाने लगा। कम्पनी के नौकरों को निजी व्यापार करने इत्यादि का निषेध करने के कारण जो क्षति हुई, उसका प्रतिकार करने के लिए क्लाइव ने एक नवीन योजना बनाई। परन्तु उसकी योजना को डायरेक्टरों ने स्वीकार नहीं किया। कॉर्नवालिस ने कुछ और सुधार किये। भ्रष्टाचार को रोकने के लिए उसने कम्पनी के कर्मचारियों के वेतन बढ़ाये। एक ज़िले के कलक्टर का वेतन १५०० रुपया मासिक नियत किया गया; इसके अतिरिक्त उसे उसके ज़िले की मालगुज़ारी पर कमीशन और दिया जाता था जोकि उसके वेतन से भी अधिक हो जाता था। सारी पदोन्नतियाँ सीनियरिटी (Seniority) के आधार पर होती थीं। उसने न्याय और माल के कार्यों को भी एक दूसरे से अलग कर दिया। समस्त उच्च पदों को यूरोपियनों के लिए सुरक्षित रखा गया और दुर्व्यवहार को रोकने के लिये एक जटिल विनियमन प्रणाली बनाई गई। १७९३ के अधिनियम ने कॉर्नवालिस के कुछ सुधारों को स्थायी रूप दिया। इसमें यह व्यवस्था की गई कि कम्पनी के अधीनस्थ समस्त रिक्त स्थानों को उसी प्रेज़ीडेन्सी के, जिसमें कि होते थे, उसके कर्मचारियों में से भरा जाय। किसी भी ऐसे पदाधिकारी को, जोकि भारत में कम से कम तीन वर्षों तक न रहा हो, ५०० पाउण्ड प्रतिवर्ष से अधिक का वेतन नहीं दिया जा सकता था। उन्नति करके १५०० पाउण्ड वार्षिक वेतन वाले पद के लिए छः वर्ष, ३००० पाउण्ड वाले पद के लिये नौ वर्ष और ४००० पाउण्ड के पद के लिये बारह वर्ष का भारत-वास आवश्यक कर दिया गया। इस योजना से डायरेक्टरों का नियुक्तियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने का अधिकार बहुत ही सीमित हो गया; अब वे उच्च पदों पर सीधी नियुक्तियां नहीं कर सकते थे, सीधे तौर से तो वे केवल मुहर्रिरों को ही भेज सकते थे। इन नियमों का उल्लंघन केवल उन्हीं क्षेत्रों में किया जा सकता था जिन्हें कि उस कानून से अभिमुक्त रखा गया था। इस प्रणाली में एक गम्भीर दोष था; इसमें ऊंचे पदों पर भारतवासी नहीं पहुँच सकते थे। १८३३ के अधिनियम में की गई घोषणा ने भी इस दोष को दूर नहीं किया। १८५३ के अधिनियम द्वारा प्रचलित खुली प्रतियोगिता पद्धति ने भी भारतवासियों पर बड़ा करारा आघात किया।

लॉर्ड वेल्ज़ली ने कलकत्ते में एक कालिज स्थापित किया जिसमें कि भारत में कम्पनी के अधीन पदों पर नियुक्त होने वाले समस्त यूरोपियनों को तीन वर्ष तक भारतीय भाषाओं, कानून तथा इतिहास का अध्ययन करना पड़ता था। डायरेक्टरों ने इस योजना को अस्वीकृत कर दिया, इसलिये उस कालिज को बन्द कर देना पड़ा। उन्होंने हेलीबरी में एक कालिज स्थापित किया जहाँ कि उनके मनोनीत किये हुए सदस्यों को, मुहर्रिरों के रूप में भारत भेजे जाने से पूर्व, चार सत्रों तक रहना पड़ता था। यह कालिज १८५८ तक चला जब कि इसे बन्द कर दिया गया क्योंकि नौकरियां देने का अधिकार डायरेक्टरों से छीन लिया गया और भारत में समस्त पदों पर भरती एक खुली प्रतियोगिता परीक्षा के फल के आधार पर की जाने लगी। प्रतियोगिता परीक्षा की पद्धति जारी करने का उद्देश्य यह था कि भारतीय सर्विस में ऐसे नवयुवक आ सकें जिनको कि इंग्लैण्ड में सर्वोत्तम शिक्षा दी जाती थी। परन्तु, जैसा कि हम पहिले ही देख चुके हैं, इस पद्धति का एक बहुत गम्भीर दोष यह था कि इसके द्वारा अपने ही देश में उच्च पदों पर भारतवासी नहीं पहुँच सकते थे। उनके लिये उच्च सिविल सर्विस के दरवाज़े तब तक बन्द रहे जब तक कि प्रतियोगिता परीक्षायें (इंग्लैण्ड के साथ साथ) भारत में भी न होने लगीं और सिविल सर्विस के लिये ३३ प्रतिशत स्थानों पर नियुक्तियां उनके आधार पर न होने लगीं।

न्याय प्रदान के लिये विभिन्न प्रान्तों में कई प्रकार के न्यायालय स्थापित किये गए। यहाँ पर आरम्भ के इतिहास में जाना आवश्यक नहीं। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक ज़िले में एक दीवानी अदालत और एक फौजदारी अदालत स्थापित की गई, और सारे प्रान्त के लिये अपील के लिए एक सदर दीवानी अदालत और एक सदर फौजदारी अदालत स्थापित की गई। सदर दीवानी अदालत गवर्नर तथा उसकी काउन्सिल की अध्यक्षता में कार्य करती थी और सदर फौजदारी अदालत का अध्यक्ष एक अन्य अधिकारी होता था जो कि गवर्नर तथा उसकी काउन्सिल की सामान्य निगरानी में रहता था। जब सदर दीवानी अदालत का काम बढ़ गया तो गवर्नर तथा उसकी काउन्सिल को न्यायिक कार्य भार से मुक्त कर देना वांछनीय समझा गया और १८०१ में वह तीनों न्यायाधीशों को दे दिया गया। आगे चलकर न्यायाधीशों की संख्या तीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चार कर दी गई। कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार और लूट खसोट से भारत-वासियों की रक्षा करने के लिये १७७३ में कलकत्ते में उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई। एक उच्चतम न्यायालय १८०० में मद्रास में और एक १८२३ में बम्बई में स्थापित किया गया। भारतवासियों के दृष्टिकोण से कलकत्ता तथा मद्रास के उच्चतम न्यायालयों का कार्य अत्यन्त असन्तोषजनक रहा। श्रीराम शर्मा के शब्दों में 'वे पतित होकर प्रजातीय भेदभाव तथा श्रेष्ठता के यन्त्र' बन गये। मैकॉले के अनुसार मद्रास के उच्चतम न्यायालय ने 'अपने अधिकारक्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक धनी व्यक्ति को भिक्षुक बना दिया' और जब कोई भी सम्पन्न व्यक्ति न रहा जिसे कि वह नष्ट कर सकता तो वह निष्क्रिय हो गया।

माल सम्बन्धी कार्यों को न्यायिक कार्यों से पृथक् करके और पृथक् अधिकारियों के हाथों में देकर लॉर्ड कार्नवालिस ने बंगालवासियों के कष्टों को कुछ कम करने का प्रयास किया था। परन्तु आगे चल कर यह मांग की जाने लगी कि इन दोनों प्रकार के कार्यों को ज़िले के कलक्टर में संयुक्त कर दिया जाय। तदनुसार ज़िला कलक्टर को भूमि के लगान तथा अधिकारों सम्बन्धी और न्यायरक्षा सम्बन्धी कार्य, दोनों दे दिये गये। इस प्रकार ज़िलाधीश और ज़िला कलक्टर के पद का जन्म हुआ। अधिकतर ज़िलों में सहायक सेशन्स जज तथा सहायक कलक्टर होते थे। यूरोपियन मजिस्ट्रेटों तथा जजों के अतिरिक्त भारतीय मजिस्ट्रेट, सदर अमीन तथा मुन्सिफ भी होते थे। १८३३ में डिप्टी कलक्टर और १८४३ में डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद को कानूनी स्वीकृति प्रदान की गई। संयुक्त (Joint) मजिस्ट्रेट के पद का भी जन्म हुआ। इस प्रसंग में रेवेन्यु बोर्ड का नाम भी उल्लेखनीय है जो कि माल के मामलों के लिए सर्वोच्च न्यायालय था और ज़िला कलक्टर के माल सम्बन्धी कार्यों की जांच करता था और उन पर नियन्त्रण रखता था।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न न्यायालयों द्वारा प्रशासित कानून अत्यन्त जटिल था। इसमें उस समय का इंग्लैण्ड का 'कॉमन लॉ', संसद के बनाये हुए कानून, संसद द्वारा भारत के लिए बनाये हुए कानून, गवर्नर-जनरल द्वारा बनाये हुए विनियम तथा हिन्दू और मुस्लिम कानून सम्मिलित थे। प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत क्या कानून था, इस बात का निर्णय करना भी कठिन था। कानून की इस जटिलता तथा अनिश्चितता ने ही १८३३ के अधिनियम द्वारा 'भारतीय विधि आयोग' की नियुक्ति को आवश्यक बनाया था।

अन्तिम बात हमें यह याद रखनी चाहिये कि काउन्सिल-सहित-गवर्नर-जनरल को बंगाल, मद्रास, बम्बई तथा अन्य प्रान्तों की सरकारों पर नियन्त्रण तथा निर्देशन की कुछ भी शक्तियां क्यों न प्राप्त हों, किन्तु वह स्वयं कोई निरंकुश शासक नहीं था। वह इंग्लैण्ड में 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' तथा 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' के अधीन था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारत पर शासन के दो केन्द्र थे, एक भारत में और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक इंग्लैण्ड में। १८५७ के 'सिपाही विद्रोह' के समय भारत में जो शासन व्यवस्था थी, उसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं; अब हम संक्षेप में उस भाग का वर्णन करेंगे जोकि इंग्लैण्ड में कार्य करता था।

भारत के गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउंसिल इंग्लैण्ड में दो विभिन्न सत्ताओं—'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' तथा 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' के अधीन थे। इसीलिए १७७३ से ले कर १८५८ तक के समय को द्वैध शासन का युग कहते हैं। इन दोनों में, व्यापारिक मामलों को छोड़ कर और समस्त विषयों में 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' की शक्ति अधिक थी, किन्तु 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' भी एक महत्त्वपूर्ण निकाय था क्योंकि नियुक्तियां करने का अधिकार उसी के हाथों में था। इसके अतिरिक्त उसके पास विशेष जानकारी होने से भी उसकी स्थिति काफी दृढ़ थी। भारत के समस्त रिकार्ड ईस्ट इण्डिया हाउस में रहते थे और वहाँ विशेषज्ञ लोग उनका परीक्षण करते थे। हाँ, बहुत कुछ बोर्ड के अध्यक्ष के व्यक्तित्व पर भी निर्भर करता था। यदि वह कोई शक्तिशाली व्यक्ति होता और मंत्रीमण्डल का सदस्य होता तो वह डायरेक्टरों को अधिक सुगमता से नियन्त्रित कर सकता था। कैसलरे सरीखे व्यक्ति को डायरेक्टरों को नियन्त्रित करना कठिन लगा। यद्यपि बोर्ड का अध्यक्ष डायरेक्टरों को बीच में डाले ही बिना सीधे गुप्त समिति द्वारा भारत से पत्रव्यवहार कर सकता था, किन्तु वास्तविक व्यवहार में बोर्ड के अध्यक्ष तथा कोर्ट के अध्यक्ष के मध्य अनौपचारिक रीति से मामला तय हो जाता था। औपचारिक मसविदा तभी तय्यार किया जाता था और बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था जब कि उन दोनों में समझौता हो जाता था। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिये कि सम्पूर्ण बोर्ड ने बोर्ड के नाते काम करना बन्द कर दिया था; १८४१ से बाद में उसके लिए कोई सहायक सदस्य नियुक्त नहीं किया गया, और सारा कार्य उसके अध्यक्ष के द्वारा ही किया जाता था। उसका एक सचिव होता था जोकि 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में बैठता था।

इंग्लैण्ड में भारत के शासन पर नियन्त्रण रखने वाला निकाय बोर्ड तथा कोर्ट के अतिरिक्त एक और भी था; वह थी संसद। संसद को उन दोनों पर सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी। उसे ही कम्पनी के चार्टर को पुनस्स्वीकृति देने तथा उसके लिये शर्तें निर्धारित करने का अधिकार था। वह समय समय पर भारत का संविधान भी निर्धारित करती थी और भारतवासियों के लिए कानून बनाती थी। परन्तु उसके पास सर्वोच्च तथा अन्तिम सत्ता होते हुए भी वह आमतौर से भारतीय मामलों में दिलचस्पी नहीं लेती थी। कम्पनी के व्यापारिक हितों के कटने के साथ साथ उसकी दिलचस्पी और भी कम होती गई। भारत के प्रति संसद की इस उदासीनता के कई कारण थे। एक तो यह कि भारत के मामलों पर सूक्ष्मता से नियन्त्रण करने के लिए उसके पास कोई समुचित साधन न था; उनसे सम्बन्ध रखने वाला अलग से कोई विभाग नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसद को उन पर विचार करने के कोई बहुत अधिक अवसर नहीं मिलते थे क्योंकि बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष तथा उसके कर्मचारी मण्डल (Staff) के वेतन भारतीय आय में से दिये जाते थे; संसद का उनसे कोई सम्बन्ध न था। कर वसूल करने तथा उसे व्यय करने का अधिकार भारत के गवर्नर-जनरल तथा उसकी काउंसिल को था, इसलिये उससे सम्बन्धित प्रश्न वादविवाद के लिये संसद के समक्ष नहीं आते थे। ऐसी स्थिति में यदि संसद भारत के हितों की ओर से उदासीन रहती हो और उसकी उदासीनता की निद्रा कभी कभी ही भंग होती हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ३

कम्पनी के शासन का अन्त

१८५८ का भारत सरकार अधिनियम

परिचयात्मक :— ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन भारत में जिस सांविधानिक और शासन पद्धति के विकास का हमने गत पृष्ठों में वर्णन किया है, उसमें कई असंगतियाँ तथा तर्कहीन तत्त्व ऐसे थे जिनके कारण वह बहुत दिन तक नहीं चल सकती थी। सबसे पहिला दोष तो उसमें यह था कि उसके अन्तर्गत भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रदेशों पर संप्रभुता तो क्राउन की थी, किन्तु उन पर आधिपत्य और उनकी वित्त व्यवस्था पर अधिकार कम्पनी का था। इस प्रकार का विभाजन एकदम अस्वाभाविक था ; इसका कोई उदाहरण हमें उससे पहिले के इतिहास में नहीं मिलता। घटनाचक्र ने ब्रिटिश शासकों को इस स्थिति का अन्त करने और वैधानिक संप्रभुता के साथ साथ वास्तविक राजनीतिक सत्ता भी क्राउन को दे देने के लिए विवश किया। दूसरी बात यह कि इस व्यवस्था में व्यापारी और शासक का जो सम्मिश्रण था, वह भी अद्भुत था और एक समुचित शासन-पद्धति के लिये घातक था। बहुत से राजनीतिज्ञ और शासक इस स्थिति को अवांछनीय और अमान्य समझते थे ; किन्तु इसका अन्त करने की उन में या तो इच्छा की कमी थी, या सामर्थ्य का अभाव था। इसलिए उन्होंने भारत के कम्पनी के शासन पर संसद का नियन्त्रण करके ही सन्तोष कर लिया। १८३३ के अधिनियम ने भारत में कम्पनी के व्यापार पर एकाधिकार को केवल चाय तक ही सीमित कर दिया और शेष सारे व्यापार को यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा के लिये उन्मुक्त कर दिया। यह व्यापार तथा शासन को एक दूसरे से पृथक करने की दिशा में पहिला क़दम था। इसी दिशा में दूसरा क़दम १८५३ के अधिनियम में उठाया गया जिसने कि, जैसा कि हम पहिले ही देख चुके हैं, कम्पनी के व्यापार के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया और उसे केवल प्रशासकीय संस्था बना कर छोड़ दिया, और उसके चार्टर को बीस वर्ष के लिए नहीं बल्कि संसद की इच्छापर्यन्त काल के लिये ही पुनस्स्वीकृति प्रदान की गई। डायरेक्टरों की संख्या को घटाकर चौबीस से अठारह कर देना, जिसमें छः क्राउन द्वारा मनोनीत किये जाते, और कोरम के लिये आवश्यक संख्या को कम करके दस कर देना, जिससे कि 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' (जिसमें कि उपस्थिति बहुत थोड़ी रहती थी) में सरकार द्वारा नियुक्त सदस्यों का बहुमत हो सकता था, और नियुक्ति करने के सारे अधिकारों को डायरेक्टरों से छीन लेना, इस सब ने भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उन्मूलन और भारत में उसके प्रदेशों को निकट भविष्य में ही क्राउन को हस्तान्तरित करने के लिए आधार तय्यार कर दिया। १८५७ की भयावह घटनाओं ने, जिन्हें कि सिपाही विद्रोह कहा जाता है, कम्पनी के अन्त को और निकट ला दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पामर्स्टन का विधेयक :— सिपाही विद्रोह (Sepoy Rebellion or Mutiny) के फलस्वरूप लॉर्ड पामर्स्टन ने कम्पनी का उन्मूलन कर देने और भारत के शासन को कम्पनी से क्राउन को हस्तान्तरित करने का निर्णय किया। अपने इस निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए उसने संसद में एक विधेयक पेश किया। उस विधेयक ने यह प्रस्तावित किया कि भारत के शासन पर देखभाल रखने, नियन्त्रण करने तथा उसे निर्देशन देने के लिये 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' तथा 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' (जो कि १७८४ के पिट के भारत अधिनियम के पास होने से इस काम को करते आ रहे थे) के स्थान में लन्दन में एक प्रेज़ीडेन्ट तथा उसकी सहायता के लिये आठ सदस्यों की एक काउंसिल की स्थापना की जाय। जो लोग कम्पनी के डायरेक्टर थे तथा जिन्होंने कम्पनी अथवा क्राउन के अधीन भारत में नौकरी की थी, वे लोग काउंसिल का सदस्य बनने के लिये योग्य थे। इस विधेयक का द्वितीय पठन 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में भारी बहुमत से पास हो गया, किन्तु यह कानून नहीं बन सका, क्योंकि लॉर्ड पामर्स्टन को किसी अन्य प्रश्न पर त्याग-पत्र दे देना पड़ा। उसके उत्तराधिकारी लॉर्ड डर्बी ने एक अन्य विधेयक तैयार करने का कार्य डिज़रेली को सौंपा। नवीन विधेयक में काउंसिल के निर्माण की एक भिन्न रीति का प्रस्ताव किया गया जिसका बड़ा मज़ाक उड़ाया गया। विधेयक को त्याग दिया गया। लॉर्ड स्टेनले ने, जो कि डर्बी के मंत्रिमंडल में 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' का प्रेज़ीडेन्ट बना था, उन प्रस्तावों के आधार पर एक नवीन विधेयक प्रस्तुत किया, जिन्हें कि १७ जून, १८५८ को 'हाउस ऑफ कॉमन्स' ने पास किया था। वे प्रस्ताव यहाँ पूर्ण रूप से उद्धृत किया जाने के पात्र हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

१. "कि क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार के अधीन प्रदेश कानून के अनुसार ऐसी सरकार के अधीन केवल तभी तक रहेंगे जब तक कि संसद कोई अन्य व्यवस्था न करे यह वांछनीय तथा आवश्यक है कि ऐसी सरकार अब 'क्राउन' को हस्तान्तरित कर दी जाय ताकि सम्पूर्ण साम्राज्य एक ही कार्यपालिका सत्ता के नियंत्रण में आ जाय।

२. "कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह व्यवस्था करना आवश्यक है कि महारानी अपने किसी उत्तरदायी मन्त्री द्वारा भारत में शासन तथा वित्त सम्बन्धी समस्त कर्त्तव्यों का पालन करायेंगी जिन्हें कि अब तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा, अथवा कम्पनी के 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' अथवा 'कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स' द्वारा, या तो अकेले, या भारतीय मामलों के लिए कमिश्नरों की सहमति से, किया जाता है या किया जा सकता है।

३. "कि क्राउन के मंत्री को अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सहायता देने के लिए यह आवश्यक है कि एक काउन्सिल नियुक्त की जाय जिसके सदस्य पन्द्रह से अधिक न हों और बारह से कम न हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. "कि काउन्सिल की कुशलता तथा स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि वह आंशिक रूप से मनोनीत हो और आंशिक रूप से निर्वाचित।"

जिस समय लॉर्ड पामर्स्टन का विधेयक वादविवाद के लिये संसद के समक्ष प्रस्तुत हुआ तो कम्पनी ने अपने अधिकारों और अपनी शक्तियों को सुरक्षित रखने के लिए घोर संघर्ष किया; उसकी ओर से संसद में एक बहुत 'वज़नदार और गौरवपूर्ण' याचिका प्रस्तुत की गई जिसे कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने तैयार किया था। उस याचिका में यह कहा गया कि सिपाही विद्रोह के कारण कम्पनी का उन्मूलन उचित नहीं हो सकता क्योंकि विद्रोह का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार का भी उतना ही था जितना कि कम्पनी का। 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' की पूर्व-स्वीकृति के बिना भारत को कोई पत्र नहीं भेज सकता था। याचिका में यह दावा किया गया कि भारत में कम्पनी का शासन मानव जाति के इतिहास में न केवल सब से अधिक विशुद्ध-संकल्प रहा है, वरन् शासितों के लिए सर्वाधिक हितकारी भी सिद्ध हुआ है। किन्तु कम्पनी अपने ऊपर आये हुए संकट को दूर न कर सकी। सिपाही विद्रोह के कारण उसके भाग्य-नक्षत्र का अस्त हो चुका था। लॉर्ड स्टेनले द्वारा प्रस्तुत और संचालित विधेयक को संसद के दोनों सदनों ने पारित कर दिया और २ अगस्त १८५८ को उसे सम्राज्ञी की स्वीकृति प्राप्त हो गई। इसकी मुख्य व्यवस्थाओं का अध्ययन करने से पूर्व दो शब्द सिपाही विद्रोह के सम्बन्ध में कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सिपाही विद्रोह :— विद्रोह क्यों किया गया और वह क्यों अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहा ? इस प्रश्न से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, और न ही हमारे लिये इस विवादग्रस्त प्रश्न का निर्णय करना आवश्यक है कि वह भारत की स्वाधीनता का प्रथम संग्राम था या नहीं। सांविधानिक इतिहास के विद्यार्थियों के लिये तो केवल यह जान लेना पर्याप्त होगा कि उस विद्रोह का संविधान के विकास तथा आंग्ल-भारत सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ा।

इस विद्रोह से ब्रिटिश शासकों तथा जनता को बड़ा आघात लगा; इसने उनकी आँखें खोल दीं और वे महसूस करने लगे कि एक इतने बड़े साम्राज्य की शासन सत्ता एक व्यापार कम्पनी के हाथों में रहना कितना असंगत और आपदापूर्ण है। इसका सब से बड़ा दोष, जैसा कि लॉर्ड पामर्स्टन ने अपने चिरस्मरणीय भाषण में कहा, यह था कि यह पूर्ण रूप से *उत्तरदायित्वहीन* थी। "हमारी राजनीतिक व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रशासन के समस्त कार्यों के लिए मन्त्रियों को उत्तरदायी होना चाहिये— उन्हें संसद के प्रति, जनमत के प्रति, क्राउन के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये ; किन्तु इस स्थिति में भारत का शासन ऐसे लोगों के हाथों में पाया जाता है जो संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं, जिन्हें क्राउन द्वारा नियुक्त नहीं किया जाता, बल्कि जो उन व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं जिनका भारत से केवल इतना ही सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि वहां के व्यापार में उनकी कुछ पूँजी लगी हुई है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।"* दूसरा गम्भीर दोष, जो कि लॉर्ड पामर्स्टन ने बताया, यह था कि द्वैध शासन की यह प्रणाली अत्यन्त जटिल और असुविधापूर्ण थी। उसने कहा कि भारत में शासन तथा उत्तरदायित्व को डायरेक्टर्स, 'बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल' तथा गवर्नर-जनरल में इस प्रकार विभक्त कर दिया गया है कि शासन में एकता और कुशलता हो ही नहीं सकती। "भारत को एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय पर एक पत्र भेजने से पूर्व उसे केनन रो तथा 'इण्डिया हाउस' के बीच चक्कर काटना पड़ता है, ... और राजधानी के इन दो छोरों के बीच एक पत्र के कारनामे प्रायः उतने ही विलक्षण होते हैं, जितने कि एक गिनी के जिनके विषय में हम सब पढ़ चुके हैं।"†

सारांश यह कि १८५२ की घटनाओं ने ब्रिटिश राष्ट्र की आत्मा को जाग्रत कर दिया और उसे यह निर्णय कर लेने के लिये बाध्य कर दिया कि कम्पनी का अन्त होना चाहिये। विद्रोह का तात्कालिक परिणाम हुआ १८५८ का अधिनियम बनना जिसने कि ब्रिटिश भारत के शासन, प्रदेशों तथा वित्त को कम्पनी से लेकर क्राउन को दे दिया। उस समय से भारत पर शासन महारानी (Her Majesty) के द्वारा तथा उनके नाम में होने लगा।

दूसरे, यह महसूस किया गया कि विद्रोह का एक आंशिक कारण यह था कि १८५३ के अधिनियम के अनुसार स्थापित व्यवस्थापिका परिषद (Legislative Council) से भारतवासियों को अलग रक्खा गया और शासकों तथा जनता में कोई संसर्ग तथा सम्बन्ध नहीं था। यदि ऐसा होता तो सरकार को जनता के कष्टों का ज्ञान हो जाता और वह उन्हें दूर करने का कोई प्रयास करती। ऐसा अनुभव करते हुए सरकार ने शासन में भारतीयों को कुछ स्थान देने की नीति अपनाई और १८६१ का 'भारतीय व्यवस्थापिका परिषद अधिनियम' (Indian Councils Act) पारित किया।

विद्रोह का आंग्ल-भारत सम्बन्धों और ब्रिटिश सरकार के जनता के प्रति रवैये पर भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को भली भाँति समझने के लिये हमें उस राजनीतिक वातावरण को जान लेना आवश्यक होगा जोकि ब्रिटेन में १८३० से १८५० तक पाया जाता था। १८३२ के महान् 'सुधार अधिनियम' (Reform Act) ने, जिसने

---

* Keith : *Speeches on Indian Polity,* Vol. I, page 323, Quoted by G. N. Singh : *Landmarks.*

† "Before a despatch upon the most important matter can go out to India it has to oscillate between the Cannon Row and the India House..... and that the adventures of a despatch between these two extreme points of the Metropolis are often as curious as those of a Guinea of which we have all read." *Ibid.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि 'हाउस ऑफ कॉमन्स' के लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ किया, इंग्लैण्ड के राजनीतिक आदर्श को निर्धारित कर दिया। वह आदर्श था : लोकतन्त्र, निरंकुशतन्त्र अथवा धनतन्त्र नहीं। इस महान् उदार क़दम के बाद अन्य बहुत से ऐसे कार्य हुए जो कि उदारवाद की भावना से ओत-प्रोत थे, जैसे कि दास प्रथा का उन्मूलन, प्रथम फैक्टरी कानून का पास होना, खाद्यान्न कानूनों का रद किया जाना, तथा शिक्षा के लिये प्रथम राजकीय अनुदान का मिलना। १८३९ में लॉर्ड डरहम ने अपना प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत किया जिसमें इस बात का अनुमोदन किया गया कि कनाडा की समस्याओं का सर्वोत्तम निराकरण वहाँ उत्तरदायी शासन की स्थापना है। लगभग उसी समय कौब्डन ने ये महान् और पुनीत उद्गार प्रकट किये कि उपनिवेशों पर शासन तलवार, सैनिक बल और युद्ध जलयानों द्वारा नहीं किया जा सकता, ऐसा करने का सर्वोत्तम साधन उनके हृदय पर विजय पाना है। इन घटनाओं से ऐसा दिखाई पड़ता है कि विक्टोरिया के आरंभिक तथा मध्य काल में इंग्लैण्ड की गृहनीति में उदारवादी सिद्धान्त अपनाये जा रहे थे। यही उदारवादी भावना उसके उपनिवेशों तथा भारत के साथ सम्बन्धों को भी उत्प्रेरित कर रही थी। यह तथ्य कि उसके कुछ सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञों ने १८३३ तथा १८५३ में कम्पनी के चार्टर की अवधि बढ़ाने का विरोध किया था, भी इस दावे को सिद्ध करता है। १८३३ के अधिनियम की यह व्यवस्था कि किसी भी भारतीय को केवल धर्म, जन्म, स्थान, वंश तथा रंग के आधार पर कम्पनी के अधीन किसी पद को प्राप्त करने से नहीं रोका जायेगा, भी इस कथन की सत्यता का एक प्रमाण है। कम्पनी को यह भी निर्देश दिया गया था कि उसे एक लाख रुपया भारत की जनता में शिक्षा का प्रचार करने के लिये व्यय करना चाहिये। ईसाई धर्म-प्रचारक भी जनता में शिक्षा प्रसार का कार्य कर रहे थे। भारतवासी भी पाश्चात्य उदारवादी भावना को ग्रहण करने के लिए उत्सुक थे। राजा राममोहनराय तथा ब्रह्मो समाज के अन्य नेताओं के कार्य इस उत्सुकता के प्रमाण हैं। यह कहना ग़लत न होगा कि उस काल के बहुत से भारतवासी ब्रिटिश राज को भारत के हित के लिये एक ईश्वरीय वरदान समझते थे।

विद्रोह ने यह सब कुछ बदल डाला। ज़करिया के शब्दों में "इंग्लैण्ड और भारत के सम्बन्धों पर अविश्वास का तुषारापात होने लगा: ये लोग एक बार विद्रोह कर चुके थे और भयावह अत्याचार कर चुके थे— अब उन पर यह विश्वास कैसे किया जा सकता था कि वे और राजद्रोह नहीं करेंगे? एक प्रत्यक्ष साक्षी के अनुसार, 'भारत के प्रति सहानुभूति की पुरानी भावना घृणा में बदल गई: भारत में जीवन तथा कार्य के प्रति सन्तोष की पुरानी भावना, अंग्रेज़ी दृष्टिकोण की अपेक्षा भारतीय दृष्टिकोण से देखने की पुरानी प्रवृत्ति, का स्थान भारत में आवश्यकता से अधिक न ठहरने तथा प्रत्येक बात को एकदम अंग्रेज़ी मापदण्ड से नापने की प्रवृत्ति ने ले लिया।" संक्षेप में, विद्रोह ने उस राजनीतिक उदारवाद की भावना को नष्ट कर दिया जो कि उससे पहिले ब्रिटिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिज्ञों को प्रेरित करती रही थी। जिस बात को पहिले जनता के स्वशासन के प्रति नवोदित प्रेम का चिह्न समझा जाता था, उसे विद्रोह के बाद राजद्रोह और इसलिए एक अपराध समझा जाने लगा। विद्रोह से पूर्व अंग्रेज़ लोग अपने भारतीय मित्रों के साथ बड़ा सजीव और घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे, और उनके विचारों से प्रभावित होते थे; विद्रोह के पश्चात् यह संसर्ग कम हो गया, और अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तानियों के साथ केवल सरकारी हैसियत से बर्ताव करने लगे। उनका जीवन केवल दफ्तर और क्लब तक ही सीमित रह गया। इस सब के फलस्वरूप अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों के सम्बन्धों में कमी हुई जिसके परिणामस्वरूप न केवल अंग्रेज़ लोग अपने भारतीय मित्रों के परामर्श से वंचित हो गये, बल्कि इस से जातीय खिंचाव भी बढ़ा। जातीय वैमनस्य की भावना ने तो कवि किप्लिंग को यह कहने के लिये प्रेरित किया कि "पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है, और ये दो कभी नहीं मिलेंगे।" (East is East and West is West, and the twain shall never meet.)

दूसरी ओर, भारत की जनता भी उस निर्दयता तथा पाशविक हिंसा को नहीं भूल सकती थी जिससे कि अंग्रेज़ों ने विद्रोह को कुचला था। "अंग्रेज़ों ने अपने क़ैदियों को बिना मुकदमा चलाये ही कत्ल कर डाला, और इस ढंग से जिसे कि सभी हिन्दुस्तानी बर्बरता की पराकाष्ठा समझते थे।.... उन्होंने हजारों नागरिकों की हत्या कर डाली।.... जनरल नील के आदेश से बहुत से ग्रामों को नष्ट कर दिया गया और उनके निवासियों को मार डाला गया, और जहां जहाँ भी हमारी अंग्रेज़ सेनायें गईं ग्रामवासियों को अन्धाधुन्ध जलाया गया।"* ऐसे निर्दयतापूर्ण तथा बर्बर व्यवहार को भला सुगमता से कैसे भुलाया जा सकता था? इसने शासकों तथा शासितों के बीच वैमनस्य की खाड़ी को और गहरा और चौड़ा कर दिया।

सिपाही विद्रोह के कई अन्य परिणाम और निकले जोकि उस घटना के अतीत में विलीन हो जाने के बाद भी बहुत दिन तक आंग्ल-भारत सम्बन्धों को प्रभावित करते रहे। विद्रोह को देखकर अंग्रेज़ लोग पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट रूप से यह अनुभव करने लगे कि भारत में मुट्ठी भर यूरोपियन लोगों की रक्षा का केवल एक उपाय हो सकता है और वह यह कि भारत की दो मुख्य जातियों, हिन्दुओं और मुसलमानों, को एक दूसरे से अलग रक्खा जाय। विद्रोह को हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और सहयोग ने ही सम्भव बनाया था। विद्रोह के समय और पहिले भी हिन्दुओं और मुसलमानों में काफी एकता की भावना पाई जाती थी। सेना में हिन्दू, मुसलमान, राजपूत, जाट, सिख तथा पुरबिये सिपाही, बहुत बड़ी हद तक, अपनी साम्प्रदायिकता तथा जातीयता को भूल कर एकता के सूत्र में गुंथित हो चुके थे। अंग्रेज़ों ने इस एकता को भारत में अपने लिये एक गम्भीर खतरा समझा; उन्होंने साम्प्रदायिक आधार पर फूट डालने का संकल्प कर

* Garrat: *An Indian Commentary.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया और वे अपने इस प्रयास में काफी सफल भी हुए। विद्रोह के उपरान्त सेना का साम्प्रदायिकता और जातीयता के आधार पर पुनर्गठन किया गया; प्लाटूनों, बटालियनों तथा कम्पनियों को जाति और सम्प्रदाय के आधार पर संघटित किया गया; 'हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध हिन्दुस्तानियों को खड़ा करने की नीति' को अपनाया गया, और इस प्रकार चिरकालीन एकता पर करारा प्रहार किया गया। सेना के इस पुनर्गठन के दुष्परिणाम अपने उग्रतम रूप में भारत विभाजन के बाद देखने में आये जबकि एक सम्प्रदाय के सैनिक उन लोगों को, जिनकी रक्षा का भार उनके ऊपर था, केवल इस लिये मारने लगे क्योंकि वे दूसरे सम्प्रदाय के थे जिन से कि वे घृणा करते थे। सेना से बाहर एक जाति को दबाने और दूसरी जाति को प्रोत्साहन देने की नीति को अपनाया गया। सबसे पहिले मुसलमानों को दबाया गया। मुसलमानों को जानबूझ कर सेना तथा स्थायी नौकरियों से बाहर रक्खा गया। उसके बाद हिन्दुओं का नम्बर आया। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का जन्म अधिकतर विद्रोह के बाद के काल में हुआ।

अन्तिम बात यह कि पटियाला, नाभा तथा जीन्द सरीखी रियासतों ने अंग्रेज़ों को जो अमूल्य सहायता दी थी, जिसके बिना उनके लिए विद्रोह का दमन करना अत्यन्त कठिन होता, उसे देख कर अंग्रेज़ लोग भारतीय राजाओं के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के महत्त्व को भली भांति समझने लगे। डलहौज़ी की नीति ने उनकी सहानुभूति को काफी हद तक खो दिया था। अस्तु, महारानी विक्टोरिया ने यह प्रतिघोषणा जारी करना वांछनीय तथा आवश्यक समझा कि राजाओं की गद्दियों को अब और अधिक नहीं छीना जायेगा और उनके अधिकारों, गौरव तथा सम्मान को क्राउन अपना सा समझेगा।

अब हम १८५८ के अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाओं का अध्ययन करेंगे तथा उसके सांविधानिक महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे।

१८५८ का भारत शासन अधिनियम :— इस अधिनियम को 'भारत के उत्तमतर शासन के लिए अधिनियम' कहा जाता है। इसको यह नाम इस बात पर ज़ोर देने के लिये दिया गया कि इस अधिनियम को बनाने का कारण ब्रिटिश सरकार की यह तीव्र इच्छा थी कि उस द्वैध शासन प्रणाली के दोषों को दूर किया जाय जिसे कि १७८४ के पिट के भारत अधिनियम ने स्थापित किया था। कम्पनी का अन्त कर के और भारत के शासन को क्राउन को हस्तान्तरित कर के इस अधिनियम ने उस विषम स्थिति को दूर कर दिया था जोकि एक व्यापार कम्पनी के हाथों में एक इतने बड़े साम्राज्य के आ जाने से उत्पन्न हो गई थी। 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' तथा 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' के बीच शासन के उत्तरदायित्व का विभाजन हो जाने से जो गड़बड़ होती थी, जो रुकावट पड़ती और जो विलम्ब होता था, इस अधिनियम ने उस सब का अन्त कर दिया। इस हद तक तो इसने भारत के शासन में कुछ सुधार अवश्य किया। परन्तु इसने भारत में शासन प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं किया और भारत के शासन में भारत के लोगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भाग लेने की व्यवस्था नहीं की। इस उद्देश्य की पूर्ति १८६१ के भारतीय परिषद् अधिनियम ने की। १८५८ के अधिनियम की मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं।

१. इसने यह व्यवस्था की कि भारत पर शासन महारानी के द्वारा और उनके नाम में किया जायेगा। भारत के शासन तथा वित्त की जिन शक्तियों का प्रयोग अब तक 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' तथा संसद का 'बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल' के द्वारा होता था, वे सब अब एक राज्य मंत्री के हाथ में आजायेंगी। इस उद्देश्य के लिए एक पाँचवे प्रमुख मंत्री की नियुक्ति का अधिकार दिया गया। उसको *भारत मन्त्री* (Secretary of State for India) कहा जाने लगा। अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में उसकी सहायता करने के लिये पन्द्रह सदस्यों की एक परिषद— *भारत परिषद* (Council of India) की व्यवस्था की गई। उसके पन्द्रह सदस्यों में से आठ क्राउन के द्वारा मनोनीत होते और शेष को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टर निर्वाचित करते। मनोनीत तथा निर्वाचित, दोनों प्रकार के सदस्यों में अधिक ऐसे व्यक्ति ही हो सकते थे जिन्होंने कि कम से कम दस वर्ष तक भारत में या तो नौकरी की हो, या वे यहाँ रहे हों, और जिनको नियुक्ति के समय भारत छोड़े हुए दस वर्ष से अधिक का समय न हो गया हो। इसका अभिप्राय यह है कि *परिषद* के अधिकतर सदस्य भारत सरकार के निवृत्ति-प्राप्त अधिकारी होते। उसके सदस्य सदाचरणपर्यन्त अपने पदों पर रहते, किन्तु संसद के दोनों सदनों के निवेदन करने पर क्राउन उन्हें कभी भी हटा सकता था। क्राउन द्वारा नियुक्तियों में रिक्त स्थानों की पूर्ति क्राउन द्वारा होती; डायरेक्टरों द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के स्थान रिक्त हो जाने पर उन्हें *परिषद* द्वारा नियुक्त सह-सदस्यों (Co-opted members) में से भरा जाता। *परिषद* के प्रत्येक सदस्य को भारत के कोष में से १२०० पाउण्ड का वार्षिक वेतन मिलता। परिषद का कोई सदस्य संसद में न मत दे सकता था, और न बैठ सकता था।

२. यह परिषद एक परामर्शदात्री निकाय होनी थी; उसके सदस्य 'नये मंत्री के न तो स्वामी होने और न कठपुतले, उनसे उसके मूल्यवान् परामर्शदाता' होने की आशा थी। इसको पहिल (Initiative) का कोई अधिकार नहीं दिया गया; यह तो केवल उन प्रश्नों पर ही अपना मत प्रकट कर सकती थी जिन्हें कि भारत मन्त्री इसके पास भेजता। ऐसे विषयों को छोड़ कर जिनमें कि उसे परिषद की सहमति लेनी आवश्यक थी, भारत मन्त्री किसी भी बात में उसके बहुमत को ठुकरा सकता था। वित्त तथा सम्पत्ति की प्राप्ति, परिपोषण (Patronage) का वितरण, सम्पत्ति को बेचना या बन्धक रखना, इत्यादि ऐसे विषय थे जिनमें कि भारत मंत्री को परिषद की सहमति से कार्य करना होता था।

३. ब्रिटेन में होने वाले भारतीय धन्धे को करने तथा भारत के साथ व्यापार करने के लिए परिषद की प्रति सप्ताह एक बार बैठक होती। भारत मंत्री के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए, जोकि इसकी बैठकों का सभापतित्व करता था, भारत को भेजे जाने वाले या ब्रिटेन में जारी किये जाने वाले प्रत्येक आदेश अथवा संवाद को परिषद के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक था। ऐसा वह या तो परिषद की साप्ताहिक बैठकों में कर सकता था, या उसे परिषद कक्ष में रख सकता था जहाँ कि वह सात दिन तक रहता। उस पर अपना मत प्रकट करने का प्रत्येक सदस्य को अधिकार था। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, भारत मंत्री परिषद के बहुमत को ठुकरा सकता था, परन्तु ऐसा करने के लिए उसे कारण देना पड़ता था। बैठक का कोरम पांच था।

४. यदि भारत मन्त्री किसी संवाद को तुरन्त महत्त्व का समझता तो उसे वह परिषद का परामर्श लिये बिना भी भारत भेज सकता था। परन्तु इस बात की सूचना परिषद को अवश्य देनी पड़ती। रियासतों के साथ युद्ध तथा शांति अथवा संधि करने तथा उनके प्रति नीति से सम्बन्धित संवादों पर 'गोपनीय' लिखकर, उन्हें भारत मंत्री परिषद से परामर्श लिये बिना भी भेज सकता था। गवर्नर-जनरल तथा बम्बई और मद्रास गवर्नर भी अपने किसी संवाद पर 'गोपनीय' लिख सकते थे; ऐसे गुप्त संवादों को परिषद के सदस्य भारत मन्त्री की स्पष्ट अनुमति से ही देख सकते थे।

५. कार्य को अधिक सुविधापूर्ण रीति से करने के लिये भारत मन्त्री को अपनी परिषद की समितियाँ बनाने तथा उनको कार्य विभाग विभक्त करने का अधिकार दिया गया। वह समस्त धन्धों की कार्यविधि को निर्दिष्ट कर सकता था।

६. भारत मन्त्री का वेतन तथा उस के कार्यालय का व्यय भार भारतीय राजस्व के ऊपर रक्खा गया। भारत मंत्री के लिये भारत की भौतिक तथा नैतिक प्रगति और भारत के हिसाब किताब का पूरा वार्षिक विवरण संसद के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक कर दिया गया। इस वार्षिक विवरण से संसद को भारतीय विषयों पर बहस करने का अवसर मिलता था।

७. भारत के गवर्नर-जनरल तथा प्रेज़ीडेन्सियों के गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार इस अधिनियम ने क्राउन को दे दिया। लेफ्टीनेन्ट गवर्नरों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल महारानी की सहमति से कर सकता था। गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों की परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति सपरिषद-भारत-मन्त्री (Secretary of State-in-Council) कर सकता था।

८. कम्पनी की जल तथा सैनिक शक्ति 'क्राउन' को हस्तान्तरित कर दी गई। अधिनियम ने यह व्यवस्था भी कर दी कि एक तुरन्त महत्त्व की स्थिति तथा बाहरी आक्रमण को रोकने के अतिरिक्त भारत से बाहर सैनिक उद्देश्यों के लिये भारतीय सेनाओं का प्रयोग संसद की पूर्व-स्वीकृति के बिना नहीं किया जा सकता।

ये हैं 'भारत के उत्तमतर शासन के लिए अधिनियम' की प्रमुख व्यवस्थायें। इसका मुख्य उद्देश्य भारत के शासन का उत्तरदायित्व क्राउन को हस्तान्तरित कर देना और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय साम्राज्य को नियन्त्रित करने का अधिकार केवल एक कार्यपालिका शक्ति के हाथों में दे देना था। वह सत्ता थी भारतमंत्री जोकि मंत्रीमण्डल का एक सदस्य होता। समस्त विषयों में उसका निर्णय अंतिम होता। परिषद् को, जोकि उसके ऊपर नैतिक नियन्त्रण रखती, पहिल करने का कोई अधिकार नहीं दिया; उसे तो "अपना ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों तथा नीति से सम्बन्धित केवल ऐसे प्रश्नों तक सीमित रखना था जोकि उसका सभापति उसके सम्मुख प्रस्तुत करता, जोकि 'गोपनीय' विषयों में अपने पार्षदों से अलग स्वयं आप ही कार्य कर सकता था।"*

१८५८ के अधिनियम का सांविधानिक महत्त्व :— १८५८ का अधिनियम भारत के सांविधानिक इतिहास में एक नवीन युग की अवतारणा करता है। इसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त करके भारत को प्रत्यक्ष तथा पूर्ण रूप से ब्रिटिश क्राउन के अधीन कर दिया। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि इस अधिनियम के द्वारा जो परिवर्तन हुआ वह औपचारिक ही था, मूलभूत नहीं; इसने शासन के रूप में तो परिवर्तन किया, किन्तु शक्तियों के तत्त्व में नहीं। प्रोफेसर डोडवेल के शब्दों में, "१८५८ में जो योजना अपनाई गई वह कोई नई नहीं थी, बल्कि वह समस्या का एक ऐसा निराकरण था जिसकी दिशा में मनुष्य पहिले से ही और सचेत रूप से कार्य कर रहे थे।"

१८५८ के अधिनियम द्वारा जो परिवर्तन हुए उन्हें हम आधारभूत नहीं, बल्कि औपचारिक ही अधिक समझते हैं क्योंकि उनके बावजूद भी विभक्त उत्तरदायित्व की पुरानी प्रणाली कायम रही, यद्यपि उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन अवश्य हो गये थे। भारत मंत्री ने अपने पूर्ववर्ती, 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' के अध्यक्ष, की समस्त शक्तियों तथा परम्पराओं को ग्रहण कर लिया था; इन दोनों पदाधिकारियों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। बोर्ड का अध्यक्ष सदैव क्राउन के द्वारा मनोनीत किया जाता था और उसका पद राज्य के प्रमुख मंत्रियों के समान होता था; प्रायः वह मंत्रीमण्डल का भी सदस्य होता था। इसी प्रकार 'भारत परिषद्' ने 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की परम्पराओं को ग्रहण कर लिया था; उसके सदस्यों में से आधे से अधिक की योग्यतायें बिल्कुल वैसी ही थीं जैसी कि 'कोर्ट' के अठारह सदस्यों में से कम से कम बारह की। जिस प्रकार कि कोर्ट का मुख्य कार्य भारत में कम्पनी के कर्मचारियों के हितों के विरुद्ध नीति को क्रियान्वित होने से रोकना था; उसी प्रकार 'भारत परिषद' का मुख्य कार्य भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों के हितों की रक्षा करना था।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी अधिनियम द्वारा किये गये परिवर्तन को औपचारिक कहा जा सकता है। जैसा कि डायरेक्टरों ने संसद को दी गई अपनी याचिका में लिखा था, पिट के भारत अधिनियम के पास हो जाने के बाद से ही ब्रिटिश शासन के एक

* *Cambridge History of India*: Vol. VI, page 211.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभाग, अर्थात् 'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल', को भारत के प्रशासन सम्बन्धी समस्त कार्यों पर पूर्ण अधिकार तथा नियन्त्रण प्राप्त हो गया था। बोर्ड के अध्यक्ष की पूर्व-स्वीकृति के बिना डायरेक्टर भारत को कोई संवाद नहीं भेज सकते थे। पुरानी तथा नवीन व्यवस्था में अन्तर केवल यह था कि पुरानी व्यवस्था में पहिल का अधिकार डायरेक्टरों के पास था और बोर्ड डायरेक्टरों के प्रस्ताव में किसी भी प्रकार का संशोधन कर सकता था तथा उसे ठुकरा सकता था; किन्तु नवीन योजना के अन्तर्गत पहिल का अधिकार भारत मंत्री को दे दिया गया और भारत परिषद् को एक परामर्शदाता निकाय बना दिया गया। जैसा कि हम गत अध्याय में कह चुके हैं, 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की बैठकों के लिये कोरम को घटा कर दस कर देने का परिणाम यह हुआ था कि यदि उसकी बैठक में उपस्थिति अधिक न हो, जैसी कि वह आम तौर से नहीं होती थी, तो उसमें क्राउन के मनोनीत सदस्यों का बहुमत हो सकता था। १८५३ के अधिनियम की इस व्यवस्था से कि डायरेक्टरों का नियुक्तियां करने का अधिकार समाप्त हो जाना चाहिये और बोर्ड को भारतीय सिविल सर्विस के लिये उम्मीदवारों के लिये परीक्षा के लिए नियम बनाने चाहियें, और यह कि समस्त जन्मजात ब्रिटिश प्रजाजनों को उसके लिये प्रतियोगिता करने का अधिकार होना चाहिये, और यह कि समस्त नियुक्तियां परीक्षाफल के आधार पर होनी चाहियें, यह स्पष्ट हो जाता है कि कम्पनी का अन्त १८५३ में ही दिखाई देने लगा था। इसके अतिरिक्त १८५३ के अधिनियम के अनुसार गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों की परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति के लिए क्राउन की स्वीकृति आवश्यक हो गई थी। इस सबसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि १८५३ के अधिनियम ने भारत के शासन भार को क्राउन द्वारा वहन करने के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया था; १८५८ के अधिनियम ने तो केवल उसके द्वारा आरम्भ की हुई प्रक्रिया को पूर्ण कर दिया। पिट के भारत अधिनियम से लेकर १८५८ तक सारे समय में संसद द्वारा पारित विभिन्न अधिनियमों द्वारा कम्पनी की शक्तियों और अधिकारों में कमी होती रही और संसद के अधिकार बढ़ते गये।

इस विचार ने कि भारत के शासन का प्रत्यक्ष रूप से क्राउन के हाथों में आ जाना उस प्रक्रिया का वांछनीय, स्वाभाविक तथा अपरिहार्य परिणाम है जो कि १७८४ के अधिनियम ने आरम्भ की थी 'बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल' के अध्यक्षों को अधिकाधिक समर्थ बना दिया; उनमें से कुछ ने तो अपनी शक्तियों को बहुत ही बढ़ा लिया। इसलिये, यद्यपि वैधानिक दृष्टि से पहिल का अधिकार 'कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स' के पास अवश्य बना रहा और वह अक्रियता से 'बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल' की कार्यवाही को रोक सकता था, तथापि सेण्ट जार्ज टकर, जो कि बहुत दिन तक कोर्ट का अध्यक्ष रहा था, बड़े दुख के साथ यह अनुभव करता था कि डायरेक्टरों का अधिकार धीरे धीरे कम होता जा रहा था।

एक और बात से भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि १८५८ के अधिनियम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा किये हुए परिवर्तन वास्तविक की अपेक्षा औपचारिक ही अधिक थे। यद्यपि संसद को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विषयों पर नियन्त्रण करने का अधिकार १७७३ से प्राप्त हो चुका था, किन्तु वह भारतीय प्रशासन में निरन्तर हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। कम्पनी के चार्टर को समय समय पर पुनस्स्वीकृति प्रदान करते समय ही वह भारतीय स्थिति की जाँच कर पाती थी। ऐसे अवसरों पर भारत के विषयों का गहरा अध्ययन किया जाता था। भारत के शासन के क्राउन के पास आ जाने से संसद को भारतीय प्रशासन पर पूर्ण औपचारिक तथा वैधानिक अधिकार प्राप्त हो गया। वह किसी भी विषय पर भारत मंत्री से प्रश्न पूछ सकती थी और प्रस्ताव तथा विधेयक पेश कर सकती थी। जब भारत मंत्री भारत के इंग्लैंड में व्यय किये हुये धन के सम्बन्ध में नियन्त्रक (Audit) के प्रतिवेदन को पेश करता तो संसत्सदस्य सम्पूर्ण भारतीय प्रशासन की जांच पड़ताल कर सकते थे। यह काम उस समय भी हो सकता था जब कि भारत मंत्री भारत की नैतिक एवं भौतिक प्रगति की वार्षिक रिपोर्ट संसद के सामने पेश करता। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि 'संसद ने नियन्त्रण करने के अपने इस अधिकार का प्रयोग करना उसी क्षण बन्द कर दिया जब कि उसे यह प्राप्त हुआ था।' कई कारणों से उसने भारतीय प्रशासन पर नियन्त्रण करने में सतर्कता से काम नहीं लिया। उसे अपना अधिकाधिक समय तथा ध्यान घरेलू, आयरिश तथा विदेशी मामलों के लिए देना पड़ा। इसके अतिरिक्त यह माना जाने लगा कि भारतीय विषयों को दलगत राजनीति से अलग रक्खा जाय। इसका फल यह हुआ कि किसी भी राजनीतिक दल ने भारत के विषयों पर जनमत को शिक्षित करना आवश्यक न समझा; भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में बहस करने से कोई राजनीतिक लाभ नहीं हो सकता था। १८५८ के अधिनियम तथा उसके बाद के अधिनियमों ने किसी ऐसे विकल्प की व्यवस्था नहीं की जोकि भारतीय विषयों की उस लम्बी और गहरी जांच का स्थान ले सकता जोकि कम्पनी के चार्टर को पुनस्स्वीकृति देते समय हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त, लॉर्ड डर्बी, जोकि लॉर्ड पामर्स्टन के बाद प्रधानमंत्री बना, की यह धारणा थी कि 'साधारणतया भारत का शासन भारत में ही चलाया जाना चाहिये', जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यस्त मन्त्रीमंडल तथा आवश्यकता से अधिक व्यस्त संसद ने भारत शासन की बागडोर भारत-मंत्री के हाथों में ही छोड़ दी। भारत-मन्त्री, साधारणतया, भारत स्थित अधिकारियों का ही समर्थन करता था। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि भारत के प्रशासन पर संसद का नियन्त्रण नाममात्र का ही रह गया।

अन्तिम बात यह कि १८५८ के अधिनियम ने भारत सरकार के ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं किया; सारा काम पुराने ढर्रे पर ही चलता रहा। शासन-कार्य में किसी भारतीय को भाग नहीं दिया गया और किसी प्रतिनिधि संस्था की स्थापना नहीं की गई। इस दृष्टिकोण से तो १८६१ के 'भारतीय परिषद अधिनियम' को भारत के सांविधानिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास में एक नवीन युग का आवर्त्तन करने वाला समझना अधिक सत्य होगा; उसने अपने पूर्ववर्ती के दोषों को दूर किया; उसे उसका पूरक समझा जा सकता है। उसका वर्णन करने से पूर्व हम दो शब्द महारानी विक्टोरिया की १ नवम्बर, १८५८ की शाही प्रतिघोषणा के विषय में कहेंगे, जिसमें कि भारत शासन का भार प्रत्यक्ष रूप से 'क्राउन' द्वारा वहन किये जाने की घोषणा की गई थी।

शाही प्रतिघोषणा :— 'शाही प्रतिघोषणा' को आम तौर से भारतीय स्वतंत्रताओं का परवाना (Charter) समझा जाता है। इसकी भाषा बड़ी सुन्दर और गौरवपूर्ण है और यह उदारता, न्याय तथा भारत की जनता के प्रति मैत्री भाव से ओत प्रोत है। भारत के राजाओं तथा जनता को इसमें जो वचन तथा आश्वासन दिये गये, उन्होंने इसे चिर-स्मरणीय बना दिया है। इसमें गवर्नर-जनरल को 'वाइसराय' के नाम से पुकारा गया है।

इसने भारत की रियासतों के नरेशों को यह आश्वासन दिया कि "माननीय ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जो भी सन्धियां तथा समझौते उनसे कर रक्खे हैं, उन्हें हम स्वीकार करते हैं और हम उनका पूर्ण रूप से निर्वाह करेंगे : और उनसे भी हम वैसा ही करने की आशा करते हैं। ..... देशी राजाओं के अधिकारों, गौरव तथा सम्मान का हम उतना ही आदर करेंगे जितना कि अपने गौरव इत्यादि का।"

इसने भारत की जनता को यह विश्वास दिलाया कि "जहां तक सम्भव होगा, हमारे समस्त प्रजाजन को, चाहे वे किसी भी नस्ल या धर्म के हों, हमारे अधीन उन समस्त पदों पर नियुक्त किया जा सकेगा जिनके कर्तव्यों का पालन करने के लिये वे अपनी शिक्षा, क्षमता तथा चरित्र के कारण योग्य हों।"

इसने ब्रिटिश सरकार की धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त पर दृढ़ रहने के संकल्प की इन शब्दों में घोषणा की : "यद्यपि हम ईसाई धर्म की सत्यता में पूर्ण विश्वास करते हैं और कृतज्ञतापूर्वक हम धर्म द्वारा मिलने वाली सान्त्वना को स्वीकार करते हैं, किन्तु इसके साथ साथ हम यह भी मानते हैं कि अपनी प्रजा पर अपने विश्वासों को थोपने का हमें कोई अधिकार नहीं है, और न ही ऐसा करने की हमारी कोई इच्छा है। हम अपनी इस शाही इच्छा को स्पष्ट शब्दों में घोषित कर देना चाहते हैं कि केवल धर्म के आधार पर न तो किसी के साथ कोई रियायत की जायेगी, और न किसी को किसी भी प्रकार से सताया जायेगा, बल्कि सब लोगों को कानून की ओर से समान संरक्षण प्राप्त होगा।"

इसमें महारानी ने यह इच्छा अभिव्यक्त की कि मनुष्यों को अपनी अचल सम्पत्ति के प्रति जो अनुराग होता है, उसका पूरा पूरा सम्मान किया जाय, और कानून का निर्माण करते समय तथा लागू करते हुए उनके तत्सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा की जाय। इसका अन्त इन स्मरणीय शब्दों पर होता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हमारी इच्छा है कि जब ईश्वर की अनुकम्पा से आन्तरिक शांति पुनः स्थापित हो जाय तो भारत में शान्तिपूर्ण ढंग से उद्योग का विकास किया जाय, सार्वजनिक उपयोगिता और सुधार के कार्य किये जायें, और उसका शासन वहां रहने वाले हमारे समस्त प्रजाजन के हित के लिये चलाया जाय। उनकी समृद्धि में हमारी शक्ति होगी; उनके संतोष में हमारी सुरक्षा होगी; और उनकी कृतज्ञता हमारा सर्वोत्तम पुरस्कार होगी। और सर्वशक्तिमान् परमात्मा हमें तथा हमारे अधीनस्थ अधिकारियों को ऐसी शक्ति दे कि अपनी प्रजा के कल्याण के लिए हम अपनी इन इच्छाओं की पूर्ति कर सकें।'

इस प्रतिघोषणा का भारत में ज़बर्दस्त स्वागत किया गया और इससे ब्रिटिश राज के प्रति भक्ति की एक ज़बर्दस्त लहर दौड़ गई। इसका केवल एक ही दोष था और वह यह कि इसके द्वारा दिये गये कुछ आश्वासनों और इसमें की गई कुछ प्रतिज्ञाओं को कभी भी व्यवहार में परिणत नहीं किया गया।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग २

क्राउन के अधीन भारत

(१८५८–१९१९)

प्रतिनिधि संस्थाओं का अभ्युदय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४

१८६१ का भारतीय परिषद् अधिनियम
(The Indian Councils Act, 1861)

परिचयात्मक :— यद्यपि १८५८ के भारत शासन अधिनियम ने जो परिवर्तन किये, वे बहुत आधारभूत नहीं थे, वे अधिकतर औपचारिक थे, तथापि इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसने भारत के सांविधानिक विकास में एक नवीन युग— क्राउन द्वारा प्रत्यक्ष शासन के युग— का आवर्त्तन किया। इस युग का अन्त १९४७ में हुआ जबकि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) प्राप्त हुआ। लगभग ९० वर्ष के इस काल को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है: पहिला युग १८५८ से १९२१ तक, दूसरा १९२१ से १९४७ तक और तीसरा १९४७ से १९५० तक चलता है। पहिले युग को प्रतिनिधि संस्थाओं का युग कहा जा सकता है; दूसरे को स्वशासक संस्थाओं का; और तीसरे को औपनिवेशिक स्वराज्य का युग कहा जा सकता है। १९५० में ब्रिटिश राज का सर्वथा अन्त हो गया और भारत एक पूर्ण संप्रभुता-सम्पन्न गणराज्य बन गया।

इस सम्पूर्ण युग में सांविधानिक विकास की दो विशेषतायें रही हैं जोकि इससे पहिले के युग में नहीं थीं। पहिली बात तो यह कि इस पर बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव उस शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन का पड़ा जो कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आगे हम इसे केवल कांग्रेस ही कहेंगे) के नेतृत्व में चलाया गया। जो भी सुधार समय समय पर किये गये उन सब का उद्देश्य राष्ट्रीय जनमत को सन्तुष्ट करना और उस राजनीतिक स्थिति का सामना करना था जोकि उस समय देश में उत्पन्न हो रही थी। कम्पनी के शासन काल में इस प्रकार का कोई आन्दोलन नहीं था। इसलिये सांविधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का हमें साथ साथ अध्ययन करना होगा। दूसरे, इस पर देश में बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारत में उदीयमान राष्ट्रवाद को अवरुद्ध करने के हेतु तथा अपनी 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को क्रियान्वित करने के लिये साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली जारी की। इसके परिणामस्वरूप १९४७ में भारत का विभाजन हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य-वाद, भारतीय राष्ट्रवाद तथा साम्प्रदायिकता— इन कारकों को ध्यान में रक्खे बिना हम १८५८ से १९४७ तक के ब्रिटिश भारत के इतिहास को नहीं समझ सकते।

१८५८ से १९२१ तक के समय को प्रतिनिधि संस्थाओं का युग कहा जाता है। बुद्धिजीवी वर्ग में राजनीतिक चेतना के उत्पन्न होने तथा कांग्रेस के उदय के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मांग की जाने लगी कि अपने देश के शासन में भारतीयों को भी भाग लेने का अवसर मिलना चाहिये, जिन्हें कि अब तक बड़ी सतर्कता के साथ भारत के शासन से अलग रक्खा गया था। वे चाहते थे कि उन्हें व्यवस्थापिका सभाओं तथा 'इण्डियन सिविल सर्विस' में, जिसकी कि प्रशासन यन्त्र पर प्रभुता थी, समुचित भाग मिले। उनकी इन मांगों के उत्तर में ब्रिटिश संसद ने समय समय पर व्यवस्थापिका सभाओं के आकार में वृद्धि की और उनमें हिन्दुस्तानियों के प्रतिनिधित्व के अनुपात को बढ़ाया, किन्तु लोकप्रिय या स्व शासन की कोई झलक उसमें न थी। केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय— प्रत्येक स्तर पर शासन पर ब्रिटिश सरकार का निरंकुश तथा एकछत्र आधिपत्य बना रहा। कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति पूर्ण रूप से अनुत्तरदायी चलती रही।

१९१९ के भारत शासन अधिनियम ने जिस युग का सूत्रपात किया उसे स्वशासक संस्थाओं का युग कहते हैं। इस अधिनियम ने भारतवासियों को प्रान्तीय क्षेत्र में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन प्रदान कर दिया, किन्तु केन्द्रीय सरकार को पहिले की भाँति ही अनुत्तरदायी रहने दिया। १९३५ के अधिनियम में प्रान्तों के लिये पूर्णरूप से उत्तरदायी शासन और केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व का प्रस्ताव किया। १८५८ से १९१९ के समय में पारित विभिन्न अधिनियमों का अध्ययन हम इस भाग में, १९१९ के भारत शासन अधिनियम का भाग ३ में और १९३५ के भारत शासन अधिनियम का भाग ४ में करेंगे।

इस संक्षिप्त परिचय के साथ हम १८६१ के भारतीय परिषद अधिनियम का अध्ययन आरंभ कर सकते हैं।

१८६१ का भारतीय परिषद अधिनियम (The Indian Councils Act): **(अ) इसके कारण** :— कुछ लोगों के मतानुसार *विद्रोह* का एक कारण यह था कि देश की व्यवस्थापिका से भारतीयों को अलग रखने के परिणामस्वरूप शासकों तथा शासितों के बीच कोई संसर्ग नहीं था। सर सैयद अहमद खां जैसे राजभक्तों की शिकायत थी कि भारत सरकार के पास यह जानने का कोई साधन नहीं था कि उसके बनाये हुए क़ानून भारतीयों के दृष्टिकोण से वांछनीय हैं या नहीं; जनमत को सरकार के कानों तक पहुँचाने का कोई साधन नहीं था। इसलिये जनता के हृदय में सरकार के विचारों, इरादों तथा क़ानूनों के विषय में ग़लतफ़हमी हो जाने की बहुत बड़ी सम्भावना थी। उसने कहा: "यदि कोई हिन्दुस्तानी व्यवस्थापिका परिषद में होता तो जनता कभी ऐसी ग़लती (जैसी कि सिपाही विद्रोह) न करती।" सरकारी क्षेत्र भी इस धारणा से सहमत होते जा रहे थे। वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद के एक सदस्य सर बार्टल फ्रेर ने १८६० में एक रिपोर्ट में लिखा: "भारत निवासी हमारी नीतियों के विषय में क्या सोचते हैं और उन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात को अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानने के हमारे अवसर कम हो जाने के कारण अब देशी तत्त्व की वृद्धि करना आवश्यक हो गया है। ..... इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता और मेरा विचार है कि जो लाभ हम खो चुके हैं उनको आंशिक रूप से फिर से प्राप्त करने का एक यही स्पष्ट साधन है। हाँ, यदि कोई विद्रोह के अतिरिक्त जनमत के जानने के अन्य किसी साधन के बिना ही करोड़ों मनुष्यों के लिए क़ानून बनाने के ख़तरनाक प्रयोग को जारी रखने के लिये तय्यार हो तो बात ही और है।"

मांटेगु और चेम्सफ़ोर्ड भी इसी परिणाम पर पहुँचे कि विद्रोह की भयावह घटनाओं ने 'मनुष्य को उन ख़तरों से सचेत कर दिया जो कि अपने ही देश के लिए व्यवस्थापन कार्य से भारतीयों को पूर्ण रूप से अलग रखने से उत्पन्न हो गये थे।' इसलिए यह कहा जा सकता है कि विद्रोह के कारण ब्रिटिश शासक यह महसूस करने लगे कि व्यवस्थापन कार्य में भारतवासियों को भाग मिलना आवश्यक है ताकि प्रस्तावित नीति के विषय में जनता की भावनाओं का स्पष्ट रूप से पता चल सके। १८६१ के अधिनियम का मुख्य उद्देश्य इसी आवश्यकता की पूर्ति करना था। व्यवस्थापिका के पुनर्निर्माण को आवश्यक बना देने वाले अन्य कारण ये थे कि १८५३ के अन्तर्गत स्थापित व्यवस्थापिका एक ऐसी लघु-आकार संसद का रूप धारण करने लगी थी जिसका कि उद्देश्य शिकायतों की जाँच करना और उन्हें दूर करना हो (यह बात *संसद* के प्रयोजनों के विरुद्ध थी और भारत सरकार इस स्थिति को एकदम नापसन्द करती थी) और मद्रास तथा बंगाल *व्यवस्थापिका परिषद* में अपने ऊपर बंगाल की ज़बर्दस्त सत्ता से विक्षुब्ध थे। इसके अतिरिक्त, जनवरी, १८६१, में लॉर्ड केनिंग ने भारत मन्त्री— सर चार्ल्स वुड— को एक पत्र में संसदीय अधिनियम द्वारा कार्यकारिणी परिषद में विभाग प्रणाली (Portfolio System) जारी करने का सुझाव दिया था। १८६१ के भारतीय परिषद अधिनियम में कार्यकारिणी परिषदों के पुनर्गठन की भी व्यवस्था थी। अधिनियम की भूमिका में उसके इस दोहरे उद्देश्य का उल्लेख है।

(ब) **अधिनियम की व्यवस्थायें:**— गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद के निर्माण के विषय में अधिनियम ने यह व्यवस्था की कि उसमें पांच साधारण सदस्य होने चाहियें। उनमें से तीन की नियुक्ति *भारत परिषद* की सहमति से भारत मन्त्री उन व्यक्तियों में से करता जोकि कम से कम दस वर्ष तक कम्पनी तथा 'क्राउन' अथवा 'क्राउन' के अधीन भारत में नौकरी कर चुके हों। यदि इस प्रकार नियुक्त हुआ कोई व्यक्ति नियुक्ति के समय 'क्राउन' के अधीन सेना की नौकरी में हो तो उसे अपने पद का परित्याग करना पड़ता। 'क्राउन' द्वारा नियुक्त होने वाले शेष दो सदस्यों में से एक विधि सदस्य (Law Member) होता और एक वित्त सदस्य (Finance Member)। विधि सदस्य केवल वही व्यक्ति हो सकता था जोकि कम से कम पाँच वर्ष तक या तो इंग्लैण्ड अथवा आयरलैण्ड का बैरिस्टर रहा हो, या स्कॉटलैण्ड में एडवोकेट रहा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान सेनापति परिषद का असाधारण सदस्य होता और उसकी स्थिति गवर्नर-जनरल से दूसरे नम्बर पर होती। समस्त सदस्यों का कार्यकाल पांच वर्ष होता। परिषद की कार्यवाही को विनियमित करने के लिये नियम बनाने का अधिकार गवर्नर-जनरल को दिया गया। इस अधिकार द्वारा वह विभाग प्रणाली जारी कर सकता था। हमें याद रखना चाहिये कि विभाग प्रणाली इस बात में भी निहित थी कि परिषद के एक सदस्य को 'विधि सदस्य', दूसरे को 'वित्त सदस्य', तथा तीसरे को 'सेना सदस्य' का नाम दिया गया था।

१८६१ के अधिनियम ने गवर्नर-जनरल को विधि निर्माण के कार्य के लिये अपनी परिषद का कुछ विस्तार करने का अधिकार दिया। इस उद्देश्य के लिये वह परिषद में कम से कम छः और अधिक से अधिक बारह सदस्य बढ़ा सकता था। इस प्रकार से नियुक्त सदस्यों में से कम से कम आधे सदस्य ग़ैरसरकारी (उनमें से कुछ भारतीय) होने चाहियें थे। इन ग़ैरसरकारी सदस्यों को दो वर्षों की अवधि के लिए नियुक्त किया जाता। इस प्रकार विधि निर्माण के कार्य के साथ भारतीयों को सम्बद्ध करने का सब से पहिले आयोजन किया गया। १८६१ के अधिनियम ने यह एक ज़बर्दस्त परिवर्तन किया। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि ग़ैरसरकारी सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत होते; वे जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होते। किन्तु उस समय की परिस्थितियों में तो यह भी एक बड़ा प्रगतिशील क़दम था। यदि गवर्नर-जनरल सही प्रकार के सदस्यों को चुनता तो वह भारत के सच्चे जनमत को जान सकता था। परन्तु परिषद के लिए जिन ग़ैरसरकारी भारतीयों को नियुक्त किया जाता था, वे आमतौर से या भारतीय राजा, या उनके दीवान, अथवा बड़े बड़े ज़मींदार, या निवृत्ति-प्राप्त सरकारी अफ़सर होते थे; वे जनता के सच्चे नेता नहीं होते थे जो कि उसके विचारों और आकांक्षाओं का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकते। परिषद् की बैठकों में भाग लेने की उन्हें कोई उत्सुकता नहीं रहती थी; केवल इतना ही नहीं, बल्कि, पुनिया के शब्दों में, 'वे आने में अत्यन्त हिचक और जाने में अत्यन्त जल्द-बाज़ी दिखाते थे।' परिषदों की कार्यवाही में भाग लेने के प्रति उनके उपेक्षा भाव का कारण कदाचित् यह था कि परिषद् का कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित था, इसके लिये सर हेनरी मेन का कलकत्ते की जलवायु को दोष देना सही प्रतीत नहीं होता। इस प्रसंग में हमें इस बात पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये कि इस अधिनियम में '१८५३ के अधिनियम के अधीन स्थापित परिषद के आवश्यकता से अधिक चातुर्य की भर्त्सना की गई थी, जिन्होंने संसद के ढर्रे पर काम करते हुए कार्यकारिणी से प्रश्न पूछ कर तथा उसके कार्यों के औचित्य पर वादविवाद करके असुविधाजनक स्वाधीनता का प्रदर्शन किया था। नवीन परिषदों के कार्य स्पष्ट और निश्चित रूप से विधिनिर्माण तक ही सीमित थे। विधिनिर्माण सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य को करने का इसे स्पष्ट रूप से निषेध कर दिया गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ पर दो शब्द नवीन विधान परिषद के विषय में कह देना अनावश्यक न होगा। इसे ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत समस्त हिन्दुस्तानियों, अंग्रेज़ों तथा विदेशियों, समस्त व्यक्तियों, समस्त न्यायालयों तथा समस्त स्थानों और समस्त वस्तुओं के लिए विधिनिर्माण का अधिकार था। परन्तु भारत के राजकीय ऋण अथवा आय, भारत में ब्रिटिश प्रजा के किसी वर्ग के धार्मिक अधिकारों अथवा प्रथाओं अथवा धर्म, सैनिक अनुशासन और सरकार तथा भारतीय रियासतों के मध्य सम्बन्धों से सम्बन्धित किसी प्रस्ताव को इसमें गवर्नर-जनरल की पूर्व-स्वीकृति के बिना पेश नहीं किया जा सकता था। यह कोई ऐसा कानून पास नहीं कर सकती थी जो कि भारत से संसद के बनाये हुए भारत सम्बन्धित किसी कानून की किसी व्यवस्था को संशोधित या रद करता हो। सारांश यह कि इसके व्यवस्थापन अधिकार पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये वे वैसे ही थे जैसे कि १८५३ के अधिनियम में लगाये गये थे।

परिषद द्वारा पारित प्रत्येक कानून के लिए गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी। गवर्नर-जनरल को अधिकार था कि वह अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे, या न करे, या उसे महारानी की इच्छा जानने के लिये रोक ले। गवर्नर-जनरल द्वारा स्वीकृत किये हुए विधेयक को 'क्राउन' रद कर सकता था।

१८६१ के अधिनियम ने गवर्नर-जनरल को एक नई शक्ति प्रदान की; वह शक्ति थी नव-स्थापित विधान परिषद से स्वाधीन रहते हुए उसका अध्यादेश (Ordinance) जारी करने का अधिकार। एक अध्यादेश, यदि उसे 'क्राउन' द्वारा, कानून द्वारा या एक दूसरे अध्यादेश द्वारा पहिले ही रद न कर दिया गया हो तो, छः मास तक चल सकता था। अध्यादेश जारी करने का कारण भारत मंत्री के पास भेजना पड़ता। अध्यादेश जारी करने के इस अधिकार का आगे चल कर बड़ा उपयोग किया गया।

१८६१ के अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल की परिषद में एक नवीन सदस्य की वृद्धि करने तथा उसका पुनर्गठन करने, और व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों के लिए उसमें गैर-सरकारी सदस्यों को जोड़ने की व्यवस्था करने के अतिरिक्त व्यवस्थापन कार्य के विकेन्द्रीकरण की ओर भी पहिला कदम उठाया गया। पाठकों को याद होगा कि १८३३ के अधिनियम के द्वारा मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों तथा उनकी परिषदों से अपने अपने प्रान्तों के सुशासन तथा शांति के लिये नियम बनाने की शक्तियों को वापिस ले लिया गया था और सम्पूर्ण भारत के लिए कानून बनाने की शक्ति को गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद के हाथों में केन्द्रित कर दिया गया था। केन्द्रीय ढर्रे पर स्थानीय व्यवस्थापिकाओं की स्थापना करके १८६१ के अधिनियम ने बम्बई तथा मद्रास को फिर से वे शक्तियां दे दीं जो कि पहिले उनके पास थीं। उनके गवर्नरों को अपनी अपनी परिषद में प्रेज़ीडेन्सी के महा अधिवक्ता (Advocate General) तथा कम से कम चार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अधिक से अधिक आठ (जिन में से कम से कम आधे ग़ैरसरकारी हों) सदस्यों को नियुक्त करना था। उनकी अवधि दो वर्ष रक्खी गई।

स्थानीय व्यवस्थापिकाओं की शक्तियां सीमित थीं। केन्द्रीय व्यवस्थापिका की भांति उनका कार्य केवल कानून बनाना था; वे कोई और काम नहीं कर सकती थीं। क़ानून बनाने के कार्य में भी उनकी शक्तियां कई प्रकार से सीमित थीं। वे अपने अपने प्रदेशों के सुशासन के लिये क़ानून बना सकती थीं, किन्तु वे कोई ऐसा क़ानून नहीं बना सकती थीं जो कि इन विषयों में से किसी को प्रभावित करता हो : (१) भारत का सार्वजनिक ऋण, (२) भारत सरकार के अधिकार से लगाया हुआ कोई आयात व निर्यात कर, (३) मुद्रा चलन तथा करेंसी, (४) डाकघर के द्वारा सम्वाद वाहन इत्यादि, (५) समाज के किसी भी वर्ग के धर्म अथवा धार्मिक संस्कार या प्रथा, तथा (६) भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code)। उनके द्वारा बनाये गये कानून केवल तभी लागू हो सकते थे जबकि उन्हें स्थानीय गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त हो जाय। गवर्नर-जनरल किसी भी कानून के लिए अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था। यह बात पुरानी व्यवस्था से कुछ भिन्न थी। १८३३ के पहिले बम्बई तथा मद्रास के सपरिषद गवर्नरों द्वारा बनाये गये कानूनों के लिए गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक नहीं थी। इस प्रसंग में हमें जो बात भली प्रकार समझनी और याद रखनी चाहिये वह यह कि स्थानीय सरकारों को कानून बनाने की शक्तियाँ जो फिर से दी गईं उनमें एक ज़बर्दस्त अन्तर था; नवीन व्यवस्थापिका की कानून बनाने की शक्तियां उतनी पूर्ण नहीं थीं, जितनी कि १८३३ से पूर्व सपरिषद गवर्नरों की थीं; वह एक अधीनस्थ व्यवस्थापिका थी। कोई भी कानून बनाने से पूर्व उन्हें भारत सरकार के एक सम्बन्धित विभाग की अनुमति लेनी पड़ती थी। एक प्रान्तीय सरकार की व्यवस्थापन सम्बन्धी नीति को अपनी अनुमति प्रदान करने से पूर्व भारत सरकार कुछ संशोधनों का सुझाव दे सकती थी और प्रस्तावित विधेयक में उन्हें सम्मिलित करने का आग्रह कर सकती थी। केन्द्रीय सरकार की पूर्व-स्वीकृति लिये बिना प्रान्तीय सरकार एक विचाराधीन विधेयक में किसी संशोधन को स्वीकार नहीं कर सकती थी। इतना सब कुछ होने पर भी स्थानीय व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक तब तक कानून नहीं बन सकता था जब तक कि उसे स्थानीय गवर्नर (अथवा लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर) तथा सपरिषद गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त न हो जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८३१ के अधिनियम ने यद्यपि प्रान्तीय सरकारों को कानून बनाने का अधिकार फिर से प्रदान कर दिया, तथापि उन्हें केन्द्रीय सरकार के अधीन रखकर इसने देश को उस अव्यवस्था से बचा लिया जोकि १८३३ से पहिले फैली हुई थी।

याद रहे कि १८६१ के अधिनियम ने व्यवस्थापिकाओं की स्थापना केवल बम्बई और मद्रास में की, अन्यत्र कहीं नहीं। किन्तु इस ने सपरिषद गवर्नर-जनरल को यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार दे दिया कि वह प्रतिघोषणा द्वारा ऐसी ही विधान परिषद बंगाल, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (आगरा) तथा पंजाब में भी स्थापित कर सकता था। १८६२, १८८६ तथा १८९७ में बंगाल, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तथा पंजाब में विधान परिषदें स्थापित की गईं। इन परिषदों में स्थानीय लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर तथा कुछ मनोनीत किये हुए सदस्य होते थे। इस अधिनियम ने सपरिषद गवर्नर-जनरल को व्यवस्थापन के प्रयोजन के लिए नये प्रान्त बनाने, लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर नियुक्त करने तथा प्रान्तों की सीमाओं में परिवर्तन करने का भी अधिकार दे दिया।

१८५३ के अधिनियम के अनुसार क़ानून निर्माण के लिये गवर्नर-जनरल की परिषद में जो सरकारी यूरोपीय सदस्य बढ़ाये गये थे उन्होंने विधान परिषद को एक लघु-आकार संसद का रूप देने का जो प्रयास किया था, उसकी १८६१ के अधिनियम में भर्त्सना की गई, इसके द्वारा नवीन विधायक निकायों का कार्य केवल विधि निर्माण तक ही सीमित कर दिया गया, और इस प्रकार देश में संसदीय विचारों के विकास को रोका गया। इन बातों को देखते हुए इस अधिनियम को एक प्रतिगामी क़दम कह कर पुकारा गया है। हमारे विचार से यह कोई प्रतिगामी क़दम नहीं था, क्योंकि इसने उन शक्तियों को नहीं छीना जो कि १८५३ के अधिनियम द्वारा प्रसारित परिषदों को दी गई थीं। १८५३ में ब्रिटिश शासकों का यह इरादा कदापि नहीं था कि विधि निर्माण के प्रयोजन के लिये गवर्नर-जनरल की परिषद में बढ़ाये गये सरकारी सदस्य परिषद को एक संसद बना डालें और सरकार के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों पर बहस करें। उनका ऐसा करना एक अनधिकार चेष्टा थी। इस प्रकार जो अधिकार कभी दिया ही नहीं गया, उसके छीने जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। संसदीय व्यवस्था एक अनुकूल वातावरण में ही पनप सकती है; १८६१ में भारत की स्थिति उसके अनुकूल नहीं थी।

'भारतीय सांविधानिक सुधारों पर रिपोर्ट' (Report on Indian Constitutional Reforms) के रचयिताओं ने १८६१ के अधिनियम की विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार किया है:

"इस प्रकार १८६१ का अधिनियम एक अध्याय का अन्त करता है। इसका मुख्य उद्देश्य शासन यन्त्र का क्रमिक विकास तथा उसको संघटित करना रहा है। तीन अलग अलग प्रान्तों में एक सामान्य शासन प्रणाली स्थापित कर दी गई; बीच के क्षेत्र का बहुत सा भाग ब्रिटिश शासन के अधीन हो गया है; सपरिषद गवर्नर-जनरल का विधायक तथा प्रशासकीय अधिकार समस्त प्रान्तों तथा उनके समस्त निवासियों पर स्थापित हो गया है; और स्थानीय आवश्यकताओं को मान्यता देने तथा स्थानीय ज्ञान का स्वागत करने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है, इसीलिये परामर्श देने के लिए स्थानीय परिषदों का निर्माण और पुनर्निर्माण किया गया है। किन्तु इस आशंका से कि कहीं ऐसा न हो कि कोई ऐसी प्रतिद्वन्द्वी संस्था, जिसका कि कोई प्रशासकीय उत्तरदायित्व न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो, कार्यपालिका की सत्ता में बाधक न बन जाय (जैसा कि वारन हेस्टिंग्स के समय में हो गया था), यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया गया है कि परिषदें केवल व्यवस्थापिक समिति होंगी, इन्हें उत्तरदायी संस्थाओं का रूप नहीं दिया जा सकेगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कुछ सरकारी अंग्रेज़ों ने, जो कि व्यवस्थापिका में एकत्रित होते थे, उसे एक संसद का रूप देने की जो प्रवृत्ति दिखाई, उसके फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत की जनता के हित के लिये संसदीय विचारों के विकास को आघात लगा।"

विधान परिषदों का स्वरूप :— अन्त में हम दो शब्द उन विधान परिषदों के स्वरूप के विषय में कहेंगे जो कि १८६१ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की गई थीं। इनके निर्माण और कार्यों को देखते हुए इन्हें वास्तविक अर्थों में विधानपालिका नहीं समझा जा सकता। एक संसद जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों से मिल कर बनती है और उसका कार्य कानून बनाना तथा कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखना होता है; उसमें शासन की नीति पर विचार किया जाता है तथा जनता के कष्टों का निवारण करने की चेष्टा की जाती है। १८६१ के अधीन स्थापित विधान परिषदों का निर्माण इस उद्देश्य से नहीं किया गया था; उनका प्रयोजन तो भारत सरकार को सुचारु रूप से चलवाना था। ये तो ऐसी समितियां थीं जिनसे कि कार्यपालिका कानून बनाने में परामर्श तथा सहायता लेती थी। प्रोफ़ेसर कोवेल ने उनके स्वरूप का वर्णन इन शब्दों में किया है :

"इन विधान परिषदों का स्वरूप केवल यह था कि वे ऐसी समितियां थीं जिनका उद्देश्य विधिनिर्माण था, और जिन से कार्यपालिका विधिनिर्माण के कार्य में परामर्श तथा सहायता लेती थी, और जनता को इनसे यह लाभ होता था कि विधि-निर्माण की प्रक्रिया को प्रत्येक अवस्था में पूर्ण प्रकाशन प्राप्त हो जाता था। यद्यपि सरकार कानूनों का निर्माण अपनी परिषद् के द्वारा ही करती थी, तथापि जनता को अपनी आवाज़ सुनाने का अधिकार था, और कार्यपालिका अपने बनाये हुए क़ानूनों का औचित्य पेश करने के लिए विवश थी।..... ऐसे कानून वास्तव में सरकार के आदेश होते थे, परन्तु वे इस प्रकार से बनाये जाते थे जिससे कि उनके ऊपर जनता को वाद-विवाद करने और अपना मत प्रकट करने का अवसर मिल जाता था; उन्हें न्यायालयों द्वारा लागू किया जाता था, कार्यपालिका द्वारा नहीं; उनमें परिवर्तन भी उसी सार्व-जनिक प्रक्रिया द्वारा हो सकता था जिस से कि वे बनाये जाते थे, और उन्हें अवसर पड़ने पर व्यक्तियों के पक्ष में कार्यपालिका के विरुद्ध लागू किया जा सकता था।

"ये परिषदें किसी विषय के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने वाली संस्थायें नहीं थीं; इनका कार्य केवल तात्कालिक व्यवस्थापन था। जनता की शिकायतों की छान-बीन करना, सूचना मांगना, अथवा कार्यपालिका के आचरण की जांच करना इनका काम न था।"

१८६१ और १८९२ के बीच में किये गये परिवर्तन :— १८६१ के अधिनियम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत स्थापित व्यवस्थापन प्रणाली (समय समय पर उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य होते रहे) १८९२ के भारतीय परिषद अधिनियम के लागू होने तक चलती रही। इस अधिनियम द्वारा जो परिवर्तन किये गये उनकी विवेचना हम एक आगामी अध्याय में करेंगे। यहाँ पर तो हम कुछ उन साधारण परिवर्तनों का उल्लेख करेंगे जोकि १८६१ और १८९२ के बीच कुछ अधिनियमों द्वारा किये गये। १८६१ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा सपरिषद गवर्नर-जनरल को विधि निर्माण का अधिकार भारतीय राज्यों में समस्त ब्रिटिश प्रजाजन के ऊपर प्राप्त हो गया; १८६९ के भारतीय परिषद अधिनियम ने सपरिषद गवर्नर-जनरल को संसार के किसी भी भाग में ब्रिटिश क्राउन के भारतीय प्रजाजन के लिए विधि निर्माण का अधिकार दे दिया; १८७१ के भारतीय परिषद अधिनियम ने प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों में थोड़ी सी वृद्धि कर दी।

१८५८ तथा १८६१ के अधिनियमों ने भारतीय शासन की जो रूपरेखा तय्यार की वह भारत में ब्रिटिश राज के अन्त तक कायम रही, हाँ समय समय पर बाद के अधिनियमों द्वारा उसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य होते रहे। १८५८ के अधिनियम ने इंग्लैण्ड में भारत के शासन का संचालन करने के लिए एक एकल कार्यपालिका की स्थापना की और १८६१ के अधिनियम द्वारा सम्पूर्ण देश के सुशासन और सुव्यवस्था के लिए एक एकीकृत केन्द्रीय कार्यपालिका तथा एक केन्द्रीय व्यवस्थापिका स्थापित की गई। एक अन्य अधिनियम द्वारा सेना का भी पूर्ण रूप से पुनर्गठन किया गया। परन्तु एक बड़े साम्राज्य को कायम रखने के लिए एक सेना, एक एकीकृत सरकार तथा एक एकीकृत व्यवस्थापिका ही पर्याप्त नहीं हैं; उसके लिए कुछ और भी चाहिये; उसके लिए एक एकरस न्यायप्रणाली भी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में १८५८ और १८६१ के अधिनियमों ने एक साम्राज्य के पुनर्गठन तथा संघटन के कार्य को आंशिक रूप से ही सम्पन्न किया; उन्होंने न्यायप्रणाली में कोई सुधार नहीं किया। इस कमी की पूर्ति १८६१ के भारतीय उच्च न्यायालय (High Courts) अधिनियम ने की। इसलिये उसकी मुख्य व्यवस्थाओं का एक संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है।

भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, १८६१ :— भारत के शासन की बागडोर क्राउन के हाथों में आने से काफ़ी पहिले से ही भारत में न्याय-पद्धति में सुधार की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। १८३३ के *चार्टर अधिनियम* (Charter Act) में यह घोषणा की गई थी कि भारत में समस्त ब्रिटिश प्रजाजन— भारतीय तथा यूरोपियन— के लिए एक ही प्रकार की न्यायपद्धति रखना उचित होगा। किन्तु न्याय-पद्धति के पुनर्गठन को क़ानूनों के संहिताबद्ध हो जाने तक स्थगित करना पड़ा। *दीवानी विधि संग्रह* (Civil Procedure Code) १८५९ में, *भारतीय दण्ड विधान संग्रह* (Indian Penal Code) १८६० में, तथा *दण्ड विधि संग्रह* (Criminal Pro-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

cedure Code) १८६१ में बना। इस प्रकार *भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम* के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया गया।

कम्पनी के शासन-काल में दो भिन्न प्रकार के क़ानून थे और उन्हें दो भिन्न प्रकार के न्यायालयों में प्रयुक्त किया जाता था। एक ओर तो कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में क्राउन द्वारा स्थापित तीन उच्चतम न्यायालय (Supreme Courts) थे जिनका प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार तीन प्रेज़ीडेन्सी नगरों में यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजन पर था और जो ब्रिटिश क़ानून का प्रयोग करते थे। दूसरी ओर कम्पनी द्वारा स्थापित *सदर दीवानी अदालत* तथा *फ़ौजदारी अदालत* तथा कुछ मुफ़स्सिल दीवानी और फ़ौजदारी न्यायालय थे जो कि स्थानीय क़ानूनों को क्रियान्वित करते थे। प्रेज़ीडेन्सी नगरों से बाहर रहने वाले यूरोपियनों पर उच्चतम न्यायालयों का एकमात्र अधिकारक्षेत्र होने के कारण जो असुविधा और कठिनाई उत्पन्न हो गई थी, उसे १८१३ के चार्टर अधिनियम ने कुछ कम करने का प्रयास किया था। किन्तु कठिनाइयाँ फिर भी बनी रहीं। न्यायालयों तथा क़ानूनों के दोहरेपन से उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने के लिए ही *भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम* बनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार उच्चतम न्यायालयों तथा सदर अदालतों का अन्त करके उनके स्थान पर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में क्राउन द्वारा नवीन उच्च न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था की गई। इनमें से प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधिपति तथा अधिक से अधिक पन्द्रह अन्य न्यायाधीश होते जिनमें से कम से कम एक तिहाई (प्रधान न्यायाधीश सहित) इंग्लिश, आयरिश तथा स्कॉटिश बैरिस्टर होते, और कम से कम एक तिहाई इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते। शेष न्यायाधीशों को ऐसे व्यक्तियों में से चुना जा सकता था जोकि या तो भारत में कम से कम पांच वर्ष तक किसी न्यायिक पद पर रहे हों, या कम से कम दस वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय के एडवोकेट रहे हों। इस प्रकार भारतीय लोग भी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बन सकते थे। न्यायाधीशों की नियुक्ति 'क्राउन' द्वारा होती और वे महारानी की इच्छा-पर्यन्त अपने पद पर रहते। इन न्यायालयों को प्रारंभिक तथा अपीलीय, दोनों प्रकार का अधिकार-क्षेत्र प्राप्त था। इनको प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र पुराने उच्चतम न्यायालयों से और अपलीय अधिकार-क्षेत्र पुरानी सदर अदालतों से मिला जिनके स्थान में कि इन्हें स्थापित किया गया था। उच्च न्यायालयों को उन समस्त न्यायालयों के ऊपर जिन पर कि उन्हें अपीलीय अधिकार प्राप्त था नियन्त्रण रखने तथा उनकी क्रियाविधि के लिये सामान्य नियम बनाने का भी अधिकार था। कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में उच्च न्यायालयों की स्थापना के लिए १८६२ में चार्टर जारी किये गये।

इस अधिनियम ने 'क्राउन' को अन्य किसी ऐसे क्षेत्र में, जो कि उक्त तीन उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर हो, भी इसी प्रकार का उच्च न्यायालय स्थापित करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अधिकार दे दिया। इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए 'क्राउन' ने १८६६ में इलाहाबाद में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लिये एक उच्च न्यायालय स्थापित किया।

१८५८ तथा १८६१ के विभिन्न अधिनियमों के सांविधानिक महत्व का वर्णन सर कोर्टीने इलबर्ट ने इन शब्दों में किया है : "१८६१ का भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम उन कानूनों में अंतिम था जोकि भारत के शासन के 'क्राउन' के हाथों में आने के परिणाम स्वरूप बनाये गये। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इनके बाद संसद ने जो भी अधिनियम बनाये, उनका प्रयोजन १८५८ तथा १८६१ के अधिनियमों में बहुत साधारण संशोधन ही करना था, इससे अधिक और कुछ नहीं।"*

भारत सरकार अधिनियम, १८७०:— भारत में व्यवस्थापिका के विकास में अगले युग का सूत्रपात करने वाले १८९२ के भारतीय परिषद अधिनियम पर आने से पहिले हम दो शब्द १८७० के भारत सरकार अधिनियम के विषय में कहेंगे जिसके द्वारा व्यवस्थापन यन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया गया।

यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि १८६१ के अधिनियम ने सपरिषद गवर्नर-जनरल से अविनियमन (Non-regulation) प्रान्तों के लिये कार्यपालिक आदेशों द्वारा नियम तथा विनियम बनाने का अधिकार छीन लिया था। अविनियमन क्षेत्र उन क्षेत्रों तथा ज़िलों को कहा जाता था जिनके निवासी पिछड़े हुए थे जिन पर कि कार्नवालिस के प्रशासकीय तथा न्यायिक नियमों को लागू करना अनुचित समझा जाता था। ऐसे क्षेत्रों का प्रशासन सपरिषद गवर्नर-जनरल का विशेष उत्तरदायित्व था। आसाम, अराकान, तनसरिम, जलपईगुरी, दार्जिलिङ्ग तथा चिटगांव के पहाड़ी प्रदेश ऐसे ही क्षेत्र थे। १८७० के अधिनियम ने सपरिषद गवर्नर-जनरल को वह अधिकार व्यवहारतः फिर से दे दिया। इसने उसे इन पिछड़े हुए प्रदेशों के लिए सरसरी तौर से विधि-निर्माण का अधिकार दे दिया। किसी प्रान्त का सपरिषद गवर्नर, लेफ्टीनेन्ट गवर्नर, अथवा सपरिषद लेफ्टीनेन्ट गवर्नर अथवा चीफ कमिश्नर सपरिषद भारत मन्त्री द्वारा घोषित अविनियमन क्षेत्रों के सुशासन तथा शान्ति के लिए विनियमों के मसविदे सपरिषद गवर्नर-जनरल के पास भेज सकता था। सपरिषद गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर तथा गज़ट में प्रकाशित हो जाने पर इनकी शक्ति वैसी ही होती थी जैसी कि विधान परिषद द्वारा बनाये हुए क़ानूनों की।

अब हम १८९२ के भारत परिषद अधिनियम पर आते हैं।

---

* Courtenay Ilbert : *Government of India*, page 104.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत परिषद् अधिनियम, १८९२

(The Indian Councils Act, 1892)

विषय प्रवेश :— ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में दो कारक ऐसे थे जिनसे कि भारत सरकार के ऊपर कुछ नियन्त्रण रहता था और जो भारत के हितों को सुरक्षित रखने में कुछ सहायता देते थे। एक बात तो यह थी कि ब्रिटिश संसद कम्पनी के विशेषाधिकारों और महत्ता से कुछ ईर्ष्या रखती थी और इसलिये उसके ऊपर कुछ नियंत्रण रखती थी। दूसरी बात यह थी कि प्रत्येक बीस वर्ष के पश्चात् कम्पनी को अपने चार्टर के लिये पुनस्स्वीकृति लेनी पड़ती थी और इस अवसर पर भारत की स्थिति की बड़ी गहरी समीक्षा की जाती थी। चार्टर की प्रत्येक पुनस्स्वीकृति के समय भारत की प्रगतिशील स्थिति के अनुकूल शासन व्यवस्था में कुछ न कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार अवश्य कर दिये जाते थे। परन्तु भारत के शासन के क्राउन के हाथों में आ जाने से यह दोनों अभिरक्षण लुप्त हो गये जिसके फलस्वरूप भारत के शासन पर संसद का नियन्त्रण केवल नाममात्र का रह गया और संसद ने १८६१ के अधिनियम के पश्चात् ३० वर्ष तक किसी प्रकार का कोई सुधार नहीं किया। इस काल में संसद ने भारत की पूर्णतया अवहेलना की।

भारत में परिवर्तन :— परन्तु भारत की परिस्थितियों में बड़ी द्रुतगति से परिवर्तन हो रहे थे— राजा राममोहनराय (जिन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का अग्रदूत कहा जाता है), स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा श्रीमती ऐनी बीसेन्ट सरीखे महान् व्यक्तियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक महान् सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आन्दोलन का जन्म हो रहा था। उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथा धार्मिक सुधार किये उनके फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन के आविर्भाव के लिये मार्ग प्रशस्त हो गया। पश्चिमी शिक्षा, वर्नाक्यूलर प्रेस जो कि स्वतन्त्र हो गया था, रेल तथा तार और पाश्चात्य विचारों से भी राजनीतिक जाग्रति को सम्बल मिला। भारत की जनता में नवीन आशाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं का उदय हुआ। जनमत का निर्माण होने लगा और वह पर्याप्त शक्तिशाली बन गया। दिसम्बर सन् १८८२ में लॉर्ड रिपन ने भारत मंत्री के पास भेजे गये एक स्मरण-पत्र में लिखा :—

"एक ऐसे आन्दोलन का सूत्रपात हो गया है जो कि प्रति वर्ष अधिकाधिक द्रुतगति से बढ़ता रहेगा। ऐसी स्थिति में शासन का कार्य, और विशेष रूप से एक निरंकुश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन का कार्य, घोर कठिनाइयों में आ गया है; बहुत अधिक गति से चलना खतरनाक है, किन्तु पीछे रह जाना और भी अधिक खतरनाक; और समस्या यह है कि प्रगति की इस नवीन भावना को, जो कि कई दृष्टिकोण से बड़ी कृत्रिम और अपरिपक्व है, सन्मार्ग पर किस प्रकार चलाया जाये ताकि इससे देश को वह सब लाभ मिल सके जो कि इससे मिल सकता है, और इसके साथ ही साथ इसे एक गम्भीर राजनैतिक खतरे का स्रोत बनने से रोका जाय जो कि अन्धी उपेक्षा और मूर्खतापूर्ण दमन से बन सकता है।"

उसने स्थानीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में तथा स्थानीय प्रशासन में भारतीयों तथा ग़ैरसरकारी यूरोपियनों को स्थान देने की लॉर्ड मेयो की नीति का समर्थन किया।

लॉर्ड रिपन ने जिस आन्दोलन की ओर ऊपर संकेत किया है और जिसकी उसे प्रति वर्ष अधिकाधिक द्रुतगति से बढ़ने की आशा थी वह राष्ट्रीय आन्दोलन था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस १८८५ में स्थापित हुई और अपने वार्षिक अधिवेशनों में वह भारत की जनता की राजनैतिक चेतना को अभिलक्षित करने तथा राजनैतिक सुधारों की मांग करने लगी। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में जो कि दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बम्बई में हुआ था सभापति पद से भाषण देते हुए श्री वोमेश चन्द्र बनर्जी ने कहा कि भारत की जनता भी उसी प्रकार के विचारों के अनुसार शासन चाहती है जैसे कि यूरोप में पाये जाते हैं और उसकी यह इच्छा किसी भी प्रकार से उसकी ब्रिटिश राज्य के प्रति भक्ति की विरोधी नहीं है। उसकी इच्छा तो केवल यह है कि शासन का आधार इतना व्यापक हो जिसमें भारत की जनता को अपना समुचित भाग मिल सके। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में जो कि १८८६ में कलकत्ता में हुआ अपने सभापति के भाषण में दादा भाई नौरोजी (जिन्हें आगे चलकर भारत की जनता प्रेम तथा श्रद्धाभाव के कारण भारत का 'Grand Old Man' कहने लगी) ने देश की व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित अंश के प्रवेश की मांग की। उन्होंने कहा, "सरकार जो भी कानून बनाती है उनसे हम प्रसन्न नहीं होते, सही या गलत हम शिकायत करते हैं और हमारी शिकायत केवल सरकार के विरुद्ध होती है। यह सच है कि हमारे कुछ अपने लोग भी व्यवस्थापिका सभाओं में हैं परन्तु हमें उनसे भी जवाब तलब करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि वे हमारे प्रतिनिधि नहीं हैं। अतः जिन कानूनों के प्रति हममें असन्तोष है सरकार उनके उत्तरदायित्व से नहीं बच सकती।"

सारांश यह कि काँग्रेस अपने जन्म से ही उन व्यवस्थापिका सभाओं के सुधार की मांग करने लगी जोकि १८६१ के अधिनियम के अधीन स्थापित हुई थीं और जो एकदम निराशाजनक सिद्ध हुईं। उसने उनको विस्तृत करने तथा उनकी शक्तियों में वृद्धि करने की मांग की। अपने प्रथम अधिवेशन में काँग्रेस ने निम्नांकित प्रस्ताव पास किया:

"यह काँग्रेस वर्तमान उच्चतम तथा स्थानीय व्यवस्थापिका सभाओं में काफी संख्या में निर्वाचित सदस्यों को स्थान देकर उनका विस्तार करना 'और उत्तर-पश्चिमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्त तथा अवध, और पंजाब के लिये भी ऐसी ही सभाओं की स्थापना' को आवश्यक समझती है; और यह धारणा प्रगट करती है कि सारे बजटों को विचार के लिये इन सभाओं के सामने रखा जाना चाहिये और उनके सदस्यों को प्रशासन से सम्बन्धित समस्त विषयों पर कार्यपालिका से पूछताछ करने का अधिकार होना चाहिये।"

काँग्रेस के अगले अधिवेशन में भी एक इसी प्रकार का प्रस्ताव पास किया गया जिसमें कि काफी बड़ी संख्या में भारतीयों को स्थान देकर व्यवस्थापिका सभाओं को विस्तृत करने तथा जिन प्रान्तों में वे नहीं थी वहाँ उनकी स्थापना करने और उनकी शक्तियों में वृद्धि करने की मांग की गई। इस प्रस्ताव में व्यवस्थापिका सभाओं में काफी संख्या में निर्वाचित भारतीयों को स्थान देने की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया। भारत सरकार ने इन आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति प्रगट की; उसने सोचा कि व्यवस्थापिका सभाओं में लोकप्रिय तत्त्व की उपस्थिति उसे बहुत सी बातों में भारत मन्त्री के दबाव का प्रतिरोध करने में सहायता देगी। यूरोपियन व्यापारी वर्ग ने भी जो कि देश में बढ़ता जा रहा था, अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिये व्यवस्थापिका सभाओं में प्रतिनिधित्व की मांग की। इस प्रकार शिक्षित भारतीय, भारत में ब्रिटिश व्यापारी, तथा भारत में अधिकतर ब्रिटिश सरकारी कर्मचारी, सभी की यह माँग थी कि १८६१ के अधीन स्थापित व्यवस्थापिका सभाओं के स्वरूप में एक आधारभूत परिवर्तन किया जाय।"*

१८९२ के अधिनियम का मूल :— लार्ड डफरिन ने भारत में गवर्नर-जनरल का पद संभालते ही यह अनुभव किया कि भारतीय जनमत के नेताओं के सुझावों के अनुसार व्यवस्थापिका सभाओं में सुधार होना आवश्यक है। उसने १८८६ में लिखा :—

"मैं मानता हूँ कि इस दिशा में सुधार होना संभव है, और यदि भारत में महारानी के करोड़ों प्रजाजन के हितों से सम्बन्धित प्रश्नों का निर्णय करने में मुझे भारतवासियों का अनुभव और परामर्श आज की अपेक्षा अधिक मात्रा में प्राप्त हो सका तो इससे मुझे बड़ी सहायता मिलेगी और चैन भी। जिन भारतवासियों से मैं मिला हूँ उनमें काफी लोग बड़े योग्य और समझदार हैं, और उनकी राजभक्ति तथा सहयोग पर हम निःसन्देह पूरा विश्वास रख सकते हैं। सरकार को उनका समर्थन प्राप्त हो जाने से उसके बहुत से ऐसे कानून लोकप्रिय हो जायेंगे जोकि अब ज़बर्दस्ती थोपे हुए दिखाई पड़ते हैं। ..... अब जबकि हमने इन लोगों को शिक्षा प्रदान कर दी है, उनकी अपने देश की शासन व्यवस्था में कुछ अधिक भाग लेने की इच्छा उचित ही प्रतीत होती है, और मेरा विचार है कि हम में इतनी राजनीतिक सूझबूझ अवश्य है कि हम एक ऐसी व्यवस्था करें जिसमें कि उनकी इस इच्छा की भी पूर्ति हो जाये और

* श्रीराम शर्मा : *op. cit.*, page 101.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे साम्राज्य की सर्वोच्चता में भी कुछ कमी न आये।" इस प्रश्न की समीक्षा करने के लिये लॉर्ड डफरिन ने अपनी परिषद की एक समिति नियुक्त की। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर सन् १८८८ में लॉर्ड डफरिन की सरकार ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष कुछ सांविधानिक सुधारों का सुझाव रखा। उसके इन्हीं सुझावों में निहित सिद्धान्तों के आधार पर १८९२ का *भारतीय परिषद अधिनियम* (Indian Councils Act) बनाया गया। ये सिद्धान्त थे शासन का विकेन्द्रीकरण, शासन-कार्य के साथ भारतीयों को उत्तरोत्तर अधिकाधिक भाग देना तथा सर्वोपरि नियन्त्रण तथा सत्ता अंग्रेज़ों के हाथों में रखना। ये सिद्धान्त भारत के प्रति ब्रिटिश नीति का आधार उस समय तक बने रहे जबकि भारत मन्त्री मॉण्टेग्यू ने उनसे भिन्न एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लॉर्ड डफरिन ने जो पत्र इस सम्बन्ध में इंग्लैण्ड भेजा उसके कुछ अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

"मुझे विश्वास है कि यदि हमने काँग्रेस आन्दोलन के बल तथा महत्त्व और उसके समर्थकों के प्रभाव को समुचित रूप से न समझकर देश के प्रशासन पर अपने अधिकार को तनिक भी ढीला कर दिया तो यह हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। इसके विपरीत, जब तक हम इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हैं और अपने साम्राज्यवादी उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह करते हैं तो मेरा विश्वास है कि हम भारत में उन राजभक्त, देशभक्त तथा सुशिक्षित वर्गों की, जो कि अपने अपने प्रान्तों के प्रशासन कार्य में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक भाग लेना चाहते हैं, समस्त उचित और प्रशंसनीय महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में निःशंक होकर सहायता दे सकते हैं।"

यह सिद्धान्त कि भारतीयों को अपने देश के प्रशासन कार्य में कुछ अधिक भाग तो दिया जाय किन्तु साम्राज्यवादी उत्तरदायित्व और प्रभुत्व में किसी भी प्रकार की कमी न आने पाये, भारत में ब्रिटिश पालिसी को उस समय भी निर्दिष्ट करता रहा जब कि १९१९ के अधिनियम के द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना हो गई और १९३५ के अधिनियम ने उसके क्षेत्र को बहुत अधिक विस्तृत कर दिया। १९३५ के अधिनियम के अधीन गवर्नर-जनरल को जो विशेष शक्तियां दी गईं और उसे जो विशेष उत्तर-दायित्व सौंपे गये वे इसी सिद्धान्त के स्पष्ट साक्षी हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि लॉर्ड डफरिन भारतीयों को प्रशासन कार्य में अधिक भाग अपने अपने प्रान्तों में देना चाहता था। इसलिये उसने राजस्व के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को और अधिक विकसित किया। उसने सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय राजस्व पर अधिक नियंत्रण और प्रान्तीय करारोपण द्वारा अपनी अपनी आय को बढ़ाने की अधिक शक्तियां मिलनी चाहियें।

तीसरे, उसने यह सिफारिश की कि वायसराय की व्यवस्थापिका परिषद को भारत सरकार द्वारा तैयार किये हुये बजट पर बहस करने का अधिकार होना चाहिये। इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका तात्पर्य यह नहीं था कि बजट के विभिन्न भेदों की बड़ी गहराई के साथ समीक्षा की जाये या उनके ऊपर वोट लिये जायें, उसका आशय तो केवल यह था कि सरकार की राजस्व सम्बन्धी नीति की स्वतन्त्र और पूर्ण समीक्षा करने का अवसर दे दिया जाये।

इस बात को ध्यान में रखते हुये कि वहां कोई ऐसा माध्यम न था जिसके द्वारा सरकार अपनी नीति को समझा सकती, एक गलत धारणा को दूर कर सकती अथवा एक निराधार कथन को झुठला सकती, लॉर्ड डफरिन ने अपने पत्र में यह सिफारिश की कि वायसरॉय द्वारा निर्धारित समुचित सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए उच्चतम व्यवस्थापिका परिषद को घरेलू मामलों पर (साम्राज्य के हितों से सम्बन्धित विषयों पर नहीं) प्रश्न पूछने का अधिकार दिया जावे।

जहाँ तक कि व्यवस्थापिका सभाओं में भारतीयों को अधिक संख्या में स्थान देने, उनके कार्यों को विस्तृत करने तथा प्रतिनिधित्व की प्रणाली का सम्बन्ध है लॉर्ड डफरिन ने एक उदार नीति का अनुमोदन किया किन्तु देश में संसदात्मक संस्थाओं की स्थापना की इच्छा का स्पष्ट रूप से खण्डन और विरोध किया। उसने कहा :

"यह आवश्यक है कि हम अपने उद्देश्यों तथा जिस दिशा में हम बढ़ना चाहते हैं उसके स्वरूप को भली-भांति समझ लें; इस विषय में हमारे मस्तिष्क में कोई भ्रम नहीं रहना चाहिये। संक्षेप में हमारी योजना यह है कि प्रान्तीय परिषदों को कुछ विस्तृत कर दिया जावे, उनके पद को कुछ ऊंचा उठाया जावे, उनके कार्यों को बढ़ा दिया जावे, उनके निर्माण में आंशिक रूप से निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाया जावे और राजनैतिक संस्थाओं के रूप में उनके सामान्य चरित्र को कुछ उदार बना दिया जावे। इस सब से कुछ लोग इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि शायद हमारा इरादा अंग्रेज़ी संसदीय शासन तथा अंग्रेज़ी सांविधानिक प्रणाली से मिलती जुलती व्यवस्था कायम करना है, ऐसा सोचना एक बहुत बड़ी भूल होगी; तथा इण्डिया ऑफिस अथवा भारतीय जनता के मन में ऐसी धारणाओं को उत्पन्न होने देना गलत होगा। ····· जो कार्यपालिका भारत में ब्रिटेन की प्रभुता का प्रतिनिधित्व करती है वह प्रत्यक्षरूप से ब्रिटिश 'क्राउन' तथा ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी है, किसी स्थानीय सत्ता के प्रति नहीं। और जब तक भारत में सर्वोपरि शक्ति ब्रिटेन के पास रहेगी तब तक वह अपने इस उत्तरदायित्व से अभिमुक्त नहीं हो सकती।"

यद्यपि लॉर्ड डफरिन ने उक्त सुझावों को १८८८ में भेजा था तथापि उन्हें मूर्तरूप कहीं जाकर १८९२ में दिया गया जबकि भारतीय परिषद अधिनियम बनाया गया। इस विलम्ब का कारण यह था कि हाउस ऑफ कॉमन्स के हाथ आयरलैण्ड की समस्या से घिरे हुवे थे और *कंजरवेटिव* सरकार निर्वाचन प्रणाली की विरोधी थी। संसद में उस विधेयक पर जो वादविवाद हुआ उसका केन्द्रबिन्दु निर्वाचन का सिद्धान्त ही था। जैसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि हम पहले ही देख चुके हैं लॉर्ड डफरिन ने उसका अनुमोदन किया था और लॉर्ड नौर्थब्रुक तथा लॉर्ड रिपन सरीखे व्यक्तियों ने उसका समर्थन किया। लॉर्ड क्रॉस ने, जो कि लॉर्ड सेलिसबरी की दूसरी सरकार में भारत मन्त्री थे, उसका घोर विरोध किया। उसका तर्क यह था कि उसके पक्ष में कुछ अधिक ठोस प्रमाणों के बिना एक ऐसा आधारभूत परिवर्तन कर देना बुद्धिमत्ता का कार्य न होगा। अधीनस्थ भारत मन्त्री श्री कर्जन तथा बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर सर आर० टेम्पिल ने भी उसका विरोध किया। इस विवाद का अन्त करने के लिये एक मध्यमार्गी फार्मूला अपनाया गया जिसमें कि प्रतिनिधित्व की एक ऐसी प्रणाली की सिफारिश की गई जोकि निर्वाचन से मिलती जुलती थी। उसके द्वारा भारत सरकार को, भारत मन्त्री की अनुमति से इस बात के लिये नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया कि किन स्थितियों में अतिरिक्त सदस्यों को मनोनीत किया जावे। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, अंग्रेज़ों का उद्देश्य एक ऐसी प्रतिनिधि प्रणाली को अपनाना था जोकि अधिक से अधिक निर्वाचन से मिलती जुलती हो। योजना यह बनाई गई कि गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर अथवा लेफ्टीनेन्ट गवर्नर कुछ स्थानों को तो साधारण रूप से मनोनीत करके भरे और उनमें से बहुसंख्या के लिये नगर-पालिकाओं विश्व-विद्यालयों, व्यापार-संघों तथा धार्मिक समुदायों सरीखी संस्थाओं से सिफारिशें मंगाये। यह संस्थायें अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित कर सकती थीं या उन्हें छांट सकती थीं और उनके द्वारा अनुमोदित व्यक्तियों को अधिकारीगण द्वारा आमतौर से मान ही लिया जाता था। इस प्रकार यह प्रक्रिया व्यावहारिक रूप में एक प्रकार का निर्वाचन ही थी, यद्यपि इसे इस नाम से पुकारा नहीं गया। परन्तु निर्वाचन की यह प्रक्रिया ब्रिटेन की निर्वाचन पद्धति से भिन्न थी; उस ज़माने में भारत में क्षेत्रीय निर्वाचन मण्डल नहीं थे; उनका समय अभी नहीं आया था।

अब हम १८९२ के अधिनिमम की व्यवस्थाओं का वर्णन करेंगे।

१८९२ के अधिनियम की व्यवस्थाएँ :— १८९२ के *भारतीय परिषद अधिनियम* ने तीन बातें कीं: इसने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाई, यद्यपि निर्वाचन शब्द का प्रयोग इसमें नहीं किया गया: इसने सिफारिशों के आधार पर मनोनीत करने के वेष में निर्वाचन सिद्धान्त को प्रविष्ट किया: और इसने धारासभाओं के कार्यों में वृद्धि की।

गवर्नर-जनरल की व्यवस्थापिका परिषद में कम से कम दस और अधिक से अधिक सोलह मनोनीत सदस्य रखे गये (१८६१ के अधिनियम के अनुसार यह संख्या कम से कम ६ और अधिक से अधिक १२ थी)। यह वृद्धि, हाउस ऑफ कॉमन्स के एक सदस्य श्वान (Schwana) के शब्दों में बहुत ही तुच्छ और क्षुद्र थी। सोलह अतिरिक्त सदस्यों में से दस ग़ैरसरकारी सदस्य होते जिनमें से चार को प्रान्तीय धारासभाओं के ग़ैरसरकारी सदस्यों की सिफारिश पर और एक को कलकत्ते के व्यापार-संघ की सिफारिश पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियुक्त किया जाता; और शेष पांच को वायसराय देश में ज़मीदारों तथा अन्य हितों के प्रतिनिधियों में से मनोनीत करता। बम्बई तथा मद्रास की परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम से कम आठ और अधिक से अधिक बीस थी। बंगाल की परिषद के लिये अधिक से अधिक बीस और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लिये पन्द्रह की संख्या रखी गई। प्रान्तीय परिषदों में बढ़ाये हुये सदस्यों की बहुसंख्या ग़ैरसरकारी सदस्यों की थी: उन्हें नगरपालिकाओं, ज़िला बोर्डों, व्यापार-संघों, ज़मीदारों तथा विश्वविद्यालयों की सिफारिशों पर मनोनीत किया जाता। समस्त धारासभाओं में सरकारी बहुमत को सुरक्षित रखकर लॉर्ड डफ़रिन के इस सिद्धान्त का पूर्णतया पालन किया गया कि अंग्रेज़ों की सर्वोच्च शासन सत्ता में किसी प्रकार की कमज़ोरी नहीं आने देनी चाहिये।

इस अधिनियम में निर्वाचन सिद्धान्त को कहां तक अपनाया गया, इसका उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। औपचारिक रूप से तो अतिरिक्त (Additional) सदस्यों को गवर्नर-जनरल, गवर्नर अथवा लेफ्टीनेन्ट गवर्नर द्वारा ही मनोनीत किया जाता किन्तु अधिकतर सदस्यों को केवल उन्हीं व्यक्तियों में से मनोनीत किया जा सकता था जिनके नामों की सिफ़ारिश कुछ संस्थायें अथवा निगम करतीं, इसलिए इस हद तक इसमें निर्वाचन का तत्त्व भी आ गया था। परन्तु यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन था; केवल कलकत्ता के व्यापार-संघ द्वारा अनुमोदित सदस्य को ही प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कहा जा सकता है। निर्वाचन सिद्धान्त (चाहे वह परोक्ष ही था) की स्वीकृति १८९२ के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित सुधारों को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है।

इस अधिनियम ने व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों में काफी वृद्धि कर दी। उन्हें वार्षिक बजट पर बहस करने का अधिकार मिल गया, किन्तु वे उस पर वोट नहीं दे सकती थीं और उस से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर सदन को विभक्त नहीं करा सकती थीं। परन्तु बजट पर बहस करने का अधिकार मिल जाना भी उनके लिए एक काफी महत्त्वपूर्ण बात थी; इसके द्वारा गैर-सरकारी सदस्य सरकार की वित्तीय नीति की आलोचना कर सकते थे और, दूसरी ओर, सरकार को भी अपनी नीतियों को समझाने और ग़लतफहमियों को दूर करने का अवसर मिल सकता था। इस अधिनियम ने सदस्यों को सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रश्न पूछने का भी अधिकार दिया, किन्तु उन्हें पूरक (Supplementary) प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं दिया गया। इन अधिकारों के मिल जाने से परिषद केवल व्यवस्थापिका अथवा परामर्शदात्री सभाओं से, जैसी कि वे १८६१ के अधिनियम के अन्तर्गत थीं, कुछ अधिक हो गई।

१८९२ के अधिनियम ने १८६१ के अधिनियम से प्रगति की ओर हमें कितना बढ़ाया, उसका वर्णन 'भारतीय सांविधानिक सुधारों पर प्रतिवेदन (Report)' के लेखकों ने इन शब्दों में किया है: "जब कि १८६१ में मनुष्य कहते थे: 'हमारे क़ानूनों के विषय में हमारे चुने हुए कुछ थोड़े से भारतीयों के मत को जान लेना हमारे लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा है', १८६९ में वे यह कहते थे: 'हमारे क़ानूनों को भारतीय परामर्श तथा आलोचना से निश्चित रूप से लाभ पहुंचा है; हमें यह और अधिक मिलना चाहिये, और यदि सम्भव हो तो जो जो लोग हमें परामर्श देने के लिए भेजे जाते हैं वे जनता द्वारा ही चुने जाने चाहियें'।"

अधिनियम का मूल्यांकन :— ये सब लाभ आज तो हमें बड़े क्षुद्र प्रतीत होंगे; उस समय भी वे जनमत को सन्तुष्ट नहीं कर पाये थे। हम पहिले ही कह चुके हैं कि परिषद जनता की सच्ची प्रतिनिधि संस्थायें नहीं थीं, और जो शक्तियां उन्हें दी गई थीं उन पर बहुत से प्रतिबन्ध लगे हुए थे। इस अधिनियम की कांग्रेस के अधिवेशनों में बार बार आलोचना की गई। १८९० में कलकत्ते में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसके अध्यक्ष श्री फ़ीरोज़ शाह मेहता के शब्दों में लॉर्ड क्रॉस द्वारा प्रस्तावित विधेयक 'अत्यन्त अपूर्ण और असंतोषजनक' था। उन्होंने इसकी तुलना एक ऐसे अति सुन्दर भाप के इंजिन से की जिस में से कि भाप को उत्पन्न करने वाली सामग्री को अलग रखा गया हो। उनका आरोप यह था कि 'निर्वाचक सिद्धान्त की सजीव शक्तियों' के अभाव में प्रश्न पूछने तथा बजट पर वादविवाद के अधिकार केवल छायामात्र थे। १८९५ में पूना अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने भी इसकी कटु आलोचना की। उन्होंने कहा कि इसने भारतवासियों की आशाओं पर एकदम तुषारापात कर दिया, और यहाँ तक कि यह दोनों सदनों में संसद के सदस्यों की घोषणाओं के भी अनुकूल नहीं। लॉर्ड सेलिस्बरी की इच्छा यह थी कि इस अधिनियम के द्वारा प्रतिनिधित्व जनता के छोटे छोटे वर्गों को नहीं, वरन् 'समाज की सजीव शक्तियों' को दिया जाय। बनर्जी ने निराशा और तिरस्कार भरे स्वर में प्रश्न किया: "क्या केवल सात निर्वाचित सदस्य सात करोड़ बंगालियों के सम्पूर्ण समाज की सजीव शक्तियों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व कर सकते हैं?" उन्होंने निर्वाचित भारतीयों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की मांग की। उनका कहना यह था कि समस्त परिषदों में सरकारी सदस्यों के बहुमत होते हुए बजट पर वादविवाद तथा प्रश्न पूछने के अधिकार पर प्रतिबन्ध अनावश्यक हैं, इसलिए उन्हें हटा देना चाहिये।

अपने इन समस्त दोषों के बावजूद १८९२ का अधिनियम १८६१ के अधिनियम की अपेक्षा प्रगति की दिशा में एक बहुत बड़ा क़दम था; हमें उसके महत्त्व को कम नहीं करना चाहिये। एक समालोचक का यह कहना एकदम उचित है कि "इसके द्वारा परिषदों को एक प्रकार की निर्जीव व्यवस्थापिका सभा बनाये रखने की सरकारी धारणा तथा उन्हें गर्भस्थ संसदों का रूप देने की शिक्षित भारतीयों की इच्छा के बीच का मार्ग अपनाया गया। यद्यपि शिक्षित वर्ग की सीमाओं को विस्तृत करने, उन्हें उत्तरदायी शासन की कला में प्रशिक्षित करने, अथवा उन्हें नियन्त्रित करने के लिए भावी निर्वाचक मण्डल की आधारशिला रखने का कोई प्रयास नहीं किया गया, इस अधिनियम में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाचन के सिद्धान्त को कुछ स्थान देने का जानबूझ कर प्रयत्न किया गया।"*

१८९२ के अधिनियम का उद्देश्य हमारे देश में संसदीय शासन-प्रणाली का सूत्रपात करना नहीं था; इस प्रश्न पर लॉर्ड डफ़रिन के विचार स्पष्ट और निश्चित थे। यही कारण था कि हर कहीं सरकारी बहुमत को सुरक्षित रक्खा गया और परिषदों को कार्य-पालिका पर नियन्त्रण करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया। तथापि आगे चल कर संसदात्मक शासन-पद्धति क़ायम होने की दिशा में यह एक निश्चित और महत्त्वपूर्ण क़दम था। १८९२ में जो बीज बोया गया वह आगे चल कर एक महाकाय वृक्ष बन गया, यद्यपि भारत में नौकरशाही ने उसे उखाड़ फेंकने का घोर प्रयास किया। इस अधिनियम ने भारत के महान् और जनसेवा से प्रेरित व्यक्तियों को अपने देश की सेवा करने के नवीन अवसर प्रदान किये। गोपाल कृष्ण गोखले तथा फ़ीरोज़ शाह मेहता ने *उच्चतम व्यवस्थापिका परिषद* (Supreme Legislative Council) में, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा आनन्द मोहन बोस ने बंगाल में, सी. विजयराघवाचार्य तथा एन. सुब्बारन पन्तूलू ने मद्रास में, सर चमनलाल सीतलवाड और सर गोकुल दास ने बम्बई में तथा पंडित मदनमोहन मालवीय ने संयुक्त प्रान्त में बड़ा शानदार कार्य किया। श्री सी. वाई. चिन्तामणि के शब्दों में 'इन तथा अन्य सदस्यों के कार्य के मूल्य की केवल इसलिए उपेक्षा करना कि वह सदैव अथवा प्रायः सफल नहीं हुआ एक भूल होगी। क्योंकि यह निश्चित है कि यदि उनमें से अधिकतर व्यक्ति असफल हो जाते, यदि उनमें क्षमता अथवा उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता, यदि वे जनता के हित में काम न करते तो आगे चल कर *मॉर्ले-मिन्टो परिषद* न बन पातीं।'†

१८९२ के अधिनियम के बनने का एक बहुत बड़ा कारण एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन था जिसने तदुपरान्त सांविधानिक विकास पर भी बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव डाला। अतः १९०९ के *भारतीय परिषद अधिनियम* की समीक्षा करने से पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन के जन्म तथा विकास का एक संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक होगा। अगले अध्याय में हम यही करेंगे।

---

* पुनिया द्वारा उद्धृत: *op. cit.*, पृष्ठ ११४

† C. Y. Chintamani: *Indian Politics Since the Mutiny*, page 26.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति और विकास

विषय प्रवेश:— भारत के सांविधानिक विकास के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि १८६१ के *भारतीय परिषद अधिनियम* के अधीन स्थापित विधान परिषदों में सुधार करने की बात तो ब्रिटिश सरकार के मन में कहीं तीस वर्ष के बाद जाकर आई, किन्तु भारत में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना ने उसे १८९२ के *भारतीय परिषद अधिनियम* को रद करके १९०९ का *भारतीय परिषद अधिनियम* बनाने के लिये १७ वर्ष में ही विवश कर दिया। यदि उस समय भारत में एक सबल राष्ट्रीय आन्दोलन को संचालित करने के लिए कांग्रेस न होती और उसके अन्दर अधिक प्रबल नीति की मांग करने वाला उग्रवादी दल उत्पन्न न होता तो *मॉर्ले-मिन्टो सुधार* भी न होते। *मॉर्ले-मिन्टो सुधार* किन परिस्थितियों में आये उन्हें भली प्रकार समझने के लिए हमें तत्कालीन भारत की राजनीतिक जागृति और असन्तोष के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना एकदम आवश्यक होगा।

कांग्रेस को जन्म देने वाले कारण:— अपनी पुस्तिका 'Britain and India' में प्रोफेसर कूपलैण्ड लिखते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म तब हुआ जब कि १८८५ में कांग्रेस का सर्वप्रथम सम्मेलन हुआ। जहां तक कि भारत में राष्ट्रवाद को कांग्रेस के आविर्भाव का पर्यायवाची समझा जा सकता है कूपलैण्ड का उक्त कथन सही ही है। परन्तु इसमें एक बात को भुला दिया गया है, जिसे हमें सदैव याद रखना चाहिये, वह यह कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एक असम्बद्ध घटना नहीं थी, यह भारतीय पुनरुज्जीवन (Renaissance) का एक अंश था जो राजा राममोहन राय के साथ प्रारम्भ हुआ और अब तक भी समाप्त नहीं हुआ है। डाक्टर ज़करिया के अनुसार भारत की पुनर्जागृति मुख्यतया आध्यात्मिक थी। यह सब से प्रथम एक आम सुधार आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई और 'राष्ट्र के राजनीतिक उद्धार के आन्दोलन का रूप धारण करने से बहुत पहिले इसने अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का सूत्रपात किया।'* इसका अर्थ यह है कि विभिन्न धार्मिक तथा राजनीतिक सुधार आन्दोलन जो हिन्दू जाति में गत शताब्दी के प्रथम तीन चरणों में प्रारम्भ हुए तथा राष्ट्रीय आन्दोलन जिसने १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के साथ संगठित रूप धारण किया, एक ही प्रवृत्ति के दो भाग थे। राष्ट्रीय आन्दोलन का अध्ययन सुधार आन्दोलनों के बिना,

* ज़करिया : 'रिनेसेंट इंडिया', पृष्ठ १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्होंने इसके आविर्भाव के लिये भूमि तैयार की और इसके स्वरूप पर अपनी गहरी छाप छोड़ी, नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि डाक्टर ज़करिया एवं दीनबन्धु एण्ड्रूज़ सरीखे लेखकों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति और विकास के विवरण से पूर्व ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन तथा इसी प्रकार के अन्य सुधार आन्दोलनों का भी वर्णन किया है जो हिन्दुओं की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागृति के द्योतक हैं और जिनका राष्ट्रीय जागृति में बहुत बड़ा हाथ है। हम उनके अध्ययन को भी यहाँ कुछ स्थान देंगे। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के सम्बन्ध में स्मरण रखने योग्य दूसरी बात यह है कि इसका कांग्रेस के जन्म और विकास के साथ अटूट सम्बन्ध है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी अन्य राजनीतिक दल का राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास और स्वरूप पर कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं। यह पूर्णतया असत्य है। देश में साम्प्रदायिकता के विकास का स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय संग्राम पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार आतंकवादी आन्दोलन का भी इस पर कुछ असर अवश्य हुआ। इनमें से किसी का भी कांग्रेस अथवा भारतीय राष्ट्रीय महासभा से कोई सम्बन्ध नहीं। तथापि यह कहा जा सकता है कि यह राष्ट्रीय महासभा का ही कार्य था कि इसने जनसाधारण के हृदय में राष्ट्रीय एकता की चेतना उत्पन्न की, विदेशी शासन में निहित आत्मसम्मान के अभाव की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया, स्वधीनता-संग्राम को संगठित किया और चलाया और अन्त में देश को आज़ादी दिलाई। इसी सत्य को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा की उत्पत्ति एवं विकास की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म और विकास की कहानी है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख कारण:— प्रत्येक देश में राष्ट्रीय आन्दोलन उन अनेक शक्तियों के सामूहिक प्रभाव का परिणाम होता है जो एक लम्बे अरसे से देश में कार्य करती आ रही होती हैं। भारत में भी यह समय पर्याप्त लम्बा रहा। १८८५ में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना से पूर्व का ५० वर्ष का काल इसमें समाविष्ट है। सदियों से चले आते हुए निरंकुश विदेशी शासन के अनैतिक प्रभावों से पैदा हुई परिस्थितियों के कारण भी यह समय इतना लम्बा रहा। जिन शक्तियों ने इसके लिये भूमि तैयार की और जो इसे लाने में सहायक हुईं उनका स्वरूप दूसरे देशों में आमतौर पर पाई जाने वाली इस प्रकार की शक्तियों से बहुत भिन्न था और वह अनेक प्रकार की थीं। इस अध्याय में हम इन्हीं शक्तियों एवं प्रवृत्तियों का वर्णन करेंगे। इनमें देश में धार्मिक जागृति, पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार, यातायात के साधनों का शीघ्र विकास, भारतीय समाचारपत्रों का आविर्भाव, गत शताब्दी के सातवें दशाब्द की विभिन्न घटनायें तथा पाश्चात्य देशों के राजनीतिक आन्दोलन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

(i) **धार्मिक जागृति:**— जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन, जो राजा राममोहन राय के साथ प्रारम्भ हुए और जिनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब से विख्यात और बाद के नेता महात्मा गांधी हुए, तथा राष्ट्रीय आन्दोलन एक महान् भारतीय पुनर्जागृति के ही दो पार्श्व हैं। भारतीय राष्ट्रीयता की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसका आधार धार्मिक जागृति है जिससे इसने अपनी सारी प्रेरणा ली है। जब महात्मा गांधी ने धर्म से जुदा राजनीति को अनैतिक बताया और सत्य और अहिंसा को अपने आन्दोलन का आधार बनाया तो उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के प्रारम्भिक स्वरूप में अन्तर्निहित सत्य को ही प्रकट किया। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन के रूप में अभिव्यक्त हुई हिन्दू धर्म की यह आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागृति ही थी जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन को सम्भव बनाया। धार्मिक पुनर्जागृति के बिना राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ ही नहीं हो सकता था। यहाँ हमें यह समझने की ज़रूरत है कि किस प्रकार धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने एक सबल एवं उग्र राष्ट्रीयता को जन्म दिया।

१८२८ में राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्म समाज की स्थापना से पूर्व के १०० वर्षों को ठीक ही 'भारत का अन्धकार युग' कहा गया है। इस काल में भारत का सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जीवन अधोगति की चरम सीमा पर पहुँच चुका था और हिन्दू धर्म उस प्राणशक्ति और जीवन की दिव्य ज्योति को पूर्णतया खो चुका था जिसने भूत में यशस्वी और आश्चर्य में डालने वाली संस्कृति को जन्म दिया था। भारतवासी उपनिषदों और वेदान्तों में प्रतिपादित उत्कृष्ट सत्यों को एकदम भुला चुके थे, और उनकी आध्यात्मिकता का स्थान कट्टर सिद्धान्तों एवं थोथे संस्कारों ने ले लिया था जिनका वह बड़ी तत्परता से अनुकरण कर रहे थे। हिन्दू जाति एकेश्वर पूजा को छोड़कर अनेक देवी और देवताओं को पूजने लगी थी और एक अमूर्त ब्रह्म के चिन्तन की जगह एक निकृष्ट कोटि की मूर्तिपूजा प्रारम्भ हो गई थी। सती, वैधव्य, छुआछूत और बालिका हत्या जैसी अनिवार्य बुराइयाँ, तथा हजारों जाति एवं उपजातियों को मानने वाली वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज की जड़ों को खोखला कर रही थीं। पाश्चात्य विजेताओं की बाहर से ऊँची दीखने वाली सभ्यता ने सांस्कृतिक दृष्टि से उसे हतबुद्धि कर दिया था। राजनीतिक शक्ति के हाथ से चले जाने के कारण जो आन्तरिक फूट की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी वह पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से, जिसने शिक्षित भारतीयों को उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन वैज्ञानिकों के भौतिक और अनीश्वरवादी सिद्धान्तों से अवगत किया, और भी तेजी से बढ़नी शुरू हो गई थी। ईसाई पादरियों के कार्यों और उपदेशों ने जो इस समय हिन्दू धर्म के विश्वासों और प्रथाओं की खिल्ली उड़ा रहे थे, जले पर नमक छिड़कने का काम किया। उनकी सरकारी स्थिति ने उनके उपदेशों को चार चाँद लगा दिये और अपने आकर्षक व्यवहार और देशवासियों के प्रति सच्चे प्रेम के प्रदर्शन के कारण उन्होंने हजारों हिन्दुओं को ईसाई बनाना शुरू कर दिया। हिन्दू धर्म का क़िला मानो एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दफा बुरी तरह हिल गया और ढहने के करीब आ गया। इन परिस्थितियों में भला राजनीतिक जागृति किस प्रकार सम्भव थी ? इससे पूर्व कि देश में राजनीतिक चेतना पैदा हो यह आवश्यक था कि एक सबल और जाहिरा तौर पर अधिक ऊँची सभ्यता के संसर्ग से हिन्दू धर्म में जो निष्प्राणता एवं निर्जीवता आ गई थी उसे हटाया जाय और जनता का स्वयं अपने और अपनी गौरवपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा में फिर से विश्वास जागृत किया जाय। उपर्युक्त विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने यही कार्य सम्पन्न किया।

ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय का विश्वास था कि यदि हिन्दू धर्म को ईसाइयत का अच्छी तरह मुकाबला करने के योग्य बनाना है तो उसमें काँट छाँट तथा सुधार अवश्य होने चाहियें। वह प्राचीन हिन्दू धर्म की पवित्रता को पुनरुज्जीवित करना चाहते थे, और इसी उद्देश्य से उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। यह एक अमूर्त ब्रह्म में, जिसे यह अनादि, अपरिवर्तनीय, अन्वेषण से परे और सृष्टि का रचयिता तथा संरक्षक मानता है, विश्वास करता है। इसके अनुसार हमें इसी अमूर्त ब्रह्म की पूजा करनी चाहिये और दूसरे देवी देवताओं को नहीं मानना चाहिये। ब्रह्म समाज ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया और धार्मिक सहिष्णुता पर बहुत जोर दिया। यह सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों के भी पक्ष में था। इसने सती, वैधव्य, बाल विवाह, और छुआछूत जैसी बुरी प्रथाओं के निवारण और कठोर जाति-व्यवस्था के विनाश का प्रयत्न किया। इसने भारतीय स्त्री जाति के उद्धार का भी बीड़ा उठाया और उसे सामाजिक क्षेत्र में मनुष्यों के साथ समानता प्रदान की। राजा राममोहन राय ने अपने देशवासियों को अंग्रेजी की शिक्षा देने के लिये भी अनेक संस्थायें खोलीं। उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का पैग़म्बर और एक नये युग का अग्रदूत कहना ठीक है। डाक्टर मैकनिकोल के शब्दों में उन्होंने जिस ज्योति को जगाया वह आज भी भारत में जग रही है।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज ने जो कार्य बंगाल में किया वही कार्य उत्तर पश्चिमी भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके द्वारा संस्थापित आर्य समाज ने किया। स्वामी दयानन्द प्रथम भारतीय थे जिन्होंने यह नारा लगाया कि भारत भारतीयों के लिये है। उन्होंने देशवासियों में स्वातन्त्र्य प्रेम, देश प्रेम और भारतीय वस्तुओं के प्रति प्रेम की भावना पैदा की। आर्य समाज ने अपनी पूरी शक्ति के साथ अछूतोद्धार, जात-पात तथा वैधव्य के निवारण के लिये भी कार्य किया। इसने केवलमात्र धार्मिक पुनर्जागृति के लिये ही कार्य नहीं किया अपितु लोगों में राजनीतिक चेतना को भी जगाया। हिन्दू जाति को इसने नवजीवन प्रदान किया। जनसाधारण में आश्चर्यकारी जागृति पैदा करने और उनमें स्वतन्त्रता की अदम्य भावना भरने के कारण यह विदेशी सरकार की आँखों में खटकने लगी।

दक्षिण में यह कार्य थियोसोफिकल सोसायटी ने किया। कर्नल अल्काट ने,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सोसायटी के संस्थापकों में से एक थे, दक्षिण में अपने अनेक भाषणों में हिन्दुओं का ध्यान उनकी गिरी हुई दशा की ओर आकर्षित किया और उनसे आग्रह किया कि वह अतीत के गौरवपूर्ण हिन्दू धर्म को उन दूषित तत्त्वों से पृथक् रक्खें जो उसे निर्जीव बना रहे थे। कर्नल अल्काट और श्रीमती एनी बिसेंट के कार्य के विषय में सर वेलेंटाइन शिरोल के निम्न शब्द उद्धरणीय हैं—'मैडम ब्लेवेटस्की, कर्नल अल्काट और श्रीमती एनी बिसेंट के नेतृत्व में थियोसोफिस्ट के आगमन ने धार्मिक जागृति को नवीन प्रेरणा दी और निश्चय ही किसी भी हिन्दू ने इस आन्दोलन को संगठित और मजबूत करने में इतना कार्य नहीं किया जितना श्रीमती बिसेंट ने, जिन्होंने बनारस स्थित अपने सैंट्रल हिन्दू कॉलिज और अदयार (मद्रास) स्थित थियोसोफिकल इन्स्टिट्यूशन में खुले आम यह घोषित कर दिया कि अभिमानी पाश्चात्य सभ्यता की अपेक्षा हिन्दू धर्म कहीं उत्कृष्ट है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं कि जब यूरोप का एक प्रकाण्ड पण्डित और धाराप्रवाही वक्ता स्वयं हिन्दुओं से यह कहे कि सर्वोच्च ज्ञान सदा से उनकी निधि रहा है, उनके देवता, उनका दर्शन और उनकी नैतिकता का विचार-स्तर पश्चिम से बहुत ऊँचा रहा है, तो वे पश्चिमीय सभ्यता की ओर से अपना मुँह मोड़ लें।'

स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव भी, जिन्हें 'भारत का देशभक्त सन्त' कहा जाता है, भारतीयों में अपनी प्राचीन परम्परा के प्रति गौरव एवं अभिमान पैदा करने में अन्य सुधारकों से कम नहीं रहा। स्वामी विवेकानन्द ने भारतवासियों से उठने, जागने और तब तक चैन न लेने का आग्रह किया जब तक वे आध्यात्मिकता से सारे संसार को न जीत लें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक सुधारकों के कार्य तथा उनके द्वारा पैदा की गई धार्मिक चेतना भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के प्रमुख कारणों में से थे। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि इससे पहिले भी देश में राजनीतिक चेतना का कारण धार्मिक प्रेरणा ही रही थी। समर्थ गुरु रामदास की शिक्षाओं ने शिवाजी को पैदा किया और गुरु गोविन्दसिंह ने पंजाब में सिक्ख-शासन की नींव डाली। राष्ट्रीय आन्दोलन की इस धार्मिक एवं आध्यात्मिक बुनियाद ने इसे एक विशेष स्वरूप प्रदान किया है जो इसे अन्य देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों से पृथक् करता है।

कोलब्रुक, विल्सन, मैक्स मूलर, मोनियर विलियम्स, राथ, सासून, राजा राजेन्द्रलाल मित्र और डाक्टर पाण्डु सेन जैसे युरोपीय और भारतीय विद्वानों के कार्य का भी, जिन्होंने भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की भूरि भूरि प्रशंसा की, इसी प्रकार का प्रभाव पड़ा। उन्होंने शिक्षित भारतीयों और पश्चिमी पाठकों का प्राचीन भारत के गौरव और उसकी महानता से परिचय कराया और भारतीयों में आत्म-विश्वास की भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैदा की। स्वभावतः पश्चिमीय विद्वानों के मुख से प्राचीन भारतीयों की सफलता की प्रशंसा सुनकर देशवासी आनन्दविभोर हो जाते थे।

(ii) **पश्चिमी शिक्षा :—** भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में धार्मिक चेतना के बाद दूसरा स्थान पाश्चात्य शिक्षा का है। पर इसके प्रभाव का स्वरूप भिन्न था। जबकि धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने जनसाधारण में अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति श्रद्धा पैदा की, प्राचीन परम्परा के प्रति उनमें अभिमान जाग्रत किया, आत्म-विश्वास की भावना भरी और इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तय्यार की, अंग्रेजी शिक्षा ने उनका मिल्टन, बर्क, मिल, मैकॉले, हरबर्ट स्पेंसर, रूसो और वाल्टेयर जैसे युरोपीय विचारकों की रचनाओं के साथ सम्पर्क स्थापित किया। इस प्रकार भारतीयों का उस अंग्रेज़ी विचारधारा से परिचय हुआ जो उदारतावाद के युग में पैदा हुई थी और जिसके राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र दो प्रमुख सिद्धान्त थे। मिल्टन से लेकर मिल तक के अंग्रेज़ी विचारकों के राजनीतिक साहित्य के अध्ययन ने उनमें स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा स्वराज्य की जीवन-प्रदायिनी भावनायें भर दीं। उन्होंने अंग्रेज़ी इतिहास में पढ़ा कि 'ब्रिटिश उदारतावाद ने दक्षिणी अमेरिका, बल्कान प्रदेशों, इटली और आयरलैण्ड में उन जातियों का पूर्ण समर्थन किया था जो दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिये लड़ रही थीं। उन्हें विदित हुआ कि ब्रिटेन न सिर्फ लोक-प्रिय शासन का ज़बर्दस्त पोषक ही है, प्रत्युत उसने उसे कार्यान्वित करने के लिये एक विशेष प्रकार की शासन-पद्धति भी ईजाद की है जो इस प्रकार की अन्य सब पद्धतियों से उत्तम है। अन्त में उन्हें यह भी मालूम हुआ कि इस ब्रिटिश शासन-प्रणाली को, जिसे संसदीय उत्तरदायी पद्धति भी कहते हैं, अन्य देशों में भी ले जाया जा सकता है, और अमेरिकन क्रान्ति के बाद से सभी स्वायत्त ब्रिटिश उपनिवेशों ने इसे शनैः शनैः अपनाया है।'* दूरदर्शी अंग्रेज़ों को पूर्ण आशा थी कि अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप इस प्रकार के विचार भारत में अवश्य फैलेंगे। सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने १७३८ में लिखा कि अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों में से 'कुछ उत्साही भारतीय अपनी आशाओं की पूर्ति सुदूर भविष्य में भारत में प्रतिनिधिसत्तात्मक राष्ट्रीय सभाओं (national representative assemblies) की स्थापना में देखना चाहते हैं— पर साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं कि उन्नति की इन योजनाओं पर अमल, भारतीयों के ज्ञान और नैतिकता में शनैः शनैः वृद्धि के द्वारा अंग्रेज़ों की सहायता और संरक्षण से ही सम्भव है।' सर रिचार्ड टैम्पिल ने कुछ समय बाद कहा कि 'शिक्षित भारतीयों को स्वराज्य, राजनीतिक शक्ति, और प्रतिनिधि-सत्तात्मक संस्थाओं की आकांक्षाओं ने आन्दोलित कर रखा है पर इनकी पूर्ति इस समय क्रियात्मक राजनीति के दायरे से बाहर की चीज़ है।'

राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, स्वराज्य और नागरिक अधिकारों के विचारों के प्रसार का

* कूपलैण्ड : 'इण्डिया ए रीस्टेटमेंट', पृष्ठ ८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव यह हुआ कि देश में एक उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शिक्षित मध्यम वर्ग का जन्म हुआ जिसकी मुख्य दिलचस्पी का विषय राजनीति और देश में प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन प्रणाली की स्थापना था। इसी वर्ग ने भारतीय राष्ट्रीय महासभा को नेता दिये। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार के साथ शिक्षित मध्यम वर्ग का आकार भी बढ़ा और भारत के राजनीतिक भाग्य के सामान्य विचार ने इसके सदस्यों को एक दूसरे के बहुत नज़दीक ला दिया। इनका विश्वास था कि भारत एक जाति है और इसलिये उसे राष्ट्रीय स्वाधीनता का अधिकार है और इसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय ब्रिटिश नमूने पर संसदीय संस्थाओं की स्थापना है।

'भारतीय राष्ट्रीय महासभा की उत्पत्ति और विकास' नामक अपनी रचना में दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निम्न शब्दों को, जो अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन से भारतीय विद्यार्थियों पर पड़े प्रभाव को व्यक्त करते हैं, उद्धृत किया है : "हमें इंग्लैण्ड का परिचय उसके गौरवपूर्ण इतिहास द्वारा मिला और इससे हमारे नवयुवकों में एक नवीन स्फूर्ति तथा प्रेरणा पैदा हुई। अंग्रेजी लेखकों की रचनाएँ जो हमने पढ़ीं मानव-प्रेम, न्याय तथा स्वतंत्रता की भावना से आपूर्ण थीं। क्रान्ति युग से आगे बढ़ने वाली इस महान् साहित्यिक परम्परा का ज्ञान हमें हुआ। वर्ड्सवर्थ की मानव स्वतन्त्रता सम्बन्धी कविताओं में हमें इस शक्ति का आभास मिला। यौवन के उन्माद में लिखी हुई शैली की कुछ अप्रौढ़ रचनाओं में हमें भव्यता की भावना मिली। उसने पुरोहितों के अन्याय तथा सभी प्रकार की स्वेच्छाचारिता का वीरता के साथ कष्ट सहन करके विरोध करने का आदेश दिया। इन सभी ने हमारे युवकों की कल्पनाओं को उत्तेजित किया। हमें यह विश्वास हो गया कि यदि हम विदेशी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह भी करेंगे तो भी हमें पश्चिम का सहयोग प्राप्त होगा। हमने अनुभव किया कि इंग्लैण्ड भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रश्न में हमारे साथ है।"

यह कहना अत्युक्ति न होगा कि यदि १८३३ में कम्पनी के शासन में सरकार की शिक्षा नीति को बनाने वालों ने प्राच्य शिक्षा के बदले पाश्चात्य शिक्षा पर ज़ोर न दिया होता तो स्वराज्य और राष्ट्रीयता की भावना का इतना प्रसार हम में न हुआ होता।

पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार ने जनसाधारण में स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और स्वराज्य के विचारों को भरकर ही राष्ट्रीयता की भावना को सबल नहीं बनाया अपितु शिक्षित वर्ग में असन्तोष उत्पन्न करके भी उसने अप्रत्यक्ष रूप से यही कार्य किया। ज्यों ज्यों शिक्षित भारतीयों की संख्या बढ़ी सरकार के लिये उन्हें नौकरियाँ देना असम्भव होता गया। इसने स्वाभाविक रूप से शिक्षित भारतीयों में असन्तोष पैदा किया जो शासक वर्ग के सरकारी नौकरियों में प्रविष्ट होने के एकाधिकार को ईर्षा की दृष्टि से देखने लगे। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जिन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिविल सर्विस से अलहदा कर दिया गया था, तथा मनमोहन घोष और लालमन घोष, सरीखे व्यक्तियों ने जो सिविल सर्विस में प्रविष्ट होने में असफल रहे, राष्ट्रीय आन्दोलन को मजबूत बनाने में बहुत बड़ा भाग लिया। श्री मजूमदार अपनी पुस्तक 'राममोहन राय से दयानन्द तक राजनीतिक विचारों का इतिहास' में लिखते हैं कि "यह असम्भव नहीं कि बंकिमचन्द्र ने भी, जो भारतीय राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे, नौकरी में निराश होने के बाद ही, इसका प्रचार किया।"

पाश्चात्य शिक्षा ने हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना को दो और तरीकों से भी बल पहुँचाया। इसने हमें एक सामान्य भाषा दी जिसे देश के विविध भागों के व्यक्ति समझ सकते थे और जिसके माध्यम से वह परस्पर विचार विनिमय कर सकते थे और अपने सामान्य कामों को चला सकते थे। इस प्रकार की एक 'राष्ट्रभाषा' के अभाव में भारतीय राष्ट्रीय महासभा जैसी संस्था की स्थापना अत्यन्त कठिन थी। समस्त देश में विचार विनिमय के सामान्य माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी भाषा के प्रयोग ने देश को एकता का वरदान दिया जो राष्ट्रीयता की भावना को पैदा करने के लिये अत्यन्त आवश्यक था। दूसरे, हमें यहाँ उन व्यक्तियों के अनुभवों का भी ज़िक्र करना चाहिये जो शिक्षा प्राप्त करने इङ्गलैण्ड गये और वहाँ की समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृभाव की भावना से प्रभावित हुए। भारत लौटने पर उन्हें दूसरा ही वातावरण मिला। यहाँ के अंग्रेज़ों में उन्हें सहायता की जगह पार्थक्य और कटुता तथा सामाजिक एकता की जगह स्वामित्व एवं उजड्डता की भावना दृष्टिगोचर हुई। दो देशों में भारतीयों और अंग्रेज़ों के सम्बन्धों में इस महान् अन्तर ने इङ्गलैण्ड से लौटे भारतीयों में भारी असन्तोष और नाराज़गी पैदा की और उनका असन्तोष छूत की बीमारी की तरह फैलने लगा।

यदि एक तरफ पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार ने भारतीयों के हृदयों में स्वतन्त्रता और स्वराज्य की भावना को भरा और इस प्रकार राष्ट्रीयता को जन्म दिया, दूसरी तरफ इसने अनेकों नवयुवकों को उनके परम्परागत धर्म और संस्कृति से विमुख किया। इस शिक्षा से अनेक व्यक्तियों का मानसिक सन्तुलन बिगड़ गया और वे अराष्ट्रीय बन गये। जीवन के भारतीय ढंग को त्याग कर वे यूरोपीय शिष्टाचार का अनुकरण करने लगे। मैकॉले का स्वप्न पर्याप्त अंश में सच्चा हो रहा था। उसके अनुसार देश में "ऐसे व्यक्तियों का एक वर्ग बनना शुरू हो गया था जो रक्त और रंग से भारतीय थे पर रुचि, विचार, शब्द और बुद्धि से अंग्रेज़ थे।" पाश्चात्य शिक्षा के इन बुरे प्रभावों को ब्रह्म समाज ने बंगाल में, प्रार्थना समाज ने बम्बई में, आर्य समाज ने यू० पी० और पंजाब में और थियोसोफिकल सोसाइटी ने दक्षिण में विनष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। अधिकांश में, यह अवश्य कहा जा सकता है कि पाश्चात्य शिक्षा हमारे लिये वरदान ही साबित हुई। इसने शिक्षित मध्यम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग में राजनीतिक चेतना पैदा की और भारत की आबादी के विभिन्न तत्त्वों को एक सूत्र में बाँधा।

(iii) राष्ट्रीयता की भावना के विकास में, भारत का एक सबल केन्द्रीय सरकार के मातहत संगठन, और यातायात के तेज और सुरक्षित साधनों का विकास भी पर्याप्त सहायक रहे। सम्पूर्ण देश की शासन-सत्ता भारत सरकार के हाथ में थी और विभिन्न प्रान्तीय सरकारें इसके हाथ में यन्त्र की तरह थीं जिनके प्रशासन, आर्थिक मामलों और क़ानूनी मामलों पर इसका पूर्ण नियन्त्रण था। इसलिये अपनी आर्थिक एवं फौजी नीतियों का निर्धारण करते हुए भारत सरकार को समस्त देश का ध्यान रखना पड़ता था। अखिल भारतीय नौकरियों की उपस्थिति ने, जिनके सदस्यों का एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों को तबादला हो सकता था तथा क़ानून के ग्रन्थबद्ध किये जाने ने भी भारत को एक राष्ट्र का और उसके बाशिन्दों को एक जाति का रूप देने में काफी मदद की। भारत की एकता की इस भावना को रेल, डाक, तार जैसे यातायात के तेज़ और सुरक्षित साधनों ने भी बहुत शक्ति पहुंचाई। इनके कारण भारतीय देश के एक कोने से दूसरे कोने तक तेज़ी और हिफाज़त के साथ आ जा सकते थे और हर समय और हर जगह परस्पर विचार विनिमय कर सकते थे। यातायात के इन तेज़ साधनों ने देश के विभिन्न भागों में अनेक आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध पैदा कर दिये। देश के एकत्रीकरण की इस प्रक्रिया को उच्च शिक्षा ने भी बहुत आगे बढ़ाया। इस प्रकार ब्रिटिश शासन ने उन अवस्थाओं को पैदा किया जिनके परिणामस्वरूप देश में राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई।

(iv) कम्पनी और सम्राट् के शासन काल में भारत सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीति ने भारतीय उद्योग-धंधों को नष्ट करके देश में भयंकर गरीबी का सूत्रपात किया। हमें यहाँ यह सब कुछ बताने की ज़रूरत नहीं कि किस प्रकार कम्पनी ने भारतीय व्यवसायों को नष्ट किया और लंकाशायर के हित में अपनाई गई खुले व्यापार की नीति का भारत के बड़े पैमाने पर शुरू किये गये नवजात व्यवसायों पर कितना बुरा असर पड़ा। जनसाधारण की उत्तरोत्तर बिगड़ती आर्थिक दशा और भारतीयों को बड़ी सरकारी नौकरियों से पृथक् रखने की नीति ने शिक्षित वर्ग में ब्रिटिश-विरोधी भावों को पैदा किया और इसने भी राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाया। यह आर्थिक कारण १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा के जन्म के बाद भी एक बड़े अरसे तक अपना कार्य करता रहा।

(v) सरकार की भारतीयों को बड़े ओहदों पर नियुक्त न करने की नीति ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिये प्रेरणा दी। इसके बारे में कुछ शब्द कहना असंगत न होगा।

यह स्मरण रखना चाहिये कि १८३३ के अधिनियम के अनुसार सरकारी नौकरियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रवेश की एकमात्र कसौटी योग्यता घोषित कर दी गई थी और किसी भी भारतवासी को सिर्फ धर्म, जन्म-स्थान, वंश, और रंग के कारण कम्पनी के मातहत किसी स्थान या रोज़गार को पाने से नहीं रोका जा सकता था। इस घोषणा ने स्वाभाविक रूप से शिक्षित भारतीयों के हृदयों में, जिनकी संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी और जो सरकार से उपयुक्त नौकरियाँ पाने की उम्मीद कर रहे थे, आशा की एक लहर पैदा कर दी। पर यह आशा कभी पूरी नहीं हुई। आगामी बीस वर्षों में किसी भी भारतीय को ज़िम्मेवार पद पर नियुक्त नहीं किया गया। परिणामतः जब १८५३ में कम्पनी को नये सिरे से आज्ञापत्र (Charter) देने का समय आया तो तीनों प्रेज़ीडेंसियों के बाशिन्दों ने ब्रिटिश संसद को इसके विरुद्ध एक आवेदन-पत्र भेजा जिस पर हज़ारों भारतीयों के हस्ताक्षर थे। देश में सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन की जागृति का यह प्रथम प्रदर्शन था। इससे ज्ञात होता है कि प्रतिज्ञाओं के पूरा न किये जाने से पैदा हुए क्षोभ तथा देशवासियों के प्रशासन से पार्थक्य ने राष्ट्रीयता की चेतना के प्रसार में बहुत महत्त्व-पूर्ण कार्य किया। यह गलती बार बार दोहराई गई। १८५८ में शासन सत्ता सम्हालने के बाद महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा की उसका भारतीय जनता ने राजभक्ति का प्रदर्शन देकर हार्दिक स्वागत किया पर यह राजभक्ति की भावना शीघ्र ही क्रोध और विक्षोभ में परिणत हो गई जब उन्हें मालूम हुआ कि यह सिर्फ एक पवित्र इच्छा है और इसने सरकार की नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया है। अनेक प्रतिभासम्पन्न बङ्गाली नवयुवकों ने सिविल सर्विस में, जो राजा राममोहन राय के समय से चले आ रहे आन्दोलन के परिणामस्वरूप सब के लिये खोल दी गई थी, प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया पर इनमें से कोई भी सफल नहीं हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और अरविन्द घोष को औपचारिक (Technical) आधार पर सिविल सर्विस में लेने से इन्कार कर दिया गया। इससे देश में जो विक्षोभ का एक तूफान सा आया उससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

(vi) हमें यहाँ उस बलवती घटना का भी संक्षेप में परिचय देना चाहिये जो देश में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने और बढ़ाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई। यह थी भारतीयों के स्वामित्व एवं प्रबन्ध में समाचारपत्रों का अंग्रेज़ी और देसी भाषाओं में प्रकाशन। शिक्षा के प्रसार के साथ इन पत्रों का प्रकाशन और संचालन भी बढ़ता गया। '१८७७ में देसी भाषाओं में बम्बई प्रेसीडेंसी और उत्तरीय भारत से ६२ तथा बङ्गाल और दक्षिणी भारत से क्रमशः २८ और २० समाचारपत्र निकलते थे जिनके नियमित पाठकों की संख्या लगभग एक लाख थी। अंग्रेज़ी समाचारपत्रों के पाठकों की संख्या इससे भी अधिक थी।'* यह भारतीय समाचारपत्र राष्ट्रीयता के पोषक थे और सरकार की नीतियों और कार्यों की खूब समालोचना करते थे। गोरे

* फिलिप्स : 'इण्डिया', पृष्ठ ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र इसके विपरीत राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी और सरकारी नीति के समर्थक थे। प्रारम्भ में ब्रिटिश परम्परा का अनुकरण करते हुए भारत सरकार ने 'स्वतन्त्र-प्रेस' की नीति अपनाई। पर देसी समाचार-पत्रों के गैरज़िम्मेदार और कभी कभी शत्रुता भरे रुख से सरकार बहुत तंग आ गई और उसने १८७८ में एक वर्नाकुलर प्रैस अधिनियम जारी किया जिसने देसी पत्रों की प्रगति पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये। इसके विरुद्ध भारत और इंग्लैण्ड दोनों ही देशों में बहुत क्षोभ प्रकट किया गया, अतः इसे चार साल बाद रद कर दिया गया। कुछ समय बाद भारतीय प्रैस पर फिर पाबन्दियाँ लगाई गईं। पर पाबन्दियों के बावजूद इसने भारतीय राष्ट्रीयता का ज़ोरदार समर्थन किया और राजनीतिक सुधारों के लिये आन्दोलन किया। इस प्रकार देशभक्ति के प्रचार और राष्ट्रीयता के प्रसार में, इसने बहुत ही सक्रिय भाग लिया।

(vii) अंग्रेज़ों के प्रति जातीय कटुता और शत्रुता की भावना का भी राष्ट्रीयता के विकास में जिक्र करना असंगत न होगा। यह विरासत थी जो हमें गदर से मिली थी और जिसे अंग्रेज़ों के कठोर एवं घृणास्पद व्यवहार ने ज़िन्दा रखा हुआ था। समाज में ऊँची स्थिति रखने वाले भारतीयों को भी युरोपियन क्लबों में जाने का अधिकार न था और गोरे साहब उन्हें नफरत की नज़र से देखते थे। भारतवासियों पर युरोपियनों के अक्सर हमले होते थे, पर इससे भी बुरी बात यह थी कि गोरी जाति के दबाव की वजह से या तो इन्हें कोई भी सज़ा न दी जाती थी या फिर इन्हें थोड़े से जुर्माने के साथ छोड़ दिया जाता था। फौजदारी मामलों में, जिनमें गोरे शरीक होते थे, न्याय की कोई आशा ही नहीं की जा सकती थी। सर हेनरी काटन की पुस्तक 'न्यू इण्डिया' का निम्न उद्धरण इस विषय पर बहुत प्रकाश डालता है:— "यदि किसी चाय के गोरे उत्पादक पर एक निस्सहाय कुली को नृशंसता से मारने का अभियोग लगाया जाता है तो उसका मुकदमा चाय के गोरे उत्पादकों की जूरी के सामने ही पेश होता है जिनका उसके पक्ष में होना स्वाभाविक है। पर यदि हाई कोर्ट के हस्तक्षेप की बदौलत अथवा किसी अन्य कारण से उस पर अभियोग साबित हो जाय तो गोरा लोकमत एक स्वर से उस निर्णय की निन्दा करता है, गोरे समाचार-पत्र इस आग में घी डालने का काम करते हैं, अभियुक्त के खर्चों को पूरा करने के लिये चन्दे दिये जाते हैं और प्रभावशाली व्यक्तियों की ओर से उसकी रिहाई के लिये सरकार को आवेदन-पत्र भेजे जाते हैं।" इस मनोवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम जातीय कटुता की भावना को बढ़ाना था जिसने राष्ट्रीयता के प्रसार में बहुत बड़ा काम किया।

(viii) **राजनीतिक कारण**:— यहाँ उन घटनाओं का वर्णन करना और शेष है जो गत शताब्दी के सातवें दशाब्द में हुईं और जिन्होंने १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की। सामूहिक रूप से इन्हें राष्ट्रीय जागृति के राजनीतिक कारण कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद सुरेन्द्रनाथ बनर्जी १८६९ में आई. सी. एस. की परीक्षा में सफल हुए किन्तु किसी टैकनिकल गलती के कारण एक दूसरे उम्मीदवार के साथ वह भी नौकरी में नहीं लिये गये। इस अन्याय ने भारत में, विशेषतः बंगाल में, लोगों के मन में बड़ा क्षोभ उत्पन्न किया। भारत के समाचारपत्रों तथा अनेक प्रसिद्ध एवं सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने इस कार्य की बड़ी निन्दा की। सुनवाई के लिये यह मामला क्वीन्स बेंच डिवीज़न में दिया गया; मामले का फैसला अस्वीकृत उम्मीदवारों के पक्ष में हुआ और वे सिविल सर्विस में ले लिये गये। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भारत वापिस आ गये और नवम्बर १८७१ में उनकी नियुक्ति मजिस्ट्रेट के पद पर हुई। लेकिन केवल दो वर्षों की नौकरी के बाद ही वह कुछ अभियोगों के कारण निकाल दिये गये। इस घटना के विषय में वे अपनी आत्म-कथा में लिखते हैं:— "मेरे मामले ने भारतीयों के मन में बड़ा क्षोभ उत्पन्न कर दिया और मेरे देशवासियों में साधारणतः यही विचार फैल गया कि यदि मैं भारतीय न होता तो मुझे वह सब परेशानियां न उठानी पड़तीं। उनकी दृष्टि में मेरा यही कसूर था कि मैं इण्डियन सिविल सर्विस में प्रविष्ट हो गया था जिसके भारतीयों से बचाव के लिये अंग्रेज़ सदा प्रयत्नशील रहते थे। कई सालों बाद एक लैफ्टीनेंट गवर्नर ने मुझे बताया कि यह सचमुच बेईमानी की कार्यवाही थी।"* यह ध्यान में रखना चाहिये कि महारानी विक्टोरिया की शाही घोषणा के बावजूद भी श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आई. सी. एस. में लिये जाने वाले दूसरे भारतीय थे। इसके बाद श्री अरविन्द घोष भी कुछ टैकनिकल कारणों से ही अस्वीकृत हुए थे। भारतीयों के प्रति ऐसे व्यवहार से लोगों में केवल क्षोभ की ही वृद्धि हुई। अपने निकाले जाने पर अपनी आत्म-कथा 'ए नेशन इन मेकिंग' में दिये गये श्री बनर्जी के विचार उद्धृत करने योग्य हैं। वे लिखते हैं:— "मैंने यह अनुभव किया कि मुझे यह सब मान-हानि केवल इसलिये सहनी पड़ी कि मैं भारतीय था, ऐसे लोगों के समूह का सदस्य था जिनमें एका नहीं था, जिनकी कोई सामूहिक आवाज़ नहीं थी और जिनकी अपनी सरकार की सभाओं में कोई सुनवाई न थी। युवावस्था की सभी उमंगों के साथ मैंने यह महसूस किया कि अपनी मातृभूमि में ही हम सब गुलाम, लकड़ी चीरने वाले तथा पानी भरने वाले बन गये थे। हमारे साथ व्यक्तिगत रूप से किया हुआ व्यवहार भारतीयों की असमर्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण था। क्या और लोगों को भी भविष्य में इसी प्रकार का अनुचित व्यवहार सहना पड़ेगा जैसा कि मुझे सहना पड़ा? मैंने अपने मन में कहा: हाँ अवश्य, जब तक हम लोग अपने अधिकारों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से रक्षा करने में समर्थ नहीं हो जाते। घोर अंधियारी, बरबादी तथा बदकिस्मती के क्षणों में मैंने अपने देशवासियों की इस दिशा में सहायता करने का विचार

* 'ए नेशन इन मेकिंग', पृष्ठ २९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया।"* श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बैरिस्ट्री पास करने दुबारा इङ्गलैंड गये। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने 'इण्डियन ऐसोसियेशन' नामक एक राजनीतिक संस्था की नींव डाली जिसका उद्देश्य पढ़े लिखे मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करना था। इस संस्था की स्थापना १८७६में हुई और यह शीघ्र ही पढ़े लिखे लोगों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधियों के कार्य का केन्द्र बन गई। भारतमंत्री ने इण्डियन सिविल सर्विस में, जिसकी परीक्षा इंग्लैण्ड में होती थी, सम्मिलित होने की आयु २१ से घटाकर १९ वर्ष कर दी और इस प्रकार उन्होंने इस इम्तिहान में भारतीय विद्यार्थियों का बैठना लगभग असम्भव कर दिया। इस प्रतिक्रियावादी कार्य से इस नये संघ को अपने कुछ आदर्शों की प्राप्ति का अवसर मिला। इसने एक राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। २४ मार्च, १८७७ में एक बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा की गई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को विभिन्न प्रान्तों में दौरा करने तथा बड़े शहरों में सभायें करने का कार्य सौंपा गया। उन्होंने लाहौर, अमृतसर, मेरठ, इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ, अलीगढ़ तथा बनारस का दौरा किया और भरी सभाओं में भाषण दिये तथा जहाँ कहीं भी सम्भव हुआ 'इंडियन ऐसोसियेशन' के साथ मिलकर काम करने वाली राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की। इस प्रकार संस्थाओं का एक जाल सा बिछ गया और साथ ही साथ सामूहिक प्रयत्न तथा कार्य की भी नीव पड़ गई। किसी ने सत्य कहा है कि प्रतिक्रियावादी शासक अपनी करतूतों से अक्सर बहुत बड़े बड़े जन आन्दोलनों को जन्म देते हैं। आयु की अवधि कम करने के विरोध में चलाये गये इस आन्दोलन से ही राष्ट्रीय चेतना, कार्य की एकता तथा उद्देश्य की दृढ़ता का सूत्रपात होता है। स्वयं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में इसने यह दिखला दिया कि 'जाति, भाषा, सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के विषय में हममें चाहे जो अन्तर हों, लेकिन राजनीतिक उद्देश्यों के लिये भारत के लोग एक होकर सम्मिलित रूप से प्रयत्न कर सकते हैं।'†

सिविल सर्विस परीक्षा के लिये उम्र की सीमा में कमी ही एक ऐसा कार्य नहीं था जिसने इण्डियन असोसियेशन को राष्ट्रव्यापी विरोध संगठित करने का अवसर दिया। गवर्नर-जनरल के रूप में लॉर्ड लिटन का शासन-काल ऐसे ही कार्यों से भरा था। उन्होंने महारानी विक्टोरिया के भारत की साम्राज्ञी होने के अवसर पर दिल्ली में एक दरबार किया। १८७७ में दरबार ऐसे समय पर हुआ जब देश के कुछ भागों पर भीषण अकाल की विभीषिका घूर रही थी। कलकत्ता के एक पत्रकार ने यह लिखा कि जब रोम में आग लग रही थी, नीरो बांसुरी बजा रहा था। फिर भी दरबार परोक्ष रूप से वरदान ही सिद्ध हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के, जो वहाँ पत्र-प्रतिनिधि की हैसियत से

* पृष्ठ ३२-३३। यह स्मरण रखना चाहिये कि सिविल सर्विस से निकाल दिये जाने के आधार पर मिडिल टैम्पिल की बैंच ने श्री बनर्जी को वकालत करने से भी रोक दिया था।

† 'ए नेशन इन मेकिंग', पृष्ठ ५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये थे, मन में यह आया कि यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रशंसा के लिये देश के राजाओं तथा अमीर उमरा को एकत्रित होने के लिये बाध्य किया जा सकता है तो देशवासियों को, न्यायसंगत ढंग से, स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिये क्यों नहीं संगठित किया जा सकता ?* इस विचार पर समाचारपत्रों तथा सभाओं मे वादविवाद हुआ; कुछ नेताओं के दिल में यह बात जम गई और अन्त में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई। इस प्रकार कभी कभी बुराई में से भी भलाई पैदा हो जाती है।

१८७८ का वरनाकुलर प्रैस अधिनियम और उसी वर्ष का इण्डियन आर्म्स अधिनियम— इन दो घृणास्पद अधिनियमों को पास करने का उत्तरदायित्व लॉर्ड लिटन पर ही है। १८३५ में सर चार्ल्स मेटकाफ की सरकार ने १७९९ से प्रैस पर लगे प्रतिबन्धों को हटा दिया और उसे पूरी स्वाधीनता दे दी। उस समय से देसी समाचारपत्रों ने शीघ्र उन्नति आरम्भ कर दी और १८७७ तक ब्रिटिश भारत में ६४४ समाचारपत्र हो गये जिनमें से अधिकतर देसी भाषाओं में निकलते थे। पढ़े लिखे लोगों में समाचारपत्रों के लिये रुचि पैदा हो चुकी थी और यहाँ तक कि निरक्षर लोग भी किसी अखबार वाले की दूकान या यों ही किसी साधारण दूकान पर बैठकर समाचार सुनने में आनन्द लेने लगे थे। सम्भव है इन समाचारपत्रों में से किसी ने सरकार की आलोचना करने में अपना संतुलन खो दिया हो लेकिन उनका भी युग के प्रवाह से सम्पर्क नहीं टूटा। लॉर्ड लिटन की सरकार प्रैस की शक्ति की इस उन्नति से घबरा उठी और १३ मार्च १८७८ को उसने भारत मन्त्री के पास एक तार भेजा जिसमें प्रैस के कार्यों को जो राज्य के विरुद्ध विद्रोह का रूप धारण करते जा रहे थे, रोकने के लिये एक क़ानून पास करने की अनुमति मांगी। अनुमति दूसरे ही दिन मिल गई और दो ही घन्टे के अन्दर वरनाकुलर प्रैस अधिनियम पास कर दिया गया। अधिनियम ने जो 'बन्धन' अधिनियम (Gagging Act) के नाम से प्रसिद्ध है सारे देश में विरोध का तूफान पैदा कर दिया, विशेषतः बंगाल में, जहाँ यह और अधिक कड़ाई के साथ लागू किया गया था। इसका विरोध करने के लिये कलकत्ते में एक विराट सभा की गई। इसके सम्बन्ध में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इस प्रकार लिखते हैं:— "कलकत्ते में अब तक हुई सभी सभाओं में यह सबसे अधिक सफल रही। इसने 'वरनाकुलर प्रैस अधिनियम' की मौत की घण्टी बजा दी और इससे भी महत्त्वपूर्ण चीज़ यह है कि इसने मध्यम वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति का भी परिचय दिया। मध्यम वर्ग अब अपने अधिकारों की रक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता था हालांकि धनिक वर्ग अभी भी ठंडा सा ही पड़ा था और सरकार स्पष्ट रूप से उनके विरुद्ध दबाव डाल रही थी। राष्ट्रीय विकास में सचमुच यह एक स्पष्ट एवं प्रगतिशील स्थिति थी और 'इण्डियन असोसियेशन'

* ए. सी. मजूमदार : 'इण्डियन नेशनल रिवोल्यूशन', पृष्ठ ३२—३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निर्माताओं ने ही इसकी सृष्टि की थी।"* इस अधिनियम के विरुद्ध आवाज़ बढ़ती ही गई और चार वर्ष बाद लॉर्ड रिपन को इसे रद कर देना पड़ा।

हथियार अधिनियम (आर्म्स एक्ट) जनता को कुचलने का दूसरा साधन था। राष्ट्रीय महासभा ने इसे रद करवाने का बार बार प्रयत्न किया लेकिन यह अब भी कानून की पुस्तक में दर्ज है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बावजूद भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके अनुसार बिना लायसेंस के हथियार रखना, लेकर चलना, या उनका व्यापार करना जुर्म है। इस अधिनियम के उपबन्धों (Provisions) को तोड़ने पर किसी न किसी रूप में भारी जुर्माना देना पड़ता है। इसकी सबसे बड़ी बुराई यह थी कि इसने जातिगत भेद-भाव पैदा किया। यूरोपियन, ऐंग्लो-इण्डियन तथा कुछ सरकारी अफसर इसके नियमों से बरी थे। इसने सारे राष्ट्र को पंगु बना दिया और किसी बाहरी हमले को रोकना लोगों के लिये असम्भव हो गया। अभी हाल ही में इसके कुछ उपबन्धों की सख्ती में कुछ ढील दी गई है।

देश में निराशा पैदा करने वाले लॉर्ड लिटन के मूर्खतापूर्ण कार्यों में एक काबुल पर बिना समझे बूझे आक्रमण भी था जिसके परिणामस्वरूप दूसरा अफगान युद्ध छिड़ा। इसके अतिरिक्त देश की 'वैज्ञानिक सीमा' निश्चित करने का महंगा परीक्षण और लंकाशायर को संतुष्ट करने के लिये रुई के निर्यात पर से कर उठा लेना भी इन्हीं मूर्खतापूर्ण कार्यों में सम्मिलित थे। इन तथा अन्य कार्यों के कारण 'लॉर्ड लिटन के शासन-काल की अन्तिम स्थिति क्रान्ति की सीमा पर पहुँच चुकी थी।'

(ix) अन्त में यहाँ यूरोप के अनेक देशों में चलने वाले उन राजनीतिक आन्दोलनों का जिक्र करना भी आवश्यक है जिन्होंने भारतीय नवयुवकों के दिमाग़ों पर गहरा असर छोड़ा। १८६१ और १८८४ के बीच जर्मनी, इटली, रूमानिया, सर्बिया और मान्टिनीग्रो का एकीकरण हुआ। इस काल में इङ्गलैण्ड में दूसरे और तीसरे सुधार अधिनियम (Reform Acts) पास हुए जिन्होंने ब्रिटिश संविधान को और अधिक लोकतन्त्रात्मक बना दिया। इसी समय फ्रांस में तृतीय गणराज्य (Third Republic) की स्थापना हुई। इटली और स्पेन में इसी समय वैधानिक राजतन्त्र क़ायम हुआ। गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप अमेरिका में गुलामों को मुक्त कर दिया गया। भारतीय शिक्षित वर्ग ने इन सब घटनाओं को बहुत गौर और दिलचस्पी से देखा और आशा की कि भारत भी इस प्रकार फायदे ले सकता है।

(x) **इलबर्ट बिल आन्दोलन** :— उपर्युक्त विविध घटनाओं ने निस्सन्देह देश के शिक्षित-मध्यम वर्ग में राजनीतिक चेतना जागृत की किन्तु ये सब कांग्रेस की स्थापना से बहुत साल पहिले हुईं। इनमें से कोई भी १८८५ की उस महत्त्वपूर्ण घटना के लिये

* 'ए नेशन इन मेकिंग', पृ० ६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तात्कालिक रूप से उतनी ज़िम्मेवार न थी जितनी कि भारत के यूरोपियनों द्वारा किया गया इलबर्ट बिल का संगठित विरोध।

उस समय विद्यमान क़ानून के अनुसार प्रेज़ीडेंसी शहरों के बाहर रहने वाले यूरोपियनों का मुक़दमा केवल यूरोपीय जज या मजिस्ट्रेट कर सकते थे। भारतीय मजिस्ट्रेटों को, उनका दर्जा चाहे जो हो, इन लोगों के मुक़दमे सुनने का अधिकार नहीं था हालांकि उनके अधीन काम करने वाले यूरोपीय न्यायाधिकारी ऐसा कर सकते थे। इंडियन सिविल सर्विस के भारतीय तथा यूरोपीय सदस्यों के बीच यह एक अनुचित भेद-भाव था। एक भारतीय आई० सी० एस० के प्रतिनिधित्व करने पर लॉर्ड रिपन की सरकार ने यह प्रश्न अपने हाथ में लिया और उनके क़ानून-सदस्य सर कर्टनी इलबर्ट ने १८८१ में व्यवस्थापिका सभा में इससे सम्बन्धित एक विधेयक (Bill) पेश किया। इसने भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियन अपराधियों के मुक़दमे सुनने का अधिकार दिया और इस प्रकार जाति तथा वर्ण भेद का अन्त कर दिया। लेकिन सरकारी तथा गैरसरकारी यूरोपीय वर्ग ने इस विधेयक का इतना विरोध किया कि उसे वापिस ले लेना पड़ा।* यूरोपियनों ने एक 'रक्षा संघ' की स्थापना की जिसका केन्द्र कलकत्ते में रक्खा गया और शाखायें देश के विभिन्न भागों में। साथ ही उन्होंने खर्च के लिये डेढ़ लाख रुपये भी इकट्ठा किये। भारतीयों के लिये यह एक अच्छा उदाहरण था जिनका बिल के प्रति समर्थन न तो पूर्णतया संगठित ही था और न शक्तिपूर्ण ही।

इलबर्ट बिल ने भारतीयों की आँखें खोल दीं। पहिले इसने यह स्पष्ट कर दिया कि जहाँ शासन करने वाली जाति के हित तथा स्वार्थ निहित हों वहाँ न्याय की आशा नहीं की जा सकती। दूसरे, इसने लोगों को संगठित विरोध की महत्ता बतला दी। लोगों ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक मामलों में आवश्यक वस्तु है संगठित तथा केन्द्रित प्रयत्न, न कि ध्येय की सत्यता तथा उपयुक्तता। उन्होंने "यह भी अनुभव किया कि यदि राजनीतिक प्रगति वांछनीय है तो यह केवल एक 'राष्ट्रीय सभा' (National Assembly) द्वारा ही सम्भव है। इस सभा का सम्बन्ध विभिन्न प्रान्तों की स्वतन्त्र राजनीति से न होकर देश की एक व्यापक राजनीति से ही होना चाहिये।"† यह विचार बम्बई, मद्रास, तथा बंगाल प्रेज़ीडेंसियों के कुछ विचारशील व्यक्तियों के मन में घर कर गया और उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक

---

* यहाँ हमारा विधेयक के और आगे विकास से सम्बन्ध नहीं है। इतना कह देना पर्याप्त है कि सरकार तथा यूरोपियनों के बीच हुए एक समझौते के परिणामस्वरूप भारतीय जजों व सैशन जजों को यूरोपियन अपराधियों के मुक़दमे सुनने का अधिकार मिल गया। पर यूरोपियनों को जूरी के ज़रिये अपने मुक़दमों के फैसले करवाने का हक़ था जिनमें से आधे सदस्यों का यूरोपियन होना आवश्यक था।

† ए० सी० मजूमदार कृत 'इण्डियन नेशनल रिवोल्यूशन', पृष्ठ ३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मामलों पर जनता के विचार जाग्रत तथा संगठित करने के लिये नये नये संघों की स्थापना की। यही संघ भारतीय राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) के जन्मदाता बने।

बंगाल के 'इंडियन असोसियेशन' ने १८८३ में कलकत्ते में एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। प्रान्त के अनेक गण्य मान्य लोगों ने इसमें भाग लिया। इसी सम्मेलन में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लोगों से देशसेवा के लिये एक एवं संगठित होने की अपील की। इस सम्मेलन ने एक ऐसा कार्यक्रम अपनाया जो दो वर्ष बाद कांग्रेस द्वारा अपनाये गये कार्यक्रम से बहुत मिलता जुलता था। अपने तीन दिन के अधिवेशन में इसके कार्यों में जो उत्साह और व्यग्रता रही वही बाद में कांग्रेस का एक सामान्य गुण बन गई। मद्रास में भी १८८४ में एक प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। बम्बई में भी जनवरी, १८८५ में 'बौम्बे प्रेज़ीडेंसी असोसियेशन' की स्थापना हुई जिसमें बदरुद्दीन तय्यब जी, फीरोज़शाह महता, के. टी. तैलंग तथा दिनशा एदुलजी वाचा जैसे व्यक्तियों ने भाग लिया। इस सम्बन्ध में इसका भी जिक्र कर देना आवश्यक है कि दिसम्बर १८८४ में थियोसोफिकल सोसायटी के अदयार-अधिवेशन की समाप्ति के बाद, देश के सभी भागों का प्रतिनिधित्व करने वाले १७ प्रमुख व्यक्ति मद्रास में दीवान बहादुर रघुनाथ राव के मकान पर एक दूसरे से मिले। उनका उद्देश्य था 'देश के सभी राजनीतिज्ञों को एकत्रित करने का उपाय तथा ढंग सोचना तथा देश की वर्तमान सरकार के तरीकों में सुधार करने के लिये एक राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भ करना जो भविष्य में देश को स्वराज्य की ओर ले चले।' उन्होंने अपने को 'एक छोटी समिति में आबद्ध करने का निश्चय किया जिसमें विभिन्न शहरों के लोग स्वयं अपनी अपनी जगह कार्य करके अन्य लोगों पर अपना प्रभाव डालते और साथ ही साथ आगामी विचार-विनिमय के लिये वे एकत्रित भी हो सकते।'*

कांग्रेस का जन्म :— जब विभिन्न प्रान्तों में ये संघ स्थापित हो रहे थे और प्रैस देश की जनता से एक उद्देश्य से प्रेरित होकर एक रंगमंच पर एकत्रित होने का अनुरोध कर रहा था, तो ए. ओ. ह्यूम ने जो सेवा-निवृत्त नागरिक थे, कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने उनसे देश-सेवा के लिये आगे आने की अपील की। श्री ए. सी. मजूमदार के कथनानुसार अपील व्यर्थ न गई; १८८४ के अन्त में इण्डियन नेशनल यूनियन की स्थापना हुई। १८८५ के मार्च में इस यूनियन ने बड़े दिन की छुट्टियों के अवसर पर पूना में देश के विभिन्न भागों के प्रतिनिधियों की एक सभा करने का निश्चय किया। इस सम्मेलन के दो उद्देश्य थे; सच्चे देशसेवियों का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ाना और आगे आने वाले वर्ष के लिये राजनीतिक कार्यों की रूपरेखा निश्चित करना। श्री ह्यूम को इसे संगठित करने तथा सभी सम्बन्धित बातें तय करने का काम सौंपा गया। अनेक दृष्टियों से श्री ह्यूम इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के

* एनी बिसेंट : 'हाऊ इण्डिया रॉट फार फ्रीडम', पृष्ठ १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये सबसे योग्य व्यक्ति थे। इण्डियन सिविल सर्विस का एक सेवा-निवृत्त सदस्य होने के नाते उन्हें सरकारी सहयोग तथा सहानुभूति भी मिली। वे इंग्लैण्ड भी गये और वहाँ उन्हें अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों का सहयोग मिला। सरकारी सहयोग मिल जाने के कारण कांग्रेस का भी श्रीगणेश अच्छा हुआ। सम्मेलन के कुछ दिन पहिले पूना में हैज़ा फैल गया; इस कारण यह उत्सव बम्बई में रक्खा गया, यद्यपि पूना के नागरिकों को इससे बड़ी निराशा हुई। सम्मेलन के प्रतिनिधि १८८५ की २७ दिसम्बर को बम्बई में सवेरे उतरे और दूसरे ही दिन से अधिवेशन प्रारम्भ हो गया। यह सम्मेलन भारतीय राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार 'लोकतन्त्र के भारतीय एवं ब्रिटिश समर्थकों के संयुक्त प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इस महान् राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ। इस कार्य में इन्हें प्रमुख प्रेरणा संकीर्ण राष्ट्रीय भावों से नहीं अपितु सत्य और न्याय के उदात्त विचारों के प्रति सच्ची लगन और भक्ति से मिली जिनके समर्थन को वे अपने देशों के लिये गौरव की बात मानते थे और जो पिछली शताब्दी में दोनों देशों के पारस्परिक सहयोग से किये गये कार्य का सुखद परिणाम थी।'* अपने विषम इतिहास में कांग्रेस ने सदा राष्ट्रीय भावों का प्रकाशन किया है और राष्ट्रीय मांग को सरकार के सामने रक्खा है। इसने सच्ची लगन और उत्साह के साथ देश की सेवा की है जिसने इसे भारतीयों का प्रेमपात्र बना दिया है और जिसके लिये इससे सम्बन्धित कोई भी व्यक्ति गर्व अनुभव कर सकता है।

कांग्रेस की स्थापना में ह्यूम का भाग :— १८८५ में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना और उसके विभिन्न कारणों के विवरण से यह स्पष्ट है कि इसका आविर्भाव भूकम्प या बर्फीले तोदों (Avalanche) की तरह एकाएक नहीं हुआ बल्कि यह धार्मिक सुधार आन्दोलनों और पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के परिणामस्वरूप पैदा हुई देशव्यापी चेतना का नतीजा थी। यह उन शक्तियों की पूर्ति थी जिन्हें स्वयं ब्रिटिश शासन ने पैदा किया था। इसका जन्म भारतीय एवं ब्रिटिश लोकतन्त्रवादियों के संयुक्त प्रयत्न का परिणाम था। यह बात तो आसानी से समझ में आ जाती है कि भारतीय राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय एकता की उन्नति तथा राजनीतिक चेतना के प्रसार के लिये एक राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करना चाहते थे। पर सिविल सर्विस का एक अवकाश-प्राप्त ब्रिटिश अफसर भी इसमें इतनी ही दिलचस्पी ले रहा था यह बात स्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। श्री ह्यूम ने जिन उद्देश्यों से प्रेरित होकर कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को खुला पत्र लिखा, यूनियन की स्थापना की और राष्ट्रीय महासभा की स्थापना से पूर्व और पश्चात् उसके लिये भारत और इंग्लैण्ड में सरकारी अफसरों और जनता की सहानुभूति को पाने का प्रयत्न किया, वे बहुत विवादास्पद हैं। श्री उमेशचन्द्र बनर्जी के अनुसार, जो राष्ट्रीय महासभा के प्रथम बम्बई अधिवेशन के सभापति थे, 'श्री ह्यूम का मुख्य उद्देश्य प्रमुख

* ज़करिया : 'रिनेसेंट इण्डिया', पृष्ठ ११४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय राजनीतिज्ञों को सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिये वर्ष में एक बार एकत्रित करना था। दूसरे शब्दों में महासभा एक सामाजिक सम्मेलन की तरह काम करने के इरादे से बनाई गई थी।'* पर यह सामाजिक सम्मेलन न रही और प्रारम्भ से ही इसने राजनीतिक संस्था के रूप में कार्य करना शुरू कर दिया। यह परिवर्तन कैसे हुआ ? कुछ लेखकों का विचार है कि स्वयं श्री ह्यूम के विचारों में परिवर्तन हुआ और उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में उल्टे जाने से बचाने के लिये इसे राजनीतिक संस्था का रूप दिया। वह भारतीय राजनीतिक आन्दोलन को वैधानिक प्रवाह में परिणत करना चाहते थे और भारतीय नेताओं ने, जो स्वयं आन्दोलन को वैधानिक आधार पर चलाना चाहते थे, इस कार्य में उन्हें बड़ी सहायता दी। इस विचार के प्रतिपादकों में लाला लाजपतराय भी एक थे। उन्होंने 'यंग इण्डिया' में लिखा कि 'राष्ट्रीय महासभा की स्थापना भारत के लिये राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये नहीं अपितु ब्रिटिश साम्राज्य को एक भारी खतरे से बचाने के लिये की गई थी।' इस विचार में सिर्फ आंशिक सचाई है। निस्सन्देह महासभा की स्थापना राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने के लिये नहीं की गई थी। इसका उद्देश्य व्यवस्थापिका सभाओं का विस्तार, उनमें भारतीय प्रतिनिधित्व की वृद्धि और इसी प्रकार के अन्य छोटे मोटे सुधार हासिल करना था। राष्ट्रीय स्वाधीनता का विचार उस जमाने में पैदा भी नहीं हुआ था। यह भी सत्य है कि महासभा ने इस समय अपने को वैधानिक प्रगतियों तक ही सीमित रक्खा और क्रांतिकारी असंतोष को बढ़ने से रोका। यह भी हमें स्वीकार करना होगा कि श्री ह्यूम या उस समय के अन्य किसी कांग्रेसी नेता के दिमाग़ में ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद का विचार भी उपस्थित न था। उनकी सुधारों की मांग का केवल मात्र ध्येय ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्ध को चिरस्थायी एवं लोकप्रिय बनाना था। लेकिन उस समय देश में क्रांतिकारी प्रगतियों का भी कोई खतरा न था। लॉर्ड लिटन के शासन काल में जो थोड़ी बहुत प्रवृत्तियाँ इस दिशा में पैदा हुई थीं वह लॉर्ड रिपन ने जिस चतुराई और सहानुभूतिपूर्ण रुख से स्थिति को संभाला उसके परिणामस्वरूप बिल्कुल दब चुकी थीं। इसके अतिरिक्त 'साम्राज्य के बचाव का यह विचार' इस बात का भी कोई स्पष्टीकरण नहीं करता कि जबकि प्रारम्भ के दो तीन वर्षों में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों का कांग्रेस के प्रति रुख बहुत सहानुभूतिपूर्ण रहा और उन्होंने सरकारी अफसरों को उसके अधिवेशनों में सम्मिलित होने और वादविवाद में भाग लेने की इजाज़त भी दी, तीन वर्ष बाद ही इसमें यकायक परिवर्तन क्यों आ गया। डाक्टर नन्दलाल चटर्जी का विचार जो उन्होंने अक्टूबर १९५० के माडर्न रिव्यू में 'क्या कांग्रेस रूसी भूत का परिणाम थी' नामक लेख में प्रकट किया है अधिक सन्तोषजनक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। वे लिखते हैं कि क्योंकि श्री ह्यूम ने भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना का विचार उस समय

* डाक्टर नन्दलाल चटर्जी : 'मॉडर्न रिव्यू', अक्टूबर १९५०, पृष्ठ २७२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश के सामने रक्खा जब रूस से हमले का ख़तरा था, यह स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य भारतीय आन्दोलन को ठीक दिशा में बदल देना और इस देश में रूसियों के हथकण्डों और शरारतों को रोकना था। संक्षेप में, कांग्रेस रूसी हथकण्डों के निवारण के लिये बनाई गई थी। यही कारण है कि जब रूसी हमले का खतरा समाप्त हो गया, भारत सरकार का इसके प्रति रुख भी यकायक बदल गया।

श्री ह्यूम के उद्देश्य और इरादे कुछ भी क्यों न रहे हों भारतीय राष्ट्रीय महासभा के निर्माण में उनके प्रयत्नों तथा संगठन शक्ति का बहुत बड़ा स्थान है। वे इसके प्रथम प्रमुख मन्त्री थे और १९१२ में अपनी मृत्यु तक इसका कार्य करते रहे। यह शीघ्र ही राष्ट्रीय जागृति का केन्द्र बन गई और इसने समस्त देशभक्तों को अपनी ओर आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया। इसका विकास मानो राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास हो गया और इसकी सफलता और असफलता मानो राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता और असफलता। इसलिये हम भारतीय राष्ट्रीयता की उत्पत्ति और विकास को समझने के लिये राष्ट्रीय महासभा के जन्म और विकास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। इस अध्याय में हम १८८५ से लेकर प्रथम महायुद्ध तक इसके इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे।

राष्ट्रीय महासभा का स्वरूप एवं उद्देश्य :— भारतीय राष्ट्रीय महासभा के स्वरूप, जिसे कुछ हल्कों में जानबूझ कर गलत समझा और चित्रित किया गया है, तथा उद्देश्यों का वर्णन, उनकी उत्पत्ति तथा विकास के अध्ययन के लिये सबसे अच्छी भूमिका होगी। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह एक राष्ट्रीय संस्था है, जातिगत, साम्प्रदायिक तथा किसी दल विशिष्ट की नहीं। यह राष्ट्रीय है क्योंकि यह सभी दलों तथा हितों का प्रतिनिधित्व करती है और समूचे भारतीय राष्ट्र की ओर से बोलने का दावा करती है। यह एक ऐसी संस्था है जो सामूहिक रूप से सब का प्रतिनिधित्व करती है। इसकी इस विशेषता के विकास में अनेक बातों का योग रहा है। कोई भी अकेला वर्ग या प्रान्त इस संस्था पर अपना अधिकार रखने का दावा नहीं कर सकता। १८८५ में इसके जन्म के बाद, विभिन्न जातियों तथा देश के सभी भागों के निवासियों ने इसके उस स्वरूप निर्माण में सहायता पहुँचाई है जो आज इसका है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, ईसाई, यूरोपियनों तथा आंग्ल-भारतीयों तक ने इसके विकास में सहायता पहुँचाई है। देश से प्रेम रखने वाले तथा उसके लिये कार्य करने एवं कष्ट सहने वाले सभी स्त्री पुरुष इसके सदस्य बन सकते हैं; इसमें जाति-पांति, वर्ण, धर्म आदि किसी भी चीज़ का बन्धन नहीं है। सब से पहिले ए. ओ. ह्यूम नामक एक अंग्रेज़ के मस्तिष्क में इसकी कल्पना आई थी; आदर के साथ उन्हें आज भी इसका पिता कहा जाता है। इसके बाल्यकाल में दो उदात्त-हृदय पारसियों— सर फिरोज़ शाह महता तथा दादाभाई नौरोजी— ने इसका पालन पोषण किया। इसके प्रारम्भ से ही बदरुद्दीन तय्यब जी जैसे मुसलमानों तथा उमेशचन्द्र बनर्जी जैसे प्रगतिशील बंगालियों की शुभ कामनायें इसे प्राप्त थीं। जिन व्यक्तियों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसकी कल्पना की तथा इसकी उत्पत्ति में सहायता पहुंचाई, वे विभिन्न जातियों के तथा देश के विभिन्न प्रान्तों के निवासी थे, लेकिन उनका दृष्टिकोण विस्तृत था, अखिल भारतवर्षीय था। राष्ट्रीय महासभा ने अपने इस अखिल भारतवर्षीय दृष्टिकोण को न कभी छोड़ा है और न कभी एक क्षण के लिये भी भुलाया है। पिछली आधी शताब्दी में जिन समस्याओं से इसका पाला पड़ा है उन्हें इसने इसी अखिल भारतवर्षीय दृष्टिकोण से देखा तथा सुलझाया है। इन समस्याओंके निराकरण में अविभाज्य भारत के कल्याण की भावना ने ही इसका पथ-प्रदर्शन किया है। इसने अपने निर्णय को साम्प्रदायिक, वर्गगत या प्रान्तीयता की भावना से आच्छादित नहीं होने दिया है। इसके वार्षिक अधिवेशनों का स्थान सदैव बदलता रहा है और यह स्थान चाहे जहाँ भी रहा है, देश के सभी भागों के प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया है और इसकी राष्ट्रीय विशेषताओं तथा दृष्टिकोण को सदा बनाये रक्खा है। इसका प्रारम्भ एक मध्यम-वर्ग की संस्था के रूप में हुआ लेकिन कुछ समय बाद ग्रामीण क्षेत्रों तथा मजदूर वर्ग के प्रतिनिधि भी इसमें भाग लेने लगे। इसके अधिवेशनों को शहरों से हटाकर गाँवों में करने के विचार को १९३७ में कार्य रूप में परिणत किया गया और इस प्रकार देश की विस्तृत सीमा से घिरे ७ लाख गाँवों की मूक तथा अधभूखी जनता का प्रतिनिधित्व करने का भी इसे अवसर मिला। जो इसे केवल हिन्दुओं या पूंजीपतियों, ज़मींदारों या किसानों की संस्था मानते हैं, या जो इसे मुस्लिम लीग या दलितवर्ग संघ की तरह देश की एक संस्था मानते हैं, उनके विचारों का कोई वास्तविक आधार नहीं है। यह सत्य है कि कुछ विशिष्ट व्यक्ति तथा इन व्यक्तियों द्वारा संचालित होने वाली कुछ संस्थायें राष्ट्रीय महासभा को सारे देश का प्रतिनिधित्व करने का गौरव नहीं देती थीं। लेकिन इससे कांग्रेस के दावे की वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं पड़ा। राष्ट्रीय महासभा ने केवल सेवा के अधिकार से ही सारे भारतीय राष्ट्र की ओर से बोलने का दावा किया है।

यद्यपि पिछली अर्धशताब्दी के अपने ऐतिहासिक जीवन में इसके राष्ट्रीय आकार में कोई अन्तर नहीं पड़ा है, फिर भी इसके उद्देश्य समय समय पर बदलते रहे हैं। साध्य के परिवर्तन के साथ साथ साधनों में भी परिवर्तन होता रहा है। प्रारम्भ में इसकी माँगें विनम्र थीं। राष्ट्रीय महत्त्वों के प्रश्नों पर जनता के विचारों का संगठन तथा वैधानिक रूप से भारतीयों की कठिनाइयाँ दूर करने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई उद्देश्य न था। श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने जो १८८५ में कांग्रेस के पहिले अधिवेशन के सभापति थे, अपने भाषण में कांग्रेस के निम्नलिखित उद्देश्य बतलाये :—

"(१) साम्राज्य के विभिन्न भागों में फैले सच्चे देशसेवियों का पारस्परिक सम्पर्क तथा उनकी प्रगाढ़ मैत्री।

(२) व्यक्तिगत मित्रता तथा मेलजोल के द्वारा देशप्रेमियों के बीच जातीयता, साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता की संकीर्ण भावनाओं का विनाश तथा राष्ट्रीय एकता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन भावनाओं का विकास तथा संगठन जिनकी उत्पत्ति सर्वप्रिय लॉर्ड रिपन के चिर-स्मरणीय शासन काल में हुई थी।

(३) समय की कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक सामाजिक समस्याओं पर पढ़े लिखे भारतीय वर्ग के विचारों का प्रामाणिक लेखा रखना।

(४) उन तरीकों पर विचार करना, जिनके अनुसार आगामी १२ महीनों तक देश के राजनीतिज्ञ जनहित के कार्य करेंगे।"

अपने जीवन के प्रारम्भिक कुछ वर्षों तक कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों के प्रस्तावों को निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होगा कि वह विनम्र भाषा में देश के शासन में थोड़ा बहुत सुधार चाहती थी। व्यवस्थापिका सभाओं में सुधार करना इसका एक प्रमुख उद्देश्य था। १८९० में इसने एक प्रतिनिधि-मंडल इंग्लैण्ड भेजा था जिसका उद्देश्य था कांग्रेस के विचारों का प्रतिनिधित्व तथा इसके द्वारा सुझाये गये राजनीतिक सुधारों का अंग्रेज़ जनता के सामने स्पष्टीकरण। अपने इस वर्ष के प्रस्ताव में कांग्रेस ने जिस राजनीतिक सुधार का जिक्र किया था वह था व्यवस्थापिका सभाओं का लोकतन्त्रात्मक ढंग पर पुनर्निर्माण। कांग्रेस का कहना था कि व्यवस्थापिका सभाओं में ५० प्रतिशत चुने लोग रहने चाहियें और जनता के प्रतिनिधियों को और अधिकार मिलने चाहियें। कांग्रेस ने स्थानीय धारासभाओं तथा बड़ी धारासभा के लिये अप्रत्यक्ष चुनाव तथा इन विस्तारित सभाओं के निर्णयों को सरकार द्वारा रद कर सकने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कांग्रेस की मांगें बहुत हल्की थीं। ऐसा था तो कोई आश्चर्य नहीं है। अभी कांग्रेस का बचपन था और उसमें आत्मनिर्भरता तथा दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने की शक्ति नहीं आई थी। वाम पक्ष के उदय तथा प्रभाव के बाद ही उसमें यह विश्वास तथा शक्ति आई। इसके बाद उसने प्रार्थनापूर्ण रुख़, तथा राजनैतिक क्षेत्र में भिक्षावृत्ति की नीति छोड़ दी और स्वराज को यह अपना अधिकार समझने लगी। इसे लोकमान्य तिलक जैसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जिन्होंने प्रभावशाली ढंग से यह घोषित किया कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै इसे लेकर रहूँगा।' १९०६ के पहिले कांग्रेस रंगमंच से 'स्वराज' शब्द नहीं कहा गया था। 'भारत के वयोवृद्ध महान् नेता' दादाभाई नौरोजी ने सभापति पद से भाषण करते हुए इस वर्ष कहा, 'कांग्रेस का उद्देश्य संयुक्त राज्य तथा उपनिवेशों की भांति ही स्वशासन या स्वराज्य प्राप्त करना है।' लेकिन स्वराज्य की घोषणा कर देने से ही कांग्रेस के कार्य करने के ढंग में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ब्रिटिश राष्ट्र की सच्चाई तथा न्याय पर इसका विश्वास बना रहा और इसे यह आशा थी कि भारतीयों की इच्छाओं तथा देश की परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान होने पर अंग्रेज़ सरकार समय की पुकार के अनुसार कार्य करेगी, देश में जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापना होगी और भारतीय हितों के अनुसार यहाँ के लोगों को स्व-शासन का अधिकार मिलेगा। दादाभाई की प्रसिद्ध घोषणा के बहुत बाद तक यह आशा तथा विश्वास कांग्रेसी प्रस्तावों तथा भाषणों का आधार बना रहा। महात्मा गाँधी के आगमन तथा अमृतसर की दुःखद घटना के बाद ही कांग्रेस ने अपना ढंग बदला। इसने सरकार के समक्ष अपनी मांगों को प्रस्तुत करने का पुराना तरीका छोड़ दिया और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनी शक्ति पर अवलम्बित होना सीखा। इसने एक देशव्यापी संगठन बनाया, जनता में राजनीतिक प्रचार प्रारम्भ किया और सक्रिय विरोध (direct action) के अनेक प्रदर्शन किये। कुछ समय पश्चात् इसका ध्येय बना पूरी आत्म-निर्भरता या पूर्ण स्वराज्य और ढंग निश्चित हुआ अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा। इस प्रकार कांग्रेस के साध्य तथा साधनों में महत्वपूर्ण तथा मौलिक परिवर्तन हुए।

उग्रवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव :— भारतीय राष्ट्रीय महासभा के स्वरूप के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि इसकी प्रगतियों के प्रथम काल में अधिकांश कांग्रेसी नेता सुधारों को प्राप्त करने और अपनी तकलीफों को दूर कराने के लिये वैधानिक अथवा कानूनी साधनों में विश्वास करते थे। वे पाश्चात्य शिक्षा की पैदाइश थे और ब्रिटिश उदारतावाद उनके रोम रोम में व्याप्त था। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में उनकी अंग्रेज़ों की न्याय-प्रियता, सच्चाई और नैतिक विश्वास की क्षमता में अटल निष्ठा थी। उनकी धारणा थी कि यदि ब्रिटिश जनता और संसद को यह विश्वास हो जावे कि भारतीयों की सुधारों की मांग न्यायपूर्ण और युक्तिसम्मत है, तो वे उन्हें अवश्य मान लेंगे। इसलिये जिस बात की आवश्यकता थी वह यह थी कि एक स्पष्ट वक्तव्य प्रकाशित किया जाय जिसमें अकाट्य युक्तियों के द्वारा इस माँग का समर्थन हो। यह सम्भव था कि उन्हें एक या दो बार इस कार्य में सफलता न मिलती, पर यदि वे अपने प्रयत्नों में लगे रहते तो अन्त में विजय उनकी थी। वैधानिक मार्ग का यह सार है; इसका विश्वास है कि कानूनी उपायों के द्वारा ही उन्नति की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के पास कदाचित् और दूसरा कोई मार्ग ही न था। इसने जन-आन्दोलन का रूप नहीं धारण किया और इसकी मांगों को जनता का समर्थन भी प्राप्त न था।

लेकिन इसी समय भारत और विदेशों में कुछ ऐसी घटनायें घटीं और कुछ ऐसी नई शक्तियों ने जन्म लिया जिन्होंने भारतीय नवयुवकों के दृष्टिकोण और मनोवृत्ति में युगान्तर पैदा कर दिया। इन्होंने वैधानिक उपायों के औचित्य और उपादेयता के बारे में सन्देहात्मक प्रश्न पूछने शुरु किये। इस प्रकार मौजूदा शताब्दी के प्रारम्भ में काँग्रेस में एक नये दल का प्रादुर्भाव हुआ जिसने पुराने नेताओं की विचारधारा और ढंगों को तिरस्कृत कर अधिक स्वतन्त्र और स्वावलम्बी उपाय को अपनाने पर ज़ोर दिया। बाल गंगाधर तिलक, लाजपतराय और बिपिनचन्द्र पाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दल के नेता थे। नरम दल के विपरीत, जो अब तक कांग्रेस का नेतृत्व कर रहा था, इसका नाम गरम दल पड़ा। कांग्रेस की विचारधारा और कार्य के ढंगों पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। अतः जिन घटनाओं ने इस दल का निर्माण किया उनका अध्ययन भी आवश्यक है।

(i) १८९२ के कौंसिल अधिनियम ने देश को जो सुधार दिये थे, वे बहुत अपर्याप्त थे और जन-साधारण उनकी सफलताओं से सन्तुष्ट नहीं थे। यद्यपि बंगाल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और बम्बई में फीरोज़शाह मेहता जैसे पुराने कांग्रेसी नेताओं ने बहुत चौकन्ने होकर काम किया और व्यवस्थापिका सभाओं के दायरे से सम्बन्धित सभी कार्यों की कड़ी समालोचना की, अधिनियम की वास्तविक सफलतायें बहुत अकिंचन थीं।

१८९२ से १९०७ तक राष्ट्रीय महासभा केवल प्रस्ताव पास करती रही जिनका उद्देश्य था व्यवस्थापिका सभाओं का विस्तार तथा सुधार, न्यायपालिका का कार्यपालिका से सम्बन्ध विच्छेद, सिविल सर्विस के लिये भारत तथा इंग्लैण्ड में साथ साथ परीक्षा, फौजी खर्चों में कमी, ऊँची सरकारी नौकरियों में भारतीयों के लिये और अधिक स्थान, गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद तथा 'इण्डिया कौंसिल' में भारतीयों का प्रवेश, शासन के खर्च में कमी तथा भारतीयों के कर-भार में कमी। पर इन प्रस्तावों का यहाँ तथा इंग्लैण्ड की सरकार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। कांग्रेस की मांगों पर भारत सरकार ने कोई ध्यान ही न दिया। दूसरी तरफ व्यवस्थापिका सभाओं के भारतीय प्रतिनिधि सरकार को मनचाहा करने से नहीं रोक सके। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों, न्याय के नियमों और भारतीय लोकमत के विरुद्ध भारत सरकार ने इसी समय लंकाशायर के सूती माल पर लगे आयात कर के प्रभाव को विनष्ट करने के लिये भारत में बनने वाले कपड़े पर एक आन्तरिक कर (Excise Duty) लगा दिया। और न सरकार को कठोर दमन की नीति को अपनाने से रोका जा सका। सरकार से अपनी मांगों का समुचित उत्तर न पाकर कांग्रेस का युवक-वर्ग अधीर हो उठा। उन्होंने प्रस्ताव प्रस्तुत करने के ढंग पर, जिसे वे भीख मांगने का ढंग कहते थे, अविश्वास प्रकट करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अनुभव किया कि 'इस ढंग से तो देश का विकास कुछ सालों में नहीं प्रत्युत सदियों में हो पायगा' और आश्चर्य के साथ पूछा कि 'क्या क्रान्तिकारी साधन हमारे कार्य को अपेक्षाकृत शीघ्रता और महानता के साथ सम्पन्न नहीं कर सकते?'* विदेशों में होने वाली घटनाओं ने इस विद्रोह की आग में घी का काम किया। उनका अंग्रेज़ों की न्याय-प्रियता और ईमानदारी में विश्वास नहीं रहा और उनमें से कुछ क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के समर्थक बन गये।

(ii) १८९६-९७ में एक बड़ा ही भयंकर अकाल पड़ा जिसका प्रभाव क्षेत्र

* ज़करिया, पृष्ठ १२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७०,००० वर्ग मील था। दो करोड़ लोग इसके शिकार हुए। सरकार का सहायता कार्य बहुत अपर्याप्त था और जो भी कुछ काम हुआ था वह बहुत धीरे धीरे और अव्यवस्थित ढंग से हुआ था। देश में एक मुसीबत सी छा गई। इस मुसीबत के साथ साथ गिल्टियों वाला प्लेग भी बहुत ज़ोर के साथ फैला जिसने बम्बई प्रेज़ीडेन्सी के पश्चिमीय भाग में तहलका सा मचा दिया। इस महामारी का सामना करने के लिये बम्बई सरकार ने जिन उपायों का प्रयोग किया उनसे जनता में बहुत क्षोभ और असन्तोष फैला। अकाल-पीड़ितों की सहायता और प्लेग-निवारण सम्बन्धी सरकारी व्यवस्थाओं का सबसे बड़ा दोष यह था कि इनमें सारा काम सरकारी अफसरों पर छोड़ दिया गया था। ये अफसर विदेशी थे अतः उतने उत्साह, लगन, तथा स्वार्थहीनता से काम नहीं करते थे जितना ग़ैरसरकारी भारतीय संस्थायें कर सकती थीं। देशवासियों ने लाखों आदमियों को भूख और प्लेग से मरते देखा, पर वह विवश थे।

(iii) पूना के अप्रिय प्लेग कमिश्नर श्री रैन्ड के विरुद्ध जनता में इतना भारी क्षोभ एवं असन्तोष था तथा समाचारपत्रों में, विशेषतः लोकमान्य तिलक द्वारा सम्पादित 'केसरी' में, उनके कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना हुई कि दंगा शुरू हो गया और एक भावुक नवयुवक ने श्री रैन्ड और उनके साथी लैफ्टिनेंट एयर्स्ट को गोली से मार दिया। इस पर सरकार ने महाराष्ट्र में दमन प्रारम्भ कर दिया। श्री तिलक पर भाषणों तथा लेखों द्वारा रैन्ड और एयर्स्ट के हत्यारों को इस घृणित कार्य के लिये उकसाने का अभियोग लगाया गया और १८ मास की सज़ा दी गई। उन्हें प्रिवी कौंसिल में अपील करने की अनुमति नहीं मिली। इस भारी सज़ा और इसके विरुद्ध अपील करने की भी मनाही ने देश में मानो क्रोध और विक्षोभ का एक तूफान सा खड़ा कर दिया। इस घटना पर मद्रास के 'हिन्दू' नामक पत्र की टिप्पणी बहुत महत्त्वपूर्ण और उद्धरणीय है। इसने लिखा : 'पिछले चालीस वर्षों में बम्बई सरकार की हाल की करतूतों से बढ़कर ऐसी कोई घटना नहीं घटी जिसने लोगों को अपनी असहाय दशा तथा राजनीतिक पराधीनता की कटुता का बोध कराया हो।'*

(iv) इन सबसे बढ़कर लार्ड कर्ज़न की सरकार की प्रतिक्रियात्मक नीति थी। उनका सात वर्षों का शासन काल 'मिशन, ओमिशन और कमीशन' से भरा पड़ा था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इस दूत ने जाग्रत भारत की समस्त आकांक्षाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को पैर तले रौंद डाला। उसकी सीमा-नीति तथा लासा को प्रतिनिधि मण्डल भेजने की कड़ी आलोचना हुई। १९०४ के आफिशियल सीक्रेट अधिनियम, कलकत्ता कारपोरेशन अधिनियम और भारत विश्वविद्यालय अधिनियम, जो इन संस्थाओं पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित करने के लिये बनाये गये थे, युग की पुकार के विपरीत थे, अतः इनकी व्यापक आलोचना हुई। १९०२ के शाही दरबार ने, जो १८९९-१९०१

* 'दी राइज़ एण्ड ग्रोथ आफ दी कांग्रेस' में श्री एण्ड्रूज द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भयंकर दुर्भिक्ष के तत्काल बाद और भारतीय लोकमत के विरुद्ध हुआ, देश में बहुत अशान्ति पैदा की। 'भूख से मरती हुई जनता के लिये यह एक शानदार तमाशा था।' इससे भी बढ़कर ज्यादती तो यह थी कि लॉर्ड कर्ज़न ने भारतीयों को ऊँचे सरकारी पदों के अयोग्य बताया और पढ़े लिखे लोगों पर बेईमानी का लाञ्छन लगाया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त अभिभाषण में उन्होंने निम्नलिखित शब्द कहे: 'इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व में आदर पाने से कहीं पहिले सत्य को पश्चिम में कहीं ऊँचा स्थान मिला था। पूर्व में तो धूर्तता तथा कूटनीति सम्बन्धी चालाकियों का सदैव आदर हुआ है।' भारतीय चरित्र के सम्बन्ध में इस अन्यायपूर्ण तथा झूठे कथन का लोगों ने कड़ा विरोध किया और भारतीय पत्रों ने भी इसका उत्तर प्रकाशित किया।

(v) यही नहीं, लॉर्ड कर्ज़न के शासन-काल का सबसे मूर्खतापूर्ण तथा निकृष्ट कार्य तो अभी शेष था और वह था बंगाल का विभाजन। यह बंगालियों की इच्छा के विरुद्ध और अशुभ घड़ी में उन पर लादा गया। '१९०४ में तुशिमा की लड़ाई में एशिया के एक पिद्दे से मुल्क जापान ने संसार के एक महान् राष्ट्र रूस को, जिससे इंग्लैण्ड भी एक लम्बे अरसे से घबराता रहा था, शिकस्त दी। जापान की इस भारी विजय ने भारत में कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक एक बिजली सी दौड़ा दी। यह पूर्व और पश्चिम के सम्बन्धों में एक युगान्तरकारी समय था।'*

बंगाल और भारत में विभाजन के विरुद्ध दो चीजों ने लोकमत को भड़काया। शिक्षित वर्ग का विश्वास था कि प्रांत का विभाजन बंगाल की बढ़ती राष्ट्रीयता के विनाश और वहाँ के हिन्दू और मुसलमानों में फूट पैदा करने के घृणित उद्देश्य से किया गया था। 'प्रयोजन और प्रभाव की दृष्टि से यह स्पष्ट रूप से मैकियावैली की नीति का अनुसरण था।'† लार्ड कर्ज़न ने पूर्वी बंगाल का दौरा किया, मुसलमानों की बड़ी बड़ी सभाओं में भाषण दिये और उन्हें समझाया कि बंगाल के विभाजन का उद्देश्य शासन के भार को हल्का करना ही नहीं अपितु एक ऐसे मुस्लिम प्रान्त का निर्माण है जहाँ इस्लाम और उसके अनुयायी प्रधानता में रहें। दौरे में ही कर्जन को यह भी बताया गया कि बंगाली इस विभाजन के कितने विरुद्ध हैं। सारे बंगाल में सार्वजनिक सभाएँ हुईं जिनमें विभाजन के घृणित सरकारी उद्देश्य की निन्दा की गई। इसी आशय के आवेदनपत्र भी कर्जन को भेजे गये। ६०,००० आदमियों के हस्ताक्षर से एक प्रार्थनापत्र भारत मंत्री को भेजा गया जिसमें इस दुष्टतापूर्ण प्रस्ताव को स्वीकृति न देने का अनुरोध किया गया। पर इस सब का कुछ परिणाम न निकला। वायसराय अपना अन्तिम निर्णय कर चुका था और सरकारी कर्मचारी उससे पूर्णतया सहमत थे। लॉर्ड कर्ज़न ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसे जनता का विरोध अपने रास्ते से डगमगा देता। इतना ही नहीं

* ज़करिया, पृष्ठ १३९

† ज़करिया, पृष्ठ १४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने विरोध को यह कह कर कि यह कुछ आन्दोलकों द्वारा पैदा किया गया है, जले पर नमक छिड़कने का काम किया। लोकमत की इस महान् अवहेलना ने लोगों को विक्षुब्ध कर दिया और उन्होंने इस अपमान और बेइज्ज़ती को सहन न करने का निश्चय किया। उन्होंने अनुभव किया कि मानो उन्हें एक चुनौती दी गई है जिसे उन्होंने स्वीकार किया तथा निश्चय किया कि वह तब तक चैन से न बैठेंगे जब तक कि इस दुष्टतापूर्ण कार्य को रद न करवा देंगे।

लॉर्ड कर्ज़न ने लोकमत का जिस प्रकार घोर अपमान किया उससे जनसाधारण को विश्वास हो गया कि सभाओं में केवल प्रस्ताव पास करने से काम न चलेगा। किसी एक ऐसी शक्तिशाली चीज़ की आवश्यकता थी जिसका उस साम्राज्यवादी पर कुछ प्रभाव पड़ सकता। किसी ने ब्रिटिश माल के बहिष्कार का विचार सामने रक्खा। यह विचार स्वदेशी की भावना के ही अनुकूल था जो भारतीयों के हृदयों में काफी घर कर चुकी थी। इसलिये इसे अपना लिया गया। लोगों को यह प्रतिज्ञा करने का आदेश दिया गया कि जब तक विभाजन हटा न लिया जाय तब तक वे ब्रिटिश माल न खरीदें। प्रतिज्ञा का उद्देश्य ब्रिटिश लोकमत द्वारा भारतीय मामलों के प्रति दिखाई गई उपेक्षा तथा मौजूदा सरकार द्वारा भारतीय लोकमत की अवहेलना का विरोध भी था। इस आन्दोलन को बड़ी सफलता मिली; बूढ़े, जवान, मर्द-औरत सभी ने इसमें योग दिया। विद्यार्थियों ने तब तक परीक्षापत्रों का उत्तर लिखने से इन्कार कर दिया जब तक उन्हे स्वदेशी काग़ज़ न मिले। यहां तक कि लड़कियों ने विदेशी उपहार लेना अस्वीकार कर दिया। आन्दोलन की सफलता ने नौकरशाही के छक्के छुड़ा दिये, जिसने इसके दमन के अनेक उपाय किये। पर इन दमनकारी उपायों ने जनता के विरोध को और भी उग्र बना दिया और अशान्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। सरकार की इस दमन नीति के परिणामस्वरूप ही आतंकवादी आन्दोलन का जन्म हुआ। यह बहुत तीव्र गति से बढ़ा। पुलिस की निर्दयता का उत्तर षड्यन्त्रकारियों ने अपने हिंसात्मक कार्यों से देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार भारत के राजनीतिक क्षितिज पर एक नया दृश्य दृष्टिगोचर हुआ।

(vi) अपने १९०४ के अधिवेशन में कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किये जिनका उद्देश्य शिक्षा तथा कलकत्ता कारपोरेशन के सरकारीकरण के प्रयत्नों का विरोध करना था। उस वर्ष के सभापति सर हेनरी काटन की अध्यक्षता में उसने वायसराय के पास एक प्रतिनिधि मण्डल भेजने का भी निश्चय किया। लॉर्ड कर्ज़न ने इस शिष्ट मण्डल से मिलना अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस ने इसमें अपना अपमान समझा और गोपालकृष्ण गोखले तथा लाला लाजपतराय को इंग्लैण्ड भेजा। वहाँ से लौटने पर लाला लाजपतराय ने देशवासियों को बताया कि 'अंग्रेज़ी जनतन्त्र स्वयं अपने कामों में इतना संलग्न है कि वह भारत के लिये कुछ नहीं कर सकता, न ब्रिटिश पत्र ही भारतीय आकांक्षाओं का समर्थन करना चाहते हैं। इंग्लैण्ड में सुनवाई कठिन है। वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंग्ल-भारतीयों का असर और साख इतनी अधिक है कि इंग्लैण्ड में कांग्रेस द्वारा संगठित आन्दोलन इसका मुकाबला नहीं कर सकता।'* संक्षेप में लाला लाजपतराय ने अपने देशवासियों को अपने ही पैरों पर खड़े होने तथा अपनी ही कोशिशों पर भरोसा रखने का आदेश दिया।

(vii) भारत के बाहर भी कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिन्होंने नई पीढ़ी के दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव डाला और उग्र विचारधारा को पनपने में बहुत मदद दी। अंग्रेजी उपनिवेशों, विशेषतः दक्षिणी अफ्रीका में, भारतीयों के साथ जो भेदभावपूर्ण और अपमान-जनक व्यवहार किया गया उससे भारत में भारी असन्तोष और विक्षोभ फैला। इसने अंग्रेज़-विरोधी भावना को, जो जनता के युवक वर्ग में तेज़ी से फैल रही थी, बहुत तीव्र कर दिया। १८९६ में अबिसीनियन फौजों द्वारा इटालियन फौजों की पराजय ने भी हिन्दुस्तानियों के हौसले बहुत बढ़ाये। मिश्र, फारस और अन्य देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भी भारतीयों में नया जीवन भरा। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण घटना जिसने समस्त एशिया पर भारी प्रभाव डाला, उसमें एक बिजली सी दौड़ा दी और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता को एक सबल प्रेरणा दी, १९०४ में रूस की भारी शिकस्त थी जो उसे जापान के हाथों मिली। अपनी पुस्तक 'न्यू इंडिया' में सर हेनरी काटन जापान की विजय के बारे में लिखते हैं: 'सबसे बढ़कर जापान है। पूर्वी द्वीपसमूह के बाशिन्दों के चरित्र से कितनी प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है? राष्ट्रप्रेम की भावना की शक्ति का कौनसा उदाहरण उन्होंने पूर्व के सामने नहीं पेश किया? इस उदाहरण को भारत ने वृथा नहीं जाने दिया।' युवक भारत ने सोचना शुरू किया: 'क्या हम भी भविष्य में कभी ग्रेट ब्रिटेन को चुनौती देने योग्य नहीं हो सकते?'

उग्र दल:— उपरोक्त घटनाओं ने भारतीय राजनीति में युगान्तर पैदा कर दिया। इनके परिणामस्वरूप देश में उग्र राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। इसकी अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई। इसका प्रथम प्रकाशन तो राष्ट्रीय महासभा में गरम दल के निर्माण के रूप में हुआ और दूसरा देशव्यापी आतंकवादी तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में। यहाँ पहिले हम गरम दल पर कुछ लिखेंगे और उसके बाद आतंकवाद के जन्म पर रोशनी डालेंगे।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है गरम दल का प्रादुर्भाव बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और बिपिनचन्द्र पाल के नेतृत्व में हुआ था। यहाँ काँग्रेस के पुराने और नये दलों के मतभेदों को समझना भी आवश्यक प्रतीत होता है। मतभेद का आधार विचारात्मक न होकर स्वभावात्मक था। इसका सम्बन्ध कांग्रेस के उद्देश्य की अपेक्षा, जो दादाभाई नौरोजी के समय से 'स्वराज्य' घोषित किया जा चुका था, साधनों से ज्यादा

* यंग इंडिया: गुरुमुख निहालसिंह द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २९४-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था जिनसे इसे हासिल किया जाना था। गोपाल कृष्ण गोखले ने, जो भारत के सर्वोत्तम और योग्यतम सुपुत्रों में से एक थे और नरम दल के लिये शक्ति के स्तम्भ थे, १९०९ में एक सभा में भाषण देते हुए नरम दल और गरम दल के मतभेदों के विषय में निम्न शब्द कहे : "हमारा पुराना सार्वजनिक जीवन ब्रिटिश राज की खुली और सच्ची स्वीकृति पर आश्रित था। इसका मुख्य कारण हमारा यह विश्वास था कि ब्रिटिश राज ही भारत में शान्ति एवं व्यवस्था को कायम रख सकता है जो देश के विभिन्न तत्त्वों में से राष्ट्र के विकास और उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के लिये अत्यावश्यक है। नया दल ब्रिटिश सरकार में आस्था को निरा बचपन और उसके मातहत वास्तविक उन्नति की आशा को कोरा स्वप्न बताकर उसकी निन्दा करता है।" अंग्रेजों की न्यायप्रियता और सच्चाई में विश्वास रखने के कारण कांग्रेस के पुराने नेता क़ानूनी और वैधानिक आन्दोलन के उपाय पर दृढ़ रहे। इन्होंने धैर्य रखने की सलाह दी और धीमे धीमे मिले सुधारों को ही अच्छा बताया। यह ब्रिटिश राज की न्यामतों की तारीफ करते हुए नहीं अघाते थे और इंग्लैण्ड और भारत के सम्बन्धों को घनिष्ठ चिरस्थायी बनाने के पक्ष में थे। 'नरम दल के सदस्यों का विश्वास है कि भारत के साथ इंग्लैण्ड का सम्बन्ध ऊँचे और शानदार उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये ईश्वरीय देन है।'* कांग्रेस के नये नेताओं का अंग्रेज़ों की न्यायप्रियता और सच्चाई में विश्वास नहीं रहा था। इनकी धारणा थी कि राजनीति में परोपकार और दया का कोई स्थान नहीं है। इसलिये इन्होंने प्रतिनिधि-मंडल भेजने और अपनी मांगों को प्रार्थनापूर्ण शब्दों में सरकार के सामने प्रस्तुत करने के ढंग को बेकार और अनुपयुक्त बताकर छोड़ दिया। इन्होंने ब्रिटिश उदारता पर निर्भर रहने के बदले आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्र कार्यों पर निर्भर रहने की सलाह दी। इन्होंने विदेशी के बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं के अपनाने और राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना पर विशेष ज़ोर दिया। लाला लाजपतराय ने नवीन नेतृत्व की भावना और मनोवृत्ति को निम्न शब्दों में प्रकट किया : 'भारतीयों को अब भिखारी बने रहने में ही सन्तोष न होना चाहिये और न उन्हें अंग्रेज़ों की कृपा पाने के लिये गिड़गिड़ाना ही चाहिये। यदि उन्हें अपने देश का वास्तव में ख्याल है तो उन्हें स्वयं उन पर हमला करना होगा।' लोकमान्य तिलक का यह नारा 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' भी इसी स्वावलम्बन की नई भावना का द्योतक है। जहाँ पुराना दल उन सब कार्यों के विरुद्ध था जो सरकार के साथ संघर्ष पैदा करते, नवीन दल ने निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) का समर्थन किया। यह महान् कष्ट का मार्ग था जिसमें जेल जाने का जोखिम भी शामिल था। वे लोग जो विदेशी राज के अपमान को बहुत महसूस करते थे और शासक जाति के अभिमान का मुँहतोड़ जवाब देना चाहते थे, इससे बहुत प्रभावित हुए। ध्यान देने योग्य बात है कि जब कि दादाभाई, गोखले, फिरोजशाह महता और आनन्दमोहन बोस

---

* सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : 'ए नेशन इन दी मेकिंग', पृष्ठ ३३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे नेताओं को अपनी देशभक्ति के लिये कोई तकलीफ नहीं उठानी पड़ी, तिलक और लाला लाजपतराय जैसे उग्रवादी नेताओं को अनेक बार जेल की यातनायें सहनी पड़ीं। इस प्रकार नये और पुराने दलों का मतभेद काफी गहरा और मौलिक था। पुराने नेताओं के नरम विचारों को उग्रवादी खुल्लमखुल्ला घृणा की दृष्टि से देखते थे। सूरत में इस मतभेद ने एक भारी संकट पैदा कर दिया जब कांग्रेस में प्रसिद्ध फूट हुई। १९०८ के कांग्रेस के नये विधान के अनुसार गरम दल के सदस्यों को कांग्रेस की सदस्यता से निकाल दिया गया और १९१६ तक इस पर नरम दल का ही प्रभुत्व रहा जबकि गरम दल फिर इसमें आकर मिल गया। भारत सरकार ने भी अनेक उग्रवादी नेताओं को गिरफ्तार करके बगैर मुकदमे के देशनिर्वासन देकर तथा तरह तरह की सज़ा देकर माडरेटों की काफी मदद की।

आतंकवादी आन्दोलन :— आतंकवादी आन्दोलन का भारत की वैधानिक प्रगति एवं राष्ट्रीयता के विकास पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, अतः हम इसका संक्षेप ही में वर्णन करेंगे। उग्रवादी आन्दोलन के प्रादुर्भाव के जो कारण बताये गये हैं करीब करीब वही कारण आतंकवादी आन्दोलन के भी हैं। उनके विषय में ज्यादा कुछ नहीं कहना। दोनों एक सी परिस्थितियों के परिणाम थे। राष्ट्रीय माँग के प्रति अंग्रेज़ों द्वारा दिखाई गई तंगदिली से निराश और भारत और विदेशों के तत्कालीन घटनाक्रम से प्रभावित कुछ भावुक, साहसी और अधीर नवयुवकों ने 'बम की नीति' का आश्रय लिया। उनकी धारणा थी कि मुट्ठी भर सीसे से वह चमत्कार हो सकते हैं जो सहस्रों युक्तियों और नैतिक प्रेरणा से नहीं हो सकते। १९०५ से १९११ तक के काल को, जिसमें आतंकवादी आन्दोलन ज़ोरों पर था, देखते हुए और इस बात पर गौर करते हुए कि इसकी प्रगतियों का मुख्य केन्द्र बंगाल था, यह कहना ग़लत न होगा कि इसके प्रादुर्भाव के मुख्य कारण बंगाल का विभाजन और विभाजन विरोधी आन्दोलन को दबाने के लिये अपनाई गई बंगाल और नवनिर्मित पूर्वी बंगाल की सरकारों की दमन नीति थे। श्री अरविन्द घोष के भाई बारीन्द्र कुमार घोष और स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त इस नये धर्म के प्रमुख प्रचारकों में से थे। इन्होंने 'युगान्तर' के द्वारा खुल्लमखुल्ला क्रान्ति-धर्म का प्रचार किया और इटली और रूस की गुप्त आतंकवादी समितियों के आधार पर क्रान्तिकारी सभाओं का संगठन किया। इनकी प्रगतियाँ १९०७ में शुरू हुईं जबकि इन्होंने बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर की ट्रेन को बम से उड़ाने का प्रयत्न किया। इसके कुछ ही दिन बाद ढाका के ज़िला मजिस्ट्रेट को गोली का निशाना बनाया गया पर वह मरा नहीं। १९०८ में कलकत्ता के प्रेज़ीडेंसी मजिस्ट्रेट श्री किंग्सफोर्ड की, जिन्होंने राजनीतिक अभियोगों में अनेक भारतीयों को जेल भेजा था, जान लेने की कोशिश की गई पर उनके भुलावे में दो अंग्रेज़ महिलाएं मारी गईं। पुलिस ने सरगर्मी के साथ क्रान्तिकारियों का पीछा करना शुरू किया और बंगाल में अनेक षड्यन्त्रों का पता लगाया। परिणामतः अनेक व्यक्ति गिरफ्तार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए, अनेक को लम्बे अरसे के लिये जेल भेजा गया और अनेक क्रान्तिकारी फाँसी पर लटकाये गये। क्रान्तिकारियों की प्रगतियों का महाराष्ट्र में भी काफी ज़ोर रहा जहाँ श्यामजी कृष्ण वर्मा, चापेकर बन्धुओं और सावरकर बन्धुओं ने इसका संगठन किया। विनायक सावरकर और श्यामजी कृष्ण वर्मा के प्रयत्नों के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में भी क्रान्तिकारी सभाओं ने अपना कार्य जारी रक्खा। अंग्रेज़ी अदालतों द्वारा देश-भक्त भारतीय युवकों को दी गई कालेपानी और मौत की भारी सजाओं का बदला लेने के लिये मदनलाल धींगरा ने 'इण्डिया आफिस' में कर्नल सर विलियम वाइली की हत्या कर दी।

१९१३-१६ में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन का बंगाल और पंजाब में बहुत ज़ोर रहा। बंगाल में १९१३ में १६ और १९१४ में २९ हमले हुए। १९१६ में यह संख्या और भी बढ़ गई। हमलों के बारे में सबसे बुरी बात यह थी कि इनके साथ डाके भी डाले जाते थे, जिनमें कभी कभी हत्यायें भी होती थीं और आन्दोलन के वास्ते धन एकत्रित करने के लिये चलती ट्रेनों को रोक कर लूटा जाता था। पंजाब के कुछ क्रान्तिकारियों ने तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड हार्डिङ्ग को मारने का भी प्रयत्न किया। परिणामतः जो देहली षड्यन्त्र केस चला उसमें अमीरचन्द, अवधबिहारी, बालमुकन्द और बसन्त कुमार विश्वास को फांसी की सजा दी गई। कनाडा से निर्वासित सिक्खों की वापसी से पंजाब में क्रान्तिकारी आन्दोलन बहुत भड़का। हरदयाल के नेतृत्व में एक गदर पार्टी संगठित की गई पर इसकी बारीकियों में जाने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता का मुख्य कारण यह था कि यह देश के युवकों के छोटे दायरे तक ही सीमित रहा और इसका कोई केन्द्रीय संगठन न था जो इसे अखिल भारतवर्षीय पैमाने पर चला सकता। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसे देश के उच्च मध्यम-वर्ग के नेताओं की सहानुभूति न प्राप्त थी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और सर आशुतोष मुकर्जी जैसे नेताओं ने सरकार से इसे दबाने के लिये कठोर उपाय बरतने का अनुरोध किया। महात्मा गाँधी के राजनीतिक रंगमंच पर आने और देश को सत्य और अहिंसा का दिव्य सन्देश देने के बाद यह आन्दोलन बिल्कुल मर गया।

मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद :— उग्रवादी विचारधारा और क्रान्तिकारी आन्दोलन से भी ज्यादा इस काल में पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के अपनाये जाने का देश के राजनीतिक जीवन पर असर पड़ा। अब भी इसका प्रभाव मौजूद है जो हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवनों को रंग रहा है। साम्प्रदायिकता के विषय पर विस्तार से हम अन्यत्र प्रकाश डालेंगे। यहाँ इसका संक्षिप्त परिचय देना पर्याप्त होगा।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा का जन्म ब्रिटिश भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सरकार की सहानुभूति और सहायता से हुआ था। यह देश में आशंकित रूसी हथकण्डों का मुकाबला करने के लिये बनाई गई थी। लेकिन कांग्रेस की उत्तरोत्तर बढ़ती शक्ति, इसकी मांगों के स्वरूप और रूसी हमले के खतरे के टल जाने के कारण सरकार के रुख और नीति में यकायक परिवर्तन आया। जनता के मुस्लिम तथा अन्य भागों को कांग्रेस से अलग रखने के उद्देश्य से इसने कांग्रेस के मुकाबले में एक और संस्था खड़ी करने का निश्चय किया : सर सय्यद अहमद खाँ की सेवायें, जो मुस्लिम सम्प्रदाय के गण्यमान्य व्यक्तियों में से थे और अंग्रेज़ी सरकार और पाश्चात्य शिक्षा के सदा से हिमायती रहे थे, इस काम के लिये इस्तेमाल की गईं। मोहमडन ऐंग्लो ओरियेन्टल कॉलिज, अलीगढ़, के ब्रिटिश प्रिन्सिपल श्री बैक के प्रभाव में सर सैयद अहमद की यह धारणा दृढ़ होती गई कि मुसलमानों की हिन्दुओं के बनिस्बत अंग्रेज़ों से मैत्री उनके संप्रदाय की भलाई के लिये बहुत अच्छी साबित होगी। इसलिये उन्होंने 'ऐंग्लो-मुस्लिम डिफेंस एसोसियेशन' की स्थापना की जिसका उद्देश्य था भारत में अंग्रेज़ी राज को मजबूत करने के लिये अपनाये गये उपायों का समर्थन और अपने अनुयायियों में ब्रिटिश सम्राट् के प्रति वफादारी का प्रचार। उन्होंने 'मुस्लिम शिक्षा कान्फ्रेंस' की भी स्थापना की जिसके अधिवेशन कांग्रेस के साथ एक ही स्थान और समय पर इसलिये होते थे ताकि मुस्लिम जनता कांग्रेस के अधिवेशन में शरीक न हो सके। कांग्रेस से मुसलमानों को पृथक् रखने की यह शुरूआत थी।

जब मिन्टो-मॉर्ले सुधार बनाये जा रहे थे भारत सरकार ने अपनी 'फाड़कर शासन करने' की नीति को कार्यान्वित करने के लिये एक और महत्त्वपूर्ण कदम उठाया जिसका देश के राजनीतिक जीवन पर गहरा असर पड़ा। इसने मुसलमानों के लिये पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की विषैली प्रणाली को जारी करने का निश्चय किया। जॉन मॉर्ले इसके विरुद्ध था, पर उसे भारत सरकार की बात सिर्फ इसलिये माननी पड़ी क्योंकि इसके बग़ैर संसद १९०९ के कौंसिल अधिनियम को पास करने को तैयार न थी। बाद के सुधारों ने इस सिद्धान्त को सिक्खों, यूरोपियनों और अन्य हितों एवं वर्गों पर भी लागू कर दिया।

१९०६ में 'मुस्लिम लीग' का जन्म हुआ। मुसलमानों की पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग तथा मुस्लिम लीग की स्थापना आदि की कहानी एक दूसरे अध्याय में कही जायगी।

सरकार का रवैया :— कांग्रेस के अन्दर उग्रवाद की उत्पत्ति, बंगाल, महाराष्ट्र तथा मद्रास में आतंकवाद के आविर्भाव, तथा पंजाब के कृषकों में असंतोष की लहर ने भारत सरकार को प्रकम्पित कर दिया। उसने दमनकारी नीति अपनाई और उग्रवादी तथा क्रांतिकारी हलचलों को कुचलने के लिये उसने कठोर क़दम उठाये। उसने बहुत से प्रतिष्ठित नेताओं तथा सुख्यात व्यक्तियों को बिना अभियोग के ही देश से निष्कासित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया ; इनमें प्रमुख थे लाला लाजपत राय तथा सरदार अजीतसिंह। आतंकवादी क्रियाओं के संदेह में बहुत से व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया और उनमें से कुछ को मृत्यु दण्ड दे दिया गया। ऐसे अभियोगों तथा मृत्यु दण्ड की प्रतिक्रियास्वरूप कई राजनीतिक हत्यायें हुईं। इस प्रकार हिंसा का एक अटूट चक्र चल पड़ा: सरकार की दमनकारी नीति ने क्रांतिकारियों को उत्तेजित किया और उनके कार्यों ने सरकार की नीति को और अधिक कठोर बना दिया। देश के राजनीतिक जीवन को कुंठित करने के लिए सरकार ने दो क़ानून बनाये। उनमें से एक था १९०७ का राजद्रोही सभा अधिनियम (Seditious Meetings Act) जिसके द्वारा अधिकारियों को किसी भी व्यक्ति को किसी सार्वजनिक सभा में भाषण देने तथा सभायें करने का निषेध करने का अधिकार दे दिया गया। दूसरा था १९०८ का समाचारपत्र (अपराधों को उत्तेजना प्रदान करना) अधिनियम जिसके द्वारा ज़िलाधीश को अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी ऐसे प्रेस को ज़ब्त कर लेने का अधिकार दे दिया गया जहाँ कि कोई ऐसा समाचारपत्र छपता हो जो कि जनता को हिंसा करने के लिए उत्तेजित करता हो।

सरकार अपनी दमनकारी नीति के लिए कांग्रेस के अन्दर उदारवादी तत्वों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी ; वह मुसलमानों तथा ज़मींदारों को भी अपने पक्ष में लेना चाहती थी। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए लॉर्ड मिन्टो ने अप्रेल, १९०७ में यह घोषणा की कि मैंने भारत मंत्री के पास कुछ उदार राजनीतिक सुधारों का प्रस्ताव भेजा है। यही प्रस्ताव १९०९ के 'भारतीय परिषद अधिनियम' का आधार था जो कि 'मॉर्ले-मिन्टो सुधार' के नाम से विख्यात है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७

भारतीय परिषद् अधिनियम, १९०९
(The Indian Councils Act, 1909)

विषय प्रवेश :— गत अध्याय के अन्त में हमने देश की उस तत्कालीन विषम राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया था जिसने कि लॉर्ड मिन्टो को ऐसे सांविधानिक सुधारों के विषय में सोचने के लिए प्रेरित किया जिनसे कि सरकार को अपनी दमनकारी नीति के लिए कांग्रेस के अन्दर उदारवादी तत्त्वों और बड़े बड़े भूमिपतियों का सहयोग प्राप्त हो जाने की सम्भावना हो सकती थी। उस समय दो अंग्रेज़ पत्रकार, किरोल तथा सिडनी लो, भारत की यात्रा कर रहे थे, उन्होंने भारत के युवकों में बढ़ता हुआ जोश देखा, और गवर्नर-जनरल को लिखा कि अब भारत में पुराने ढर्रे का शासन और अधिक नहीं चल सकता तथा कांग्रेस को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया जाना चाहिये। महान् राजनीतिज्ञ श्री गोपाल कृष्ण गोखले, जो कि कांग्रेस के उदारवादी दल के प्रमुख नेता थे, इंग्लैण्ड गये, और उन्होंने भारत मन्त्री जॉन मॉर्ले को यह समझाने का प्रयत्न किया कि भारत में सांविधानिक सुधार तुरन्त आवश्यक हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मॉर्ले ने मिन्टो को एक पत्र में यह लिखा था कि भारत में कुछ और सुधारों का समय आ गया है। ऐसा माना जाता है कि उस पत्र ने वह प्रक्रिया आरंभ की जिसका अवसान १९०९ के 'भारतीय परिषद अधिनियम' में हुआ, जिसके साथ लॉर्ड मॉर्ले तथा लॉर्ड मिन्टो के नाम अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। हमारे लिए निश्चित रूप से यह जानने की चेष्टा करना तो निरर्थक होगा कि सांविधानिक सुधारों का प्रस्ताव पहिले मॉर्ले की ओर से आया, या मिन्टो की ओर से ; हमारे लिये तो केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि ब्रिटिश शासकों को सांविधानिक सुधार करने के लिए प्रेरित करने का श्रेय भारत की राजनीतिक स्थिति को है।

परन्तु यदि हम लॉर्ड मिन्टो के साथ न्याय करना चाहते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि उसे सांविधानिक सुधारों के विषय में सोचने के लिये प्रेरित करने का श्रेय केवल उस राजनीतिक असंतोष को ही नहीं है जो कि तत्कालीन भारत के युवकों में पाया जाता था ; इसका कुछ श्रेय उसकी आन्तरिक भावनाओं को भी दिया जाना चाहिये। उसके द्वारा भारत मंत्री को भेजे गये एक पत्र के निम्नलिखित उद्धरण से यह सिद्ध होता है :

"परन्तु हम, अर्थात्, भारत सरकार, वर्तमान स्थिति की ओर से अपनी आँखें बन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कर सकते। राजनीतिक वातावरण में परिवर्त्तन आ गया है; हमारे सामने ऐसे प्रश्न हैं जिनकी हम अवहेलना नहीं कर सकते, और जिनका उत्तर देने का हमें अवश्य प्रयास करना चाहिये; और मैं इस बात को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि पहिल हमारी ओर से हो, ताकि ऐसा दिखाई न पड़े कि भारत सरकार को इस देश में किसी आन्दोलन ने विवश किया है, अथवा इंग्लैण्ड के दबाव ने और यह कि सर्वप्रथम हमें अपने चारों ओर की परिस्थितियों को पहचानना चाहिये और अपने व्यक्तिगत अनुभव तथा भारत के प्रतिदिन के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध के आधार पर हमने जो धारणायें बनाई हैं, उन्हें हमें सम्राट की सरकार के सामने रखना चाहिये।"

इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि १९०४ में, तथा फिर १९०५ में, कांग्रेस ने यह माँग की थी कि विधान परिषदों को प्रसारित किया जाना चाहिये और निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर ५०% कर देना चाहिये। उसने यह भी मांग की कि बजट पर परिषद का नियन्त्रण होना चाहिये। उसने एक क़दम और आगे बढ़ाया और यह दावा किया कि भारत में कार्यपालिका परिषदों तथा इंग्लैण्ड में भारत मंत्री की परिषद में भारतीयों की नियुक्ति होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त कांग्रेस ने यह मांग भी की कि सम्पूर्ण देश में समस्त ज़िलों में परामर्शदात्री परिषद क़ायम की जायें जिनसे ज़िलाधीश के लिये समस्त महत्वपूर्ण सार्वजनिक विषयों में परामर्श करना आवश्यक हो; न्यायिक कार्यों को कार्यपालिक कार्यों से पृथक किया जाय; न्यायाधीशों की नियुक्ति क़ानूनी पेशे में से की जाय, और सेना के ऊपर होने वाले व्यय को कम किया जाय।

लॉर्ड मिन्टो तथा लॉर्ड मॉर्ले दोनों ही इनमें से कुछ माँगों को एक हद तक मानने के लिये तैयार थे। किन्तु प्रस्थापनाओं का मसविदा तैयार करना एक बड़ा काम था जिसमें काफी समय लगता, विशेषकर जबकि किसी निर्णय पर पहुँचने से पूर्व प्रत्येक प्रान्त में महत्त्वपूर्ण संस्थाओं तथा व्यक्तियों से परामर्श करना आवश्यक था। इस प्रश्न पर विचार करके अपनी रिपोर्ट देने के लिए लॉर्ड मिन्टो ने अपनी कार्यपालिका की एक छोटी सी समिति नियुक्त कर दी। इस समिति की रिपोर्ट के ऊपर आधारित भारत सरकार की प्रस्थापनाओं को भारत मन्त्री के पास भेज दिया गया। लॉर्ड मॉर्ले तथा लॉर्ड मिन्टो में बहुत दिन तक इस विषय पर पत्र व्यवहार चला जिसके फलस्वरूप मॉर्ले ने सुधार के लिए अपने प्रस्ताव तैयार किये जिनको उसने २७ नवम्बर, १९०८ के पत्र में भेजा। उनको उसने हाउस ऑफ़ लार्ड्स में १७ दिसम्बर को अभिव्यक्त किया। उनका मुख्य उद्देश्य था: (१) विधान परिषदों की सदस्य संख्या में वृद्धि करना, (२) निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर तथा मनोनीति के स्थान पर निर्वाचन को प्रतिस्थापित करके उन्हें अधिक प्रतिनिधि बनाना, तथा (३) उन्हें वादविवाद की अधिक स्वतन्त्रता प्रदान कर देना।

उक्त प्रस्थापनाओं को क्रियात्मक रूप देने के लिए फरवरी, १९०९ में हाउस ऑफ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लॉर्ड्स में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया। मई के अन्त से पूर्व ही वह क़ानून बन गया। इसमें केवल सामान्य और व्यापक रूपरेखा ही दी हुई थी; तफ़सील की बातों, और यहाँ तक कि कुछ मूलभूत बातों को भी भारत अधिकारियों द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड़ दिया गया था।

अधिनियम की व्यवस्थायें :— १९०९ के भारतीय परिषद अधिनियम तथा उसके पूरक विनियमों की मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं :

१. विधान परिषदों का आकार :— केन्द्रीय तथा प्रान्तीय समस्त विधान परिषदों के आकार को काफ़ी बढ़ा दिया गया। गवर्नर-जनरल की परिषद के सदस्यों की अधिकतम संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गई; बंगाल, मद्रास तथा बम्बई की विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या २० से ५० कर दी गई; और यू० पी० में यह संख्या १५ से ५० कर दी गई। प्रत्येक स्थान पर यह अधिकतम संख्या कार्यपालिका परिषद के सदस्यों से अलग थी। यह सचमुच ज़बर्दस्त वृद्धि थी। इस दृष्टिकोण से कांग्रेस की मांग तत्त्वतः पूरी कर दी गई।

२. **परिषदों का निर्माण** :— इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर-जनरल तथा मद्रास और बम्बई की विधान परिषदों में बढ़ाये हुए सदस्यों के कम से कम आधे सदस्य और अन्य विधान परिषदों के कम से कम एक तिहाई सदस्य ऐसे व्यक्ति होने चाहियें जो कि क्राउन के अधीन नागरिक या सैनिक नौकर न हों। स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में प्रत्येक परिषद में सरकारी बहुमत बनाये रखना सम्भव था। परन्तु इस बात को देखते हुए कि बम्बई में सरकारी बहुमत के बिना ही काम चलाया गया (१९०६ में बम्बई की विधान परिषद में दस सरकारी और चौदह ग़ैरसरकारी सदस्य थे यद्यपि ग़ैर-सरकारी सदस्यों में से तीन के स्थान पर सरकारी सदस्यों को किसी भी समय नियुक्त किया जा सकता था), यह निर्णय किया गया कि प्रान्तीय परिषदों में सरकारी बहुमत का परित्याग कर दिया जाय और ऐसा करने से जो ख़तरा हो सकता हो उसका सामना किया जाय, और अवांछनीय क़ानूनों को बनने से रोकने के लिए कुछ तो वीटो के प्रयोग पर और कुछ प्रान्तीय परिषदों की क़ानून बनाने की शक्ति पर लगे वैधानिक प्रतिबन्धों पर भरोसा रक्खा जाय। अधिनियम के अन्तर्गत जो नियम बनाये गये उनके अनुसार समस्त प्रान्तीय विधान परिषदों में ग़ैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रक्खा गया, सरकारी बहुमत तो केवल गवर्नर-जनरल की विधान परिषद् में रक्खा गया जिसमें कम से कम २५ निर्वाचित सदस्य और अधिक से अधिक ३५ मनोनीत सदस्य रक्खे गये। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि ग़ैर-सरकारी सदस्यों के बहुमत का अर्थ सदैव निर्वाचित सदस्यों का बहुमत ही नहीं होता था। निर्वाचित सदस्यों का बहुमत तो केवल बंगाल की परिषद् में था; शेष समस्त प्रान्तों की परिषदों में बहुमत सरकारी तथा मनोनीत ग़ैर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकारी सदस्यों का मिल कर होता था। १८९२ के अधिनियम की अपेक्षा यह भी एक प्रगति की ओर क़दम था और कांग्रेस की मांग को पूरा करता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि *'मॉर्ले-मिन्टो सुधार'* के अनुसार जो विधान परिषद बनीं उनमें तीन प्रकार के सदस्य थे। एक श्रेणी वाइसरॉय की, अथवा गवर्नर की, अथवा लेफ्टीनेन्ट गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की थी जो कि सम्बन्धित विधान परिषद के पदेन (Ex-officio) सदस्य होते थे; दूसरी श्रेणी मनोनीत ग़ैर-सरकारी सदस्यों की थी और तीसरी में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि आते थे।

३. निर्वाचन सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त होना :— जबकि १८९२ के *भारतीय परिषद अधिनियम* में निर्वाचन के सिद्धान्त को कोई मान्यता नहीं दी गई, और उसमें सिफ़ारिश के आधार पर मनोनीत करने की व्यवस्था की गई थी, १९०९ के अधिनियम में विभिन्न विधान परिषदों में प्रतिनिधियों के लिए निर्वाचन पद्धति को प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से मान्यता दी गई। किन्तु यह मान्यता अधूरी थी। इसमें एक कमी तो यह थी कि निर्वाचन के साथ साथ मनोनीत करने की पद्धति को क़ायम रक्खा गया। समस्त अतिरिक्त सदस्यों को निर्वाचित नहीं होना था; उनमें से कुछ को मनोनीत होना था। दूसरे, और यह एक अधिक गम्भीर दोष है, यह कि निर्वाचित सदस्यों की एक बड़ी संख्या का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रक्खा गया। केवल मुसलमानों, प्रेज़ीडेन्सी निगमों (Corporations), विश्वविद्यालयों, व्यापार संघों तथा कुछ विशेष प्रकार के भूमि-पतियों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन ही प्रत्यक्ष रीति से होना था। प्रान्तीय विधान परिषदों के सदस्यों का निर्वाचन नगरपालिका, ज़िला बोर्ड तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा और केन्द्रीय विधान परिषद के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय परिषदों के ग़ैर-सरकारी सदस्यों द्वारा होना था। इस प्रकार की अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति का कारण 'भारतीय सांविधानिक सुधारों' के ऊपर प्रतिवेदन में यह बताया गया कि भारत में हितों और मतों की इतनी ज़बर्दस्त विविधता होने के कारण केवल वर्गों और हितों के प्रतिनिधित्व के रूप में ही निर्वाचन पद्धति को अपनाया जा सकता है।

निर्वाचन पद्धति के विषय में एक अन्य बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। *'मॉर्ले-मिन्टो सुधारों'* में वह साम्प्रदायिक निर्वाचन का सिद्धान्त अपनाया गया जिसने आगे चलकर भारत की सम्पूर्ण राजनीति को विषाक्त कर दिया। जब लॉर्ड मॉर्ले ने भारत सरकार के पास यह सुझाव भेजा कि भारतीय शासन को कुछ लोकप्रिय बनाने की दिशा में कोई क़दम उठाया जाना चाहिये तो कुछ व्यक्तियों की ओर से मुसलमानों को यह संकेत दिया गया कि यदि भारत के समस्त भागों के प्रतिनिधि मुसलमानों का एक शिष्ट मण्डल गवर्नर-जनरल से मिले तो वे प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत करेंगे। शिष्ट मण्डल को गवर्नर-जनरल से यह कहने का उपदेश दिया गया कि भारत के मुसलमान ब्रिटिश सम्राट के प्रति भक्ति भावना रखते हैं और सरकार जो सांविधानिक सुधार करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहती है, उसके लिये वे कृतज्ञ हैं, किन्तु उन्हें यह आशंका है कि यदि उन्हें पृथक् प्रतिनिधित्व दिये बिना ही निर्वाचन सिद्धान्त अपना लिया गया तो वह उनके हितों के लिये घातक सिद्ध होगा। इस प्रकार एक शिष्ट मण्डल लॉर्ड मिन्टो से मिला भी और उसने मुसलमानों के लिये पृथक् तथा 'वेटेड' (weighted) प्रतिनिधित्व की मांग की। मिन्टो ने शिष्ट मण्डल की समस्त मांगों के साथ सहर्ष अपनी सहमति प्रकट की। लॉर्ड मॉर्ले को विवश होकर अपनी निर्णय बुद्धि और इच्छा के विरुद्ध भारत सरकार की इस बात को मानना पड़ा और इस प्रकार एक ऐसी योजना अपनाई गई जिसने भारत को दो परस्पर-विरोधी राजनीतिक गुटों में विभक्त कर दिया।

४. **विधान परिषदों के कार्यों में वृद्धि** :— १९०९ के अधिनियम ने विधान परिषदों के कार्यों में काफी वृद्धि करदी। १८६१ के अधिनियम के अन्तर्गत उनके कार्य केवल व्यवस्थापन सम्बन्धी थे; तथाकथित विधान परिषद केवल ऐसी समितियां थीं जिनके द्वारा कार्यकारिणी व्यवस्थापन में परामर्श तथा सहायता प्राप्त करती थी। १८९२ के अधिनियम ने उनको कार्यकारिणी द्वारा स्वीकृत कर लिये जाने के बाद बजट पर वादविवाद करने का अधिकार दे दिया किन्तु उस पर वे प्रस्ताव पेश नहीं कर सकती थीं और सदन में विभाजन नहीं करा सकती थीं। १९०९ के अधिनियम ने उन्हें अंतिम रूप से निर्णय होने के पूर्व ही बजट पर वादविवाद करने, उसके ऊपर प्रस्ताव पेश करने तथा उन पर सदन को विभक्त कराने का अधिकार दे दिया। किन्तु राजस्व की कुछ मदों को जैसे कि आयात निर्यात कर, रियासतों से मिलने वाला नज़राना, सैनिक उद्योग, वादविवाद से बाहर रक्खा गया। व्यय की कुछ मदों को भी वादविवाद से परे रक्खा गया, जैसे कि सार्वजनिक ऋण पर ब्याज, प्रतिरक्षा, राजनैतिक पेन्शन, धार्मिक विभाग। सदस्य गण न केवल बजट पर, बल्कि सार्वजनिक महत्त्व के किसी भी विषय पर प्रस्ताव पेश कर सकते थे, और उन पर सदन को विभक्त कर सकते थे। पारित प्रस्ताव कार्यकारिणी के लिये सिफ़ारिश मात्र समझे जाते थे; वह उन्हें मानने के लिए बाध्य नहीं थी। लॉर्ड मॉर्ले के शब्दों में कार्यकारिणी उन प्रस्तावों के साथ अपनी इच्छानुसार बर्ताव कर सकती थी; वह उन्हें अत्यधिक महत्त्व दे सकती थी, या उन्हें हवा में उड़ा सकती थी। कुछ विषय ऐसे भी थे जिन पर कि कोई प्रस्ताव पेश ही नहीं किया जा सकता था, जैसे कि देसी रियासतें। विधान परिषद के अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हुए सरकार के प्रधान द्वारा किसी भी प्रस्ताव को पेश होने से रोका जा सकता था। मूल प्रश्न पूछने वाला सदस्य पूरक प्रश्न भी पूछ सकता था।

५. गवर्नर-जनरल, प्रेज़ीडेन्सियों के गवर्नरों तथा लेफ्टीनेन्ट गवर्नरों को अपनी अनुपस्थिति में अपने स्थान पर कार्य करने तथा कार्यकारिणी की बैठकों का सभापतित्व करने के लिए उपाध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार दिया गया।

६. मद्रास तथा बम्बई की कार्यकारिणी परिषदों के साधारण सदस्यों की अधिक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तम संख्या दो से बढ़ा कर चार कर दी गई। उनमें से दो सदस्य ऐसे होते जो कि नियुक्ति के समय क्राउन के अधीन भारत में कम से कम बारह वर्ष तक नौकर रह चुके हों।

७. गवर्नर-जनरल को एक प्रतिघोषणा द्वारा लेफ्टीनेन्ट गवर्नरों के प्रान्तों के लिए कार्यकारिणी परिषद स्थापित करने का अधिकार दिया गया, किन्तु बंगाल के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रान्त या प्रदेश के लिए ऐसी प्रतिघोषणा को ब्रिटिश संसद का कोई भी सदन रोक सकता था। १९१५ में यू० पी० में कार्यकारिणी परिषद को स्थापित करने वाली प्रतिघोषणा को हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने रोक दिया था।

इस प्रसंग में भारत मन्त्री द्वारा की गई एक अन्य बात भी महत्त्वपूर्ण है और उल्लेखनीय है, यद्यपि वह १९०९ के अधिनियम का कोई अंग नहीं है। पाठकों को याद होगा कि कांग्रेस ने गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों की परिषदों और भारतमन्त्री की *भारत परिषद* (India Council) में भारतीयों की नियुक्ति की मांग की थी। इन मांगों को भी पूरा कर दिया गया। १९०७ में सर के० जी० गुप्ता तथा सैयद हुसैन को *भारत परिषद* का और मार्च, १९०९ में श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा को, जिन्हें कि आगे चलकर लॉर्ड बना दिया गया, को वाइसराय की कार्यकारिणी का सदस्य नियुक्त किया गया। इस प्रकार प्रशासन में भारतीयों को भाग देने की नीति अपनाई गई। इसी नीति का अनुसरण करते हुए, आगे चल कर, बंगाल, मद्रास, बम्बई, यू० पी० तथा बिहार की कार्यकारिणी परिषदों में भारतीय सदस्य नियुक्त किये गए।

मॉर्ले-मिन्टो सुधारों का मूल्यांकन :— निस्सन्देह मॉर्ले-मिन्टो सुधार १८९२ के अधिनियम की अपेक्षा प्रगति का एक बहुत बड़ा क़दम था। उदारवादी क्षेत्रों में इससे बड़ी बड़ी आशायें उत्पन्न हो गईं। कांग्रेस में १९०८ में मद्रास अधिवेशन में सुधारों की रूपरेखा का स्वागत किया और उनके लिये भारत मंत्री के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। गोपालकृष्ण गोखले ने उन्हें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क़दम बतलाया और यह आशा प्रगट की कि उनसे भारत के नौकरशाही शासन में काफी सुधार होगा। कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों के आ जाने से यह आशा उत्पन्न हो गई कि शासन नीति के निर्धारण में प्रजातीय भेद-भाव मिट जायेगा। प्रान्तीय विधान परिषदों में ग़ैरसरकारी सदस्यों के बहुमत हो जाने से वे वित्त पर कुछ नियन्त्रण कर सकती थीं और कार्यपालिका को प्रभावित कर सकती थीं। किन्तु गोखले का यह विचार कि मॉर्ले-मिन्टो सुधारों के परिणामस्वरूप निर्वाचित भारतीयों को प्रशासन में कुछ उत्तरदायी भाग मिल जायेगा एक कोरा आशावाद था। १९०९ के अधिनियम के गहरे विश्लेषण और संसद में मॉर्ले के भाषणों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिनियम के द्वारा भारत के शासन में किसी नवीन नीति के आवर्त्तन करने का अंग्रेज़ों का कोई इरादा नहीं था। शिक्षित भारतीयों की अपने देश के प्रशासन में भाग लेने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबल आकांक्षा को मान्यता देने के लिये शासन-यन्त्र में जो परिवर्तन किये गये वे पहिले अधिनियमों से केवल मात्रा में भिन्न थे, गुण में नहीं। १८६१, १८९२ तथा १९०९ के तीनों अधिनियमों में, जोकि हमारे देश में प्रतिनिधि संस्थाओं के धीरे धीरे विकास की तीन अवस्थायें हैं, एक ही सिद्धान्त वर्तमान है और इसलिये उनमें एक आन्तरिक क्रम-बद्धता पाई जाती है। इस बात को लॉर्ड डफ़रिन ने अपने पत्रों में पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया था, जिनमें से कुछ अवतरण हम पहिले उद्धृत कर चुके हैं। हमारी इस धारणा की सत्यता लॉर्ड मॉर्ले के इस कथन से भी सिद्ध होती है कि 'सुधारों' का उद्देश्य भारत में संसदात्मक शासन की स्थापना करना नहीं है। लॉर्ड डफ़रिन की इस धारणा का समर्थन करते हुए कि भारत सरकार का उद्देश्य उत्तरदायी शासन की स्थापना करना नहीं है उसने लिखा :—

"महामहिम का यह कहना कि आपकी सरकार का भारत में पश्चिमी ढर्रे की प्रतिनिधि सरकार की स्थापना करने का कोई इरादा नहीं है, हमारी आशा के एकदम अनुकूल है। ..... आपकी इच्छा तो केवल यह है कि अपने देश के शासन में भाग लेने की शिक्षित भारतीयों की स्वाभाविक इच्छा को मान्यता देने के लिए वर्तमान शासन-यन्त्र में कुछ सुधार किया जाय, अथवा एक नवीन यन्त्र का निर्माण किया जाय। मेरे लिये यह कहना आवश्यक नहीं कि आपके इस उद्देश्य तथा इच्छा का सम्राट की सरकार हृदय से स्वागत करती है।"

इस प्रसंग में उसके प्रायः उद्धृत ये शब्द याद आ जाते हैं: 'यदि कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर दे कि सुधारों का यह अध्याय भारत में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संसदीय शासन की स्थापना कर सकता है तो मै इसका एकदम तिरस्कार कर दूंगा।' हमें यह भी याद रखना चाहिये कि लॉर्ड मिन्टो एक रूढ़िवादी था, उदारवादी नहीं; वह भारत में प्रतिनिधि शासन का समर्थक नहीं था; उसका दृढ़ विश्वास था कि भारत का शासन निरंकुशवादी ही रहना चाहिये।

१९०९ के अधिनियम में दो बातों का सामंजस्य करने का प्रयास किया गया। इसमें इस सिद्धान्त को तो दृढ़ता के साथ स्वीकार किया गया कि भारत के शासन पर अंग्रेज़ों का अधिकार और नियन्त्रण अक्षुण्ण रहना चाहिये, किन्तु इसके साथ ही उदार-वादियों (जिनका कि उस समय कांग्रेस पर पूर्ण नियन्त्रण था) को सन्तुष्ट करने की चेष्टा भी की गई। विधान परिषदों को विस्तृत करने, उनमें निर्वाचित भारतीयों की संख्या में वृद्धि करने तथा उन्हें सरकार की नीति की आलोचना करने का अधिकार देने का यही उद्देश्य था।

अब तक हम जिस बात पर ज़ोर दे रहे हैं वह यह है कि *'मॉर्ले-मिन्टो सुधारों'* में जनता को तनिक सी शक्ति देने की बात की कल्पना भी नहीं थी। निर्वाचित भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदस्य तो अधिक से अधिक एक काम कर सकते थे और वह था कार्यपालिका को प्रभावित करना। लॉर्ड मॉर्ले और लॉर्ड मिन्टो का उद्देश्य एक ऐसी शासन व्यवस्था क़ायम करना था जिसमें कार्यपालिका भारत के कुछ हितों और वर्गों के प्रतिनिधियों से परामर्श कर सके, किन्तु शासन की अन्तिम और निर्णायक शक्ति अंग्रेज़ों के ही पास अक्षुण्ण रहे। इस प्रकार की शासन पद्धति को 'सांविधानिक निरंकुश-तंत्र' (Constitutional autocracy) कहा जा सकता है। 'सांविधानिक सुधारों पर रिपोर्ट' के शब्दों में 'इसमें भारत में ब्रिटिश शासन के मूल में पाये जाने वाले दो तत्त्वों को एक शासन में समाविष्ट करने का प्रयास किया गया था। वे मुग़ल सम्राटों तथा हिन्दू राजाओं के निरंकुशतंत्र तथा ब्रिटिश शासन पद्धति के संविधानवाद का सम्मिश्रण करना चाहते थे।'

मॉन्ट-फ़ोर्ड रिपोर्ट के उपरोक्त अवतरण में *'मॉर्ले-मिन्टो सुधारों'* की सर्वप्रमुख विशेषता पाई जाती है और इसी के कारण उन्हें १८६१ तथा १८९२ के अधिनियमों से एक भिन्न और विशिष्ट श्रेणी में रक्खा जाता है। १९०९ के अधिनियम ने निश्चित रूप से ही भारतीय शासन पद्धति में संविधानवाद के तत्त्व को प्रविष्ट किया, यद्यपि लॉर्ड मॉर्ले ने इस बात से इन्कार किया है। एक स्थायी कार्यपालिका की निरंकुशता में इस बात से अवश्य ही कुछ कमी आई कि उसे जनता के कुछ हितों के प्रतिनिधियों से परामर्श करना पड़ता था। इसने परिषदों के विषय में इस पुरानी धारणा का कि वे कार्यकारिणी के लिए केवल परामर्शदात्री निकाय थीं और सरकार की विधायक समितियां मात्र थीं सदा के लिए परित्याग कर दिया, और सरकार की आलोचना करने का अधिकार देकर उन्हें व्यवस्थापिका सभा बना दिया। व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकारों में इस वृद्धि को देख कर यह कहा जा सकता है कि कम से कम एक बात में तो १९०९ के अधिनियम तथा इसके पहिले के अधिनियमों में केवल मात्रा का ही नहीं, वरन् गुण का भी अन्तर था। परन्तु *मॉर्ले-मिन्टो सुधारों* का मुख्य दोष भी इसी बात में था। निरंकुशता तथा संविधानवाद के दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का सम्मिश्रण अन्त में सफल नहीं हो सकता था; कभी न कभी संविधानवाद निरंकुशता को अवश्य चुनौती देता और नष्ट कर देता। *मॉन्ट-फ़ोर्ड रिपोर्ट* में प्रकट की गई भारत सरकार की यह आशा पूरी नहीं हो सकती थी कि 'भारतीय समाज के कुलीनतंत्री तत्त्व तथा उदारवादी व्यक्ति जिनके लिये भारत की राजनीति में कोई स्थान नहीं था, सरकार के पक्ष में हो जायेंगे और शक्ति के संतुलन के और अधिक परिवर्तन तथा भारतीय शासन के जनतंत्रीकरण के किसी भी प्रयास का विरोध करेंगे।' *मॉर्ले-मिन्टो सुधारों* के क्रियान्वित होने के एक वर्ष के भीतर ही यह स्पष्ट हो गया कि उन्होंने भारत की राजनीतिक समस्याओं का कोई निराकरण न तो किया और न ही वे ऐसा कर सकते थे। भारतवासियों की आकांक्षायें उनसे पूरी नहीं हुईं; भारतीय प्रश्न पर पुनः विचार करना पड़ा। इस प्रकार १९१९ के *मॉन्ट-फ़ोर्ड सुधारों* के लिये मार्ग तैयार होने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मॉर्ले-मिन्टो सुधार भारत की राजनीतिक समस्या का कोई समाधान क्यों न कर सके, इसके कारणों का हमें ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिये। उनका आधारभूत दोष यह था कि उनमें निरंकुश शासन के सिद्धान्त को क़ायम रक्खा गया था। १९०७ के पश्चात् राष्ट्रवादी भारत स्वराज चाहता था; लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के ये जादू भरे शब्द: 'स्वराज हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे' प्रत्येक भारतीय के कानों में गूँज रहे थे। ऐसे मानसिक वातावरण में नपुंसक विधान परिषदों से देश सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। दूसरी बात यह कि एक ऐसी प्रणाली का, जिसमें कि शासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व तथा शक्ति कार्यपालिका के हाथों में हो और विधान-पालिका का कार्य आलोचना करने के अतिरिक्त और कुछ न हो, विफल होना निश्चित था; इस प्रकार की शासन-प्रणाली अधिक दिन चल ही नहीं सकती थी। जब तक प्रान्तीय सरकार भारत सरकार के, और भारत सरकार भारत मन्त्री तथा संसद के अधीन थीं तब तक सत्ता के बन्धनों को ढीला करना सम्भव ही नहीं था। "क्योंकि संसदीय नियंत्रण को ढीला करने का कोई इरादा नहीं था इसलिये भारतीय सरकार भी प्रान्तीय सरकारों पर अपना नियन्त्रण ढीला नहीं कर सकती थी। इस प्रकार प्रशासन तथा वित्त के जिस क्षेत्र में परिषद सरकार को प्रभावित कर सकती थी वह अत्यन्त सीमित था। बार बार एक स्थानीय सरकार एक प्रस्ताव का केवल यह उत्तर देकर सामना कर सकती थी कि वह उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। कुछ प्रान्तीय व्यवस्थाओं के कारण वह पर्याप्त धन प्राप्त नहीं कर सकती थी; वह प्रशासन के क्षेत्र में स्वतंत्रता से कार्य नहीं कर सकती थी क्योंकि सम्बन्धित प्रश्न भारत सरकार के विचाराधीन था; इसलिये वह तो केवल परिषद के विचारों को भारत सरकार के समक्ष रख देने मात्र का कार्य कर सकती थी।"*

केन्द्रीय धारा सभा में वादविवाद निष्प्राण होता था और उसकी कार्यवाही में अवास्तविकता की झलक आती थी। सरकारी सदस्यों से प्रश्न पूछने अथवा प्रस्ताव पेश करने की आशा नहीं की जाती थी और मतदान के समय वे सदैव सरकार का समर्थन करते थे। मनोनीत ग़ैर-सरकारी सदस्य भी प्रायः ऐसा ही करते थे। क्योंकि निर्वाचित सदस्य अल्प संख्या में होते थे, इसलिए मतदान का फल पहिले से ही विदित रहता था। ऐसी स्थिति में सारी कार्यवाही एक आडम्बर बन कर रह जाती थी। क्योंकि निर्वाचित सदस्य अपनी आवाज़ को प्रभावक बनाने की कभी आशा नहीं कर सकते थे, इसलिए वे सच्चे अधिकार की कमी की पूर्ति दिखावे से करते थे; उनके प्रश्नों और प्रस्तावों में उत्तरदायित्व की सच्ची भावना की कमी रहती थी। ऐसी स्थिति में कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। उस योजना में प्रगति की ओर स्वतः विकास करने की भी कोई गुंजायश नहीं थी। केवल एक बात करने के लिये थी और वह यह कि न हटाई

---

* *Report on the Constitutional Reforms*, Section 100.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकने वाली कार्यपालिका के व्यवस्थापिका सम्बन्धी तथा प्रशासकीय कार्यों को निर्वाचित सदस्य प्रभावित कर सकें।

सारांश यह कि *मॉर्ले-मिन्टो सुधार* भारतीय समस्या का कोई स्थायी समाधान न कर सके क्योंकि उनमें 'उत्तरदायित्व' का अभाव था जोकि लोकप्रिय शासन का मूल तत्व है।

सुधारों के विफल होने के अन्य कारण:— इस आधारभूत दोष के अतिरिक्त *मॉर्ले-मिन्टो सुधारों* में और भी कई दोष थे जिनकी कि आलोचना की गई और जिन्होंने विक्षोभ उत्पन्न किया तथा उनको विफल बनाने में बड़ा योग दिया। प्रथम बात तो यह कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली तथा अत्यन्त सीमित मताधिकार ने परिषदों के प्रतिनिधि स्वरूप को काफ़ी धूमिल कर दिया। प्रान्तीय परिषदों को चुनने का अधिकार ज़िला बोर्डों, ताल्लुक़ा बोर्डों तथा नगरपालिकाओं को था और केन्द्रीय धारासभा के निर्वाचक प्रान्तीय परिषदों के निर्वाचित सदस्य थे। इस प्रकार केन्द्रीय धारासभा का निर्वाचन दोहरा अप्रत्यक्ष हो गया। जो सदस्य मुस्लिम निर्वाचक मण्डलों, तथा व्यापार संघों, भूमिपति संघों इत्यादि जैसी विशेष संस्थाओं द्वारा चुने जाते थे उनके अतिरिक्त व्यवस्थापिका परिषद के सदस्यों तथा प्रारंभिक मतदाताओं में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं था। मताधिकार कितना सीमित था, इस बात का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि प्रान्तीय धारासभाओं के ग़ैर-सरकारी सदस्य भेजने वाले नौ साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों में मतदाताओं की औसतन संख्या २२ थी और उनमें से एक में तो केवल ९ ही थी।

दूसरी बात जिसकी कि राष्ट्रवादी जनमत ने घोर निन्दा की यह थी कि मुसलमानों के लिए पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था कर दी गई। लॉर्ड मॉर्ले ने इस योजना का विरोध किया था; उसने संयुक्त निर्वाचक मण्डलों तथा उनके साथ ही साथ मुसलमानों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखने का प्रस्ताव किया था। किन्तु वह प्रस्ताव भारत सरकार को पसन्द नहीं आया जोकि मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व देने पर तुली हुई थी। उसका उद्देश्य छः करोड़ बीस लाख मुसलमानों को 'राजद्रोही विरोधी दल' में सम्मिलित होने से रोकना था। मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक क्षेत्र बनाने का अर्थ यह हुआ कि जब कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं में ग़ैर-मुसलमान नागरिकों का प्रतिनिधित्व केवल अप्रत्यक्ष रूप से होता, मुसलमानों को प्रत्यक्ष निर्वाचन का लाभ प्राप्त हो गया। मताधिकार में इस विभेद का फल यह हुआ कि जब कि "एक पारसी, एक हिन्दू तथा एक ईसाई को, जोकि तीन लाख पर आयकर दे रहा हो, मताधिकार नहीं है उसके मुसलमान साथी को, जोकि केवल तीन हज़ार पर आयकर अथवा भूमिकर दे रहा है, मताधिकार प्राप्त है। तीस तीस वर्ष पुराने हिन्दू, पारसी तथा ईसाई स्नातकों (Graduates) और सर गुरुदास बनर्जी, डाक्टर भण्डारकर, सर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुब्रामन्या अय्यर, तथा डाक्टर रासबिहारी घोष सरीखे महानुभावों को वोट देने का अधिकार नहीं है, जब कि पांच वर्ष पुराने प्रत्येक मुसलमान स्नातक को वोट देने का अधिकार है।"* एक गम्भीर दोष यह था कि कुछ मुसलमानों को एक से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों में वोट देने का अधिकार दे दिया गया। बंगाल, मद्रास तथा बम्बई की सरकारों ने १९०९ के अधिनियम के अन्तर्गत जो नियम बनाये, उनके द्वारा प्रान्तीय धारासभाओं की सदस्यता के लिए खड़े होने का अधिकार केवल नगरपालिकाओं और ज़िला बोर्डों के सदस्यों तक ही सीमित कर दिया गया। इसका फल यह हुआ कि धारासभाओं के दरवाज़े बहुत से ऐसे विद्वान, बुद्धिमान तथा मेधावी व्यक्तियों के लिए बन्द कर दिये गये जोकि उनको सजीव बनाने में काफ़ी योग दे सकते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत सरकार तथा प्रान्तों की सरकारों ने जो नियम बनाये वे प्रतिक्रियावादी थे और उनको देखकर कांग्रेस की इस आशा पर तुषारापात हो गया कि अधिनियम की तफ़सीलों को तैयार करने में भी उतनी ही उदारता से काम लिया जायेगा जितनी से कि आधारभूत सिद्धान्तों की रचना की गई थी। १९०८ में कांग्रेस ने लॉर्ड मॉर्ले के प्रस्तावों पर महान् सन्तोष प्रकट किया था, किन्तु १९०९ में उसे पृथक निर्वाचक मण्डलों तथा अन्यायपूर्ण निर्वाचन पद्धति के विरुद्ध घोर निन्दा का एक प्रस्ताव पास करना पड़ा। नियम इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए बनाये गये कि विधान परिषदों में एक बड़ी संख्या में ज़मींदारों तथा मुसलमानों को लाया जाय जोकि शासन के जनतंत्रीकरण के लिये और अधिक प्रयत्नों को सफलतापूर्वक विफल बना सकें। वर्ग हितों को अपील करके सरकार साम्प्रदायिक कटुता बढ़ाने पर तुली हुई प्रतीत होती थी। लन्दन की एक साप्ताहिक पत्रिका 'न्यू एज' (New Age) की ऐसी ही धारणा थी। उसने लिखा कि सरकार की प्रस्थापनाएँ 'आदि से अन्त तक सदैव वर्ग हित के विरुद्ध वर्ग हित को अपील से कलंकित थीं।'

मॉर्ले-मिन्टो सुधारों के मुख्य दोषों का सारांश डा० ज़करिया के शब्दों में दिया जा सकता है। उनके अनुसार इस अधिनियम के दोषों का सार "इस बात में था कि जो अधिकार दिये गये उन्हें एकदम निरर्थक बना दिया गया। इस प्रकार लोकतंत्रवादी निर्वाचन का सिद्धान्त तो अपनाया गया; किन्तु उसके साथ ही साथ जनतंत्र-विरोधी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व भी जोड़ दिया गया। सरकारी बहुमत का अन्त तो कर दिया गया; किन्तु निर्वाचित सदस्य अल्पमत में ही रहे। सदस्यता को काफी बढ़ा दिया गया; किन्तु उसके साथ ही साथ इस बात की स्पष्ट और ज़ोरदार घोषणा कर दी गई कि नवीन परिषदों का किसी भी प्रकार यह अर्थ नहीं है कि संसदीय प्रणाली जारी कर दी गई। भारत परिषद तथा वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद के दरवाज़े बहुत थोड़े से

* १९०९ के कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिये हुए पं० मदन मोहन मालवीय के भाषण में उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चुनीदा भारतीयों के लिए खोल दिये गये; किन्तु शासन गद्दी को भारतीयों की पहुँच के अन्दर कर देने से यह बात नहीं छिप सकती थी कि वास्तविक शक्ति अब भी अंग्रेज़ों के हाथों में ही सुरक्षित थी।"

मॉन्ट-फ़ोर्ड रिपोर्ट के लेखक *सुधारों* की विफलता के कुछ अन्य कारण भी बताते हैं। वे कहते हैं कि उनकी सफलता जिन बातों पर निर्भर करती थी, उनका अभाव था। 'संस्थाओं में कोई सामान्य प्रगति नहीं हुई; प्रान्तीय वित्त को कोई वास्तविक स्वतंत्रता नहीं दी गई; और कुछ प्रगति के बावजूद सरकारी नौकरियों में अधिक संख्या में भारतीयों को स्थान नहीं दिया गया।' ये *सुधारों* की विफलता के महत्त्वपूर्ण कारण हैं। *मॉन्ट-फ़ोर्ड सुधार* योजना की दिशा को निर्धारित करने वाली धारणा यह थी कि भारतवासियों को कुछ शक्ति दी जानी चाहिये और प्रान्तों को केन्द्र के नियन्त्रण से कुछ स्वतंत्रता मिलनी चाहिये।

मॉर्ले-मिन्टो सुधारों के गुण :— बावजूद इस बात के कि *मॉर्ले-मिन्टो सुधारों* से भारतवासियों की कामनाओं की तृप्ति न हो सकी और वे भारत की राजनीतिक समस्या का कोई स्थायी समाधान न कर सके, हमें यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि ये *सुधार* भारत के सांविधानिक विकास के मार्ग में एक महत्त्वपूर्ण मंज़िल को इंगित करते हैं। उनका वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने भारत में सांविधानिक विकास के एक उस अध्याय को बन्द कर दिया जो कि १८६१ के *भारतीय परिषद अधिनियम* के साथ आरंभ हुआ था; उन्होंने सांविधानिक विकास की पहली रूपरेखा को उस अन्तिम बिन्दु तक पहुंचा दिया जहां तक कि जाना सम्भव हो सकता था। जैसा कि श्री वी. पी. मेनन अपने ग्रन्थ 'The Transfer of Power in India' में इतने सुन्दर शब्दों में लिखते हैं :—

"उन्होंने विधान परिषदों और उनके कार्यक्षेत्र को विस्तृत कर दिया था। उन्होंने प्रतिनिधित्व में वृद्धि और सरकार द्वारा विधिनिर्माण के लिए ग़ैर-सरकारी अनुमोदन प्राप्त करने की वांछनीयता को स्वीकार कर लिया था और प्रशासन सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद करने तथा सरकार द्वारा दिये गये उत्तरों पर उससे जिरह करने का अधिकार देकर उन्होंने परिषदों को सरकार के कार्यों की जांच-पड़ताल करने के योग्य बना दिया था। किन्तु प्रशासन का उत्तरदायित्व अविभक्त रहा। एक उत्तरदायी कार्यकारिणी, जो कि पूर्ण या आंशिक रूप से निर्वाचित परिषदों के प्रभाव में हो, की धारणा को स्वीकार नहीं किया गया। शक्ति अंग्रेज़ी सरकार के पास ही रही, और फलतः वे बन्धन बिल्कुल ढीले नहीं पड़े जिनके कारण स्थानीय सरकार भारत सरकार के और भारत सरकार भारत मंत्री तथा संसद के अधीन थी। जनता को सरकार पर प्रभाव डालने के अवसर दिये गये, किन्तु निरंकुश शासन का सिद्धान्त बना रहा।" (पृष्ठ १३-४.)

इस सिद्धान्त के रहते हुए और कोई प्रगति नहीं हो सकती थी। यह सिद्ध करके कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतवासी निरंकुश शासन को अब और अधिक सहन नहीं करेंगे *मॉर्ले-मिन्टो सुधारों* ने *मॉन्ट-फोर्ड सुधारों* के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। दूसरा तार्किक क़दम था १९१९ का *भारत शासन अधिनियम* जिसने कि प्रान्तीय क्षेत्र में एक सीमा तक उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी।

जिन परिस्थितियों में श्री मॉन्टेग्यु ने २० अगस्त, १९१७ की प्रसिद्ध घोषणा की, वे भारत आये और *सांविधानिक सुधारों पर रिपोर्ट* (Report on Constitutional Reforms) तैयार हुई, उनका वर्णन करने से पूर्व हम दो शब्द १९११ के *भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम* (Indian High Courts Act) तथा १९११ में हुए दिल्ली दरबार के विषय में कह देना चाहते हैं।

१९११ का भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम :— इस अधिनियम के द्वारा न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या १६ से बढ़ा कर २० कर दी गई और आवश्यकतानुसार नये उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया। इसने अधिक से अधिक दो वर्ष की अवधि के लिए उच्च न्यायालयों में अतिरिक्त न्यायाधीश नियुक्त करने की भी अनुमति दे दी। इस अधिनियम के द्वारा दी गई शक्तियों का प्रयोग करके सरकार ने पटना १९१६, लाहौर १९१९, तथा रंगून १९२२ में उच्च न्यायालय स्थापित किये।

दिल्ली दरबार :— सम्राट जार्ज पंचम के भारत सम्राट के रूप में सिंहासनारूढ़ होने के उपलक्ष में १२ दिसम्बर, १९११ को दिल्ली में एक दरबार हुआ। इससे पूर्व कोई ब्रिटिश सम्राट भारत नहीं आया था, भारत में राजमुकुट धारण करने का तो प्रश्न ही क्या था ? यह अद्भुत और अपूर्व अवसर था। आम तौर से यह आशा की जाती थी कि इस अवसर पर असाधारण प्रतिघोषणायें की जायेंगी। तीन घोषणायें की गईं, दो स्वयं सम्राट ने और एक उनकी ओर से गवर्नर-जनरल ने। इन घोषणाओं पर ब्रिटिश मंत्री मंडल, 'इण्डिया ऑफिस' और गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में विचार हो चुका था। परन्तु इस बात को बड़ी सफलतापूर्वक गुप्त रक्खा गया था। शिखर पर के कुछ थोड़े से व्यक्तियों को छोड़ कर और किसी को उन निर्णयों के विषय में कोई ज्ञान नहीं था।

प्रथम घोषणा में सम्राट ने अपनी तथा सम्राज्ञी की व्यक्तिगत भावनाओं को अभिव्यक्त किया और दूसरी में भारत की राजधानी को कलकत्ता के स्थान में दिल्ली कर देने का निर्णय घोषित किया। इस स्थानान्तरण के कारण प्रशासकीय थे। यह महसूस किया गया कि आगे चलकर उचित समय पर भारतवासियों की अपने देश के प्रशासन में समुचित भाग लेने की न्यायोचित मांग को स्वीकार करना होगा। ऐसा करने के लिए प्रान्तों को अधिक स्वशासन देना होगा और ऐसा करने के लिए यह आवश्यक था कि सम्पूर्ण देश का सर्वोच्च शासन किसी एक प्रान्त विशेष से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध न रहे। इसके लिए राजधानी कलकत्ता के बदले में किसी अन्य स्थान को बनाना आवश्यक हो गया। दिल्ली को इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त स्थान समझा गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निर्णय किया गया कि बंगाल को बम्बई तथा मद्रास की भाँति एक प्रेज़ीडेन्सी बना दिया जाय और उन्हीं की भांति उसमें एक गवर्नर और कार्यकारिणी के पार्षद रखे जायें। इसका अर्थ हुआ बंगाल के विभाजन का अन्त। परन्तु विभाजन के रद्द हो जाने मात्र से बंगाल की प्रेज़ीडेन्सी बहुत अधिक बड़ी हो जाती जिसका प्रशासन कुशलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता था। इसलिए यह निर्णय किया गया कि बिहार, उड़ीसा तथा छोटा नागपुर का एक लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर के अधीन एक अलग प्रान्त बनाया जाय और आसाम को बंगाल से अलग करके उसे एक चीफ़ कमिश्नर का प्रान्त बना दिया जाय। दिल्ली को भी पंजाब से अलग करना पड़ा और उसे एक चीफ़ कमिश्नर का प्रान्त बना दिया गया। प्रोफ़ेसर कीथ का यह कथन सही है कि उक्त घोषणा में शासन की नीति में परिवर्तन किया गया था और उसे तब तक नहीं किया जाना चाहिये था जब तक कि संसद को उस पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर न दे दिया जाता। परन्तु राजनीति में कभी कभी असाधारण बातें भी घटित हो जाती हैं; यह भी एक ऐसी ही बात थी। वह समय ही ऐसा था कि उसमें ऐसा कर देना क्षम्य ही था।

उक्त घोषणा को क्रियान्वित करने के लिये कुछ संसद के बनाये हुए पहिले क़ानूनों का सहारा लिया गया और कुछ आवश्यक पूरक क़ानून इंग्लैण्ड तथा भारत में बनाये गये। सपरिषद भारत मंत्री ने एक औपचारिक घोषणा की कि भारत का गवर्नर-जनरल बंगाल का गवर्नर नहीं रहेगा और उसके लिए एक अलग गवर्नर नियुक्त किया जायेगा। २१ मार्च, १९१२ को एक प्रतिघोषणा द्वारा लॉर्ड कार्मीकल को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। २२ मार्च, १९१२ की एक प्रतिघोषणा द्वारा फ़ोर्ट विलियम की प्रेज़ीडेन्सी के प्रदेशों में से काट कर बिहार और उड़ीसा नामक एक अलग प्रान्त बना दिया गया। उसे एक लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर के अधीन रख दिया गया। उसी दिन की एक अन्य प्रतिघोषणा द्वारा पूर्वी बंगाल से आसाम को अलग कर दिया गया और उसे एक चीफ़ कमिश्नर के अधीन रख दिया गया। १९१२ के एक अधिनियम के द्वारा बिहार और उड़ीसा को एक कार्यकारिणी परिषद दी गई। उसी अधिनियम के द्वारा आसाम तथा मध्य प्रदेश (C. P.) के लिये विधान परिषदों की स्थापना का अधिकार दिया गया।

१९१५ में संसद ने एक अधिनियम पारित किया जिसके द्वारा भारत सरकार से सम्बन्धित समस्त अधिनियमों को संकलित कर दिया गया। वह अधिनियम १९१५ का भारत सरकार अधिनियम कहलाता है। उसने ४७ अधिनियमों की न रद की हुई धाराओं को रद कर दिया और भारत से सम्बन्धित क़ानूनों को समझना और उनमें संशोधन करना अधिक सरल बना दिया। उसका विशेष सांविधानिक महत्त्व नहीं है, इसलिये उसका वर्णन करना आवश्यक नहीं।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८

विश्व युद्ध का भारत पर प्रभाव

विषय प्रवेश :— हमने ऊपर देखा कि अंग्रेज़ सरकार को यह आशा थी कि *मॉर्ले-मिन्टो सुधारों* से भारत की राजनीतिक स्थिति में स्थिरता आजायेगी। उसे पूर्ण विश्वास था कि भारत के अभिजात्य वर्ग (Aristocratic elements) उसके साथ सहयोग करेंगे और जनतंत्र की ओर प्रगति को रोकेंगे। ब्रिटेन में भी आम धारणा यही थी कि अभी काफी दिन तक जनतंत्र की दिशा में कोई क़दम नहीं उठाया जाना चाहिये। लॉर्ड मॉर्ले ने 'इण्डिया ऑफ़िस' में श्री गोपाल कृष्ण गोखले से अपनी गुप्त बातचीत के आधार पर लॉर्ड मिन्टो को निम्नलिखित शब्द लिखे :

"उसने अपनी अन्तिम आशा और इच्छा को छिपाया नहीं। वह भारत को एक स्वशासी उपनिवेश देखना चाहता है। मैंने भी अपने इस विश्वास को नहीं छिपाया कि एक दीर्घकाल तक— हमारे इस शेष अल्प जीवन काल से बहुत बाद तक— यह केवल एक स्वप्न ही रहेगा।"*

'इण्डिया ऑफ़िस' में लॉर्ड मॉर्ले के उत्तराधिकारी लॉर्ड क्रयु ने १९१२ में एक वक्तव्य में स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि अंग्रेज़ों का लक्ष्य भारत में औपनिवेशिक स्वराज स्थापित करना नहीं है। इस वक्तव्य की पृष्ठभूमि में यह धारणा थी कि भारत-वासी संसदीय शासन-प्रणाली के अयोग्य हैं। अब तक के अधिनियम जिन मान्यताओं पर आधारित थे उनके रहते हुए और अधिक प्रगति नहीं की जा सकती थी। परन्तु स्थिति बड़ी द्रुत गति से बदलती जा रही थी। भारत का उदारवादी वर्ग, जिसने कि आरम्भ में *मॉर्ले-मिन्टो सुधारों* का हृदय से स्वागत किया था, उनसे शीघ्र ही असन्तुष्ट हो उठा। यहाँ तक कि गोखले भी निराश हो गये। उन्होंने महसूस किया कि भारत सरकार जब एक बार किसी विषय पर अपनी धारणा निश्चित कर लेती है तो फिर केन्द्रीय धारा सभा के भारतीय सदस्य कुछ भी क्यों न कहें उससे उसकी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। १९०९ के अधिनियम के बनने के बाद जो क़ानून बनाये गये उनमें से एक था १९१० का प्रेस अधिनियम। इसलिए उदारवादी उससे कहीं अधिक की मांग करने लगे जोकि १९०९ के अधिनियम ने उन्हें दिया था। विश्व युद्ध के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद के दावे बहुत ऊँचे हो गये। १९१५ में कांग्रेस ने यह घोषणा की कि अब वह समय आ गया है जब कि प्रान्तीय धारासभाओं को प्रान्तीय कार्यपालिकाओं पर

* Quoted by Coupland : *India, A Restatement*, page 107.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक नियन्त्रण का अधिकार दिया जाना चाहिये। १९१६ में उसने ब्रिटिश सरकार से यह मांग की कि भारत को जल्दी से जल्दी स्वशासन देने के इरादे की घोषणा की जाय। यह देखना दिलचस्पी से खाली न होगा कि विश्व युद्ध ने किस प्रकार भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को सम्बल पहुंचाया और जनता में एक नवीन प्रवृत्ति और एक नवीन दृष्टिकोण को उत्पन्न किया। उसने ब्रिटिश अधिकारियों के दृष्टिकोण में भी कुछ परिवर्तन किया और अप्रत्यक्ष रूप से उस वक्तव्य को प्रेरित किया जोकि भारत मंत्री, श्री एडविन सेमुअल मांटेग्यु, ने २० अगस्त, १९१७ को *हाउस ऑफ कॉमन्स* में दिया।

भारत तथा युद्ध :— जब ऑस्ट्रिया के एक राजकुमार की एक सर्ब द्वारा हत्या कर दिये जाने से उत्तेजित होकर इंग्लैण्ड १९१४ में युद्धक्षेत्र में उतरा तो वह लड़ाई के लिये पूरी तरह से तैयार न था। उसने भारत तथा अपने उपनिवेशों से सहायता की अपील की। भारत ने बड़ी उदारता के साथ लड़ाई में इंग्लैण्ड की सहायता की; उसने फ्रांस, मेसोपोटामिया तथा अन्य स्थानों में लड़ने के लिए एक सेना खड़ी की। उसने धन और जन की इतनी बड़ी सहायता दी कि लॉर्ड हार्डिंग के शब्दों में लड़ाई के प्रथम सप्ताहों में उसका बिल्कुल रक्त सूख गया। यह सहायता सम्पूर्ण देश ने की; इस पर सारे दल सहमत थे; इस विषय में देश में कोई मतवैभिन्य नहीं था, कोई ब्रिटिश-विरोधी भाव नहीं थे। इस सर्व-व्यापी राजभक्ति के कई कारण थे। प्रथम तो कि लॉर्ड हार्डिंग ने अपने वायसराय पद के काल में जिस उदारता और सहानुभूति का परिचय दिया था उसने अंग्रेज़ों के प्रति काफी सद्भावना उत्पन्न कर दी थी। उससे पहिले उसने दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के कॉज़ की हिमायत की थी; उसने इस बात का भी आग्रह किया था कि भारतीय सैनिकों को केवल सहायकों के रूप में नहीं बल्कि यूरोपियन सिपाहियों के समकक्ष समझा जाना चाहिये और उन्हें छोटे मोटे मोर्चों पर नहीं बल्कि उन पश्चिमी मोर्चों पर भेजा जाना चाहिये जहां कि युद्ध का वास्तविक निर्णय होना था। दूसरे यह कि यूरोपियन राजनीतिज्ञों ने समय समय पर जो वक्तव्य दिये भारतीय नेताओं ने उनको अक्षरशः सत्य समझ लिया और यह आशा करने लगे कि युद्धोपरान्त भारत में एक नवीन स्वर्ग उतर आयेगा, अर्थात् भारत को काफी बड़ी हद तक स्वराज्य मिल जायेगा। १८८५ में स्वशासन प्राप्त भारत की सम्भावना एक सुदूर भविष्य की घटना समझी जाती थी, किन्तु १९१६ में वह बहुत निकट दिखाई पड़ने लगा। क्योंकि क्या श्री एस्क्विथ ने लड़ाई आरंभ होते ही यह घोषणा नहीं कर दी थी कि भविष्य में भारतीय प्रश्न पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार किया जायेगा? क्या आगे चल कर श्री लॉयड जार्ज ने यह घोषणा नहीं की थी कि आत्म-निर्णय (Self-determination) के सिद्धान्त को छोटे बड़े समस्त राष्ट्रों पर लागू किया जायेगा? क्या मित्र राष्ट्रों (Allies) की ओर से यह घोषित नहीं किया गया था कि यह लड़ाई संसार को जनतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने के लिए लड़ी जा रही है और छोटे से छोटे तथा कमज़ोर से कमज़ोर राष्ट्र पर भी उसकी इच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विरुद्ध कोई शासन नहीं थोपा जायेगा, तथा छोटे बड़े प्रत्येक राष्ट्र को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलेगा ? भारत की जनता तथा उसके नेताओं ने इन उद्घोषणाओं को अक्षरशः सत्य मान लिया; इस प्रकार के वक्तव्यों तथा ब्रिटिश प्रधान मंत्री के इस उद्गार ने कि भारतवासी 'हमारे सामान्य हितों के संयुक्त तथा समान संरक्षक हैं' भारतवासियों के मन में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि अब से भारत को विश्व में एक सम्मानित स्थान प्राप्त होगा और उसके निवासियों को विश्वास-प्राप्त साथी तथा मित्र समझा जायेगा। इस प्रकार उत्पन्न हुई आशा को कांग्रेस ने १९१६ में अपने लखनऊ अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव के रूप में अभिव्यक्त किया :

"इस बात का ध्यान रखते हुए कि भारत की महान् जातियां प्राचीन सभ्यता की उत्तराधिकारिणी हैं, और उन्होंने शासन तथा प्रशासन के क्षेत्र में महान योग्यता का परिचय दिया है, तथा ब्रिटिश शासन की एक शताब्दी में शिक्षा तथा सार्वजनिक भावना में प्रगति की है, और इस बात पर विचार करते हुए कि वर्तमान शासन-प्रणाली जनता की उचित कामनाओं को सन्तुष्ट नहीं कर पाती, तथा वह आज की स्थितियों और आवश्यकताओं के प्रतिकूल हो गई है, कांग्रेस यह मत प्रकट करती है कि अब वह समय आ गया है जबकि सम्राट को यह प्रतिघोषणा कर देनी चाहिये कि ब्रिटिश नीति का लक्ष्य तथा इरादा भारत को शीघ्र ही स्वराज प्रदान कर देना है ; और यह कांग्रेस यह मांग करती है कि स्वराज की दिशा में निश्चित क़दम उठाने के लिए सरकार को कांग्रेस द्वारा तैयार की गई तथा मुस्लिम लीग द्वारा स्वीकृत योजना को स्वीकार कर लेना चाहिये, और यह कि साम्राज्य के संविधान में भारत एक पराधीन देश न होकर स्वराज-प्राप्त उपनिवेशों के साथ साथ साम्राज्य में एक समान साझीदार बनेगा।"

युद्ध का प्रभाव दो और दिशाओं में भी पड़ा। अप्रत्यक्ष रूप से इससे मुस्लिम लीग के लक्ष्य में परिवर्तन हुआ, और लोकमान्य तिलक तथा श्रीमती एनी बीसेन्ट के नेतृत्व में 'होम रूल' आन्दोलन का आविर्भाव हुआ। मोरक्को तथा ईरान के इस्लामी राज्यों के गिर जाने के बाद भारतीय मुसलमान संसार में बचे हुए महान् मुस्लिम राज्य तुर्की के प्रति पहिले की अपेक्षा और भी अधिक आसक्ति रखने लगे। जब तुर्की को, पहिले इटली और फिर 'बल्कान लीग' की ओर से खतरा उत्पन्न हुआ तो भारतीय मुसलमान उत्तेजित हो उठे ; उन्हें ऐसा लगा कि ईसाई राष्ट्र संसार में से इस्लाम की राज्यशक्ति का अन्त करने का संगठित प्रयास कर रहे हैं। १९११ में इटली तथा तुर्की के मध्य संघर्ष में ब्रिटेन की तटस्थता ने भारतीय मुसलमानों के हृदय में पहिले ही अंग्रेज़ों के प्रति कटुता उत्पन्न कर दी थी ; अब जबकि उन्होंने विश्व युद्ध में ब्रिटेन को तुर्की के विरुद्ध लड़ते हुए देखा तो वे अधिकाधिक राष्ट्रवाद की ओर प्रवृत्त होने लगे। यह सोच कर कि अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण से मुसलमानों का ख़िलाफ़तवादियों की अपेक्षा कांग्रेस से मिल जाना अधिक अच्छा होगा, मुस्लिम लीग भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज को अपना लक्ष्य मानने के लिये प्रेरित हुई। इसने राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस-लीग समझौते के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। उसके फलस्वरूप कांग्रेस-लीग योजना बनी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बीसेन्ट के नेतृत्व में *'होम रूल'* (Home Rule) के जो आन्दोलन चले उनमें भी यूरोपीय युद्ध का बहुत हाथ रहा। युद्ध ने उन्हें स्फूर्ति प्रदान की। तिलक ने पूना में अप्रैल में और श्रीमती बीसेण्ट ने सितम्बर, १९१६ में लीग की स्थापना की। इन दोनों लीगों का उद्देश्य जन-साधारण में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करना था; इनके द्वारा स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा तथा भारत के लिए स्वशासन का प्रचार किया गया। आगे चलकर ये दोनों आन्दोलन मिलकर एक हो गये और कांग्रेस ने इसके संगठन का कांग्रेस-लीग योजना के प्रचार के लिये प्रयोग किया। मद्रास में श्रीमती बीसेण्ट की *'होम रूल लीग'* को लोकप्रिय बनाने में विद्यार्थियों ने सक्रिय भाग लिया जो सरकार को बहुत बुरा लगा। उसने लीग के विरुद्ध कार्यवाही की और श्रीमती बीसेण्ट तथा उनके दो सहकर्मियों, अरुणडेल तथा वाडिया, को गिरफ्तार कर लिया। उनकी गिरफ्तारी के विरुद्ध देश में भारी आन्दोलन हुआ और सरकार ने कुछ समय पश्चात् उन्हें छोड़ दिया। बम्बई सरकार ने तिलक के विरुद्ध कार्यवाही की; उन्हें दस दस हज़ार रुपये के दो ज़मानती देने और बीस हज़ार रुपये का एक व्यक्तिगत मुचलका (Bond) भरने का आदेश दिया गया। बम्बई के उच्च न्यायालय ने अपील में उस आदेश को रद कर दिया।

इंग्लैण्ड में युद्ध का प्रभाव :— भारतीय प्रश्न के विषय में इंग्लैण्ड में जनमत पर युद्ध का बहुत भारी प्रभाव पड़ा। हम पहिले ही कह चुके हैं कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री एस्क्विथ ने युद्ध के आरम्भ होते ही यह घोषणा करदी थी कि भविष्य में भारतीय प्रश्न पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार किया जायेगा और यह कि भारतवासी 'हमारे सामान्य हितों के संयुक्त तथा समान संरक्षक हैं।' अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण को इतना उदार बनाने में बहुत बड़ा हाथ इस बात का था कि संकट के क्षणों में भारत ने धन जन से उनकी सहायता की। भारत ने इंग्लैण्ड पर विश्वास किया और इंग्लैण्ड भारत का कृतज्ञ हो गया। आगे चलकर युद्ध में अमरीका के सम्मिलित हो जाने से यह धारणा बहुत व्यापक हो गई कि लड़ाई समाप्त होने पर छोटे बड़े सभी राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलेगा। संसार को लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित करने की बात भी कही गई। ये विचार भारत पर भी लागू हो सकते थे और होने चाहियें थे: ऐसा कुछ उदारहृदय अंग्रेज़ों का विश्वास था। इसके अतिरिक्त युद्ध ने अंग्रेज़ों के स्वतन्त्रता-प्रेम को पुनः जाग्रत कर दिया था। इन सब बातों ने अंग्रेज़ों को भारत की इस मांग पर कि सरकार को यह घोषणा कर देनी चाहिये कि भारत में ब्रिटिश राज का उद्देश्य जल्दी से जल्दी स्वराज प्रदान कर देना है सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित किया।

मेसोपटामिया की समस्या :— भारत की राजनीतिक स्थिति पर महायुद्ध के प्रभावों का वर्णन समाप्त करने से पूर्व एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना का ज़िक्र करना भी आवश्यक है जिसका हमारी वैधानिक प्रगति पर बहुत असर पड़ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है महायुद्ध ने राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल पहुंचाया और भारतीय दृष्टिकोण में महान् परिवर्तन किया। कांग्रेस ने देश के लिए स्वराज्य माँगा। यद्यपि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारत द्वारा दी गई सहायता की बहुत प्रशंसा की, उसके लिये कृतज्ञता भी प्रकट की और भारतीय प्रश्न पर नये दृष्टिकोण से विचार करने की घोषणा की, राजनीतिक सुधारों के प्रश्न पर उन्होंने जानबूझ कर मौन ही साधे रक्खा। यह असम्भव नहीं कि उनकी राय में देश के वैधानिक गठन में किसी परिवर्तन की आवश्यकता ही न थी। पर इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने स्थिति को एकदम बदल दिया और शिक्षित ब्रिटिश लोकमत यह अनुभव करने लगा कि भारत में नौकरशाही के निरंकुश और अनुत्तरदायी शासन का तुरन्त अन्त हो जाना चाहिये और उनके स्थान पर उत्तरदायी शासन प्रारम्भ होना चाहिये। यह घटना थी पार्लियामेंट द्वारा मेसोपटामिया के प्रश्न पर बैठाये गये कमीशन की रिपोर्ट का मई १९१७ में प्रकाशन।

मेसोपटामिया में तुर्की के साथ लड़ाई का भार भारत सरकार पर छोड़ दिया गया था। फरवरी १९१६ तक ब्रिटिश सरकार के युद्ध-विभाग का इस पर कोई नियंत्रण न था। भारत सरकार को इसमें मुंह की खानी पड़ी। इसे बहुत अक्षमता से चलाया गया था और सिपाहियों की चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताओं और साधारण सुविधाओं पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया था। इसकी जांच पड़ताल के लिये पार्लियामेंट ने एक कमीशन बिठाया। इसकी रिपोर्ट ने अनेक बातों पर बहुत प्रकाश डाला। इसने बताया कि "भारत की वह विलक्षण शासन-प्रणाली जिसकी कार्यक्षमता में ब्रिटेन के लोकमत को सन्देह मात्र भी नहीं, केवल इसलिये पूरी तरह असफल सिद्ध हुई है क्योंकि उसे अपनी इच्छानुसार किसी कार्य को करने और न करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह प्रणाली निहायत कमज़ोर पायी गई; यह विचार कि 'भारत स्थित चुप और शक्तिशाली अधिकारी' ही 'स्वेज़ के पूर्व' में सब बातें प्रभावात्मक रूप से करवा सकता है, खण्डित हो गया।" कर्नल जोसियाह वेजवुड ने, जो कमीशन के एक सदस्य थे, राय दी कि भारतीयों को अपने देश के शासन में पर्याप्त भाग दिया जाना चाहिये। इस प्रकार भारतीय शासन-पद्धति के अवगुण स्पष्ट रूप से ब्रिटिश जनता के समक्ष आये। भारत मंत्री श्री ऑस्टिन चैम्बरलैन को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा और श्री ई. एस. मान्टेग्यु उनके उत्तराधिकारी बने। उनके बारे में लोगों का विचार था कि वे भारत के सच्चे मित्र और हितैषी हैं। इसलिये उनकी नियुक्ति ने भारतीयों को बड़ी बड़ी आशायें बंधाई। उन्होंने २० अगस्त १९१७ को ब्रिटिश लोकसभा में भारत के सम्बन्ध में सरकार की नई नीति की घोषणा की।

इस नई नीति तथा जिस प्रकार १९१९ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा इसे कार्यान्वित करने का यत्न किया गया, इन दोनों पर ही आने वाले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग ३

क्राउन के अधीन भारत

उत्तरदायी शासन का विकास

(१९१९ तथा १९३५ के अधिनियम)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९

१९१९ का भारत सरकार अधिनियम

विषय प्रवेश :— गत अध्याय में हमने देखा कि युद्ध से पहिले ब्रिटिश शासकों (भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों में) का यह विश्वास था कि संसदीय शासन प्रणाली भारत की स्थितियों के अनुकूल नहीं है। लॉर्ड डफ़रिन, लॉर्ड मॉर्ले तथा लॉर्ड क्रयु विभिन्न समय पर स्पष्ट रूप से इस सामान्य विश्वास को अभिव्यक्त कर चुके थे कि भारत उत्तरदायी शासन के योग्य नहीं है। किन्तु यूरोपीय युद्ध ने स्थिति में ज़बर्दस्त परिवर्तन कर दिया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिए भारतवासियों के इस तर्क को ठुकराना बड़ा कठिन हो गया कि यदि युद्ध संसार को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित करने के लिए लड़ा जा रहा था तो भारत को भी स्वराज की ओर अग्रसर होना चाहिये; और यह कि यदि आत्म-निर्णय का सिद्धान्त तुर्क साम्राज्य के राजनीतिक रूप से पिछड़े हुए अरबों पर लागू हो सकता था तो वह भारत पर भी लागू होना चाहिये। इस प्रकार ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भारतीय समस्या पर 'एक नवीन दृष्टिकोण' से विचार करने पर विवश हो गये। मेसोपोटामिया पर संसदीय कमीशन की रिपोर्ट ने इस प्रश्न को बिल्कुल स्पष्ट ही कर दिया; उससे ब्रिटिश शासकों को यह विश्वास हो गया कि अत्यन्त केन्द्रीकृत तथा अनुत्तरदायी भारत सरकार के ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिये। एक संकट-काल में भारत सरकार की परीक्षा हुई और उसमें वह विफल रही। स्वयं ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के लिये भी पुरानी व्यवस्था में परिवर्तन करना आवश्यक हो उठा।

श्री मॉन्टेगु की प्रतिघोषणा :— १८६१ के *भारतीय परिषद अधिनियम* से सांविधानिक विकास की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई थी वह १९०९ के अधिनियम में अपनी चरम सीमा को जा पहुँची थी, उस दिशा में विकास की वह अंतिम अवस्था थी। नवीन स्थिति जिस आमूलचूल परिवर्तन की मांग करती थी उसके लिए प्रतिनिधि तथा उत्तर-दायी शासन के बीच की रेखा को पार करना तथा यह घोषित करना आवश्यक था कि भारत में ब्रिटिश नीति का ध्येय औपनिवेशिक ढंग का उत्तरदायी शासन स्थापित करना है। यही बात श्री एडविन सेमुअल मॉन्टेगु ने, जोकि सर ऑस्टिन चेम्बरलेन के बाद भारत मंत्री बने थे, २० अगस्त, १९१७ को 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' में अपनी ऐतिहासिक घोषणा में कही। इस घोषणा में आपने कहा :

"सम्राट् की सरकार की नीति, जिसके साथ भारत सरकार भी पूर्णरूप से सहमत है, यह है कि भारतीयों को प्रशासन के प्रत्येक विभाग में अधिकाधिक स्थान दिया जाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में भारत में क्रमशः उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिये स्व-शासित संस्थाएं विकसित की जायं। इस नीति की प्रगति धीरे धीरे होगी और ब्रिटिश संसद तथा भारत-सरकार ही यह निश्चय करेंगी कि कब और कितना आगे बढ़ना आवश्यक है।"

घोषणा के प्रथम भाग में कोई नई बात नहीं कही गई थी; इसने केवल उस अधूरी प्रतिज्ञा को ही स्पष्ट शब्दों में रक्खा जो १८३३ के चार्टर अधिनियम की अनेक बार उद्धृत धारा में की गई थी। पर इसका दूसरा भाग आश्चर्यजनक रूप से नया था। इसका ब्रिटिश सरकार की परम्परागत नीति से कोई सम्बन्ध न था। अब तक जब जब भी भारत की वैधानिक उन्नति का प्रश्न उठा, ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने निश्चित शब्दों में बताया कि वे भारत में संसदीय शासन की स्थापना नहीं करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में हमें लॉर्ड मॉर्ले का वह कथन स्मरण हो आता है जिसमें उन्होंने बताया था कि यदि कोई यह सिद्ध करदे कि १९०९ का अधिनियम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना करता है तो उन्हें यह कहना होगा कि उनका उससे कोई सम्बन्ध नहीं। भारत मंत्री लॉर्ड क्रयु का १९१२ में यह वक्तव्य कि औपनिवेशिक स्वराज की दृष्टि से भारत का कोई भविष्य नहीं, इसी तथ्य की पुष्टि करता है। उन्होंने कहा कि 'एक विदेशी जाति पर हम स्व-शासन के परीक्षण की आज़माइश नहीं कर सकते।' किन्तु अब यही शासन-प्रणाली थी जिसे मांटेग्यु ने अपनी घोषणा में भारत को देने का वचन दिया था। जिस चीज़ को १९०९ और १९१२ में असम्भव समझा गया उसी को १९१७ में क्रियात्मक और वांच्छनीय घोषित किया गया।

पर इसका यह अर्थ कभी भी नहीं समझना चाहिये कि सम्राट् की सरकार तत्काल भारत को पूर्ण उत्तरदायी शासन दे देना चाहती थी। मांटेग्यु ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि उत्तरदायी शासन क्रमशः स्थापित होना है। 'मैं यह कहूँगा कि इस नीति की प्रगति धीरे धीरे होगी। ब्रिटिश और भारत सरकार, जिन पर भारत की जनता के कल्याण और उन्नति का उत्तरदायित्व है, प्रत्येक वैधानिक क़दम के समय और मात्रा की निर्णायिका होंगी। जिन्हें इस प्रकार देश की सेवा का नया अवसर मिलेगा उनका सहयोग और यह बात कि किस हद तक उनकी उत्तरदायित्व की भावना में विश्वास किया जा सकता है, इस कार्य में सरकार का मार्ग प्रदर्शन करेगी।'

यह बात ध्यान देने योग्य है कि २० अगस्त की घोषणा में 'औपनिवेशिक स्वराज' का कहीं ज़िक्र नहीं। इतना ही नहीं, 'स्व-शासन' शब्द तक का भी इसमें प्रयोग नहीं किया गया; इनके स्थान पर इसमें उत्तरदायी शासन का प्रयोग किया गया है। मसविदे में यह परिवर्तन लॉर्ड कर्ज़न ने किया था। फिर भी घोषणा में यह बात निहित थी कि किसी दिन भारत औपनिवेशिक स्वराज अवश्य लेगा। ब्रिटिश साम्राज्य के अंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना' का अर्थ इससे कम भला क्या हो सकता था ? जैसा कि कूपलैण्ड का भी विचार है 'इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि भारत एक दिन वास्तविक राष्ट्र की स्थिति को प्राप्त कर सकता था जिसका मूर्त रूप, अन्य उपनिवेशों की तरह, राष्ट्रीय शासन प्रणाली में देखा जा सकता था।'*

सावधानी और अपने बचाव के अनेकों शब्दों से घिरी होने के कारण ब्रिटिश नीति की यह घोषणा भारतीयों को, जो लम्बे अरसे से इसकी प्रतीक्षा में थे, पूर्ण सन्तोष न दे सकी। तथापि इसने राजनीतिक स्थिति को बहुत सँभाला और युद्ध के नाजुक समय में देश को चुप रक्खा।

मांटेग्यु की भारत यात्रा :— अपनी घोषणा को कार्य रूप देने के उद्देश्य से भारतीय नेताओं और भारत सरकार के कर्मचारियों की सलाह से एक सुधार योजना तय्यार करने के लिये माँटेग्यु नवम्बर १९१७ में भारत आये और मई १९१८ तक यहाँ ठहरे। 'ऐन इण्डियन डायरी' नामक एक दिलचस्प पुस्तक में, उन्होंने अपनी इस भारत यात्रा का संक्षिप्त विवरण दिया है। वे यहाँ मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस के उदारवादी एवं उग्रवादी नेताओं से मिले। श्रीमती बीसेंट और तिलक ने उन्हें कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया पर यहाँ की नौकरशाही ने उन्हें ऐसा न करने दिया। वे सुधार के प्रस्तावों में बहुत आगे जाना चाहते थे पर भारतीय नौकरशाही उनकी कलम को बराबर रोकती रही। उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि भारत सरकार नये सुधार देने के लिये बिल्कुल उत्सुक नहीं थी और यथावत् स्थिति को कायम रखना चाहती थी।

मान्ट-फोर्ड योजना :— लॉर्ड चेम्सफोर्ड के परामर्श से मांटेग्यु ने भारतीय वैधानिक सुधारों पर एक रिपोर्ट तैयार की जो मान्ट-फोर्ड योजना के नाम से प्रसिद्ध है। जुलाई १९१८ में यह प्रकाशित हुई। भूत की वैधानिक प्रगतियों एवं मॉर्ले-मिन्टो सुधारों का अध्ययन करने के उपरान्त तथा भारतीयों की 'स्वशासन' की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मांग को दृष्टि में रखते हुए रिपोर्ट के रचयिता इस परिणाम पर पहुँचे कि पुराने मार्ग का अनुसरण करते हुए कोई वैधानिक उन्नति सम्भव नहीं और भारतीयों को किसी न किसी अंश में शासन का उत्तरदायित्व देना आवश्यक है। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भारत जैसे देश में जहाँ संसदीय प्रणाली की कोई परम्परा नहीं, पूर्ण उत्तरदायी शासन दे देना भी अक्रियात्मक सा है। अतः वे इस परिणाम पर पहुंचे कि क्रमशः एवं शनैः शनैः भारतीयों को उत्तरदायित्व दिया जाय। पर इस दिशा में पहिला क़दम उठाना आवश्यक था। इन मांगों को पूरा करने के लिये रिपोर्ट ने निम्न हल पेश किया :—

(१) 'स्थानीय संस्थाओं पर जनता का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जाय और जहाँ तक हो सके उन्हें बाहर के नियन्त्रण से मुक्त रक्खा जाय।'

* कूपलैण्ड : "इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट", पृष्ठ १११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) 'उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास के लिये पहिला क़दम प्रान्तों में उठाया जाय। प्रारम्भ में आंशिक उत्तरदायित्व दिया जाय और जब अवस्थाएँ इजाज़त दें, पूर्ण उत्तरदायित्व दे दिया जाय। इसका अर्थ यह है कि प्रान्तों को कानूनी, प्रशासन सम्बन्धी और आर्थिक क्षेत्रों में भारत सरकार के नियन्त्रण से एकदम मुक्ति दे दी जाय।'

(३) 'भारत सरकार पार्लियामेंट के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी रहे। इस उत्तरदायित्व के अतिरिक्त सब आवश्यक विषयों में इसका अधिकार उस समय तक निर्विवाद रहे जब तक कि प्रान्तों में होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव स्पष्ट न हो जायं। इस बीच में केन्द्रीय धारासभा को और व्यापक बनाया जाय, उसमें जनता का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाय और सरकार पर नियन्त्रण करने के अवसरों में भी वृद्धि की जाय।'

(४) 'जिस अनुपात में इन परिवर्तनों पर अमल होता जाय उसी अनुपात में पार्लियामेंट और भारत मन्त्री का भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों पर नियन्त्रण शिथिल कर दिया जाय।'

इस प्रकार मान्ट-फोर्ड योजना के चार आधारभूत सिद्धान्त निम्न थे: स्थानीय संस्थाओं पर जनसाधारण का नियन्त्रण, प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व अथवा दुहरा शासन (dyarchy), केन्द्र में उत्तरदायित्व के बग़ैर सरकार पर प्रभाव डालने के अवसरों में वृद्धि, और जिस हद तक जनता को शक्ति हस्तान्तरित हो उस हद तक भारत मंत्री के नियन्त्रण में शिथिलता। रिपोर्ट में पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की भी जांच पड़ताल की गई; इसके प्रजातन्त्र-विरोधी एवं अराष्ट्रीय स्वरूप के बावजूद रिपोर्ट के रचयिताओं ने इसे बिल्कुल रद नहीं किया और देश की राजनीतिक स्थिति की आड़ में इसे सिक्खों पर भी लागू करने की सिफारिश की।

उदार संघ का जन्म :— जुलाई १९१८ में मान्ट-फोर्ड रिपोर्ट का प्रकाशित होना था कि गरम और नरम दल वालों में परस्पर मतभेद बढ़ने लगे। इसने कांग्रेस की राजनीतिक एकता नष्ट कर दी। सुधार प्रस्तावों पर दोनों दलों के विचार मौलिक रूप से एक दूसरे से भिन्न थे। गरम दल वालों की दृष्टि में ये असन्तोषजनक थे और वे तब तक उन्हें स्वीकार करने को तैयार न थे जब तक उनमें भारी परिवर्तन न हो जायं। श्रीमती बीसेंट के अनुसार जहाँ 'ऐसे सुधारों का देना इंग्लैण्ड के अनुदार दृष्टिकोण का सूचक था वहाँ इनका स्वीकार करना भारत के लिये अपमानजनक था।' तिलक ने इन्हें 'असन्तोषप्रद ही नहीं अपितु निराशाजनक' भी कहा। श्रीमती बीसेंट और तिलक की ये आलोचनाएं उग्र दल के विचारों को सार रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। उग्र दल के इन विचारों का कारण यह था कि मान्ट-फोर्ड सुधार कांग्रेस-लीग प्रस्तावों के समीप भी नहीं पहुंचते थे; इन्होंने केन्द्र में तनिक भी उत्तरदायित्व नहीं दिया और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्तों में केवल आंशिक उत्तरदायित्व ही दिया।* नरम दल वालों ने, जिन्हें मांटेग्यु के उद्देश्यों की सच्चाई में पूर्ण विश्वास था और जिनका मांटेग्यु के साथ उनके इंग्लैण्ड रवाना होने से पूर्व एक प्रकार का समझौता सा हो चुका था, इन सुधारों को उस समय की स्थिति में एक आगे की ओर क़दम समझा और इन्हें पर्याप्त प्रगतिशील एवं सन्तोष-जनक माना। उनकी राय में देश के हित में इनका स्वीकार किया जाना ही उचित था पर साथ ही वे यह भी चाहते थे कि इनके केन्द्र सम्बन्धी प्रस्तावों को बदलवाने का भी प्रयत्न जारी रहे। उन्हें भय था कि उग्र दल और यूरोपियनों के परस्पर विरोधी विचारों के पाटों में पिस कर कहीं समूची योजना ही समाप्त न हो जाय। जहाँ उग्र दल योजना

---

* *मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट* के रचयिताओं ने कांग्रेस-लीग योजना का अध्ययन किया, किन्तु उन्हें उसके आधारभूत सिद्धान्त अमान्य लगे। मॉन्टेग्यु के शब्दों में उस योजना का मुख्य दोष यह था कि उसमें उत्तरदायी शासन की स्थापना का कोई प्रयास नहीं किया गया, वरन् एक स्थायी कार्यकारिणी को एक ऐसी व्यवस्थापिका की दया पर छोड़ दिया गया जो उसे ठप तो कर सकती थी, किन्तु उस पर नियन्त्रण और उसका निर्देशन नहीं कर सकती थी। उसमें एक बड़े प्रान्त के लिये १२५ सदस्यों तथा छोटे प्रान्त के लिये ५० से ले कर ७५ सदस्यों तक वाली व्यवस्थापिका की योजना की गई थी। उनमें से ⅘ सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से व्यापक मताधिकार के आधार पर होता। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में १५० सदस्य होते, जिनमें ⅘ निर्वाचित होते। निर्वाचित सदस्यों में कुछ का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होता और कुछ प्रान्तीय धारासभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुने जाते। आय और व्यय की कुछ विशिष्ट सुरक्षित मदों को छोड़ कर प्रान्तीय धारा-सभाओं को वित्त पर पूर्ण अधिकार होता। केन्द्रीय धारासभा को ऐसे विषयों पर अधिकार दिया गया जिनमें कि व्यवस्थापन में सम्पूर्ण देश के लिए एक सी ही नीति वांछनीय थी। प्रत्येक प्रान्त का प्रधान एक गवर्नर होता जोकि साधारणतया इण्डियन सिविल सर्विस के बाहर से नियुक्त किया जाता। उसकी सहायता के लिए छः व्यक्तियों की कार्य-कारिणी परिषद होती जिनमें से तीन प्रान्तीय धारासभा के चुने हुए सदस्यों द्वारा चुने हुए भारतीय होते। शेष की नियुक्ति गवर्नर करता। समस्त धारासभायें अपने अध्यक्षों को स्वयं चुनतीं। धारासभाओं द्वारा पास किये हुए प्रस्ताव, यदि सपरिषद गवर्नर उन्हें वीटो न करदे, सरकार के लिये मान्य होते, और यदि कम से कम एक वर्ष के बाद वह किसी प्रस्ताव को फिर से पास करदे तो वह प्रत्येक स्थिति में मान्य होता। इस योजना के अनुसार मुसलमानों का चुनाव विशेष निर्वाचक मण्डलों द्वारा होता, और जिन प्रान्तों में वे अल्प संख्या में थे उनमें उन्हें अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया। हम श्री मॉन्टेग्यु की इस बात से सहमत हैं कि यह योजना अव्यवहार्य थी। इसमें ऐसे व्यक्तियों को एक साथ कार्यकारिणी में रख दिया गया था जो विभिन्न स्रोतों से सत्ता प्राप्त करते थे। उनमें से कुछ प्रान्तीय धारासभाओं के प्रति उत्तरदायी होते और कुछ भारत मन्त्री के प्रति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को एकदम ठुकरा रहा था, यूरोपियन इसे क्रांतिकारी बता रहे थे और भारतीयों को स्थानीय संस्थाओं के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी स्व-शासन का अधिकार देने को तैयार न थे। यह सोचकर कि कुछ न मिलने से आधी वस्तु का मिलना ही भला है, उन्होंने मान्टेग्यु का समर्थन करने का निश्चय किया।

क्योंकि उदारवादी उग्रवादियों की अड़ंगा नीति में सम्मिलित होना नहीं चाहते थे अतः वे बम्बई में रिपोर्ट पर विचार करने के लिये बुलाये गये कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में शरीक नहीं हुये और उन्होंने एक नये दल का संगठन किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इससे पूर्व बंगाल के 'इण्डियन असोसियेशन' की स्थापना में, जिसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के लिये मार्ग तैयार किया, प्रमुख भाग लिया था। उन्होंने ही अब बंगाल के उदारवादियों के संगठन में भी प्रमुख भाग लिया और कलकत्ते में राष्ट्रीय उदार संघ (National Liberal League) की स्थापना की।

कांग्रेस में एकता कायम रखने और उदारवादियों को अपने साथ रखने के लिये श्रीमती बीसेंट, तिलक तथा अन्य उग्रवादी नेताओं ने मॉन्ट-फोर्ड योजना का विरोध हल्का कर दिया। अगस्त १९१८ के बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस ने समझौते के रूप में निम्न प्रस्ताव पास किया :

"यह कांग्रेस रिपोर्ट के इस सिद्धान्त से पूर्ण रूप से असहमत है कि उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास के पहिले क़दम प्रान्तों में उठाये जाने चाहियें और जब तक प्रान्तों में किये जाने वाले परिवर्तनों के प्रभाव स्पष्ट न हो जायें, भारत सरकार का आवश्यक विषयों पर अधिकार निर्विवाद क़ायम रहे। कांग्रेस की राय है कि प्रान्तों और केन्द्र दोनों में साथ साथ सुधार आवश्यक हैं।"

पर उदारवादी कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुए और नवम्बर में बम्बई में ही उन्होंने अपना एक विशेष सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव में सुधारों का स्वागत करते हुए उन्होंने बताया कि मौजूदा परिस्थितियों में ये सुधार स्पष्ट रूप से प्रान्त और केन्द्र दोनों की दृष्टि से प्रगतिसूचक हैं तथा प्रान्तीय क्षेत्र में उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास की ओर भी एक वास्तविक क़दम हैं। उनकी राय में ये सुधार २० अगस्त १९१७ की घोषणा की शर्तों को पूरी तरह पूरा कर रहे थे।

उदारवादियों के कांग्रेस से पृथक् होने का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस जो १९०७ से मुख्यतः उदारवादी विचारों का प्रतिनिधित्व कर रही थी अब उग्रवादियों के अधिकार में आ गई। दिल्ली अधिवेशन में एक नई लहर दृष्टिगोचर हुई; प्रस्तावों का स्वरूप ही बदल गया। पहिली दफा इनमें भारतीयों के मूलभूत अधिकारों को सुरक्षित रखने का ज़िक्र किया। स्वराज्य के बारे में अमेरिका की सहायता प्राप्त करने के लिये भारत के मामले को अमेरिका के सामने प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया गया। अमेरिकन सीनेट की विदेशी मामलों की कमेटी के सामने एक अपील पेश की गई जिसमें प्रार्थना की गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि राष्ट्र-संघ के विधान के अनुसार उसके सदस्यों के लिये अपने मातहत राष्ट्रों को लोक-तन्त्रात्मक संस्थाओं का देना अनिवार्य कर दिया जाय। दिल्ली कांग्रेस ने आत्म-निर्णय के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किया उसका एक अंश निम्न है :

"प्रेज़ीडेन्ट विल्सन, श्री लायड जार्ज तथा अन्य राजनीतिज्ञों की इस घोषणा को दृष्टि में रखते हुए कि संसार की भावी शान्ति के लिये समस्त प्रगतिशील राष्ट्रों के साथ आत्म-निर्णय का सिद्धान्त लागू होना चाहिये, इस कांग्रेस का दावा है कि ब्रिटिश संसद और विश्व-शान्ति सम्मेलन को भारत को एक प्रगतिशील राष्ट्र स्वीकार करना चाहिये जिसे आत्म-निर्णय का अधिकार होना चाहिये।" इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने यह भी मांग की कि विश्व-शान्ति सम्मेलन में उसका प्रतिनिधित्व जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिये और इसके लिये उसने तिलक, गांधी जी और सैयद हसन इमाम को आवश्यकता पड़ने पर विश्वस्त प्रतिनिधि के रूप में काम करने को चुना।

इस बीच में मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट के प्रस्तावों को बिल के रूप में पार्लमेंट में पेश किया गया। दोनों आगारों से पास होने के बाद २५ दिसम्बर १९१९ को इसे शाही स्वीकृति मिली। इसी का नाम १९१९ का भारत सरकार अधिनियम पड़ा। जुलाई में इसके मातहत नियम बनाये गये और नवम्बर १९२० में इसके मातहत व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव हुए। १९२१ के प्रारम्भ में नई धारा सभाओं ने कार्य करना प्रारम्भ किया।

१९१९ के अधिनियम के मुख्य उपबन्धों का वर्णन करने के बाद हम इसकी सफलताओं पर प्रकाश डालेंगे। मगर उपबन्धों के वर्णन से भी पूर्व इसके मातहत बने विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी नियमों के विषय में कुछ शब्द कहना आवश्यक जान पड़ता है।

विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी नियम :— मांटेग्यु-चेम्सफोर्ड प्रस्तावों की सब से मुख्य विशेषता प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना थी। इसके लिये दो बातें आवश्यक थीं : (i) केन्द्र एवं प्रान्त के शासन-क्षेत्रों का सीमा निर्धारण तथा विधायक (Legislative), प्रशासकीय एवं वित्तीय क्षेत्रों में प्रान्तों की भारत सरकार के नियन्त्रण से उस अंश तक मुक्ति जिस अंश तक कि उसके कर्त्तव्य पालन में इससे कोई बाधा न पड़े; और (ii) प्रान्त के शासन क्षेत्र का दो भागों में विभाजन, एक वह जिसमें जनता के प्रतिनिधियों को उत्तरदायित्व दिया जाना था और दूसरा वह जिसमें शासन सपरिषद गवर्नर के हाथ में रहना था। इन दोनों उद्देश्यों को १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के मातहत बने विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी निगमों से पूरा किया गया।

शक्ति के विकेन्द्रीकरण के स्वरूप एवं महत्त्व को, जो प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये अत्यावश्यक था, समझना ज़रूरी है। हमें यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि १९१९ के एक्ट के पास होने के समय से ब्रिटिश नीति का उद्देश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों के लिये एक शक्तिशाली सरकार की स्थापना करना था। विभिन्न प्रान्तों की सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन थीं जिसका उन पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पूर्ण नियन्त्रण था। एक लम्बे अरसे से प्रान्तों की वित्तीय व्यवस्था केन्द्र के हाथ में थी; प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कोई नया कर लगाने अथवा किसी नई मद पर पैसा कम करने का अधिकार न था। इस प्रकार सम्पूर्ण शक्ति सपरिषद गवर्नर-जनरल के हाथ में केन्द्रित थी। इस केन्द्रीकरण की बुराइयों को पिछली शताब्दी के तीसरे चरण के अन्तिम वर्षों में अनुभव किया गया जब वित्तीय विकेन्द्रीकरण की ओर प्रथम कदम उठाया गया। धीमे धीमे प्रान्तों को नये कर लगाने, नई मदों पर पैसा व्यय करने और अपने प्रबन्ध को स्वयं चलाने की स्वाधीनता दी गई। १९१९ के एक्ट ने विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया को पूरा कर दिया। यद्यपि उत्तरदायी शासन की दृष्टि से प्रान्तों को पूर्ण स्वाधीनता १९३५ के एक्ट से मिली, १९१९ के एक्ट ने उन्हें भारत सरकार के नियन्त्रण से पर्याप्त अंश में स्वतन्त्र कर दिया। इसके लिये शासन सम्बन्धी विषयों को दो सूचियों में बांट दिया गया, एक केन्द्रीय तथा दूसरी प्रान्तीय। केन्द्रीय सूची में रक्षा, विदेशी मामले, रेलवे, डाक व तारघर, मुद्रा और सिक्के, तट-कर, सार्वजनिक ऋण, दीवानी व फौजदारी क़ानून, जहाज़रानी, और बड़े बन्दरगाह रखे गये जिनके लिये सारे देश में एक जैसा क़ानून और एक जैसा प्रशासन होना वांच्छनीय है। प्रांतीय सूची में स्थानीय स्व-शासन, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धी प्रशासन, कृषि, व्यवसाय, भूमिकर, सिंचाई, जंगलात, न्याय प्रशासन, तथा पुलिस व जेलें सम्मिलित किये गये। ये वे विषय हैं जिनका प्रशासन प्रत्येक प्रान्त में इसलिये भिन्न होना आवश्यक है क्योंकि उनकी आवश्यकताएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। प्रान्तीय सूची में अन्तिम विषय था: कोई भी विषय जिसे सपरिषद गवर्नर-जनरल केन्द्रीय सरकार के अधीन होते हुए भी, प्रान्त के अन्तर्गत स्थानीय या प्राइवेट घोषित कर दे।' केन्द्रीय सूची में अन्तिम विषय था: 'वे सब मामले जो प्रान्तीय विषयों में सम्मिलित नहीं थे।' इसका अर्थ यह है कि अवशिष्ट शक्तियाँ सपरिषद गवर्नर-जनरल में निहित थीं।

केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विषयों का विभाजन न तो बहुत कठोर था और न स्पष्ट। कठोर इसलिये न था क्योंकि केन्द्रीय सरकार को गवर्नर-जनरल की सलाह से प्रान्तीय-सूची के कुछ विषयों पर क़ानून बनाने और प्रान्तों को गवर्नर-जनरल की सलाह से अपनी सीमा में रहने वाले व्यक्तियों के बारे में केन्द्रीय सूची में सम्मिलित विषयों पर क़ानून बनाने का अधिकार था। यह स्पष्ट इसलिये न था क्योंकि कई विषय दोनों सूचियों में समाविष्ट थे। उदाहरण: जबकि वाणिज्य एवं सम्पत्ति विषयक क़ानून केन्द्रीय सूची में सम्मिलित थे देशीय कर (excise) एवं भूमिकर प्रान्तों को दे दिये गये थे।*

* पुन्निया: 'भारत का वैधानिक इतिहास', पृष्ठ १४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्व के स्रोत भी केन्द्रीय एवं प्रान्तीय दो भागों में बांट दिये गये थे। प्रान्तीय सूची में सम्मिलित विषयों से होने वाली आय प्रान्तों को दे दी गई थी। इसमें भूमिकर, सिंचाई की आय, जंगलात से आय, शराब पर देशीय कर, अदालती टिकटों की आय, रजिस्ट्री की फीस और खनिज पदार्थों की आय शरीक थी। परिगणित करों के नियमों (Scheduled Taxes Rules) में बताये गये कुछ करों को लगाने और कुछ विशेष प्रयोजनों के लिये ऋण लेने का अधिकार भी उन्हें दिया गया था। पर ये ऋण भारत में गवर्नर-जनरल की अनुमति से और विदेशों में भारत मंत्री के परामर्श से ही लिये जा सकते थे। प्रान्तों के राजस्व-स्रोतों के केन्द्र से पृथक् कर दिये जाने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि प्रान्तीय वित्त भी केन्द्रीय वित्त से स्वयमेव पृथक् हो गया; १९२१ के वार्षिक वित्तीय वक्तव्य (Financial Statement) में जो केन्द्रीय धारासभा के सामने रक्खा गया, प्रान्तीय बजट का कोई ज़िक्र न था। केन्द्र के हस्तक्षेप के बिना अपने प्रशासन को चलाने और उसके लिये योजनाएँ तैयार करने की प्रान्तों को स्वाधीनता देने के लिये यह वित्तीय विकेन्द्रीकरण बहुत आवश्यक था। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि प्रान्त पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गये; एकात्मक शासन के रहते हुए यह सम्भव न था। १९१९ के एक्ट ने भारत सरकार के एकात्मक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया; इसमें देश को संघीय विधान जैसी कोई चीज़ देने का विचार तक भी मौजूद न था। भारत सरकार ब्रिटिश भारत के सब स्थानों एवं सब व्यक्तियों के बारे में प्रान्तीय विषयों पर भी पूर्ववत् क़ानून बनाती रही; प्रान्तीय सरकारों के लिये यह आवश्यक था कि वे भारत सरकार के आदेशों पर उचित ध्यान दें और उसे अपनी कार्यवाहियों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातों से अवगत रक्खें।

दूसरे, प्रान्तीय विषय भी दो भागों में विभक्त कर दिये गये थे; एक को संरक्षित तथा दूसरे को हस्तान्तरित नाम दिया गया। स्थानीय स्व-शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य व सफाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, यूरोपियन तथा आंग्ल-भारतीयों के अतिरिक्त अन्य की शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि, मछली पकड़ने के केन्द्र, सहयोग समितियाँ, शराब व दवाइयों पर देशीय कर, व्यवसायों का विकास, तथा पुस्तकालय जैसे विषय जो स्थानीय ज्ञान तथा सामाजिक सेवा के अवसर प्रदान करते थे, जिनमें भारतीय अत्यन्त दिलचस्पी लेते थे तथा जिनमें ऐसी भूलों की गुंजाइश न थी जिन्हें सुधारा न जा सके, हस्तान्तरित विषयों में शुमार किये गये। इनका प्रशासन गवर्नर को मन्त्रियों के परामर्श से चलाना था। मन्त्री लोग इनके लिये धारासभाओं के प्रति उत्तरदायी थे। क़ानून व व्यवस्था, वित्त, भूमिकर, सिंचाई, अकाल-पीड़ितों की सहायता, और समाचार-पत्रों का नियन्त्रण, इत्यादि विषय संरक्षित रक्खे गये थे। इनका प्रशासन सपरिषद गवर्नर के हाथ में था जो गवर्नर-जनरल और उसके द्वारा भारत-मंत्री के प्रति उत्तरदायी था। कोई विषय संरक्षित है अथवा हस्तान्तरित, इसका अन्तिम निर्णय गवर्नर के हाथ में था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि संरक्षित और हस्तान्तरित विषयों जैसा विभाजन आय के स्रोतों में नहीं किया गया था; हस्तान्तरित विषयों के प्रबन्ध के लिये आय के पृथक् स्रोत नहीं रक्खे गये थे। और न ही हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के लिये पृथक् व विशेष कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। ये कुछ कमियां थीं जिन्होंने दुहरे शासन (dyarchy) को काफी नुकसान पहुँचाया। इसकी विस्तृत विवेचना आगामी पृष्ठों में की जायगी।

१९१९ का भारत सरकार अधिनियम

अधिनियम की क्रान्तिकारी विशेषता :— अधिनियम की कुछ प्रारंभिक बातों को देखने के बाद अब हम इसके मुख्य उपबन्धों पर आते हैं। भारत के उत्तम शासन के लिये ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किये गये अन्य अधिनियमों की अपेक्षा इस एक्ट की अधिक विस्तृत विवेचना इसलिये आवश्यक है क्योंकि यह देश की वैधानिक प्रगति में एक नये युग को प्रारम्भ करता है। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है इसने उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया। "इसने व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका शक्तियों को विभक्त करने वाली रेखा को मिटा दिया। इससे पूर्व के अधिनियमों ने भारतीयों को व्यवस्थापिका सभा पर अधिकाधिक नियन्त्रण रखने की शक्ति दी थी न कि सरकार (कार्यपालिका) पर। यह बात सच है कि कुछ भारतीय इन सरकारों के भी सदस्य थे पर उनकी नियुक्ति सरकारी तौर पर हुई थी और वे अपने ब्रिटिश साथियों की तरह भारत-मंत्री तथा ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी थे। अब भारतीयों को अपने अधिकार से शासन करना था। अब उन्हें सरकारी सदस्य की हैसियत से नहीं बल्कि व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचित बहुमत के नेता के रूप में जो उन्हीं के प्रति उत्तरदायी थे, प्रान्तीय प्रशासन के बड़े विभागों का कार्यभार अपने कन्धों पर लेना था।"*

१९१९ के एक्ट की भूमिका :— इसके ऐतिहासिक महत्त्व तथा इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि १९१९ के एक्ट की मुख्य विशेषतायें इसी से ली गई हैं, एक्ट की भूमिका की विस्तृत आलोचना करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। यह निम्न है :—

"जबकि पार्लमेंट की यह घोषित नीति है कि भारतीयों को भारतीय प्रशासन की प्रत्येक शाखा में अधिकाधिक स्थान दिया जाय और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी शासन की क्रमिक उन्नति के लिये शनैः शनैः स्वायत्त संस्थाओं का विकास किया जाय;

"और जबकि इस नीति की प्रगति धीमे धीमे ही हो सकती है और यह आवश्यक एवं उचित है कि इस दिशा में वास्तविक कदम इसी समय लिये जायें;

"और जबकि आगे की ओर उठाये जाने वाले प्रत्येक क़दम का समय और प्रकार

* कूपलैंड : 'इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट', पृष्ठ ११३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्लमेंट ही, जिस पर भारतीय जनता की उन्नति और कल्याण का उत्तरदायित्व है, निश्चित कर सकती है ;

"और जबकि उन लोगों का सहयोग जिन्हें सेवा के नये अवसर मिलेंगे और यह बात कि उन पर किस हद तक विश्वास किया जा सकता है, इन मामलों में पार्लमेंट का मार्ग प्रदर्शन करेंगे ;

"और जबकि प्रान्तों में स्वायत्त संस्थाओं के क्रमिक विकास के साथ साथ इन प्रान्तों को प्रान्तीय विषयों में भारत सरकार के नियन्त्रण से उस अंश तक स्वाधीनता देना उचित है जिस अंश तक भारत सरकार को अपने उत्तरदायित्वों को निभाने में बाधा न पड़े ;

"यह क़ानून बनाया जाता है इत्यादि....."

यद्यपि १९१९ के अधिनियम का स्थान १९३५ के अधिनियम ने ले लिया, इसकी भूमिका १९४७ तक भारत के सांविधानिक क़ानून का भाग बनी रही। अतः इस पर अधिक विस्तार से विचार करना और इसके महत्त्व पर प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है।

सब से पहिली बात एक्ट के विषय में ध्यान देने योग्य यह है कि यह भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का पूरी तरह एक अंग बना देता है। ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर स्वतन्त्र भारत की यह कल्पना नहीं करता। और यह आशा भी नहीं की जा सकती कि ब्रिटिश संसद स्वयं भारत को साम्राज्य से बाहर जाने की आज्ञा दे देगी। पर यह भी मानना होगा कि ब्रिटेन का यह रुख कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत की गई भारतीय मांग के प्रतिकूल था। क्रिप्स के प्रस्तावों में भारत के साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने की सम्भावना को भी स्वीकार किया गया था। भूमिका में भारत को ज़बर्दस्ती साम्राज्य के साथ रखने के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट शब्दों में दोहराया गया था कि भारत पर अन्तिम शासनसत्ता ब्रिटिश संसद की है और वही उसके कल्याण एवं प्रशासन के लिये उत्तरदायी है। पूर्ण उत्तरदायी शासन के दूरस्थ उद्देश्य की ओर उठाये जाने वाले प्रत्येक क़दम के समय और प्रकार का निर्धारण जनता को नहीं प्रत्युत संसद को करना था जो एक बाह्य संस्था थी। इसकी भारतीयों ने कड़ी आलोचना की, क्योंकि इसने उन्हें आत्म-निर्णय के अधिकार से, जिसके समर्थन के लिये प्रथम महायुद्ध लड़ा गया था, वंचित कर दिया था। यह भी हमें यहाँ न भूलना चाहिये कि स्वशासन के मार्ग पर अगला क़दम भारतीयों के सहयोग और इस बात पर निर्भर था कि ब्रिटिश संसद की दृष्टि में वे अपनी योग्यता और उत्तरदायित्व की भावना का किस हद तक परिचय देते हैं।

तीसरे, भूमिका में सुधार-योजना के दो मूलभूत सिद्धान्त भी मौजूद हैं। पहिला है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना और दूसरा है प्रान्तों को विधायक, प्रशासकीय एवं वित्तीय क्षेत्रों में भारत सरकार के नियन्त्रण से उस अंश तक अधिक से अधिक स्वाधीनता जिस अंश तक भारत सरकार को अपने उत्तरदायित्वों को निभाने में रुकावट न प्रतीत हो। सारांश यह है कि भारत सरकार पूर्ण रूप से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी रहे। भूमिका में केन्द्र और गृह-शासन में एक्ट द्वारा किये गये सुधारों का कोई ज़िक्र नहीं।

भारत सरकार

१९१९ के एक्ट के मातहत

विषय प्रवेश :— यद्यपि १९१९ के एक्ट का सब से महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व की स्थापना थी, हम यहाँ पहिले इसके उन उपबन्धों का वर्णन करेंगे जिन्होंने भारत सरकार की रचना और कार्यों में परिवर्तन किये। इन परिवर्तनों की आवश्यकता इसलिये हुई क्योंकि केन्द्रीय सरकार की मशीनरी प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के बाद समय की मांगों को पूरा करने में असमर्थ थी। एक्ट ने केन्द्रीय धारासभा के गठन, कार्यों और शक्तियों में अनेक सारगर्भित परिवर्तन किये; इन्हें विस्तृत किया, इनमें जनता के प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाई और इसे सरकार को प्रभावित करने के अधिकाधिक अवसर दिये। पर इसके और कार्यपालिका के सम्बन्धों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुए। इसने कार्यपालिका की बनावट और स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन किये। पर ये उतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे जितने कि धारासभाओं में किये गये परिवर्तन। एक्ट की कुछ कठिनाइयों का कारण यह था कि इसने लोकप्रिय एवं लोकतन्त्रात्मक धारासभा और गैरज़िम्मेवार एवं निरंकुश कार्यपालिका को मिलाने का प्रयत्न किया।

केन्द्रीय कार्यपालिका :— १९१९ के एक्ट ने भारत सरकार की कार्यपालिका के स्वरूप और बनावट में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया। कार्यपालिका-शक्ति पूर्ववत् ही अब भी स-परिषद गवर्नर-जनरल में निहित रही। प्रान्तीय सरकारों के साथ परिवर्तित सम्बन्धों तथा कार्य की वृद्धि की सम्भावना को दृष्टि में रखते हुए १९१५ के कन्सोलिडेशन एक्ट के द्वारा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद की संख्या पर लगी क़ानूनी सीमा को हटा दिया गया। पर इसका वास्तव में कोई फायदा नहीं उठाया गया क्योंकि कार्यकारिणी परिषद में एक लम्बे अरसे तक गवर्नर-जनरल और कमान्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त ६ सदस्य ही रहे। १९४१ में जाकर कहीं इसका उस समय देश में घटी कुछ राजनीतिक घटनाओं के कारण विस्तार हुआ। एक्ट ने क़ानून सदस्य की योग्यताओं के नियम में भी परिवर्तन किया और उन सब वकीलों को जो भारतीय हाई कोर्टों में १० साल तक वकालत कर चुके थे, क़ानून सदस्य बनने का अधिकार दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यकारिणी परिषद के अन्य सदस्यों की योग्यताओं के विषय में एक्ट ने इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा कि इनमें से कम से कम ३ अवश्य ऐसे होने चाहियें जो भारत में सम्राट के मातहत १० वर्ष तक नौकरी कर चुके हों। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कार्यकारिणी परिषद में सिविल सर्विस को बहुत काफी प्रतिनिधित्व मिला जिसने इसके स्वरूप एवं दृष्टिकोण को पर्याप्त अंश में निर्धारित किया। इसने परिषद को धारासभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल नहीं बनने दिया। १९४७ में जब कार्यकारिणी परिषद मंत्रि-मंडल की तरह कार्य करने लगी और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में इसके समस्त सदस्य भारतीय हो गये, उस समय यह नियम बदलना पड़ा।

यद्यपि एक्ट में ऐसा कोई आयोजन नहीं था जिससे कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की सदस्य के तौर पर नियुक्ति की जाती, इसके भारतीय सदस्यों की संख्या एक से बढ़ाकर तीन कर दी गई।* इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने 'भारतीयों को प्रशासन की प्रत्येक शाखा में अधिकाधिक स्थान देने' की नीति पर अमल करने की कोशिश की। १९४१ तक भारतीय सदस्यों की संख्या तीन रही। इस अरसे में रक्षा, अर्थ एवं गृह विभाग जैसे महत्त्वपूर्ण विभाग सदैव अंग्रेजों के हाथ में रहे और क़ानून, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवसाय एवं श्रम जैसे अपेक्षाकृत कम महत्त्व के विभाग भारतीय सदस्यों को सौंपे गये।

वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति भारत मंत्री की सिफारिश पर सम्राट् द्वारा ५ वर्ष के लिये होती थी। कमान्डर-इन-चीफ परिषद् का असाधारण सदस्य नहीं रहा; एक्ट ने साधारण और असाधारण सदस्यों के भेद को मिटा दिया। वह परिषद् का उप-सभापति भी नहीं रहा।

गवर्नर-जनरल :— यद्यपि कार्यपालिका शक्ति सपरिषद् गवर्नर-जनरल में निहित थी और गवर्नर-जनरल अपने कार्यों को परिषद् की सहमति से ही सम्पादित करता था, वह परिषद् का सबसे शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण सदस्य था। वह किसी वस्तु का अंश नहीं अपितु स्वयं एक पूर्ण वस्तु था। इसका कारण यह था कि उसे परिषद् की पूर्ण या आंशिक रूप में अवहेलना करने का अधिकार था बशर्ते कि वह यह समझे कि परिषद् की सलाह गलत है या हानिकारक है या फिर देश की शान्ति और सुरक्षा के लिये ऐसा कदम आवश्यक है। पर इस शक्ति के प्रयोग का अवसर बहुत कम आता था; किसी भी सदस्य के लिये वायसराय का विरोध करना आसान बात नहीं थी, परिषद् का सारा वातावरण और परम्परायें इसके विरुद्ध थीं। गवर्नर-जनरल की इस सर्वोपरि स्थिति के कई कारण थे। इनमें से प्रमुख थे— बादशाह के प्रतिनिधि की हैसियत से उसकी ऊँची स्थिति, ऊँची सामाजिक स्थिति, भारत मंत्री के साथ सीधा और सतत सम्पर्क, यह नियम कि परिषद् के एक सदस्य से परामर्श लेने के बाद भी वह सम्पूर्ण परिषद् के नाम

* यह हमारे देश में वैधानिक अभिसमय का अच्छा उदाहरण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कार्य कर सकता था और सब से बढ़कर यह बात कि परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति उसकी सिफारिश पर होती थी और वे प्रान्तों के गवर्नर बनने के लिये उसी की ओर देखते थे।

एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में भारत के गवर्नर-जनरल का पद ब्रिटिश सम्राट् की वैदेशिक नौकरी में 'सबसे अधिक आकर्षक और सबसे अधिक सम्मानित पद था'। संसार में थोड़े ही ऐसे पद हैं जिन्हें इतनी प्रतिष्ठा, शक्ति, वेतन और नियुक्ति के अधिकार प्राप्त हैं। उसकी नियुक्ति प्रधान मन्त्री के परामर्श से ब्रिटिश सम्राट् करता था। सामान्यतः उसकी अवधि ५ वर्ष की होती थी। उसका वार्षिक वेतन २,५६,००० रुपये था और करीब १४ लाख रुपया देश उस पर और प्रति वर्ष खर्च करता था।

उसकी शक्तियां अनेक और विविध थीं; हम उनका प्रशासनात्मक, विधायक एवं वित्तीय तीन भागों में वर्गीकरण कर सकते हैं। भारत सरकार के असैनिक और सैनिक प्रबन्ध के चलाने तथा देश में शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखने का कार्य कार्यकारिणी परिषद् के साथ उसे सौंपा गया था। कार्यकारिणी परिषद् का सभापति होने की हैसियत से इसके सदस्यों को वह काम बांटता था और इसके कार्य सम्पादन के लिये नियम व उपनियम बनाता था। वह इसकी बैठकों को जहाँ चाहता बुला सकता था। बड़ी बड़ी नियुक्तियाँ उसके हाथ में थीं; उसी की सिफारिश पर भारत मंत्री कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति करता था और इन लोगों का प्रान्तों का गवर्नर बनना उसी की सिफारिश पर निर्भर था। वही केन्द्रीय धारासभा को बुलाता, स्थगित करता और भंग करता था और वही विशेष परिस्थितियों में इसकी अवधि को भी बढ़ा सकता था। वह किसी भी आगार में किसी बिल या उसकी किसी धारा पर चल रही कार्रवाई को रोक सकता था यदि वह समझता कि इससे साम्राज्य की शान्ति के भंग होने का खतरा है। वह कुछ प्रश्नों को धारासभा में पूछे जाने से रोक सकता था। आर्थिक क्षेत्र में, सभी अनुदानों (grants) की माँगें तथा करों के प्रस्ताव उसी की सिफारिश पर धारासभा के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकते थे और उसे धारासभा द्वारा रद किये गये किसी भी विधेयक को पास करने का अधिकार था यदि वह ब्रिटिश भारत की सुरक्षा, शान्ति अथवा हितों के लिये इसे अत्यावश्यक समझता। उसकी इस शक्ति को प्रमाणन (Certification) की शक्ति कहा जाता था और वह इसे अनेक अवसरों पर प्रयुक्त करता था। देश की शान्ति एवं उत्तम शासन के लिये अध्यादेश जारी करने का भी उसे अधिकार था। धारासभा द्वारा पास किये गये विधेयकों को अपनी स्वीकृति देने या न देने का अधिकार भी, जो प्रत्येक राज्य में प्रमुख कार्यपालक (Chief of Executive) का होता है, उसका था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश भारत का गवर्नर-जनरल वैधानिक शासक न होकर वास्तविक शासक था। ब्रिटिश बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में उसे न्यायालय द्वारा सजा पाये हुए व्यक्तियों को क्षमा देने और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीयों को उपाधि से विभूषित करने तथा इसी प्रकार के अन्य सम्मान देने की भी शक्ति प्राप्त थी।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि मॉर्ले-मिन्टो सुधारों के अन्तर्गत सपरिषद गवर्नर-जनरल को बजट की कटौतियों को बहाल करने, रद बिलों को प्रमाणित या पास करने तथा अध्यादेशों को जारी करने की शक्ति प्राप्त न थी; १९१९ के एक्ट ने पहिली बार उसे ये शक्तियाँ प्रदान कीं। पुरानी शासन-व्यवस्था में इनकी आवश्यकता भी नहीं थी; धारासभा में सरकारी बहुमत होने के कारण गवर्नर-जनरल जो चाहता धारासभा से करा सकता था। १९१९ के एक्ट ने स्थिति को मूल रूप से बदल दिया। अब व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था और यह आशा नहीं की जा सकती थी कि ये सरकार का साथ देंगे। क्योंकि गवर्नर-जनरल भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी था न कि भारतीय जनता के प्रति, उसे स्वाभाविक रूप से उन शक्तियों की आवश्यकता थी जिनकी सहायता से वह उसके आदेशों और निर्देशों का पालन कर सकता और अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिये आवश्यक क़ानूनों को पास करा सकता। इस बात को न भूलना चाहिये कि १९१९ के एक्ट का उद्देश्य भारत सरकार को व्यवस्थापिका सभा के प्रति किसी भी अंश में उत्तरदायी बनाना न था। इसका एकमात्र उद्देश्य व्यवस्थापिका सभाओं को सरकार को प्रभावित करने का अवसर देना था न कि नियन्त्रण का।

केन्द्र के नियंत्रण में ढील :— यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारत सरकार एक अत्यन्त केन्द्रीय सरकार थी; इसका प्रशासन, वित्त एवं विधायक क्षेत्र में प्रान्तीय सरकारों पर बड़ा कड़ा नियन्त्रण था। इसका कर्त्तव्य था कि यह उन पर निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण रक्खे। पर जैसा कि विकेन्द्रीकरण के सिलसिले में पहिले भी जिक्र किया जा चुका है यदि प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन स्थापित करना था तो निरीक्षण, निर्देशन, और नियन्त्रण की इन शक्तियों में पर्याप्त ढील देने की आवश्यकता थी। मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट के अनुसार भी प्रान्तों को आंशिक उत्तरदायित्व देने से पूर्व उन्हें भारत सरकार के नियन्त्रण से मुक्ति मिलनी बहुत आवश्यक थी। प्रान्तों को भारत सरकार के नियन्त्रण से स्वाधीनता देने के लिये तीन कार्य किये गये :— (i) कुछ विषय प्रान्तों को पूर्ण रूप से दे दिये गये जिनके प्रशासन में उन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, (ii) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय वित्त को पृथक् कर दिया गया और राजस्व के कुछ मद प्रांतों को दे दिये गये। (iii) प्रान्तीय विषयों को संरक्षित एवं हस्तान्तरित दो भागों में बांट दिया गया और मन्त्रियों को हस्तान्तरित विषयों के लिये धारासभा के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। गवर्नर-जनरल को जारी किये गये निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) के अनुसार गवर्नर-जनरल का यह कर्तव्य था कि वह निरीक्षण इत्यादि की शक्तियों को प्रान्त की नीतियों का समर्थन करने के लिए ही प्रयोग करे बशर्ते कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्तीय धारा-सभा के अधिकांश सदस्य इनसे सहमत हों। हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन पर निरीक्षण इत्यादि की शक्तियों का प्रयोग (i) केन्द्रीय विषय के प्रशासन की सुरक्षा, (ii) अखिल भारतीय नौकरियों के हितों की हिफ़ाज़त, तथा (iii) प्रान्तों के आपसी झगड़ों को निबटाने के लिये किया जा सकता था।

गवर्नर-जनरल और भारत मन्त्री :— ब्रिटिश भारत की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति के रूप में सपरिषद् गवर्नर-जनरल के वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिये उसके साथ सपरिषद् भारत-मंत्री के सम्बन्ध के विषय में कुछ शब्द कहना अत्यावश्यक है।

यह बहुत पहिले से माना जा चुका था कि भारत में ब्रिटिश प्रदेशों के शासन की अन्तिम सत्ता सपरिषद् भारत-मंत्री में निहित थी। भारत सरकार सम्राट् की सरकार के अधीन थी। जब १८५८ में भारत के शासन का उत्तरदायित्व कम्पनी से सम्राट् को हस्तांतरित किया गया तो ब्रिटेन के एक राज्य-सचिव (Secretary of State) को ही भारत के मामलों के लिये उत्तरदायी मंत्री बना दिया गया। उसे भारत के राजस्व एवं शासन प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाले सब कार्यों पर निरीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण का अधिकार था। अपनी घोषणा में महारानी विक्टोरिया ने गवर्नर-जनरल को उन सब आदेशों और नियमों को पालन करने का निर्देश किया जो उसे भारत मन्त्री से समय समय पर प्राप्त हों। १९१९ के एक्ट ने इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं किया; इसने भारत मंत्री की निरीक्षण इत्यादि की शक्तियों को सिद्धान्त रूप में अछूता ही छोड़ दिया। वैधानिक दृष्टि से सपरिषद् गवर्नर-जनरल भारत मंत्री के नीचे था और उसके लिये भारत मंत्री के आदेशों का पालन अनिवार्य था। मतभेद होने की अवस्था में या तो गवर्नर-जनरल को भारत मन्त्री के विचारों को स्वीकार करना पड़ता और या फिर अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता। कई भारत मंत्रियों ने तो अपने समूचे कार्य-काल में भारत सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य का सिर्फ एजेन्ट ही समझा।

सिद्धान्त कुछ भी क्यों न रहा हो, व्यवहार में भारत मंत्री के लिये इतनी दूर बैठे हुए भारत का शासन प्रबन्ध चलाना असम्भव था। इसलिये मजबूर होकर उसे अपनी अधिकांश शक्तियां और उत्तरदायित्व भारत सरकार को दे देने पड़े। यहां तक कि कभी कभी तो उसने इंग्लैण्ड में शक्तिसम्पन्न एवं प्रभावशाली वायसराय की नीतियों के पोषक और समर्थक के रूप में भी कार्य किया। लॉर्ड मॉर्ले जैसे व्यक्ति को भी मुसलमानों के लिये पृथक् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को सिर्फ इसलिये स्वीकार करना पड़ा क्योंकि भारत सरकार इस पर अड़ी हुई थी। पर यदि हम सब बातों को दृष्टि में रक्खें तो हमें भारत सरकार के भूतपूर्व क़ानून-सदस्य सर तेज बहादुर सप्रू के निम्न कथन से जो भारत सरकार और भारत मंत्री के सम्बन्धों का पूरा और ठीक चित्रण करता है, सहमत होना पड़ेगा : "आर्थिक एवं प्रशासकीय क्षेत्रों में भारत मंत्री की अवशिष्ट शक्तियां इतनी अधिक हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैधानिक दृष्टि से यह कहना असम्भव है कि भारत सरकार अधिकांश में उसके नियन्त्रण से स्वतन्त्र है।"

भारत मन्त्री का भारत सरकार पर दृश्य एवं अदृश्य दोनों तरह का नियंत्रण था। नियन्त्रण के अदृश्य तरीकों से, जिन्हें न बाहरी दुनिया देख सकती थी और न समझ सकती थी, भारत मंत्री के उन पत्रों का अभिप्राय है जो वह गवर्नर-जनरल को गुप्त रूप से लिखता था और जिन्हें गवर्नर-जनरल अपनी कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों पर नहीं प्रकट करता था। नियन्त्रण के दृश्य तरीकों में वे सब बातें आ जाती हैं जिनके द्वारा भारत मंत्री भारत सरकार पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण करता था, जैसे व्यवस्थापन की समस्त योजनाओं पर भारत मंत्री की पूर्व अनुमति की प्राप्ति, और देश के राजस्व एवं करों में परिवर्तन के प्रस्तावों पर उसकी पूर्व स्वीकृति इत्यादि।

भारत मंत्री के इस नियन्त्रण ने केन्द्रीय धारा-सभा के प्रति, जिसमें ग़ैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था, भारत सरकार की स्थिति को बहुत विषम बना दिया। इसका धारा-सभा के साथ, जो इसके प्रस्तावों और बिलों को रद कर सकती थी, बहुधा संघर्ष रहता। भारत मन्त्री के प्रति भारत सरकार की अधीनता का सिद्धान्त उस समय तो आवश्यक था जब धारासभायें केवल मात्र परामर्शदात्री संस्थायें थीं और उनमें सरकारी सदस्यों का बहुमत था, पर अब जबकि उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था और उनका कार्यक्षेत्र भी इतना विस्तृत था कि सरकार की स्थिति भी कभी कभी बहुत कठिन हो जाती थी, यह बात बेतुकी सी मालूम देती थी। परिणामतः धारा-सभा ने अनेक बार अर्थ-विधेयक (Finance Bill) और इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण विधेयकों को रद किया।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा :— १९१९ के ऐक्ट ने केन्द्रीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के गठन तथा शक्तियों में भी अनेक परिवर्तन किये। यहां हम सिर्फ केन्द्रीय धारासभा के विषय में ही कुछ कहेंगे।

केन्द्रीय धारासभा द्विआगारिक (bicameral) थी। पुरानी व्यवस्थापिका सभा की जगह व्यवस्थापन के कार्य के लिये अब दो सभायें कायम की गईं; निचली और लोकप्रिय सभा का नाम लेजिस्लेटिव असेम्बली तथा दूसरी का नाम कौंसिल ऑफ़ स्टेट रक्खा गया। यह एक मौलिक परिवर्तन था। दूसरी सभा की स्थापना का उद्देश्य निचली सभा पर, जिसमें प्रत्येक ७ सदस्यों में से ५ सदस्य निर्वाचित थे, रोक थाम रखना था। दूसरे, इनका आकार भी काफी बढ़ा दिया गया। लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्यों की संख्या १३० नियत की गई जिसे नियमों के द्वारा बढ़ाया भी जा सकता था। कौंसिल ऑफ स्टेट के सदस्यों की अधिकतम संख्या ६० रक्खी गई। वस्तुतः असेम्बली में १४५ सदस्य थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार केन्द्रीय धारासभा के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ६८ से २०५ कर दी गई। तीसरी बात यह कि गवर्नर-जनरल न इसका सभापति रहा और न ही इसका सदस्य। पर वह अब भी इसका अंग अवश्य था। १९१९ के ऐक्ट के अनुसार केन्द्रीय धारासभा लेजिस्लेटिव असेम्बली, कौंसिल ऑफ स्टेट तथा गवर्नर-जनरल से मिलकर बनती थी। चौथी बात यह है कि केन्द्रीय धारासभा में सरकारी बहुमत रखने के विचार को तिलांजलि दे दी गई। पहिली दफा इसमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रक्खा गया। यहाँ तक कि कौंसिल आफ स्टेट में भी चुने हुए सदस्यों की ही संख्या अधिक थी। अन्त में, भारत सरकार को लोकमत के प्रति सदैव जागरूक रखने के लिये इसे विवाद तथा अर्थसम्बन्धी अनेक शक्तियाँ दी गईं। पर उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया गया। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि कार्यपालिका को लोकमत के प्रभाव में लाकर तथा धारासभा के अप्रत्यक्ष प्रभाव को बढ़ाकर व्यवस्थापन की मशीनरी को जड़ से बदल दिया गया। इसे न सिर्फ बढ़ाया गया और इसका प्रजातन्त्रीकरण ही हुआ पर इसकी शक्तियाँ भी पहिले से बहुत बढ़ा दी गईं।

लेजिस्लेटिव असेम्बली और कौंसिल ऑफ स्टेट की रचना के विस्तार में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। पर इतना जिक्र कर देना ज़रूरी है कि निर्वाचित स्थान विभिन्न प्रान्तों में और प्रत्येक प्रान्त के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों और हितों में विभक्त कर दिये गये थे। दूसरे शब्दों में, मुसलमानों, सिक्खों और युरोपियनों के लिये पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। जमींदारों और भारतीय व्यापारियों के लिये विशेष निर्वाचन के लिये विशेष निर्वाचनक्षेत्र बनाये गये। दलित वर्गों, आंग्ल-भारतीयों, भारतीय ईसाइयों और मज़दूरों को नामज़दगी के द्वारा पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। असेम्बली के मतदाताओं की योग्यता का आधार, जो समस्त देश में एक जैसी न थी, सम्पत्ति था। यह प्रत्येक प्रान्त में और यहां तक कि एक प्रान्त में भी विभिन्न स्थानों में व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न थी। साधारण भाषा में हम कह सकते हैं कि जो लोग सरकार को आयकर देते थे, अथवा निश्चित मालगुज़ारी, किराया या म्युनिसिपैलिटी को टैक्स देते थे, वे असेम्बली के मतदाता थे। असेम्बली की अवधि ३ वर्ष रक्खी गई थी। गवर्नर-जनरल अपनी इच्छानुसार इसे जल्दी भी भंग कर सकता था और इसकी अवधि को बढ़ा भी सकता था। प्रथम चार वर्ष तक इसके सभापति की नियुक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा होनी थी। इसके बाद इसे सभापति को स्वयं चुनने का अधिकार था।

कौंसिल ऑफ स्टेट असेम्बली की अपेक्षा कम लोकतन्त्रात्मक थी और अल्पवर्गों के हितों की प्रतिनिधि थी। इसमें भी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था पर नामज़द सदस्यों के साथ इनका अनुपात असेम्बली से बहुत कम था। बहुत समय तक गवर्नर-जनरल ही इसके प्रेज़ीडेन्ट को नियुक्त करता रहा जो सरकारी सदस्य होता था। बाद में इसे भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने प्रेज़ीडेन्ट को चुनने की शक्ति दे दी गई। असेम्बली की अपेक्षा इसके मतदाताओं की योग्यताएं बहुत ऊँची थीं। कुछ प्रान्तों में प्रति वर्ष २०,००० रुपये से अधिक आय पर कर देने वाले अथवा प्रति वर्ष २,००० रुपये मालगुज़ारी देने वाले व्यक्ति ही इसके मतदाता हो सकते थे। अन्य प्रान्तों में यह अंक कुछ कम थे। ब्रिटिश भारत में १९२५ में कौंसिल ऑफ स्टेट के कुल मतदाताओं की संख्या १७,००० थी। महिलाओं को इसका सदस्य अथवा मतदाता बनने का अधिकार न था।

धारासभा की शक्तियां :— १९१९ के एक्ट के अनुसार केन्द्रीय धारासभा की शक्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं, इनके विषय में कुछ सामान्य बातें ही हम कहेंगे।

इस विषय में जो पहली बात हमें स्मरण रखनी है वह यह कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की शक्तियां कई दृष्टियों से अतीव सीमित थीं; यह प्रभुतासम्पन्न विधि-निर्मात्री (Law-making) संस्था न थी। इसे देश के संविधान को परिवर्तित, संशोधित अथवा रद करने का कोई अधिकार न था, यह अधिकार एकमात्र ब्रिटिश संसद का था। यह भारत मंत्री की भारत सरकार की ओर से ऋण लेने की शक्ति के विषय में कोई क़ानून नहीं बना सकती थी। और न यह ऐसा कोई क़ानून पास कर सकती थी जिससे यह हाई कोर्ट के अतिरिक्त किसी दूसरे कोर्ट को ब्रिटिश सम्राट् की यूरोपियन प्रजा को मृत्यु-दण्ड देने का अधिकार दे सके। और कई ऐसे विषय थे जिन पर यह क़ानून नहीं बना सकती थी। पर इसे केन्द्रीय-सूची में प्रदर्शित सब विषयों पर ब्रिटिश भारत में सब चीज़ों, व्यक्तियों, स्थानों, न्यायालयों और सम्राट् की प्रजा के बारे में क़ानून बनाने का अधिकार था। यह सिंचाई, कारखाने और मज़दूर आदि प्रान्तीय विषयों पर भी क़ानून बना सकती थी। इस प्रकार प्रान्तीय क्षेत्र में भी इसे प्रान्त के समान अधिकार था।

इसकी शक्तियों के बारे में हमें दूसरी बात यह समझनी है कि आर्थिक मामलों के अतिरिक्त दोनों सभाओं की समान शक्तियाँ थीं। कोई भी विधेयक गवर्नर-जनरल को उसकी अनुमति के लिये तब तक पेश नहीं किया जा सकता था जब तक कि दोनों सभाएँ उसे पास न कर दें। ऐसा कोई भी विधेयक जिसे एक सभा पास करदे पर दूसरी रद कर दे या एक सभा इस प्रकार से संशोधनों के साथ पास करे कि दूसरी सभा को वे न मान्य हों, गवर्नर-जनरल के पास स्वीकृति के लिये नहीं भेजा जा सकता था बशर्ते कि वह अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग करके उसे स्वयं ही प्रमाणित (Certify) न कर दे। गवर्नर-जनरल दोनों सभाओं से पास विधेयक पर भी अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था। वह यदि चाहता तो किसी भी विधेयक को सम्राट् की स्वीकृति के लिये रोक सकता था।

धारासभा की शक्तियों के विषय में स्मरण करने योग्य तीसरी बात यह है कि व्यय के वार्षिक प्राक्कलन (estimates) आम बहस के लिये दोनों सभाओं के सामने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत किये जाते थे। पर इन पर मत देने का अधिकार सिर्फ असेम्बली ही को था; विभिन्न अनुदानों की मांगें (Demands for grants) कौंसिल ऑफ स्टेट के सामने स्वीकृति के लिये नहीं पेश की जाती थीं। यह भी स्मरणीय है कि धारासभा को बजट के बड़े भाग पर मत देने का अधिकार न था; असेम्बली गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति के साथ गवर्नर-जनरल के वेतन, भत्ते, वैदेशिक एवं राजनीति विभाग के खर्चों, रक्षा व्यय एवं सरकारी ऋण पर, जो कुल सरकारी व्यय का तीन चौथाई था, बहस तो कर सकती थी, पर मत नहीं दे सकती थी। गवर्नर-जनरल असेम्बली द्वारा कम या रद की हुई अनुदान की किसी भी मांग को मूल रूप में पास कर सकता था यदि उसके कर्तव्य पालन के लिये ऐसा करना आवश्यक हो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि असेम्बली का व्यय पर वास्तविक नियन्त्रण न था, उसकी सीमित शक्तियां गवर्नर-जनरल के निषेधाधिकार (veto power) के कारण और भी कम हो गई थीं। इसका कारण यह था कि एक्ट के निर्माताओं का उद्देश्य केन्द्र में उत्तरदायी शासन स्थापित करना न था। असेम्बली को सरकार को प्रभावित करने के अवसर तो थे पर नियन्त्रण की शक्ति न थी। उसे अर्थ-विधेयक पर बहस करने और मत देने का भी अधिकार था। असेम्बली से पास होने के बाद इसे कौंसिल ऑफ स्टेट को बहस और मत के लिये भेजा जाता था। दोनों सभायें आय के किसी भी प्रस्ताव को कम या रद कर सकती थीं, पर गवर्नर-जनरल को हक था कि यदि वह चाहे तो इनके निर्णयों को मानने से इन्कार कर दे। अनेक बार असेम्बली ने अर्थ-विधेयक (Finance Bill) को रद किया पर गवर्नर-जनरल ने उसे पास कर दिया।

ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस सरीखे स्वतन्त्र एवं स्वायत्त देशों में व्यवस्थापिका सभा अनेकों प्रकार से प्रशासन पर नियन्त्रण करती है। वह इसके लिये थैली पर कब्ज़ा रखती है, प्रस्ताव पास करती है, 'स्थगन-प्रस्ताव' पेश करती है और प्रश्न इत्यादि पूछती है। भारतीय धारासभा का न तो थैली पर वास्तविक नियन्त्रण था और न वह कार्य-पालिका को पदच्युत कर सकती थी या उससे किसी मामले में अपनी इच्छायें मनवा सकती थी। यह सिर्फ प्रश्न पूछ सकती थी, 'काम रोको प्रस्ताव' (Motion of Adjournment) पेश कर सकती थी। पर यह अधिकार बहुत महत्त्वपूर्ण न था। किसी 'काम रोको प्रस्ताव' या 'अविश्वास के प्रस्ताव' के पास हो जाने का अर्थ यह न था कि कार्यपालिका को त्याग-पत्र दे देना चाहिये और असेम्बली अथवा कौंसिल ऑफ स्टेट के प्रस्ताव कार्यपालिका के लिये सिफारिश से ज्यादा कोई मूल्य न रखते थे; वह चाहती तो उन्हें मानती और न चाहती तो ठुकरा सकती थी। इस प्रकार केन्द्रीय धारासभा का कार्यपालिका पर कोई नियन्त्रण न था, अधिक से अधिक यह उस पर कुछ प्रभाव ही डाल सकती थी।

दोनों सभाओं में संघर्ष:— द्विआगारिक पद्धति में दोनों सभाओं में संघर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सदैव संभावना बनी रहती है और विशेषकर तब जब कि दोनों के अधिकार एवं शक्तियां समान हों। अतः प्रत्येक संविधान में इन सम्भावित संघर्षों के निवारण के उपाय अवश्य रहते हैं। १९१९ के एक्ट में असेम्बली और कौंसिल ऑफ स्टेट के संघर्षों को दूर करने के लिये तीन तरीक़े सुझाये गये थे। वे थे— संयुक्त समितियां, संयुक्त सम्मेलन और संयुक्त अधिवेशन। संयुक्त समिति का उद्देश्य मतभेद को मिटाने की अपेक्षा उन्हें पैदा होने से रोकना था। वह आशंकित मतभेदों को पैदा ही न होने देना चाहती थी। जब भी दोनों सभाओं में कोई मतभेद पैदा हो तो वे संयुक्त सम्मेलन बुला सकती थीं जिसमें दोनों सभाओं के समान प्रतिनिधि रहने आवश्यक थे। दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन केवल मात्र गवर्नर-जनरल ही सरकारी विज्ञप्ति के द्वारा बुला सकता था। संयुक्त बैठक बुलाना आवश्यक नहीं समझा गया क्योंकि दो सदनों के संघर्ष को गवर्नर जनरल सदैव अपनी प्रमाणन शक्ति द्वारा दूर कर सकता था। गवर्नर-जनरल अपनी प्रमाणन (Certification) की शक्ति द्वारा भी किसी विधेयक को, जो दोनों सभाओं में मतभेद होने के कारण पास न हो सकता हो, बचा सकता था। यह तरीक़ा उसी समय प्रयोग में लाया जाता था जब कार्यपालिका किसी विधेयक को पास करने पर तुली हुई हो। 'नरेश सुरक्षा विधेयक' कौंसिल ऑफ स्टेट से पास होने के बावजूद असेम्बली द्वारा रद कर दिया गया था। गवर्नर-जनरल ने इसे प्रमाणित करके कानून घोषित कर दिया।

१९४७ तक की स्थिति :— क्योंकि १९३५ के एक्ट का संघीय भाग कार्यान्वित नहीं हो पाया था केन्द्रीय कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका सभा की रचना व गठन १९४७ के भारत स्वाधीनता एक्ट के पास होने तक १९१९ के एक्ट के अनुसार ही रहे। भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में, कार्यपालिका की शक्तियां यथापूर्व ही रहीं पर १९३५ के एक्ट के मातहत प्रान्तीय स्वतन्त्रता (Provincial autonomy) की स्थापना को दृष्टि में रखते हुए प्रान्तीय सरकारों पर से इसकी निरीक्षण और नियन्त्रण की शक्तियां वापिस लेनी पड़ीं। जिस हद तक तथा जिन क्षेत्रों में शासन का उत्तरदायित्व प्रान्तों में जनता को हस्तान्तरित कर दिया गया उस हद तक और उन क्षेत्रों में भारत सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर शासन प्रभुत्व समाप्त हो गया।

जैसा कि एक बाद के अध्याय में बताया जायगा भारतीय जनता की देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की मांग को पूरा करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् का भी विस्तार किया। १९४१ तक इसके सदस्यों की संख्या ८ थी जिनमें ३ भारतीय हुआ करते थे। अक्टूबर १९४१ में इसकी संख्या १३ कर दी गई जिनमें ८ भारतीय थे। १९४५ में इसकी सदस्य संख्या १६ हो गई जिनमें ११ भारतीय थे। पर सबसे मुख्य पाँच विभाग अब भी अंग्रेज़ों के हाथ में थे; ये थे वैदेशिक एवं राजनीतिक विभाग, रक्षा विभाग, गृह विभाग, अर्थ विभाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा रेल विभाग। १९४६ में जब 'केबिनेट मिशन योजना' के अनुसार देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई तब कार्यकारिणी परिषद् पूरी तरह से भारतीय हो गई और गवर्नर-जनरल ने वैधानिक प्रमुख (Constitutional head) की तरह से कार्य करना शुरू कर दिया। १९४७ के भारत स्वाधीनता अधिनियम के पास होने के बाद तो वह पूर्ण रूप से वैधानिक प्रमुख बन गया।

कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका सभा में सम्बन्ध :— यद्यपि भारत सरकार की कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्धों की मुख्य बातों का पहिले स्पष्टतया ज़िक्र हो चुका है, यह विषय अपने आप में इतना महत्त्वपूर्ण है कि इस पर अलग लिखना आवश्यक है।

हमें यह बात न भुलानी चाहिये कि मॉन्टफोर्ड सुधारों के निर्माताओं का उद्देश्य केन्द्र में उत्तरदायित्व देना न था। अतः १९१९ के एक्ट के अनुसार भारत सरकार भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी रही। इसका अभिप्राय यह था कि आवश्यक बातों में इसकी सत्ता निर्विवाद थी। यही कारण था कि गवर्नर-जनरल को व्यवस्थापिका सभा द्वारा कम या रद किये करों और अनुदानों को बहाल करने, रद किये विधेयकों को प्रमाणित करने और अध्यादेश घोषित करने का अधिकार था। धारासभा द्वारा पास किये गये प्रस्ताव सिफारिश की तरह होते थे जिन्हें कार्यपालिका अपनी इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकती थी। किसी 'काम रोको प्रस्ताव' के पास हो जाने अथवा किसी महत्त्वपूर्ण सरकारी विधेयक के रद हो जाने का यह अर्थ न था कि कार्यपालिका को त्यागपत्र दे देना चाहिये। इस प्रकार धारासभा कार्यपालिका पर नियन्त्रण नहीं करती थी। वह उसे पद-त्याग के लिये मजबूर नहीं कर सकती थी। अधिक से अधिक वह इस पर अपना कुछ प्रभाव डाल सकती थी। श्री मांटेग्यु का लक्ष्य भारत सरकार को धारासभा के प्रति उत्तरदायी बनाना नहीं अपितु सहानुभावी (Responsive) बनाना था ; इसलिये एक्ट ने धारासभा का विस्तार किया, इसमें जनता के प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाई और इसकी शक्तियों में वृद्धि की, यद्यपि इसे कार्यकारिणी पर नियन्त्रण का अधिकार नहीं दिया।

प्रान्तीय शासन

विषय प्रवेश :— भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट के रचयिताओं के अनुसार स्वायत्त शासन के क्रमिक विकास की ओर पहिला कदम प्रान्तों में उठाया जाना था और भारत सरकार से इसका कोई सम्बन्ध न था जो अब भी पूर्णतया ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी थी। अतः १९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय शासन में जो परिवर्तन किये वे केन्द्रीय शासन के परिवर्तनों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। अतः हम उनका केन्द्रीय शासन से भी अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि १९१९ के एक्ट का उद्देश्य प्रान्तों में एकदम पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करना न था। इसका विकास शनैः शनैः होना था ; इस दिशा में सिर्फ पहले कदम ही उठाये जाने थे। यह उद्देश्य एक नई शासन पद्धति के द्वारा पूरा किया गया जिसे द्विविध शासन पद्धति या दोहरा शासन (Dyarchy) कहते हैं। इसे ९ प्रान्तों में आरम्भ किया गया जो निम्न थे :— बंगाल, बम्बई, मद्रास, बिहार व उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, पंजाब, आसाम और बर्मा। चीफ कमिश्नरों के प्रान्त इसके क्षेत्र से बाहर रक्खे गये। बाद में उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त में भी यह लागू कर दिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि गवर्नरों और लैफ्टिनेंट गवर्नरों के प्रान्तों में जो पुराना भेद चला आ रहा था वह अब समाप्त हो गया। १९३५ के एक्ट ने प्रान्तों में दोहरे शासन को समाप्त करके पूर्ण उत्तरदायी शासन की शुरुआत की जो गवर्नर की विशेष शक्तियों और उत्तरदायित्व से सीमित था।

दोहरे शासन का अर्थ :— दोहरे शासन को अंग्रेज़ी में 'डायार्की' कहते हैं। यह ग्रीक भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है— पहिला शब्द है 'डि' जिसके अर्थ हैं दो और दूसरा शब्द है 'आर्किया' जिसका अर्थ है शासन। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ दोहरा शासन अथवा दो शासकों का राज। १९१९ के एक्ट के अनुसार प्रान्तों में लागू की गई शासन पद्धति के रूप में इसका अर्थ था प्रान्तीय शासन क्षेत्र का दो पृथक् भागों में विभाजन जिनमें से प्रत्येक का शासन दो विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में था जिनकी नियुक्ति विभिन्न प्रकार से होती थी और जिनके धारासभा एवं गवर्नर के प्रति सम्बन्ध भी भिन्न भिन्न थे।

प्रान्तीय विषयों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। एक भाग में स्थानीय स्वशासन, युरोपियन एवं आंग्ल-भारतीयों के अतिरिक्त अन्यों की शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सफाई, हस्पताल, दवाखाने, व्यवसायों का विकास, कृषि, मछली पैदा करने के केन्द्र और सहकारी समितियों जैसे विषय थे जिनमें सामाजिक सेवा का विस्तृत क्षेत्र था और जिनके लिये स्थानीय ज्ञान की आवश्यकता थी। ये हस्तान्तरित विषय कहे जाते थे और इनके प्रशासन का उत्तरदायित्व गवर्नर पर था जो धारासभा के प्रति जिम्मेवार मंत्रियों के परामर्श से कार्य करता था। दूसरे भाग में मालगुजारी, दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता, सिंचाई, जंगलात, न्यायप्रशासन, पुलिस, जेल, वित्त, कारखाने तथा श्रम-समस्याएं इत्यादि विषय थे। इन्हें संरक्षित विषय कहा जाता था और इनका प्रशासन गवर्नर कार्यकारिणी के सदस्यों अथवा अपने सलाहकारों (Executive Councillors) की सहायता से करता था जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि प्रान्तीय कार्यपालिका के दो भाग थे :— एक वह जो गवर्नर और मंत्रियों से मिलकर बना था और दूसरा वह जिसमें गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी के सदस्य थे। मंत्री और कार्यकारिणी के सदस्य अथवा सलाहकार एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे से नियुक्ति के ढंगों, नौकरी की अवधि और गवर्नरों एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति सम्बन्धों में एक दूसरे से बहुत भिन्न थे। हम सबसे प्रथम मंत्रियों की नियुक्ति इत्यादि के बारे में कुछ कहेंगे, उसके अनन्तर कार्यकारिणी के सदस्यों का जिक्र करेंगे और अन्त में प्रान्तीय शासन में गवर्नर के कार्यों पर प्रकाश डालेंगे।

मंत्रीगण :— प्रत्येक प्रान्त में हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन मंत्रियों के सुपुर्द था। सलाहकारों अथवा कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या तो नियत की गई थी पर मंत्रियों की अधिकतम एवं न्यूनतम संख्याओं के विषय में कुछ नहीं बताया गया था। बंगाल आदि कुछ प्रान्तों में तीन और अन्यों में दो मंत्री थे। इनकी नियुक्ति गवर्नर करता था और उसी की इच्छा तक ये अपने पदों पर रह सकते थे। कोई भी सरकारी कर्मचारी मंत्री नहीं बन सकता था और न कोई ऐसा व्यक्ति ६ महीने से ज्यादा मंत्री रह सकता था जो प्रान्तीय धारासभा का सदस्य न हो। दूसरे शब्दों में, गवर्नर को धारासभा के बाहर भी किसी व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करने का अधिकार था, पर यदि यह मंत्री ६ महीने के भीतर धारासभा का सदस्य न हो सका तो उसके लिये अपने पद से त्यागपत्र देना आवश्यक था। आम तौर पर गवर्नर धारासभाओं के प्रमुख सदस्यों में से ही मंत्रियों का चुनाव करता था। क्योंकि ये लोग प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति उत्तरदायी थे और इनके वेतन भी धारासभा ही पास करती थी, इनकी अवधि वस्तुतः उसी की इच्छा पर निर्भर थी। सिद्धान्ततः गवर्नर की खुशी तक वे अपने पदों पर रह सकते थे पर गवर्नर किसी भी ऐसे मंत्री को पद पर नहीं रख सकता था जिसमें धारासभा को विश्वास न हो। संयुक्त प्रान्त में गवर्नर को अपनी इच्छा के विरुद्ध एक ऐसे मंत्री को बर्खास्त करना पड़ा जिसके विरुद्ध धारासभा के प्रेज़ीडेन्ट के निर्णायक मत से अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया गया था। इससे ज्ञात होता है कि हस्तान्तरित विषयों में संसदीय प्रणाली ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था।

संसदीय पद्धति में राज्य-प्रमुख की शक्तियां नाममात्र होती हैं; लोकप्रिय मंत्रियों से मतभेद रखते हुए भी उसे उनका परामर्श मानना पड़ता है या फिर मंत्रियों का त्यागपत्र स्वीकार करना पड़ता है। पर 'भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट' ने इस बात को नहीं स्वीकार किया कि प्रारम्भ से ही 'गवर्नर वैधानिक शासक की स्थिति को अपना ले और मंत्रियों के परामर्श को बाधित रूप से मानने लगे। हमें आशा है कि मंत्री लोग प्रशासन के प्रश्नों पर गवर्नर के अनुभवपूर्ण परामर्श को सहर्ष मानेंगे और गवर्नर भी उन प्रश्नों पर जिन पर लोकमत मंत्रियों के साथ होगा ज्यादा से ज्यादा उनकी इच्छाओं को पूरा करने के लिये इच्छुक रहेगा। नियन्त्रण की शक्ति हमने उसके हाथों में रक्खी है सिर्फ इसलिये क्योंकि हम प्रशासन के लिये उसी को उत्तरदायी समझते हैं पर हम उससे मंत्रियों के प्रस्तावों को तभी अस्वीकृत करने की आशा करेंगे जब इनकी स्वीकृति के भयंकर परिणाम निकलने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भावना हो .....। पर हम नहीं चाहते कि वह इस स्थिति में हो कि मंत्रियों के प्रत्येक प्रस्ताव को स्वेच्छा से ठुकरा सके।'* संक्षेप में गवर्नर से आशा की जाती थी कि वह तब तक मन्त्रियों की सलाह को मानने से इन्कार न करेगा जब तक इसके लिये उसके पास पर्याप्त कारण न होगा। मतभेद का पर्याप्त कारण होने पर वह उनकी सलाह के प्रतिकूल भी कार्य कर सकता था। सलाह के न माने जाने पर मंत्री के लिये पद-त्याग करना आवश्यक था और गवर्नर को भी उस मंत्री को पदच्युत करने का अधिकार था जिसके विचारों से वह आम तौर पर सहमत नहीं होता था या जिस पर धारासभा का विश्वास नहीं होता था।

मंत्रियों के साथ गवर्नर का कैसा व्यवहार होगा इसके विषय में निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) में हिदायतें जारी की गई थीं। इसमें उसे निर्देश दिया गया था कि मंत्रियों के परामर्श को स्वीकार अथवा अस्वीकार करते हुए उसे धारा-सभा के प्रति मंत्रियों के सम्बन्धों और धारासभा में अपने प्रतिनिधियों द्वारा प्रकट की गई जनता की इच्छा का पूरा ध्यान रखना होगा। प्रान्त की शांति एवं सुरक्षा, पिछड़ी जातियों एवं अल्पसंख्यक दलों की उन्नति एवं सामाजिक कल्याण, सरकारी कर्मचारियों के हित और धार्मिक एवं जातिगत संघर्षों के बचाव को दृष्टि में रखते हुए उसे मंत्रियों की सलाह को अस्वीकृत कर देने का भी अधिकार दिया गया था। भारतमंत्री तथा सपरिषद गवर्नर-जनरल के आदेशों का पालन करवाना भी उसका कर्तव्य था।

मंत्रियों का संयुक्त उत्तरदायित्व :— क्योंकि संसदीय शासन-प्रणाली में मंत्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व का विशेष महत्त्व है, हमें देखना है कि १९१९ के सुधारों ने प्रान्तीय क्षेत्र में इसे किस अंश तक लागू किया। रिपोर्ट के रचयिताओं ने सिद्धान्त रूप से इसे स्वीकार करते हुए बताया कि हस्तान्तरित विषय पर प्रत्येक निर्णय गवर्नर और मंत्रियों के संयुक्त परामर्श के बाद ही होना चाहिये। सामूहिक एवं संयुक्त उत्तरदायित्व को प्रोत्साहन देने के लिये ही रिपोर्ट में मंत्री शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया था। अपने पहिले पत्र (Despatch) में भारत सरकार ने भी इसी विचार का समर्थन किया था। ब्रिटिश संसद की संयुक्त निर्वाचित समिति (Joint Select Committee) की भी यही राय थी कि मंत्रियों को प्रारम्भ से संयुक्त उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य करना चाहिये। पर गवर्नरों को जारी किये गये निर्देश-पत्रों और विकेन्द्रीकरण नियमों (Devolution Rules) में मंत्री शब्द एकवचन में प्रयुक्त किया गया था। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यद्यपि विधान के निर्माता चाहते थे कि मंत्री लोग सामूहिक ज़िम्मेवारी के आधार पर कार्य करें, वे इसके लिये बाध्य नहीं थे; अधिक से अधिक यह प्रथा अथवा अभिसमय (Convention) के रूप में ही पनप सकता था। दुर्भाग्य से यह अभिसमय का रूप धारण न कर पाया। गवर्नरों ने सारी शक्ति अपने हाथ

* 'रिपोर्ट ऑन इण्डियन कांस्टिटयूशनल रिफार्म्स', पृष्ठ १४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में रखने के लिये मंत्रियों से अलग अलग निबटना ही अधिक सुविधाजनक एवं उपयोगी समझा।

कार्यकारिणी के सदस्य (Executive Councillors) :— संरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर के सुपुर्द था जिसे वह कार्यकारिणी के सदस्यों अथवा सलाहकारों की सहायता से चलाता था। कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या ४ से अधिक नहीं हो सकती थी। तीन प्रेज़ीडेन्सियों में इनकी संख्या ४ और शेष प्रान्तों में इनकी संख्या २ थी। इनमें से आधे ग़ैरसरकारी भारतीय और आधे सिविल सर्विस के यूरोपियन सदस्य थे। इस प्रकार प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषदों के निर्माण में भी 'भारतीयों को प्रशासन में अधिकाधिक स्थान देने' की नीति को लागू किया गया था। कार्यकारिणी के सदस्यों की नियुक्ति भारत-मंत्री की सिफारिश पर सम्राट् द्वारा ५ वर्ष के लिये की जाती थी। उनका वेतन एक्ट द्वारा निश्चित था और मंत्रियों के वेतन की तरह धारासभा से पास नहीं होता था। कार्यकारिणी के सदस्य होने के नाते वे धारासभा के भी सदस्य थे यद्यपि उसके प्रति वे उत्तरदायी न थे। उनका उत्तरदायित्व भारत-मन्त्री के प्रति था। कार्यकारिणी परिषद की बैठकों में गवर्नर सभापति होता था जिसमें मतभेद होने की अवस्था में निर्णय बहुमत से किये जाते थे। पर गवर्नर को अधिकार था कि यदि वह बहुमत से हुए निर्णय को गलत या प्रान्त की सुरक्षा और शांति के लिये खतरनाक अथवा अपने विशेष उत्तरदायित्वों के विरुद्ध समझे तो उसे मानने से इन्कार करदे और अपने निर्णय के अनुसार प्रान्त का कार्य चलाये।

कार्यपालिका के दो भागों में सम्बन्ध :— यद्यपि मंत्री तथा कार्यकारिणी के अन्य सदस्य नियुक्ति के ढंगों, सेवा काल और धारासभा के प्रति अपने सम्बन्धों में एक दूसरे से बहुत भिन्न थे, श्री मांटेग्यु और लार्ड चेम्सफोर्ड की इच्छा थी कि प्रान्तीय सरकार के दोनों भाग एक होकर कार्य करें। 'यह अत्यधिक वांछनीय है कि कार्यपालिका सम्मिलित रूप से विचार-विमर्श करने की आदत डाले और दूसरों के सामने संयुक्त मोर्चा उपस्थित करे। इसलिये हमारी सलाह है कि यह मिलकर विचार करने का नियम बना लें।' विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी नियमों के अनुसार गवर्नर के लिये दोनों भागों में धन के वितरण तथा कर लगाने एवं ऋण लेने के प्रस्तावों पर जिनका संरक्षित एवं हस्तान्तरित दोनों विषयों के प्रशासन से गहरा सम्बन्ध था, मन्त्रियों और कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों से परामर्श लेना आवश्यक था। यदि गवर्नर किसी विषय पर मंत्रियों अथवा कार्यकारिणी के सदस्यों से पृथक् रूप से विचार करना चाहता तो वह कार्यकारिणी के आधे भाग की बैठक भी बुला सकता था। दोनों भागों की सम्मिलित बैठकों के बहुमत से निर्णय किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में जो भी निर्णय किये जाते थे उनका उत्तरदायित्व गवर्नर पर था जो मंत्रियों की सलाह से काम करता था। इसी प्रकार संरक्षित विषयों के निर्णयों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उत्तरदायित्व कार्यकारिणी के सदस्यों के साथ गवर्नर का था। रिपोर्ट में 'संयुक्त विचार' की तो सिफारिश की गई थी पर 'संयुक्त निर्णय' की नहीं। प्रत्येक विषय पर सरकार का उससे सम्बन्धित भाग ही निर्णय करता था। निर्देश पत्र में गवर्नर को अपने में, मंत्रियों में और कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों में मिलकर विचार करने की आदत को प्रोत्साहन देने का आदेश दिया गया था। इससे जहां एक तरफ मंत्रियों को कार्यकारिणी के सदस्यों का अनुभव और परिपक्व परामर्श मिलता, कार्यकारिणी के सदस्यों को मंत्रियों के द्वारा जनता की इच्छाओं का पता चलता रहता। पर जैसा कि हम अभी देखेंगे सुधारों के कार्यान्वित होने के दो वर्ष बाद न तो 'संयुक्त उत्तरदायित्व' के सिद्धान्त पर ही अमल किया गया और न 'संयुक्त विचार-विमर्श' पर कोई ग़ौर हुआ।

गवर्नर :— उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नये विधान में गवर्नर को प्रमुख भाग अदा करना था। वह उत्तरदायी मंत्रियों और कार्यकारिणी के ग़ैरजिम्मेवार सदस्यों के बीच एक कड़ी था जो दोनों को मिलाने का काम करती थी। दूसरे शब्दों में, उसका काम था लोक-प्रिय सरकार और निरंकुश शासन को मिलाना। जहाँ यह स्पष्ट नहीं होता था कि कोई विषय मंत्रियों के अधिकार-क्षेत्र में है अथवा कार्यकारिणी के सदस्यों के अधिकार-क्षेत्र में, वहां गवर्नर ही मध्यस्थ का काम करता था। 'उसका यह भी कर्तव्य था कि वह देखे कि सरकार का एक भाग वही कार्य करता है जो दूसरे भाग के निर्णयों व नीतियों को एक जैसा तथा प्रभावात्मक बनाने के लिये आवश्यक है।' इस प्रकार उसकी स्थिति महान् उत्तरदायित्व और कठिनाइयों की स्थिति थी जिसमें बड़े अवसरों की भी कमी नहीं थी। उसे 'विभिन्न नीतियों और आदर्शों में सन्तुलन रखना पड़ता था और फूट तथा विरोध को रोकना पड़ता था'।

संकट के समय गवर्नर किसी भी हस्तान्तरित विषय के प्रशासन को अपने हाथ में ले सकता था। यदि कोई मंत्री त्यागपत्र दे दे और नया मंत्री उसकी जगह तत्काल नियुक्त न किया जा सके तो गवर्नर उसके विभाग के प्रशासन को भी अस्थायी रूप से तब तक अपने हाथ में ले सकता था जब तक कि उस पर नये मंत्री की नियुक्ति न हो जाय। यदि यह स्पष्ट हो जाय कि हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन एक्ट के अनुसार चलना असम्भव है तो सपरिषद् गवर्नर-जनरल भारत मन्त्री की पूर्व अनुमति से एक्ट को तब तक के लिये स्थगित कर सकता था जब तक वह इसे आवश्यक समझता और इस अरसे में हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन संरक्षित विषयों की तरह ही चलता। बंगाल और मध्य प्रान्त में ऐसा ही हुआ जहाँ कि 'स्वराज पार्टी' ने विधान का चलना असम्भव कर दिया।

यहाँ हमें प्रान्त की कार्यकारिणी का अध्यक्ष होने के नाते गवर्नर की नियुक्ति के ढंग, कार्य-काल, वेतन व भत्ते तथा अन्य शक्तियों का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं।

इस अधिनियम के अन्तर्गत एक प्रान्त का गवर्नर इस स्थिति में था कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षित विषयों के समुचित प्रशासन के लिये धारासभा के विरोध के बावजूद आवश्यक धन प्राप्त कर सकता था और आवश्यक क़ानून बना सकता था। उसकी इस प्रकार की विशेष शक्तियों का उल्लेख व्यवस्थापिका सम्बन्धी विच्छेद में किया जायेगा। यहां तो हम कुछ शब्द उसकी वित्त-सम्बन्धी शक्तियों के विषय में कहेंगे।

वित्त एक सुरक्षित विषय था जिसका प्रशासन गवर्नर अपनी कार्यकारिणी के पार्षदों के परामर्श से करता, इसलिये उसको वित्तसम्बन्धी बहुत बड़ी शक्तियां दी गई थीं। धारासभा के सम्मुख व्यय का कोई भी प्रस्ताव उसकी सिफ़ारिश के बिना नहीं रक्खा जा सकता था। जिन मदों पर व्यवस्थापिका को वोट देने का अधिकार नहीं था उन पर होने वाले व्यय की मात्रा को वही निर्धारित करता था। यदि धारासभा सुरक्षित विषय से सम्बन्धी किसी मद पर प्रस्तावित राशि में कटौती कर देती तो गवर्नर उसे फिर से सही कर सकता था; हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में वह ऐसा नहीं कर सकता था। परन्तु यदि वह प्रान्त में शांति और व्यवस्था क़ायम रखने, अथवा किसी विषय के प्रशासन के लिए किसी व्यय को आवश्यक समझता तो वह उसकी स्वीकृति दे सकता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि वित्त के क्षेत्र में गवर्नर की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता था।

व्यवस्थापिका सभा:— १९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के गठन, शक्तियों व कृत्यों में बहुत दूरगामी परिवर्तन किये। मॉन्टफोर्ड रिपोर्ट के रचयिताओं का प्रस्ताव था कि 'प्रत्येक प्रान्त में एक बड़ी व्यवस्थापिका सभा होनी चाहिये जिसका आकार प्रत्येक प्रान्त में भिन्न हो, जो व्यापक मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुनी गई हो, जिसमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो और जिसमें आवश्यक साम्प्रदायिक एवं विशेष प्रतिनिधित्व भी हों।' उन्होंने प्रत्येक व्यवस्थापिका सभा की रचना तथा मताधिकार के विषय में कुछ नहीं कहा। यह सब बातें एक विशेष समिति पर, जो इसी प्रयोजन के लिये बिठाई जानी थी, छोड़ दी गई थी। मताधिकार, विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व तथा चुनाव से सम्बन्धित अन्य प्रश्न निर्णय के लिये 'मताधिकार समिति' पर छोड़ दिये गये थे। रिपोर्ट के लेखनों ने इससे अधिक कुछ नहीं कहा कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन हटा दिया जाना चाहिये और मताधिकार की सीमाओं का निर्धारण किसी एक स्वीकृत सिद्धान्त पर नहीं अपितु जनता की वास्तविक स्थिति के आधार पर होना चाहिये। वे चाहते थे कि मताधिकार सिर्फ प्रान्तों में ही भिन्न नहीं होना चाहिये अपितु एक प्रान्त के विभिन्न प्रदेशों में भी भिन्न होना चाहिये। उन्होंने चेतावनी दी कि मताधिकार एकदम विस्तृत नहीं किया जाना चाहिये ताकि संख्या के भार से चुनाव की मशीनरी ही न टूट जाय। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न की भी उन्होंने छानबीन की। यह मानते हुए भी कि यह जनतन्त्र-विरोधी और इतिहास की शिक्षाओं के प्रतिकूल है उन्होंने इसे उन प्रान्तों में जारी रखने की सलाह दी जिनमें मुसलमान अल्पमत में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। सिक्खों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया, पर आंग्ल-भारतीयों और युरोपियन इत्यादि को इससे इसलिये वंचित रक्खा गया कि 'साम्प्रदायिक पद्धति का आम विस्तार सिर्फ दूसरे सम्प्रदायों को पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग करने के लिये ही प्रोत्साहित करेगा और राष्ट्रीयता की दृष्टि से, जिसके एकमात्र आधार पर उत्तरदायी शासन टिक सकता है, उस प्रतिनिधित्व के लिये भी नाशक होगा।' उन्होंने सिफारिश की कि अल्पसंख्यकों को नामज़दगी के ज़रिये भी प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। पर 'मताधिकार समिति' ने पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को भारतीय-ईसाइयों, यूरोपियनों और आंग्ल-भारतीयों पर भी लागू करने की सलाह दी। बहु-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों (Plural Member Constituencies) में मद्रास में अब्राह्मणों के लिये तथा बम्बई में मराठों के लिये स्थान सुरक्षित कर दिये गये। मताधिकार समिति ने देश की वयस्क आबादी के दसवें हिस्से को ही मताधिकार दिया था और महिलाओं को इस अधिकार से वंचित रक्खा था। इस सम्बन्ध में क़ानून बनाने की शक्ति प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को दी गई थी। इस अधिकार का शीघ्र ही प्रयोग किया गया और स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार दे दिया गया, पर वयस्क महिलाओं में से एक प्रतिशत से अधिक को यह अधिकार न मिल पाया। प्रत्येक प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा की रचना व गठन का वर्णन करना यहाँ अनावश्यक है। सब एक ही नमूने पर बनाई गई थीं। प्रत्येक में तीन प्रकार के सदस्य थे :— (i) गैर-सरकारी-निर्वाचित सदस्य जो कुल संख्या के ७० प्रतिशत थे, (ii) नामज़द सरकारी सदस्य जो २० प्रतिशत से अधिक न थे, और (iii) चन्द नामज़द गैर-सरकारी सदस्य जो उन वर्गों व हितों का प्रतिनिधित्व करते थे जो अपनी छोटी संख्या, पिछड़ी अवस्था अथवा असंगठित दशा के कारण प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं पा सकते थे। निर्वाचित स्थान, सामान्य गैर-मुस्लिम, मुस्लिम, सिक्ख, आंग्ल-भारतीय, भारतीय ईसाई और यूरोपियन स्थानों में बंटे हुए थे। संयुक्त प्रान्तीय धारासभा के १२५ सदस्य थे जो निम्न श्रेणियों में विभक्त थे :— कार्यकारिणी के सदस्य तथा अन्य नामज़द सदस्य : १७; नामज़द गैर-सरकारी सदस्य : ६; निर्वाचित गैर-मुस्लिम सदस्य : ६०; निर्वाचित मुस्लिम सदस्य : २९; निर्वाचित यूरोपियन : १; निर्वाचित ज़मींदार : ६; विश्व-विद्यालयों के प्रतिनिधि : १; व्यापार एवं वाणिज्य : ३। पिछले तीन चुनाव हल्के विशेष हल्के थे। संयुक्त प्रान्त में सिक्खों, आंग्ल-भारतीयों और भारतीय ईसाइयों के लिये कोई स्थान सुरक्षित नहीं रक्खे गये थे। उनकी संख्या इतनी कम थी कि उनके लिये स्थान सुरक्षित रखना उचित नहीं समझा गया। सिक्खों को सिर्फ पंजाब में पृथक् प्रतिनिधित्व मिला जहाँ वे पर्याप्त संख्या में थे और सुसंगठित थे; भारतीय ईसाइयों को मद्रास में और आंग्ल-भारतीयों को मद्रास और बंगाल में पृथक् प्रतिनिधित्व मिला।

मताधिकार समिति द्वारा निर्धारित निर्वाचकों की योग्यताओं का, जिन्हें सरकार ने भी स्वीकृत कर लिया था, यहाँ ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं। उसमें सिद्धान्त का कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न समाविष्ट नहीं था। अब हम प्रान्तीय धारासभाओं की शक्तियों, कृत्यों एवं कार्य-काल का उल्लेख करेंगे।

धारासभाओं का कार्य-काल ३ वर्ष था; गवर्नर यदि चाहता तो उन्हें इस अवधि से पूर्व भी भंग कर सकता था। उसे विशेष परिस्थितियों में उनके कार्यकाल को एक वर्ष तक बढ़ाने की भी शक्ति थी। यद्यपि गवर्नर धारासभा का सदस्य नहीं था, उसे इसमें भाषण देने का अधिकार था। पहिले चार साल तक उसने ही धारासभा के प्रेज़ीडेन्ट की भी नियुक्ति की; इसके बाद प्रेज़ीडेन्ट की नियुक्ति गवर्नर की स्वीकृति पर धारासभा स्वयं अपने सदस्यों में से करने लगी। प्रेज़ीडेन्ट की गवर्नर द्वारा नियुक्ति धारासभा की कार्यवाही में क्षमता और शिष्टता का ऊँचा स्तर कायम करने के लिये आवश्यक थी।

प्रान्तीय धारासभा को प्रान्त की शान्ति तथा उत्तम शासन के लिये प्रान्तीय सूची में सम्मिलित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार था। कुछ विषयों पर गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति के बिना धारासभा में विधेयक प्रस्तुत नहीं किये जा सकते थे। धारा-सभा द्वारा पास किये गये विधेयकों के लिये क़ानून बनने से पूर्व गवर्नर की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। गवर्नर यदि चाहता तो किसी भी विधेयक को प्रान्तीय धारासभा के पास पुनर्विचार के लिये भेज सकता था। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा से पास होने और गवर्नर की स्वीकृति मिलने के उपरान्त भी कोई विधेयक तब तक क़ानून नहीं बन सकता था जब तक गवर्नर-जनरल की स्वीकृति भी उसे न मिल जाय। दूसरे शब्दों में, प्रान्तीय क़ानूनों पर गवर्नर-जनरल का भी नियंत्रण था।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं का, प्रश्न पूछने, 'कामरोको-प्रस्ताव' पेश करने, सामान्य प्रस्ताव पास करने और धन-विधेयकों पर मत देने की शक्ति के कारण प्रान्तीय प्रशासन पर पर्याप्त नियन्त्रण था। पर यह नियन्त्रण केवलमात्र हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन तक ही सीमित था, संरक्षित विषयों से इसका कोई सम्बन्ध न था। यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि संरक्षित विषयों के प्रशासन के लिये गवर्नर, कार्यकारिणी के सदस्यों के साथ, गवर्नर-जनरल और उसके द्वारा भारत-मन्त्री के प्रति उत्तरदायी था। प्रान्तीय धारासभा की आर्थिक एवं विधायक शक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उपबन्धों में भी उत्तरदायित्व का यह विभाजन और इसके परिणामस्वरूप प्रान्तीय प्रशासन पर प्रान्तीय धारासभा के नियन्त्रण में होने वाली कमी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। यदि धारासभा संरक्षित विषय के किसी विधेयक को उस रूप में पास करने से इन्कार करदे जिसमें गवर्नर ने इसे पास करने की सिफारिश की थी तो गवर्नर को यह प्रमाणित (Certify) करने का हक था कि संरक्षित विषय के प्रशासन के उत्तरदायित्व को निभाने के लिये इस विधेयक को उसी रूप में पास करना आवश्यक है और इस पर यह विधेयक क़ानून बन जाता। गवर्नर को हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इस प्रकार की कोई शक्ति प्राप्त न थी। गवर्नर द्वारा प्रमाणित प्रत्येक विधेयक गवर्नर-जनरल और भारत-मन्त्री को भेजा जाता था। भारत-मंत्री के लिये यह आवश्यक था कि वह ऐसे विधेयक को सम्राट् की स्वीकृति पाने से पूर्व कम से कम ८ दिन तक संसद के दोनों आगारों के सम्मुख रखता। दूसरे शब्दों में, संरक्षित विषयों के प्रशासन का अन्तिम उत्तरदायित्व ब्रिटिश संसद पर था न कि प्रान्तीय धारासभा पर। गवर्नर को किसी भी विधेयक, उसकी धारा या उसके संशोधन पर बहस को रोकने का भी हक़ था यदि वह उसे प्रान्त की शान्ति के लिये घातक समझता।

जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है, प्रान्तीय एवं केन्द्रीय बजट पृथक् कर दिये गये थे और दोनों को राजस्व के पृथक् मद दे दिये गये थे। प्रान्तीय राजस्व के मदों में प्रान्तीय विषयों से होने वाली आय, प्रान्तीय धारासभा द्वारा लगाये गये करों की आमदनी, और प्रान्त में इकट्ठे किये जाने वाले आय-कर का भाग मुख्य थे। गवर्नर का कर्तव्य था कि वह आगामी वर्ष के आय-व्यय का प्राक्कलन (Estimates) तैयार करवाता और उसे धारासभा के सम्मुख पेश करता। व्यय के मद मतदेय (Votable) और अमतदेय (Non-votable) दो भागों में बांट दिये गये थे। केन्द्रीय सरकार को प्रति वर्ष दी जाने वाली राशि (Contributions), सरकारी ऋण का ब्याज, कानून द्वारा निश्चित किया गया व्यय, सम्राट् अथवा भारत-मंत्री द्वारा अथवा उनकी स्वीकृति से नियुक्त किये गये व्यक्तियों का वेतन और पेन्शन, और हाई कोर्ट के न्यायाधीशों एवं एडवोकेट जनरल की तनख्वाहें प्रान्तीय राजस्व के जिम्मे थीं, अर्थात् इन पर धारासभा को मत देने का अधिकार न था। व्यय के अन्य समस्त मद व्यवस्थापिका सभा के सामने अनुदानों की माँगों के रूप में पेश किये जाते थे और उन्हें पास किया जा सकता था, रद किया जा सकता था तथा उनमें कमी की जा सकती थी। पर किसी भी मांग को न बढ़ाया जा सकता था और न उसे किसी दूसरी मद में डाला जा सकता था। गवर्नर को संरक्षित विषय के किसी भी अनुदान को, जिसे धारासभा ने रद या कम कर दिया हो, बहाल करने का अधिकार था बशर्ते कि वह यह समझता हो कि संरक्षित विषय के प्रशासन के उत्तरदायित्व को निभाने के लिये यह अनुदान आवश्यक है। हस्तान्तरित विषयों के अनुदानों को बहाल करने की शक्ति गवर्नर को न थी। तथापि संकट काल में प्रान्त या उसके किसी भाग की शांति को दृष्टि में रखते हुए गवर्नर को हक था कि वह संरक्षित अथवा हस्तान्तरित, दोनों विषयों में ही किसी भी विभाग (Department) को प्रस्तावित राशि व्यय करने की अनुमति दे दे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रान्तीय धारासभा का हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन पर अवश्य नियंत्रण था पर संरक्षित विषयों के प्रशासन पर यह केवलमात्र प्रभाव ही डाल सकती थी। हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में पास किये गये प्रस्ताव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गवर्नर को अनिवार्य रूप से स्वीकार करने पड़ते थे जबकि संरक्षित विषयों के प्रस्ताव सिर्फ सिफारिश के रूप में होते थे। द्विविध शासन पद्धति अथवा दोहरे शासन (dyarchy) के कार्य रूप का वर्णन हम इसी अध्याय के अन्तिम भाग में करेंगे। इससे पहिले १९१९ के एक्ट के उन परिवर्तनों के विषय में कुछ शब्द कहना असंगत न होगा जो इसने भारतीय मामलों के गृह प्रशासन (Home Administration of Indian Affairs) में किये।

गृह प्रशासन

विषय-प्रवेश :— पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि किस प्रकार ब्रिटिश संसद इङ्गलैण्ड में नियंत्रण-संघ (Board of Control) के द्वारा भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों के मामलों पर नियंत्रण करने लगी। जब १८५८ में ब्रिटिश सम्राट् ने भारतीय प्रशासन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले लिया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त हो गई, तो इङ्गलैण्ड में भारत-मंत्री का नया पद खोला गया। इसे वे सब शक्तियाँ हस्तान्तरित कर दी गईं जो अब तक संचालक मंडल (Court of Directors) और नियंत्रण-संघ के हाथ में थी। इण्डिया-कौंसिल नाम की एक संस्था भी उसे सहायता देने के लिये बनाई गई। इस प्रकार इंग्लैण्ड में भारतीय प्रशासन की नियामक संस्था थी सपरिषद् भारत-मंत्री जिसे भारत की गृह सरकार भी कहा जाने लगा। भारत-मंत्री ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का सदस्य था और ब्रिटिश संसद का तात्कालिक प्रतिनिधि होने के नाते भारतीय प्रशासन के लिये उसके प्रति उत्तरदायी था। भारत-मंत्री के द्वारा ही ब्रिटिश संसद भारत सरकार पर अपना नियंत्रण रखती थी और इस महान् देश के शासन प्रबन्ध के सम्पर्क में रहती थी। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है नियंत्रण-संघ और संचालक मंडल की समस्त शक्तियाँ उसी के हाथ में आ गईं। १९१९ के एक्ट ने सिद्धान्ततः भारत सरकार के सम्बन्ध में उसकी शक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया। उसने इसे 'इस देश के शासन एवं राजस्व से सम्बन्धित समस्त कार्यों पर निरीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण' की शक्तियाँ प्रदान की। गवर्नर-जनरल और उसके द्वारा प्रान्तीय गवर्नरों के लिये उसके आदेशों का पालन अनिवार्य था। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के समस्त विधायक प्रस्तावों (Legislative projects) के लिये उसकी स्वीकृति आवश्यक थी। करों में परिवर्तन, राजस्व, तटकर, मुद्रा व विनिमय सम्बन्धी प्रस्ताव, तथा नये व्यय एवं नीति परिवर्तन सम्बन्धी योजनाओं का पहिले उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाना ज़रूरी था। उसकी स्वीकृति के बिना भारतीय राजस्व में से वेतन इत्यादि के रूप में कोई भी व्यय नहीं किया जा सकता था। इङ्गलैण्ड को 'होम चार्जेज़' के रूप में जो रुपया हमें प्रति वर्ष देना पड़ता था और जो भारत सरकार के कुल व्यय का पाँचवाँ हिस्सा था, वह उसी के अधिकार में था। इङ्गलैंड में सरकारी कर्मचारियों की भरती और भारत सरकार के इङ्गलैण्ड स्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभागों का प्रबन्ध भी उसी के हाथ में था। गवर्नर-जनरल के अतिरिक्त अन्य बड़े बड़े सरकारी कर्मचारियों की भारत में नियुक्ति उसी की सिफारिश पर होती थी। यद्यपि अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए इण्डिया कौंसिल के बहुमत को उसे अपने साथ रखना पड़ता था, भारत सरकार पर उसे पूर्ण नियन्त्रण था; भारत सरकार उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी महत्वपूर्ण कार्य न कर सकती थी।

पर क्योंकि १९१९ के भारत-सरकार अधिनियम ने प्रान्तीय क्षेत्र में जनता को आंशिक शासनसत्ता हस्तान्तरित की और प्रान्तीय कार्यपालिका के लोकप्रिय भाग (Popular half) को प्रान्तीय धारासभा के प्रति उत्तरदायी बनाया और क्योंकि यह उत्तरदायित्व भारत-मन्त्री के नियन्त्रण और ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायित्व के प्रतिकूल था, एक्ट ने भारत-मन्त्री को हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के सम्बन्ध में अपने नियंत्रण को सीमित करने के लिए नियम बनाने की भी शक्ति दी।

भारत-मन्त्री के नियमों ने हस्तान्तरित विषयों पर उसके नियन्त्रण को जिन प्रयोजनों के लिये सीमित किया वे निम्न थे :—

(क) केन्द्रीय विषयों के प्रशासन की सुरक्षा।

(ख) प्रान्तों के उन प्रश्नों का निर्णय जिनका वे स्वयं फैसला करने में असमर्थ थे।

(ग) राजकीय हितों की हिफाज़त।

(घ) सपरिषद गवर्नर-जनरल को एक्ट द्वारा सौंपी गई कुछ शक्तियों और कर्तव्यों के प्रयौग व पालन की सुरक्षा।

(ङ) हाई कमिश्नर, नौकरियों (Services) और ऋण लेने (Borrowing) सम्बन्धी अपनी शक्तियों के प्रयोग की सुरक्षा।

केन्द्रीय विषयों और प्रान्तों के संरक्षित विषयों के प्रशासन पर भारत मन्त्री के नियन्त्रण में इस प्रकार की शिथिलता का कोई प्रश्न ही न था। पर केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित सदस्यों के बहुमत के साथ केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों पर भारत मन्त्री का कठोर नियन्त्रण कुछ बेतुका सा प्रतीत होता था। इसलिये भारत सरकार तथा सपरिषद गवर्नरों को अपने विवेक से कार्य करने की शक्तियाँ दी गईं। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए और रिपोर्ट के लेखकों के इस कथन के अनुसार कि कुछ बातें जो अब तक भारत मन्त्री को स्वीकृति के लिये भेजी जाती थीं सिर्फ सूचनार्थ उसे पहुँचाई जायेंगी, भारत मन्त्री ने अपनी कुछ शक्तियाँ सपरिषद गवर्नर-जनरल को दे दीं। 'इस प्रकार जबकि १९१९ से पूर्व समस्त विधेयक केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में प्रस्तुत किये जाने से पहिले भारत मन्त्री के पास स्वीकृति के लिये भेजे जाते थे, अब सिर्फ कुछ विशेष प्रकार के विधेयक ही केन्द्रीय धारासभा में पेश होने से पूर्व भारत मन्त्री को भेजे जाने लगे, ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जबकि प्रान्तीय विधेयकों का भारत मन्त्री के पास जाना लगभग बिल्कुल बन्द हो गया। प्रान्तों के अब सिर्फ वही थोड़े से विधेयक भारत मन्त्री के पास जाते थे जिन्हें गवर्नर-जनरल अपनी पूर्व स्वीकृति नहीं देता था।'* आर्थिक क्षेत्र में भी भारत मन्त्री के नियन्त्रण में इसी प्रकार की कमी हुई। पर भारत सरकार को अब भी शिकायत थी कि आर्थिक और सरकारी नौकरियों के मामलों में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों पर सपरिषद भारत मन्त्री का नियन्त्रण बहुत कठोर था।

एक दूसरे प्रकार से भी सपरिषद भारत मन्त्री का भारत सरकार पर नियन्त्रण बहुत कम हुआ। इसी समय कुछ आर्थिक अभिसमय (Conventions) कायम किये गये जो भारत मन्त्री के नियन्त्रण को ढीला करने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। संयुक्त निर्वाचित समिति (Joint Select Committee) के सुझाव पर यह स्वीकार कर लिया गया था कि आर्थिक मामलों में यदि भारत सरकार और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के बीच मेल हो तो भारत मन्त्री उस मामले में हस्तक्षेप न करेगा। पर इसका विशेष अर्थ न था।

इसी प्रकार, यह अभिसमय भी स्थापित किया गया कि यदि प्रान्तीय सरकार और प्रान्तीय धारासभा किसी आर्थिक प्रश्न पर एकमत हों तो भारत सरकार उसमें हस्तक्षेप न करेगी।

गृह प्रशासन में एक्ट ने कुछ अन्य भी परिवर्तन किये। इनमें से सब से मुख्य परिवर्तन भारत मन्त्री के वेतन के सम्बन्ध में था। १९१९ के एक्ट के पारित होने से पूर्व भारत मन्त्री का वेतन भारतीय राजस्व में से दिया जाता था। यह आयोजन इसलिये अच्छा न था क्योंकि इसके कारण ब्रिटिश संसद को वार्षिक बजट को पास करने के समय भारत मन्त्री के प्रशासन की समालोचना का अवसर न मिलता था। एक्ट ने तय किया कि भारत मन्त्री का वेतन अब से ब्रिटिश संसद द्वारा पास किये गये धन में से दिया जाय और इस प्रकार इसने भारत मन्त्री पर संसद का पहिले से अधिक नियन्त्रण कायम किया। एक्ट का दूसरा परिवर्तन यह था कि इसने भारत मन्त्री के एजेन्सी कृत्यों (Agency Functions) को उसके दूसरे कार्यों और कर्तव्यों से पृथक् कर दिया और उन्हें 'भारत के हाई कमिश्नर' नामक अफसर को हस्तान्तरित कर दिया। तीसरे, इसने 'इण्डिया कौंसिल' के सदस्यों की संख्या भी कम कर दी। इसके कम से कम ८ और अधिक से अधिक १२ सदस्य हो सकते थे। इसके सदस्यों का सेवा-काल भी ७ से घटाकर ५ वर्ष कर दिया गया। इनका वार्षिक वेतन १२००० पौण्ड निश्चित किया गया और इसके अतिरिक्त उन सदस्यों को जो अपनी नियुक्ति के समय भारत में बस रहे थे, ६०० पौंड वार्षिक भत्ता भी दिया गया। कौंसिल के भारतीय सदस्यों की संख्या भी दो से तीन कर दी गई।

———

* पुनिया : 'कान्स्टिटयूशनल हिस्टी आफ इण्डिया', पृष्ठ १७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०

१९१९ के सुधारों का व्यावहारिक रूप

विषय प्रवेश :— १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के मातहत केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों तथा भारत के गृह-प्रशासन (Home Administration of Indian Affairs) की रचना, शक्तियों एवं कृत्यों का वर्णन करने और इसके द्वारा देश में स्थापित किये गये उत्तरदायी शासन के प्रकार और विस्तार को देखने के उपरान्त अब हम द्विविध-शासन पद्धति (Dyarchy) के वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप का वर्णन करते हैं। क्योंकि प्रान्तीय क्षेत्र में द्विविध शासन प्रणाली की स्थापना अधिनियम की सब से मौलिक एवं नूतन विशेषता थी, हम सब से पहिले यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि यह परीक्षण किस अंश तक सफल अथवा विफल हुआ।

सुधारों से पूर्व की राजनीतिक दशा :— इस सम्बन्ध में कुछ आवश्यक प्रारम्भिक बातों का उल्लेख ज़रूरी है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि १९१९ का अधिनियम तत्कालीन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ा हुआ था; ब्रिटिश भारत के इतिहास में पहिली बार यह घोषित किया गया कि ब्रिटिश नीति का उद्देश्य देश को उत्तरदायी शासन के लिये तैयार करना है और इस दिशा में पहिला क़दम भी उठाया गया। यह भी स्वीकार करना होगा कि जनतन्त्र वह पौधा है जिसका विकास धीरे धीरे होता है; यह कुछ गुणों और विशेषताओं को मानकर चलता है जो देश में एकदम पैदा नहीं की जा सकतीं। यह अपने कार्यकर्ताओं से जन-साधारण के सामान्य हित को अपने सम्मुख रखने और उनके प्रति सदा सच्चा रहने की आशा करता है जिससे कि बहुमत के निर्णय शान्ति से स्वीकार किये जा सकें। इसमें बहुमत के लिये सहिष्णुता और सदिच्छा तथा अल्पमत के लिये धैर्य अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त सभी का दूसरों के अधिकारों के प्रति सम्मान भी प्रदर्शित करना ज़रूरी है। मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट के लेखकों ने भारत के लिये द्विविध शासन पद्धति की सलाह इसलिये दी क्योंकि भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ विद्यमान न थीं। उनका उद्देश्य भारतवासियों को स्वशासन की शिक्षा देना था।

यदि १९१९ के सुधार प्रथम महायुद्ध से पूर्व भारत को दिये जाते तो जनता उनका हृदय से स्वागत करती; कृतज्ञता प्रकाशन के साथ उन्हें स्वीकार किया जाता और सच्चाई से उन्हें कार्यान्वित किया जाता। पर १९१३ और १९२० की स्थितियों में ज़मीन आसमान का अन्तर था। १९१३ में जो बात निश्चित थी १९२० में वह असम्भव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन गई। युद्ध के मध्यवर्ती वर्षों ने एक युगान्तर पैदा कर दिया। युद्ध ने भारत में राष्ट्रीयता की भावना को घनीभूत किया। यूरोप में अनेक नवीन राष्ट्रीय राज्यों (National States) की रचना, ग्रेट ब्रिटेन के साथ उपनिवेशों के समत्व व्यवहार और एशिया के अनेक देशों में राष्ट्रीयता की नवीन भावना को देखते हुए भारतीय देशभक्तों के लिये स्व-शासन के क्रमिक विकास को उद्देश्य के रूप में स्वीकार करना कठिन हो गया। और इससे भी ज्यादा उनके लिये 'यह स्वीकार करना कठिन था कि एक विदेशी संसद यह तय करे कि आया भारतीय स्व-शासन के योग्य हैं या नहीं और हैं तो उन्हें स्व-शासन कब और किस अंश तक दिया जाना चाहिये।'* संक्षेप में, प्रथम महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप पैदा हुए भारतीय राष्ट्रीयता के आवेशपूर्ण रुख के कारण १९१९ के सुधार भारतीयों को संतुष्ट न कर सके। सुधारों के रास्ते में इन्हें आधी मंज़िल (halfway house) समझा गया और ये जनता में उत्साह पैदा करने में असफल रहे।

मॉन्ट-फोर्ड सुधारों के विषय में उदारवादियों (Moderates) और उग्रवादियों (Extremists) के परस्पर विरोधी विचारों और उदारवादियों के भारतीय राष्ट्रीय महासभा से पृथक् हो जाने का हम पहिले ही जिक्र कर चुके हैं। उदारवादियों के कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद के परिणामस्वरूप कांग्रेस के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन आ गया; इसका नेतृत्व उग्रवादियों के हाथ में चला गया। अतः यह तो पहले से निश्चित सा ही था कि यह १९१९ के भारत सरकार अधिनियम को स्वीकार नहीं करेगी। कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में, जो १९१९ में जलियांवाला बाग की दुर्घटना तथा पंजाब में फौजी कानून के शासन के भयावह परिणामों के बाद हुआ, देशबन्धु चितरंजनदास ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें इन्हें निराशाजनक एवं असन्तोषप्रद बताकर अस्वीकृत करने का अनुरोध किया गया। महात्मा गांधी ने, जो दक्षिणी अफ्रीका में निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन को सफलतापूर्वक समाप्त करके लौटे थे और लौटने के बाद से पाँच अवसरों पर भारत में भी इस परीक्षण को आजमा चुके थे, इसमें संशोधन पेश किया कि देश को पूर्ण उत्तरदायी शासन की प्राप्ति के उद्देश्य से इन सुधारों को कार्यान्वित करना चाहिये। संशोधन में श्री मांटेग्यु को सुधारों के सम्बन्ध में किये गये परिश्रम के लिये धन्यवाद भी दिया गया। कांग्रेस ने महात्मा जी के संशोधन को कुछ परिवर्तनों के साथ सार रूप में स्वीकार कर लिया। देशबन्धु दास का प्रस्ताव और महात्मा जी का संशोधन अगले अध्याय में उद्धृत किये जायेंगे।

पर देश में घटनाएं बहुत तेज़ी से हो रही थीं। पंजाब की गलतियों को दूर करने और खिलाफत के प्रश्न को मुसलमानों की दृष्टि से सन्तोषजनक रूप से हल करने की सरकार की असमर्थता ने— महात्मा गांधी को सहयोगी से असहयोगी बना दिया। सितम्बर १९२० में कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन में महात्मा जी ने एक प्रस्ताव

* कूपलैंड : 'इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट', पृष्ठ ११७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्खा जिसमें राष्ट्र से सरकार के विरुद्ध अहिंसात्मक असहयोग की नीति अपनाने का आग्रह किया। यह अहिंसात्मक असहयोग सरकारी उपाधियों के विसर्जन (Renunciation of titles) से प्रारम्भ होकर, धारासभाओं, कानूनी अदालतों और सरकारी शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार करता हुआ करों की ग़ैरअदायगी में समाप्त होना था। कांग्रेस ने इसे २७२८ में से १८५५ मतों से पास कर दिया। दिसम्बर १९२० में नागपुर में हुए कांग्रेस के नियमित वार्षिक अधिवेशन ने भी इसे अपनी स्वीकृति दे दी। जिन कारणों ने महात्मा जी को सरकार के विरुद्ध असहयोग की नीति, जिसमें धारासभाओं का बहिष्कार भी सम्मिलित था, अपनाने को बाधित किया, उनका हम आगामी अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। यहाँ तो हमें सिर्फ यही बताना है कि अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन ने सम्पूर्ण देश में एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया जिसने १९१९ के भारत सरकार अधिनियम की सफलता को असम्भव सा बना दिया। सद्भावना और सौहार्द के स्थान पर, जो सुधारों को सफल बना सकते थे, कटुता, फटाव और अविश्वास दृष्टिगोचर होने लगे जिन्होंने पहिले से ही सुधारों की मौत की घन्टी बजा दी। कांग्रेस ने धारासभाओं के चुनावों का बहिष्कार किया और जो इनके सदस्य चुने गये और उनमें से जिन्होंने मन्त्री की हैसियत से पद ग्रहण किये, वे अपने को बहुत सौभाग्यशाली नहीं समझते थे। लोगों में बहुत उत्तेजना थी, अतः जिन्होंने जनता के भावों की उपेक्षा करते हुए सुधारों को कार्यान्वित करने का उद्योग किया उनकी कड़ी आलोचना हुई और उन्हें अपने कार्यों में बहुत सफलता नहीं मिली। निष्कर्ष यह है कि जिन अवस्थाओं में सुधार दिए गये थे वे उनके बहुत प्रतिकूल थीं। ये अवस्थायें उस समय और भी बुरी हो गईं जब श्री मांटेग्यु को, जिन्होंने भरसक यह कोशिश की थी कि भारत सरकार सुधारों को उचित रूप से कार्यान्वित करे, ब्रिटिश मन्त्रीमंडल से त्यागपत्र देना पड़ा और उनका स्थान प्रतिक्रियावादी अनुदार दल के एक भारत-मन्त्री ने लिया। अनुदार दल के सदस्यों (Tories) ने जिनका मंत्रीमंडल पर आधिपत्य था, तुरन्त भारत के प्रति कड़ी नीति बरतने का निश्चय किया और उन्होंने भारत सरकार को हिदायतें जारी कीं कि सुधारों को इस प्रकार कार्यान्वित किया जाय कि उनसे उसे न्यूनतम उत्तरदायी शासन मिले। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री मांटेग्यु की भावना को बिल्कुल बदल दिया गया। भारत में उदार दल के कुछ मन्त्रियों ने इसको बहुत अनुभव किया और इसी आधार पर मंत्रीमंडल से उन्होंने अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। प्रथम व्यक्ति जिसने इस परिवर्तित भावना को अनुभव किया और भारत सरकार की कड़ी नीति के विरुद्ध गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद से अप्रैल १९२२ में त्यागपत्र दिया, सर तेजबहादुर सप्रू थे जो लॉर्ड रीडिंग के पाँच वर्ष के शासन-काल में उनके दाहिने हाथ रहे थे, यद्यपि त्याग-पत्र में उन्होंने यही कहा कि स्वास्थ्य के आधार पर उनके लिये कानून-सदस्य बना रहना सम्भव न था। मई १९२३ में श्री सी० वाई० चिन्तामणि और पण्डित जगतनारायण मुल्ला ने, जो यू० पी० में मन्त्री थे, अपने पद छोड़ दिये। उन्होंने अनुभव किया कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'इण्डिया आफिस' से श्री मांटेग्यु की बिदाई के बाद अवस्थाएँ असहनीय हो गई थीं। मांटेग्यु को दी गई श्री देशबन्धु दास की चेतावनी कि 'सुधारों पर अमल नहीं हो सकता, आई० सी० एस० अफसर इन्हें चलने से रोक सकते हैं और वे ऐसा करना चाहते हैं', सत्य सिद्ध हुई। जब तक मांटेग्यु भारत-मन्त्री थे तब तक सुधारों पर ठीक तरह अमल होता रहा; श्री चिन्तामणि के शब्दों में 'उस समय इस बात को अनुभव करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता था कि प्रान्त में द्विविध शासन पद्धति चल रही है— कार्यपालिका के दोनों भाग आश्चर्यजनक रूप से पारस्परिक सहयोग के साथ कार्य कर रहे थे।' पर मांटेग्यु के ब्रिटिश मन्त्रीमण्डल से पृथक् हो जाने के बाद सुधारों का वास्तविक लक्ष्य तिरोहित होने लगा। लन्दन से निर्देश जारी किये गये कि 'अब से सुधारों पर इस प्रकार अमल होना चाहिये कि उनसे अधिक से अधिक नहीं अपितु कम से कम स्व-शासन भारत को मिले।' अतएव भारत सरकार ने व्यवस्थापिका सभा की इच्छाओं की अवहेलना करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। इसकी पुष्टि में निम्न उदाहरण पेश किये जा सकते हैं :—

(१) सितम्बर १९२२ में भारत सरकार ने देसी रियासत संरक्षण विधेयक (Indian States Protection Bill) धारासभा में प्रस्तुत करना चाहा। असेम्बली ने इसे पेश होने की इजाज़त नहीं दी। इस पर तत्कालीन वायसराय लॉर्ड रीडिंग को इसे आवश्यक एवं अनिवार्य प्रमाणित करना पड़ा और इस प्रकार यह कानून बन गया। इसकी कोई आवश्यकता न थी, इसके अनिवार्य होने का तो कोई प्रश्न ही न था। पर भारतीय सरकार नरेशों को खुश करने के लिये बहुत उत्सुक थी क्योंकि इन्होंने अपनी रियासतों में 'प्रिंस ऑफ वेल्स' का बड़े सम्मान और उत्साह के साथ स्वागत किया था और इसलिये वह विधेयक को कानून बनाने पर तुली हुई थी। अतः उसने असेम्बली की इच्छा की तनिक भी परवाह न की।

(२) भारत सरकार के अर्थ सदस्य सर बैसिल ब्लैकेट ने सरकार की आय को बढ़ाने के उद्देश्य से नमक-कर को दुगुना करने का प्रस्ताव रक्खा। असेम्बली ने इस पर आपत्ति उठाई क्योंकि इसका गरीबों पर बहुत बुरा असर होना था और राजस्व की वृद्धि के दूसरे तरीके सुझाये। पर असेम्बली की अस्वीकृति के बावजूद गवर्नर जनरल ने इसे आवश्यक एवं परमावश्यक प्रमाणित कर दिया। इस प्रस्ताव का संकट काल से कोई सम्बन्ध न था।

(३) देश ने इसी समय महात्मा गांधी की रिहाई की मांग की जिनका ६ वर्ष के कारावास के समय जेल ही में 'अपेन्डिसाइटिस' का आपरेशन हुआ था। १९२४ में धारासभा के उद्घाटन-भाषण में वायसराय ने इनका कोई जिक्र नहीं किया। ५ फरवरी को महात्मा जी की रिहाई के सम्बन्ध में असेम्बली में एक ग़ैरसरकारी प्रस्ताव पर बहस होनी थी। वायसराय ने महात्मा जी को बहस से पूर्व ही प्रातःकाल सिर्फ इसलिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिहा कर दिया कि कहीं लोग यह न समझने लगें कि उन्हें असेम्बली की इच्छाओं के सम्मान में छोड़ा गया है।

इस समय जिस प्रकार लॉर्ड रीडिंग की सरकार ने देश का प्रशासन चलाया उससे यह स्पष्टतया पता चल जाता है कि ग़ैरजिम्मेवार कार्यपालिका की शक्तियाँ कितनी महान् थीं। इनकी तुलना में अन्य सब बातें बहुत मामूली जान पड़ती हैं। मॉन्ट-फोर्ड सुधारों को कार्यान्वित न होने देने के लिये कदाचित् सरकार की परिवर्तित मनोवृत्ति पर्याप्त न थी अतः विधाता ने १९२३ में एक्ट के मातहत हुए चुनावों के पश्चात् 'स्वराज पार्टी' को इस कार्य के लिये धारासभा में भेजा। उनका प्रतिज्ञात लक्ष्य था सरकार का 'एक स्वर से सतत एवं उचित विरोध'। सुधारों को न्यूनतम मात्रा में स्व-शासन देने के उद्देश्य से कार्यान्वित करने के सरकारी निर्णय और 'स्वराज पार्टी' की अवरोधक नीति ने सुधारों के भाग्य को पहिले से ही निश्चित कर दिया।*

द्वैध शासन की समालोचना:— यह कहना गलत होगा कि मॉन्टफोर्ड सुधारों की विफलता का एकमात्र कारण बाह्य परिस्थितियां थीं; इनके कुछ स्वाभाविक दोष भी थे जिन्होंने इन्हें सफल नहीं होने दिया। यह परीक्षण उस समय तक सफलता के साथ चलता रहा जब तक व्यावहारिक क्षेत्र में द्वैध शासन की उपेक्षा की गई; जब सरकार को दो भागों में विभक्त करके चलाने का निश्चय किया गया, यह असफल होना प्रारम्भ हो गया। यह इसलिये असफल हुआ क्योंकि इसने सरकार के भीतर संघर्ष और मनमुटाव पैदा किया। द्विविध शासन प्रणाली के कुछ मुख्य दोषों पर हम नीचे प्रकाश डालते हैं।

द्वैध-शासन प्रणाली विधान-निर्माण में न सिर्फ नया अपितु भद्दा परीक्षण था। इसके विरोधी इसे सिद्धान्त में गलत और व्यावहार में अक्रियात्मक समझते थे; यहाँ तक कि इसके समर्थक भी इसके पक्ष में इसके अतिरिक्त और कुछ न कह सकते थे कि यह अन्य उपलब्ध सुधारों से बेहतर है। इसका सैद्धान्तिक दोष यह था कि यह सरकार के एक भाग को तो उत्तरदायित्व देना चाहता था तथा दूसरे भाग को गैर-जिम्मेदार बनाये रखना चाहता था। एक प्रान्तीय गवर्नर ने द्वैध-शासन पद्धति को ठीक ही 'बोझीला, जटिल एवं अव्यवस्थित प्रणाली बताया जिसका कोई न्यायसंगत आधार न था और जिसका मूल था समझौता।' लॉर्ड लिटन के अनुसार सरकार के संरक्षित भाग को यद्यपि कोई पसन्द न करता था उसे आदर सब देते थे जबकि हस्तान्तरित भाग को न सिर्फ नापसन्द ही किया जाता था अपितु तुच्छ भी समझा जाता था।

सिद्धान्त रूप से द्वैध-शासन पद्धति दोषपूर्ण है क्योंकि यह इस विश्वास को मानकर चलती है कि सरकार के विभिन्न विभागों को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है

---

* इस सम्बन्ध में ज़करिया का निम्न उद्धरण उल्लेखनीय है: 'इस प्रकार मॉन्ट-फोर्ड सुधारों के प्रति सरकार और स्वराजी दोनों का ही रुख उत्तरदायित्वशून्य था, दोनों ही उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते थे और व्याजमात्र मानते थे।' पृष्ठ २४२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इनमें से प्रत्येक के प्रशासन को दो विभिन्न अधिकारियों के सुपुर्द किया जा सकता है जो दो विभिन्न स्रोतों के प्रति उत्तरदायी हों। यह धारणा इस मौलिक सत्य के प्रतिकूल है कि सरकार जीवित संस्थान की तरह एक इकाई है जिसे दो भागों में, जिनका विभिन्न प्रकार से प्रशासन हो, नहीं बांटा जा सकता। मनुष्य जाति के इतिहास अथवा सभ्य-समाज के अनुभवों से इसकी पुष्टि नहीं होती।

भारतीयों ने इस प्रणाली को इसलिये पसन्द नहीं किया क्योंकि यह उनकी प्रबन्ध शक्ति एवं प्रशासन-क्षमता में अविश्वास प्रकट करती थी। कानून, व्यवस्था तथा भूमि-कर जैसे विषय, जिनका जनता के जीवनों से सीधा सम्बन्ध है, उत्तरदायी मंत्रियों को नहीं दिये गये थे। हस्तान्तरित विषयों में भी मंत्रियों की शक्तियों पर अनेक प्रतिबन्ध थे जिनके विरुद्ध जनता एवं मंत्रियों दोनों ही में पर्याप्त असन्तोष था। निस्सन्देह, ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस प्रश्न को दूसरे दृष्टिकोण से देखते थे; उन्हें भारतीयों की शासन-क्षमता में अविश्वास था और स्व-शासन-कला की शिक्षा देने के उद्देश्य से उन्होंने भारत को आंशिक उत्तरदायित्व दिया था। पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के ये विचार इस परीक्षण के भाग्य निर्णायक न थे, इसके भाग्य का निबटारा करना था जनता और उसके नेताओं के विक्षोभ और असन्तोष को।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि द्वैध-शासन प्रणाली की सफलता के लिये प्रांतीय गवर्नरों में भी कुछ ऐसे गुणों और विशेषताओं का होना आवश्यक था जो सामान्यतया नहीं पाये जाते। इसने उन्हें बहुत व्यापक शक्तियाँ दीं और योजना की सफलता और विफलता अधिकांश में इन शक्तियों के प्रयोग पर निर्भर थी, विशेषतः इस बात पर कि वह सरकार के दो भागों में आवश्यक रूप से पैदा होने वाले संघर्षों को किस प्रकार मिटाने का प्रयत्न करता है। उसका कर्त्तव्य था कि वह दोनों भागों में सहयोग और सौहार्द के भाव पैदा करे और उनमें सन्तुलन बनाये रक्खे। इसके लिये गवर्नर के हृदय में जनता की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के लिये न सिर्फ सहानुभूति के भाव की आवश्यकता थी अपितु उसमें चतुराई, धैर्य, तर्कसम्मतता और निष्पक्षता इत्यादि गुणों का होना भी आवश्यक था। दुर्भाग्य से अधिकांश गवर्नरों ने योजना को उस रूप में कार्यान्वित नहीं किया जिस रूप में इसके निर्माता इसे कार्यान्वित करना चाहते थे। इसकी विफलता का यह भी एक प्रमुख कारण था।

द्वैध शासन प्रणाली की विफलता के कारण :—

(क) जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं द्विविध शासन प्रणाली सिद्धान्ततः ग़लत है। इसका अर्थ है एक सजीव संस्थान (Organic whole) का दो बेमेल हिस्सों में विभाजन— एक लोकप्रिय एवं निर्वाचित तथा दूसरा सरकारी और अनिर्वाचित। प्रांतीय विषयों को जिस प्रकार संरक्षित एवं हस्तान्तरित विषयों में विभक्त किया गया उसने द्वैध शासन के इस स्वाभाविक दोष को और भी बढ़ा दिया। विषयों का विभाजन इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार हुआ था कि हस्तान्तरित विषयों के मंत्रियों का 'किसी भी एक समूचे विभाग पर नियन्त्रण न था।'* मद्रास सरकार के व्यवसाय मंत्री सर वी. के. रेड्डी ने मुडीमैन कमेटी के सामने गवाही देते हुए इसी बात पर बहुत ज़ोर दिया। उन्होंने कहा: 'मैं कृषि-मंत्री था, पर सिंचाई से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। कृषि-मंत्री होते हुए भी मेरा मद्रास कृषिकार ऋण अधिनियम (Madras Agriculturist Loans Act) और मद्रास भूमि-विकास ऋण अधिनियम (Madras Land Improvement Loans Act) से कोई सरोकार न था। सिंचाई, कृषि-ऋण, भूमि-विकास ऋण और अकाल-रक्षा के बिना कृषि मंत्री की कार्यक्षमता और प्रभाव की सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है। मैं व्यवसाय-मंत्री भी था पर कारखाने, विद्युत्, खानें और श्रम, जो संरक्षित विषय थे, मेरे अधिकार क्षेत्र से बाहर थे।' इसी प्रकार शिक्षा मंत्री के हाथ में युरोपियनों और ऐंग्लो-इण्डियनों की शिक्षा नहीं थी। भारतीय नरेशों के कॉलिज तथा उन शिक्षा संस्थाओं पर भी जो सेना के लाभ तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों या उनके बच्चों के लिये चलाई जाती थीं, शिक्षा-मंत्री का कोई नियन्त्रण न था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विषयों का विभाजन इस ढंग से हुआ था कि इसने मंत्रियों के हाथ में अपने विभागों को चलाने के लिये अधिक स्वतन्त्रता नहीं छोड़ी थी; हस्तान्तरित विषय संरक्षित विषयों की दया पर आश्रित थे। द्वैध शासन का यह एक बड़ा दोष था जो इसकी विफलता के लिये भी ज़िम्मेवार था।

(ख) हम देख चुके हैं कि मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट के रचयिता यह नहीं चाहते थे कि गवर्नर वैधानिक प्रमुख की तरह कार्य करे अतः उन्होंने उसे मंत्रियों पर नियन्त्रण की पूर्ण शक्ति दी और उम्मीद की कि जब भी वह मंत्रियों के प्रस्तावों से उनके अवांच्छनीय एवं गम्भीर परिणामों के कारण असहमत हो तो उन्हें मानने से इन्कार कर दे। पर साथ ही वे यह भी आशा करते थे कि गवर्नर जहाँ तक सम्भव हो सके मंत्रियों की इच्छाओं को पूरा करने और उनकी नीतियों का समर्थन करने का प्रयत्न करे। श्री मांटेग्यु के ब्रिटिश मंत्रिमंडल से चले जाने के बाद गवर्नरों ने सामान्यतया रिपोर्ट की इस भावना के अनुसार कार्य करना बन्द कर दिया। सुधारों के लागू होने के बाद दो वर्ष तक, क्योंकि देश में पंजाब के अत्याचारों और खिलाफत के प्रश्न को लेकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में अहिंसात्मक, असहयोग आन्दोलन चल रहा था, और सरकार इसे दबाने के लिये नरम दल वालों से सहायता की आशा करती थी, उन पर ठीक तरह अमल होता रहा। पर इन दो वर्षों के उपरान्त गवर्नर सुधारों की वास्तविक भावना को भूल गये और उन्होंने मंत्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। मध्य प्रान्त के मंत्री श्री केलकर को शिकायत थी कि यद्यपि गवर्नर ने नीति के मामलों में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता दी, विस्तार की बातों में उनकी नहीं चलने

* केरलपुत्र: 'दि वर्किंग आफ डायर्की इन इण्डिया', पृष्ठ ४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी। यू० पी० के मंत्री श्री चिन्तामणि के अनुसार वास्तविक शक्ति मन्त्रियों के हाथ में नहीं अपितु गवर्नर के हाथ में थी। गवर्नर ने उन्हें लायब्रेरी कमेटी में एक व्यक्ति की नामज़दगी करने तक की भी आज़ादी नहीं दी। तीन तरीकों से गवर्नर अपने हाथ में सारी शक्ति रखते थे— (i) उन्हें प्रशासन को आसानी से चलाने के लिये एक्ट के अनुसार नियम और आदेश बनाने का अधिकार था। यह इस प्रकार बनाये जाते थे कि शक्ति गवर्नर के हाथ में केन्द्रित हो जाय। उदाहरण के तौर पर एक नियम के अनुसार प्रत्येक विभाग के सेक्रेटरी के लिये सप्ताह में एक बार गवर्नर से मिलना और अपने विभाग की समस्याओं पर विचार विनिमय करना आवश्यक था। सेक्रेटरी को उन सब मामलों को भी अन्तिम निर्णय के लिये गवर्नर के सामने रखना पड़ता था जिनमें वह मंत्री से मतभेद रखता था। इन नियमों के कारण जहाँ मंत्रियों की शक्ति घटी, गवर्नर की शक्ति बहुत बढ़ गई। (ii) गवर्नरों ने मंत्रियों से संयुक्त रूप से मिलने की अपेक्षा पृथक् पृथक् मिलना प्रारम्भ कर दिया जिससे उनके लिये मतभेद की अवस्था में उनकी बातों को अस्वीकार करना आसान हो गया। (iii) कुछ गवर्नरों ने एक नया ही सिद्धान्त घड़ डाला कि मंत्री लोग उनके सलाहकार हैं और वे उनकी सलाह मानने और न मानने में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। श्री चिन्तामणि के निम्न शब्द मंत्रियों की दयनीय दशा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उन्होंने कहा : "मैं मंत्रियों की प्रत्येक अवस्था में से गुजरा हूँ। वह भी समय था जब गवर्नर मेरे विषय में कहता था कि 'माननीय मंत्री उत्तरदायी है अतः उसकी राय मानी जायगी' और 'मुझे माननीय मंत्री का समर्थन करना ही होगा'। इसके बाद वह भी समय आया जब मेरी बड़ी और छोटी सभी बातों में अवहेलना की गई, यहां तक कि लायब्रेरी कमेटी के मामले में भी मेरी बात अनसुनी कर दी गई।"

(ग) 'निर्देश-पत्र' के अनुसार गवर्नरों का कर्तव्य था कि वे 'सर्विसेज़' के सदस्यों के सामान्य एवं विशेष अधिकारों को पूर्ण संरक्षण दें। गवर्नरों ने इसका यह अर्थ लगाया कि मंत्रियों के विभाग में भी उनकी पदवृद्धि, तबादले और नियुक्ति इत्यादि उनके अधीन थीं। १९२२ से पूर्व प्रान्तीय पदों पर नियुक्तियां कार्यकारिणी परिषद के अन्य सदस्यों की सहमति से गवर्नर किया करता था। परिषद के सदस्य अपनी अपनी राय देते थे और बहुमत की राय मानी जाती थी। बाद में गवर्नर ने स्वयं प्रान्तीय नियुक्तियां करनी प्रारम्भ करदीं और वह उनकी सूचनामात्र कार्यकारिणी के सदस्यों को देने लगा। परिणाम यह हुआ कि प्रान्तीय गवर्नर बहुत शक्तिशाली हो गये। इन नियुक्तियों पर भारत-मन्त्री का नियन्त्रण तो कम हुआ पर कार्यकारिणी का प्रान्तीय धारासभाओं के प्रति उत्तरदायित्व उसी अनुपात में नहीं बढ़ा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्विविध शासन पद्धति ने, जिसका उद्देश्य प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना था, गवर्नरों की अनर्गल शक्ति को ही बढ़ाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) यह स्मरण रखने योग्य बात है कि 'भारतीय वैधानिक सुधारों की रिपोर्ट' के रचयिताओं ने प्रान्तीय सरकार के दोनों भागों में 'संयुक्त विचार-विमर्श' की सलाह दी थी। 'निर्देश-पत्र' के अनुसार गवर्नर का कर्त्तव्य था कि वह कार्यकारिणी के सदस्यों, मंत्रियों और अपने में संयुक्त विमर्श को प्रोत्साहन दे 'ताकि उसके सलाहकारों (Councillors) के ज्ञान से उसके मंत्री तथा उसके मंत्रियों के लोकेच्छा सम्बन्धी ज्ञान से उसके सलाहकार फायदा उठा सकें।' पर अनेक गवर्नरों ने इस परामर्श की अवज्ञा की। मद्रास के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रान्त में संयुक्त विमर्श की परिपाटी को स्थापित एवं प्रोत्साहित करने का प्रयत्न नहीं किया गया और जहाँ एक आध बार इसका आश्रय लिया भी गया तो सिर्फ अनियमित रूप से ही। गवर्नर के सलाहकार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में मंत्रियों के प्रभाव का लाभ उठाने के लिये तो सदैव उद्यत रहते थे पर महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उनकी न कभी सलाह लेते थे और न उन्हें अपने विश्वास में लेने की कोशिश करते थे। इस प्रकार जबकि मंत्रियों को संरक्षित विषयों के प्रशासन पर प्रभाव डालने का कोई अवसर न था, उनसे आशा की जाती थी कि वे धारासभा में सलाहकारों के विधेयकों का समर्थन करेंगे और अन्य प्रकार से भी उनका साथ देंगे। यदि वे ऐसा करते तो जनता उनकी अपने सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि देने और नौकरशाही की अधीनता स्वीकार करने के लिये आलोचना करती और यदि वे ऐसा न करते तो सरकार के दो पार्श्वों में संघर्ष बढ़ता। इस प्रकार मंत्रियों की दशा दोनों दृष्टियों से पर्याप्त शोचनीय थी।

(ङ) द्विविध शासन पद्धति का एक और बड़ा दोष जो अधिकांश में इसकी विफलता के लिये उत्तरदायी था, यह था कि मंत्रियों का अपने विभागों में 'सर्विसेज़' के सदस्यों पर पूरा नियंत्रण न था। यह पहिले भी बताया जा चुका है कि गवर्नर सरकारी कर्मचारियों के उचित अधिकारों को सुरक्षित रखने के अपने कर्तव्य का यह अर्थ समझता था कि उनकी पदवृद्धि, तबादले और नियुक्ति उसके अधिकार में थे। परिणामतः जब भी पद रिक्त होते थे मंत्रियों को उन पर अपनी पसन्द के व्यक्ति को लाने का अधिकार न था। इसका लिखित प्रमाण मौजूद है कि मद्रास में चिकित्सा विभाग का मंत्री सर्जन-जनरल के रिक्त पद एक विशेष व्यक्ति को बुलाना चाहता था पर गवर्नर ने उसकी एक न चलने दी और उत्तरी भारत से 'इण्डियन मेडिकल सर्विस' के एक दूसरे अफसर की इस पद पर नियुक्ति की। जिले के जो अफसर संरक्षित विभागों के अधीन थे उनसे भी मंत्री लोग अपने आदेश नहीं मनवा सकते थे। इसके सम्बन्ध में हमें यह भी मालूम होना चाहिये कि विभिन्न सरकारी विभागों के सेक्रेटरियों की गवर्नर तक सीधी पहुँच थी और मंत्रियों के रहते हुए भी उन्हें गवर्नर से सीधे आदेश मिलते थे। इसने मंत्रियों की स्थिति को बहुत निर्बल कर दिया और यह उत्तरदायी शासन की भावना के भी प्रतिकूल था।

(च) अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने में मंत्रियों के सामने सब से बड़ी बाधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी धनाभाव। मेस्टन-निर्णय (Meston Award) के अनुसार प्रान्तों को भारत सरकार को प्रति वर्ष जो चन्दा देना पड़ता था उससे उनकी आर्थिक स्थिति पर्याप्त कमजोर हो गई थी। प्रान्त की इस कमजोर आर्थिक स्थिति का अधिक बुरा असर हस्तान्तरित विषयों पर ही पड़ा। अर्थ विभाग स्वयं संरक्षित विषय था और यह हस्तान्तरित विषयों के साथ सौतेली माता का सा व्यवहार करता था। जैसा कि श्री चिन्तामणि ने मुडीमैन कमेटी को अपनी गवाही में बताया, अर्थ-विभाग की यह कोशिश रहती थी कि इससे पहिले कि हस्तान्तरित विषय अपनी माँगें पेश करें संरक्षित विषयों की आर्थिक आवश्यकताएं पूरी कर दी जायें। किसी न किसी चीज़ का बहाना लेकर अर्थविभाग मंत्रियों की योजनाओं के लिये धन देने से इन्कार कर देता था। श्री चिन्तामणि ने कहा कि 'मैं बिना किसी अत्युक्ति के यह कहने को तैयार हूँ कि यू० पी० में दोनों ही मंत्रियों का यह सामान्य अनुभव था कि जब भी वे अर्थविभाग के सामने गये उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; बहुधा उन्हें गवर्नर के पास जाना पड़ता था और अकसर गवर्नर उनकी बातों का समर्थन नहीं करता था और अन्त में अनेक बार त्यागपत्र की धमकी देकर उन्हें अपनी बात गवर्नर से मनवानी पड़ती थी।' यदि हस्तान्तरित विभागों को राजस्व के पृथक् स्रोत दे दिये जाते तो कदाचित् इस सब की नौबत न आती। पर इस प्रस्ताव को न तो रिपोर्ट के रचयिताओं ने ही स्वीकार किया और न संयुक्त निर्वाचित समिति ने।

(छ) पर द्वैध-शासन प्रणाली की असफलता का सब से महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि धारासभाओं की विचित्र रचना के कारण, उन्हें वास्तविक उत्तरदायित्व, जो १९१९ के सुधारों की सब से बड़ी विशेषता थी, न दिया जा सका। मंत्रियों के उत्तरदायित्व का अर्थ यह है कि धारासभा में मंत्री लोग तब तक अपने पदों पर रहें जब तक जनता के प्रतिनिधि उनका समर्थन करते रहें और सदस्यों को उनके कार्यों की समीक्षा और आलोचना करने का पूर्ण अवसर हो और इन पर वे अपनी स्वीकृति एवं अस्वीकृति भी दे सकें। पर उस समय प्रान्तों में ऐसी परिस्थितियां न थीं जिनमें यह बात सम्भव हो सकती। मन्त्रियों का उत्तरदायित्व यथार्थ वस्तु न होकर कल्पना मात्र थी।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ पूर्णतया निर्वाचित संस्थाएँ न थीं। प्रत्येक में सरकारी और नामज़द गैरसरकारी सदस्य पर्याप्त संख्या में थे और उनका एक ठोस गुट्ट था। ये कुल सदस्यों के तीस प्रतिशत थे। कुछ निर्वाचित सदस्य हित-विशेषों का प्रतिनिधित्व करते थे, अतः वे सदैव सरकार के पक्ष में मत देते थे। इस प्रकार यदि कोई मंत्री सिर्फ बीस निर्वाचित सदस्यों की सहायता भी प्राप्त कर सकता तो गवर्नर उसे निर्वाचित सदस्यों के बहुमत के समर्थन के न होते हुए भी सरकार और नामज़द सदस्यों की सहायता से पद पर कायम रख सकता था। धारासभा के प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ था समस्त व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायित्व न कि सिर्फ इसके निर्वाचित सदस्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रति। धारासभा में संगठित राजनीतिक दलों के अभाव और हित एवं श्रेणी-विशेषों के प्रतिनिधित्व की उपस्थिति में किसी भी मंत्रीमंडल के लिये सरकारी दल की सहायता के बिना कार्य करना असम्भव था। स्वराज पार्टी के सदस्यों की चालों ने मंत्रियों को संरक्षित विषयों की शरण लेने के लिये बाधित किया। इस प्रकार द्वैध शासन से जिस प्रकार कार्य करने की आशा की जाती थी उसने इस प्रकार कार्य नहीं किया, लोक-प्रिय न रहकर मंत्री लोग गैर-जिम्मेवार नौकरशाही के भाग बन गये। इसकी पुष्टि एक उदाहरण से की जा सकती है। जुलाई १९२७ में विरोधी दल ने मद्रास प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में मंत्री-मंडल के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव रक्खा। निर्वाचित सदस्यों के बहुमत ने इसका समर्थन किया पर सरकारी और गैरसरकारी नामज़द सदस्यों की सहायता से इसे अस्वीकृत कर दिया गया। यह एक विचित्र बात थी कि सरकार के उत्तरदायी हिस्से का भाग्य-निर्णय गैरजिम्मेवार हिस्से के हाथ में था। इस दृष्टि से प्रान्तीय धारासभाओं में मतगणनाओं का अध्ययन अत्यन्त रुचिकर होगा। १९२१ और १९२८ के मध्यवर्ती काल में प्रान्तीय धारासभाओं में १०४ बार मत लिये गये और इनमें से सिर्फ २१ दफा सरकार की हार हुई। पर यदि हम सरकार गुट्ट (Official block) के मतों को इसमें न सम्मिलित करें तो यह कहना होगा कि सरकारी ४९ दफा हारी। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि यद्यपि मंत्रियों को ४९ अवसरों पर धारासभा के निर्वाचित सदस्यों का विश्वास प्राप्त न था, वे अपने पदों से हटाये न जा सके। वे अपने पदों पर बने रहने के लिये निर्वाचित सदस्यों के विश्वास को आवश्यक भी नहीं समझते थे।*

व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा अपनी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में बनाये गये नियमों, तथा इस बात के कारण कि प्रथम चार वर्षों तक धारासभाओं को अपने प्रेज़ीडेन्ट चुनने का अधिकार न था और उसकी नियुक्ति गवर्नर द्वारा होती थी, धारासभा के सदस्यों को मंत्रियों के कार्यों और नीतियों पर नियंत्रण का उतना अवसर न था जितना कि ग्रेट ब्रिटेन आदि देशों में है। एक दफा तो प्रेज़ीडेन्ट ने मंत्रियों के विरुद्ध 'अविश्वास का प्रस्ताव' पेश करने की आज्ञा ही नहीं दी। प्रान्तीय धारासभाओं में कमेटियों की भी ठीक व्यवस्था न थी।

(ज) द्वैध-शासन प्रणाली के एक अन्य दोष का भी, जो इसमें स्वाभाविक रूप से तो नहीं था पर बाह्य परिस्थितियों के कारण पैदा हो गया था, यहाँ जिक्र करना आवश्यक है। सब मंत्री एक दल के नहीं होते थे, अतः वे एक सी नीतियों का अनुसरण नहीं करते थे। कभी कभी तो वे प्रतिद्वन्दी दलों के होते थे और धारासभाओं में न सिर्फ उनके अनुयायी ही आपस में लड़ते थे पर वे स्वयं भी एक दूसरे की आलोचना करने में पीछे नहीं रहते थे। इन परिस्थितियों में मंत्रियों में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना का

* देखिये अप्पादोराय कृत 'डायर्की इन प्रैक्टिस', पृष्ठ ३५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैदा होना असम्भव था और गवर्नर उनसे पृथक् पृथक् मिलता था और मुलाकात के दौरान में उनके सहयोगियों का जिक्र तक न करता था।

निम्न वाक्यों में द्वैध-शासन की असफलताओं का उपसंहार सुन्दर रूप से किया गया है: 'इस प्रकार आंशिक उत्तरदायी शासन, जो सुधारों का एकमात्र लक्ष्य और प्रयोजन था, प्रत्येक दृष्टि से असफल रहा है। सरकारी गुट्ट का स्थायित्व एवं आकार तथा विशेष हित जिनका सरकार के साथ रहना निश्चित है, सभी व्यवस्थापिका सभा में बहुमत के मूल्य को घटाने के लिये उत्तरदायी हैं जो जनता के विश्वास का प्रकाशन है। उस बहुमत के प्रति उत्तरदायित्व जो मुख्यतया सरकारी गुट्ट के कारण स्थिर है, वस्तुतः जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायित्व नहीं अपितु सरकारी सदस्यों के प्रति उत्तरदायित्व है। एक्ट का न तो यह प्रयोजन था और न हो सकता था। क्योंकि धारासभा का नेतृत्व सलाहकार लोगों (Executive Councillors) के हाथ में है, मंत्री लोग सरकारी गुट्ट की सदिच्छा प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी नीतियों का निर्माण करते हैं, और धारासभाएं अपनी रही सही शक्तियों का भी प्रयोग करने में असमर्थ हैं, मंत्री लोग सहायक प्रशासक बन गये हैं जो गवर्नर से अपने आदेश प्राप्त करते हैं और अपने सह-कार्यकर्ताओं की सद्भावना व दया पर जीवित हैं। इस बात को दृष्टि में रखते हुए, जो १९१९ के सुधारों का एक आवश्यक अंग थी, यह स्पष्ट है कि कार्य-पालिका ने एक्ट पर जिस भावना से अमल किया वह इसके इरादों के प्रतिकूल थी। पार्लियामेंट द्वारा दिये गये सुधारों के स्थानीय अधिकारियों द्वारा वापिस ले लिये जाने का यह एक और उदाहरण था जो ब्रिटिश भारत के इतिहास में बड़ी संख्या में पाये जाते हैं।'*

ये कारण थे जिनसे प्रान्तों में द्वैध-शासन का परीक्षण असफल रहा। यह इसलिये असफल रहा क्योंकि जिस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए इसे प्रारम्भ किया गया था वह बिल्कुल पूरा नहीं हुआ; जनता को वास्तव में शक्ति हस्तान्तरित नहीं हुई, हस्तान्तरित विषयों के सीमित क्षेत्र में भी उत्तरदायी शासन स्थापित नहीं हुआ। स्थायी राजनीतिक दलों के अभाव, धारासभा में सरकारी और गैर-सरकारी नामज़द सदस्यों के गुट्ट तथा साम्प्रदायिक एवं विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से चुने गये सदस्यों की उपस्थिति, संयुक्त कोष (Joint purse), मंत्रियों के परामर्श को न मानने की गवर्नर की शक्ति, सर्विसेज़ के अधिकार तथा सेक्रेटरियों के सीधा गवर्नर के पास पहुंचने के हक— इन सब कारणों ने प्रान्तों में उत्तरदायी शासन को विकसित नहीं होने दिया।

सफलताएं :— यह सत्य है कि यू० पी० और मद्रास में प्रथम दो वर्षों में मंत्री लोग संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करने और निर्वाचित सदस्यों

* केरलपुत्र: 'दि वर्किङ्ग ऑफ डायर्की इन इण्डिया', पृष्ठ ५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बहुमत के विश्वास के खो देने अथवा गवर्नर द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर पदत्याग करने के लिये तैयार थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जो कुछ समय तक बंगाल में स्थानीय स्वशासन (Local Self-government) के मंत्री थे, अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि बंगाल में द्वैध शासन पर्याप्त अंश में सफल रहा। 'लॉर्ड रोनाल्डशे और लॉर्ड लिटन दोनों ही बहुत समझदार और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने मंत्रियों के प्रति सदा सहानुभूति प्रदर्शित की, उन्हें यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया और उनकी उदारतापूर्वक सहायता की। उन्होंने वैधानिक प्रमुख की तरह कार्य किया और मन्त्रियों और कार्यकारिणी के सदस्यों में कभी भेद नहीं किया।'† इसका अभिप्राय यह है कि विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न प्रकार से द्वैध शासन प्रणाली पर अमल हुआ; कुछ प्रान्तों में यह अपेक्षाकृत अधिक सफल रही; श्री मांटेग्यु और भारतीय उदार नेताओं में सहयोग रहने के कारण इसने बाद के १४ वर्षों की अपेक्षा प्रथम दो वर्षों में बहुत सफलतापूर्वक कार्य किया।

यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि यद्यपि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएं जनता की ओर से मंत्रियों पर नियंत्रण न रख सकीं, अन्य दिशाओं में अपनी शक्तियों का उन्होंने पूरा प्रयोग किया। थैली पर नियंत्रण रखने की शक्ति, चाहे वह कितनी ही परिमित और गवर्नर की प्रमाणन (Certification) की शक्ति के कारण जो कभी कभी प्रयुक्त भी की जाती थी, कितनी ही सीमित क्यों न हो, राज्य की महत्त्वपूर्ण नीतियों पर प्रस्ताव पेश करने और उन पर बहस कर सकने के अधिकार, सार्वजनिक दृष्टि से अत्यावश्यक समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये 'काम रोको प्रस्ताव' प्रस्तुत करने और प्रश्न पूछने की शक्ति रखने के कारण उन्होंने कार्यपालिका पर कुछ प्रभाव अवश्य डाला। उन्होंने कुछ सारगर्भित, प्रगतिसूचक एवं उदार क़ानून भी पास किये। पदग्रहण करने पर मंत्रियों ने सबसे प्रथम स्थानीय संस्थाओं में सुधार करने का कार्य अपने हाथ में लिया जिसकी एक लम्बे अरसे से जरूरत थी और म्युनिसिपल तथा ज़िला बोर्डों के पुनः संगठन और प्रजातन्त्रीकरण के लिये अनेक क़ानून पास किये। शिक्षा सम्बन्धी सुधार भी किये गये। अनेक प्रान्तों में सामाजिक विषयों पर भी क़ानून बने। मद्रास में 'हिन्दू धार्मिक दान अधिनियम' (Hindu Religious Endowment Act) और बंगाल में 'बाल अधिनियम' (Children's Act) पास हुए। यह भी कोई छोटा मोटा लाभ नहीं था कि भारतीयों को इससे प्रशासन की समस्याओं और स्वशासन की कठिनाइयों के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। द्वैध प्रणाली के मातहत हमें प्रशासन को चलाने की अच्छी शिक्षा मिली।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के विषय में भी कुछ इसी प्रकार की बातें कही जा सकती हैं। यद्यपि कार्यपालिका इसके प्रति उत्तरदायी नहीं थी, धारासभा को इसे प्रभावित करने की विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त थीं। और इसने इन शक्तियों का प्रयोग भी किया।

† 'ए नेशन इन दि मेकिंग', पृष्ठ ३८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'इसने सरकार के रुख की कड़ी समालोचना की : अनेक अवसरों पर इसने अपनी शक्ति को राजनीतिक प्रदर्शन के लिये भी प्रयुक्त किया। पर कोई भी निष्पक्ष समालोचक इसके वाद-विवादों का अध्ययन करने और इसके कार्यों को समझने के उपरान्त इस परिणाम पर पहुँचे बग़ैर नहीं रह सकता कि इसने सरकार की कठिनाइयों और सत्तारहित कार्य-पालिका की अजीब स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही अपनी शक्तियों को जन-साधारण के लाभ के लिये प्रयुक्त किया है। इसका विधायक कार्य प्रभावात्मक और व्यापक रहा है; प्रशासन सम्बन्धी बातों में इसके नियन्त्रण का उद्देश्य केन्द्रीय सरकार को कमज़ोर बनाना नहीं था और न इसने देश के कानून और व्यवस्था को कायम रखने की महान् आवश्यकता की उपेक्षा करते हुए इसका इस्तेमाल किया है। सामाजिक सुधारों में इसका उत्साह प्रशंसनीय रहा है और बड़ी नौकरियों के भारतीयकरण और देश की फौज में भारतीयों के भाग के लिये यह सदा प्रयत्नशील रही है। इसने प्रशासन में सरकारी नौकरों की संख्या में जहां भी सम्भव हो सका, काफी कमी की और सरकार पर निरन्तर मितव्ययी होने के लिये दबाव डाला।'*

———

* केरलपुत्र : 'वर्किङ्ग आफ डायर्की इन इण्डिया', पृष्ठ १०८—१०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११

राष्ट्रीय आन्दोलन : १९१९–१९३५

विषय प्रवेश :— छठे अध्याय में हम उन परिस्थितियों का जिक्र कर चुके हैं जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत के रूप में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) की स्थापना की और १९१८ तक हम इसके विकास पर भी प्रकाश डाल चुके हैं। पिछले अध्याय के अन्त में हम मॉन्टफोर्ड सुधारों के प्रश्न पर नरम दल के कांग्रेस से पृथक् होने और पंजाब और खिलाफत की शिकायतों को दूर करने एवं स्वराज्य प्राप्ति के लिये महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस की ओर से चलाये गये अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का भी वर्णन कर चुके हैं। उस समय पंजाब और खिलाफत की समस्याओं का विस्तृत विवरण हमने आगामी अध्याय के लिये छोड़ दिया था। अब हम उसी कहानी को फिर प्रारम्भ करते हैं और यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन क्यों और किस प्रकार आरम्भ हुआ। क्योंकि इस आन्दोलन की प्रेरणा और शक्ति का स्रोत महात्मा गाँधी थे जिनका देश के राष्ट्रीय एवं राजनीतिक जीवन में प्रवेश इस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी, उनके विषय में यहाँ कुछ शब्द कहना असंगत न होगा।

महात्मा गांधी का प्रवेश :— १९१४ में भारत वापिस आने से पूर्व महात्मा गांधी दक्षिणी अफ्रीका में निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन के अभिनायक के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे जहाँ उन्होंने भारतीयों के ट्रांसवाल में बसने और रजिस्टर किये जाने के सम्बन्ध में पास किये गये एशिया विरोधी कानूनों (Anti-Asiatic Legislation) को रद करवाने के लिये दक्षिण अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध आन्दोलन किया था। इसी सत्याग्रह आन्दोलन के दौरान में वे गोपाल कृष्ण गोखले के सम्पर्क में आये जिन्होंने उन्हें सब प्रकार की सहायता दी और उनके कार्य के प्रति पूर्ण सहानुभूति प्रदर्शित की। उनके चरित्र और व्यक्तित्व से प्रभावित होने के कारण गांधी जी ने भारत वापिस आने से पूर्व ही उन्हें अपना राजनीतिक गुरु बनाने का निश्चय कर लिया था। भारत वापिस आने पर उन्होंने गोखले द्वारा स्थापित और प्रचलित 'सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी' का सदस्य बनने की इच्छा प्रकट की। गोखले स्वयं गांधी जी को सोसायटी में लेने को उत्सुक थे, यहाँ तक कि वे उन्हें अपने बाद सोसायटी का प्रेज़ीडेन्ट बनाना चाहते थे। पर सोसायटी के अन्य सदस्य इससे सहमत न थे क्योंकि उनमें और गांधी जी में आदर्शों तथा कार्य-प्रणाली दोनों ही में महान् अन्तर था। अभी इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निश्चय नहीं हो पाया था कि गोखले का स्वर्गवास हो गया और गांधी जी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोसायटी की सदस्यता की अपनी अर्जी वापिस ले ली। यहां इस बात का जिक्र यह बताने के लिये किया गया है कि गाँधी जी स्वभाव और राजनीतिक विचारों में गोखले के समान ही माडरेट थे; वे ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता में विश्वास रखते थे और उसमें अभिमान भी अनुभव करते थे, इसी लिये उन्होंने भारत सरकार को रंगरूटों की भरती तथा घायल आदमियों की तीमारदारी के लिये अपनी सेवायें अर्पित कीं। लड़ाई में की गई सेवाओं के लिये सरकार ने उन्हें 'पदक' भी दिया।

सत्याग्रह में उनके प्रथम परीक्षण :— गांधी जी दक्षिण अफ्रीका के अपने 'टालस्टाय फार्म' और 'फोयनिक्स सैटलमेंट' के लगभग २५ सदस्यों को बसाने के लिये देश में एक अपना आश्रम स्थापित करना चाहते थे। इस प्रयोजन के लिये उन्होंने अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के किनारे एक स्थान चुना और उसका नाम 'सत्याग्रह आश्रम' रक्खा। गांधी जी इस आश्रम के द्वारा अपने देशवासियों को सत्याग्रह के तरीकों से, जिनका उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में प्रयोग किया था, परिचित कराना चाहते थे और यह जानना चाहते थे कि ये तरीके किस अंश तक यहाँ लागू हो सकते हैं। उनका दृष्टिकोण एक आविष्कारक और परीक्षणकर्ता का था न कि उस व्यक्ति का जो लड़ाई के लिये तैयारी कर रहा हो। और शीघ्र ही उन्हें इस परीक्षण के अनेक अवसर मिले। १९१९ में रौलट एक्ट के विरुद्ध इसे प्रयुक्त करने का निश्चय करने से पूर्व उन्हें इसके प्रयोग के पाँच अवसर मिले। इनमें से सब से महत्त्वपूर्ण अवसर बिहार के ज़िले चम्पारन का था जहां नील के युरोपियन उत्पादक गरीब, अशिक्षित, एवं असहाय किसानों का निरन्तर शोषण कर रहे थे। वे वहां मामले की जाँच पड़ताल के लिये गये और वहां जाते ही उन्हें कमिश्नर की तरफ से ज़िले को फौरन छोड़ने का नोटिस मिला। गांधी जी ने नोटिस को तामील करने से इन्कार कर दिया और वे इसके परिणामों को भुगतने के लिये तैयार हो गये। उन्हें जब मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया तो उसे यही न समझ में आया कि वह उनसे कैसे निबटे। आखिर में प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ने इस मामले को अपने हाथ में लिया और गांधी जी को तहकीकात जारी रखने की इजाज़त दी। इस जाँच पड़ताल के परिणाम स्वरूप बिहार व्यवस्थापिका सभा ने एक कृषि विधेयक (Agrarian Bill) पास किया जिसने किसानों की सब शिकायतें दूर कर दीं। महात्मा जी की यह शानदार विजय थी और साथ ही सत्याग्रह की क्षमता का भी यह प्रमाण था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि महात्मा जी सदा जनता की शिकायतों को जानने और उन्हें दूर करने के लिये उत्सुक एवं प्रयत्नशील रहते थे; उनका उद्देश्य सरकार से अनावश्यक रूप से लड़ना न था। वे हृदय से सहयोगी थे।

महात्मा जी सहयोगी के रूप में :— उनके पत्र 'यंग इण्डिया' के निम्न उद्धरण से उनके माडरेट दृष्टिकोण और सरकार के साथ सहयोग की इच्छा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ३१ दिसम्बर १९१९ के अङ्क में उन्होंने उसमें लिखा :— 'सुधार कानून और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके साथ हुई घोषणा ब्रिटिश जनता की इस नीयत के द्योतक हैं कि अब वह भारतीयों के साथ न्याय करना चाहती है और इसे इस सम्बन्ध में सब सन्देह मिटा देने चाहियें·····। हमारा यह कर्तव्य नहीं कि हम इनकी आलोचना करें, हमें तो इन्हें सफल बनाने की दृष्टि से ही इन पर अमल करना है।' हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा जी के विशेष आग्रह पर ही अमृतसर कांग्रेस ने मॉन्ट-फोर्ड सुधारों पर अमल करने का निश्चय किया था। यह निश्चय किस प्रकार हुआ यह स्वयं एक बहुत दिलचस्प कहानी है, अतः हम इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे।

हमें यहाँ यह याद रखना होगा कि कांग्रेस का एक दल सुधारों के अत्यन्त विरुद्ध था और किसी भी अवस्था में इन्हें मानने को तैयार न था। अमृतसर कांग्रेस में श्री चित्तरंजनदास द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्ताव में हमें इस दल के विचारों की झलक मिलती है। प्रस्ताव निम्न था :

(i) यह कांग्रेस अपनी गत वर्ष की घोषणा की पुनरावृत्ति करती है कि भारत पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य है और इसके विरुद्ध कही गई समस्त बातों का प्रतिवाद करती है।

(ii) यह कांग्रेस दिल्ली में वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में पास किये गये प्रस्ताव का समर्थन करती है और समझती है कि सुधार की योजना अपूर्ण, असन्तोषजनक एवं निराशाप्रद है।

(iii) यह कांग्रेस ब्रिटिश संसद से अनुरोध करती है कि वह जल्दी से जल्दी भारत को आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के अनुसार पूर्ण स्वराज्य देने के लिये क़दम उठाये।

महात्मा जी ने इस प्रस्ताव पर एक संशोधन पेश किया कि 'निराशाप्रद' शब्द को निकालकर प्रस्ताव में निम्न शब्द चौथी धारा के रूप में जोड़ देने चाहियें :

"(iv) ब्रिटिश संसद द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्रवर्तित होने तक कांग्रेस राज्यभक्तिपूर्ण तरीक़े से सम्राट् की घोषणा में व्यक्त इन भावुकतापूर्ण शब्दों का स्वागत करती है—'हमारी प्रजा तथा कर्मचारियों में सामान्य उद्देश्य के लिये साथ मिलकर कार्य करने के सामान्य निश्चय के साथ एक नवयुग प्रारम्भ हो' और यह विश्वास करती है कि जनता तथा कर्मचारीगण दोनों ही इस प्रकार साथ मिल कर सुधारों को कार्यान्वित करेंगे कि जल्दी से जल्दी देश में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो जाय।

"और यह कांग्रेस इस सम्बन्ध में किये गये परिश्रम के लिये माननीय श्री इ० ऐस० मांटेग्यु को हृदय से धन्यवाद देती है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जबकि देशबन्धु दास, बिपिनचन्द्र पाल और अन्य कांग्रेसी नेता सुधारों को एकदम ठुकरा देना चाहते थे, महात्मा जी ने इन्हें कार्यान्वित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिये सरकार को सहयोग देने का आग्रह किया। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि ब्रिटिश जनता भारतीयों के साथ न्याय करना चाहती है। कांग्रेस ने अन्त में समझौते के रूप में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें श्री चित्तरंजनदास का मौलिक प्रस्ताव सम्मिलित था पर जिसमें महात्मा जी के संशोधन को निम्न शब्दों में बदल दिया गया था : 'ब्रिटिश संसद द्वारा पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित होने तक इस कांग्रेस का विश्वास है कि जनता सुधारों को यथासम्भव इस प्रकार कार्यान्वित करेगी कि जल्द से जल्द देश में उत्तरदायी शासन स्थापित हो सके और यह कांग्रेस श्री मांटेग्यु को सुधारों के सम्बन्ध में किये गये परिश्रम के लिये धन्यवाद देती है।'

महात्मा जी असहयोगी के रूप में :— पर आने वाले ९ महीनों में देश में घटनाचक्र इतनी तेजी और नाटकीय ढंग से चला कि देश की राजनीतिक स्थिति एकदम परिवर्तित हो गई। सितम्बर १९२० में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में महात्मा जी ने सरकार के साथ असहयोग और मॉन्ट-फोर्ड सुधारों के मातहत बनी व्यवस्थापिका सभाओं के बहिष्कार का प्रस्ताव रक्खा जबकि चित्तरंजन दास और बिपिनचन्द्र पाल सरीखे नेताओं ने, जो पहिले सुधारों को रद करने के पक्ष में थे, महात्मा जी का विरोध किया। महात्मा जी जैसे गम्भीर एवं विनम्र राजनीतिज्ञ का, जिसका ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता की भारत के प्रति सद्भावना में अगाध विश्वास था, यकायक ब्रिटिश सरकार को 'शैतान' कहने लगना और देश को इसके साथ असहयोग के लिये तय्यार करना भारत सरकार के कार्यों और तरीकों पर एक दुःखद टिप्पणी थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का बाद का इतिहास तब तक अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता जब तक हम उन कारणों को न समझ लें जिन्होंने महात्मा जी को सहयोगी से असहयोगी बना दिया, और अन्त में उन्हें 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाने के लिये मजबूर किया।

इस विचार परिवर्तन पर महात्मा जी के उस वक्तव्य से बहुत प्रकाश पड़ता है जो उन्होंने श्री ब्रूमफील्ड को, जिनकी अदालत में उन पर 'यंग इण्डिया' में १९२२ में राजद्रोहात्मक लेख लिखने के अपराध में मुकदमा चला, दिया। इस वक्तव्य में महात्मा जी ने बताया कि क्यों सारे जीवन भर सरकार के साथ सहयोग करने के पश्चात् उन्हें सहयोग के मार्ग को छोड़ने के लिये बाधित होना पड़ा। उन्होंने बताया : 'मुझे पहला धक्का रॉलट एक्ट से लगा जो जनता की स्वाधीनता को छीनने के उद्देश्य से बनाया गया था। मुझे अन्तरात्मा की तरफ से प्रेरणा मिली कि इसके विरुद्ध तीव्र आन्दोलन चलाना चाहिये। इसके बाद पंजाब के अत्याचार सामने आये जो जलियांवाला बाग के क़त्लेआम के साथ आरम्भ हुए और पेट के बल चलने के आदेशों, खुले आम कोड़े लगाये जाने तथा इसी प्रकार के अन्य अवर्णनीय अपमान और तिरस्कारों के साथ समाप्त हुए। मैंने यह भी अनुभव किया कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री द्वारा तुर्की की स्वाधीनता और इस्लाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के धार्मिक स्थानों की आज़ादी के बारे में दिया गया आश्वासन कदाचित् कभी पूरा न हो सकेगा। पर मित्रों की भविष्यवाणी और डरावनी चेतावनी के बावजूद १९१९ की अमृतसर कांग्रेस में मैं सरकार के साथ सहयोग और मॉन्ट-फोर्ड सुधारों को कार्यान्वित करने के लिये लड़ा, सिर्फ इस आशा से कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री भारतीय मुसलमानों से की गई अपनी प्रतिज्ञा को शीघ्र पूरा करेंगे, पंजाब के घाव भर जायेंगे और सुधार चाहे वे कितने ही अपूर्ण एवं असन्तोषजनक क्यों न थे, भारत के जीवन में आशा का एक नया युग प्रारम्भ करेंगे। मगर यह आशा पूरी न हो सकी। खिलाफत की प्रतिज्ञा के पूरे होने की कोई उम्मीद नहीं थी। पंजाब के जुर्मों को छिपाया गया और अधिकांश अपराधियों को न सिर्फ दण्ड ही नहीं दिया गया, वे नौकरी में भी क़ायम रहे ; कुछ भारतीय कोष से पेंशन लेते रहे और कुछ को पारितोषिक तक दिया गया। मैंने यह भी अनुभव किया कि सुधारों ने न सिर्फ हृदय-परिवर्तन ही नहीं किया प्रत्युत वे भारत के आर्थिक शोषण और दासता को कायम रखने के तरीके थे।'

यहाँ रॉलेट एक्ट, पंजाब के अत्याचारों और ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा मुसलमानों से की गई प्रतिज्ञा के विषय में, जिसका उपर्युक्त उद्धरण में जिक्र हुआ है, कुछ शब्द कहना आवश्यक सा प्रतीत होता है।

रॉलेट एक्ट और उसके उपरान्त :— हमें यह न भूलना चाहिये कि वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशाब्द में बंगभंग विरोधी आन्दोलन को कुचलने के लिये अपनाई गई सरकारी दमन नीति के परिणामस्वरूप देश में आतंकवादी आन्दोलन का जन्म हो चुका था। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में यह आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर था। इससे पैदा हुई स्थिति को सम्हालने के लिये भारत सरकार ने भारत सुरक्षा अधिनियम (Defence of India Act) पास किया। यह अधिनियम सिर्फ महायुद्ध तक के लिये ही बनाया गया था। महायुद्ध के समाप्त होने के बाद जब भारत सुरक्षा अधिनियम ने कार्य करना बन्द कर दिया, उस समय सरकार के लिये फिर समस्या पैदा हुई। क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिये सरकार को अब भी वही शक्तियां अपेक्षित थीं जो उसे भारत सुरक्षा अधिनियम से मिली हुई थीं। अतः इसने जस्टिस रॉलेट की अध्यक्षता में इस मामले की छानबीन करने और इस पर अपनी रिपोर्ट पेश करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की। अप्रैल १९१८ में इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। यह इस परिणाम पर पहुँची कि क्रान्तिकारी अपराधों को दबाने के लिये देश का साधारण फौजदारी कानून अपूर्ण है अतः इसने महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त देश में पैदा हुई स्थिति को काबू में करने के लिये दो विशेष कानून बनाये जाने की सिफारिश की। रॉलेट कमेटी की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने दो विधेयकों का मसविदा तैयार कराया। इनका नाम रॉलट या काला बिल पड़ा। समस्त देश में इनका विरोध हुआ। जनता में इनके विरुद्ध भयंकर विक्षोभ था। पर बावजूद इसके कि जनता इनसे बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलित थी, और महात्मा जी स्पष्ट शब्दों में सरकार को चेतावनी दे चुके थे कि यदि इन्हें वापिस नहीं लिया गया तो वे सत्याग्रह प्रारम्भ कर देंगे और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के समस्त भारतीय सदस्य इसके विरुद्ध थे, इनमें से एक बिल १९१९ के आतंकवादी व क्रान्तिकारी अपराध अधिनियम (Anarchical and Revolutionary Crimes Act of 1919) के नाम से कानून बना दिया गया।

किसी तरह महात्मा जी के दिमाग़ में इस काले कानून के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारम्भ करने के लिये एक देशव्यापी हड़ताल कराने का विचार आया। प्रारम्भ में हड़ताल, उपवास और प्रार्थना के लिये ३० मार्च १९१९ का दिन नियत किया गया था, पर बाद में इसे बदल कर ६ अप्रैल कर दिया गया। कुछ स्थानों में इस समय-परिवर्तन की सूचना ठीक समय पर न पहुँच पाई और देहली निवासियों ने ३० मार्च को ही हड़ताल मनाई। दिल्ली रेलवे स्टेशन के एक विश्रांति गृह (Refreshment stall) ने इस अवसर पर अपना कार्य बन्द नहीं किया। इस पर जनता और पुलिस में मुठभेड़ हुई जिसमें पुलिस ने जनता पर गोलियाँ चलाईं। इसके परिणामस्वरूप आठ व्यक्ति मारे गये। महात्मा जी को यह समाचार पहुँचाया गया और उनसे दिल्ली आने का अनुरोध किया गया। उन्होंने ६ अप्रैल को हड़ताल समाप्त हो जाने के बाद आने का वायदा किया। दिल्ली आते हुए उन्हें ८ अप्रैल की प्रातःकाल पलवल के स्टेशन पर गिरफतार कर लिया गया और पुलिस की निगरानी में बम्बई वापिस भेज दिया गया। उनकी गिरफ्तारी का समाचार दावानल की तरह सारे देश में फैल गया और अनेक स्थानों पर दंगे शुरू हो गये। दिल्ली, अहमदाबाद और पंजाब में, जहाँ का प्रशासन सर माइकेल ओडायर के हाथ में था, ये दंगे विशेष रूप से हुए। ३० मार्च और ६ अप्रैल की हड़तालें अमृतसर में शांति से गुजर गईं पर शहर के दो प्रमुख कांग्रेसी नेता डाक्टर सत्यपाल और डाक्टर किचलू की गिरफ्तारी और देश-निर्वासन ने शहर और प्रान्त में मानो फिर आग सी लगा दी। जनता ने जलूस निकालकर अपने नेताओं की रिहाई की माँग की। जलूस को दो बार रास्ते में रोका गया और उस पर गोली चलाई गई। इससे जनता आपे से बाहर हो गई और लोगों ने रास्ते में जो भी युरोपियन मिला उससे बदला लेना प्रारम्भ कर दिया। स्थिति को सम्हालने के लिये शहर में फौज तैनात कर दी गई और शाम तक भीड़ बिल्कुल तितर बितर हो गई। यह वाक़या १० अप्रैल का है। ११ अप्रैल को भी इसके विरुद्ध हड़ताल रक्खी गई और जलूस भी निकला; पर १२ अप्रैल को सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सभाओं पर पाबन्दी लगाने का नोटिस शहर में अच्छी तरह नहीं घुमाया गया था; इसे न जानते हुए शहर के बीच में जलियांवाला बाग में १२ अप्रैल को एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गई। जनता को बाग में एकत्रित होने दिया गया और जब हज़ारों आदमी वहाँ जमा हो गये तो जनरल डायर सशस्त्र फौज के साथ वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँचा और सभा भंग करने की चेतावनी दिये बगैर उसने अपने सिपाहियों को निहत्थी और शांत सभा पर गोली चलाने का आदेश दिया। हताहतों की संख्या बहुत बड़ी थी और वह और भी बड़ी होती यदि जनरल डायर अपने साथ मशीनगनें ले गया होता। उसका उद्देश्य लोगों के हृदयों में आतंक पैदा कर देना था। निहत्थी जनता का यह क़त्लेआम, जो जान-बूझकर किया गया था, भारत में ब्रिटिश प्रशासन पर सदा कलंक बना रहेगा। दुर्घटना का यह प्रारम्भ था जिसने महात्मा गांधी को सहयोगी से असहयोगी बना दिया।

पंजाब में अमृतसर, लाहौर, कसूर और अन्य स्थानों पर हुई घटनाओं और फौजी क़ानून के समय सर माइकेल ओडायर की सरकार की काली करतूतों के विस्तार में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। इन सब बातों की जाँच पड़ताल के लिये दो कमेटियां नियुक्त की गईं, एक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से और दूसरी भारत सरकार की ओर से। कांग्रेस जांच कमेटी ने अकाट्य और स्पष्ट गवाहियों के द्वारा यह प्रमाणित किया कि सरकारी कर्मचारियों ने जनता पर पाशविक अत्याचार किये हैं। हंटर कमेटी की रिपोर्ट, जो सरकार के द्वारा नियुक्त की गई थी, इस हद तक तो नहीं गई पर उससे भी सरकार की प्रतिष्ठा को पर्याप्त ठेस पहुँची। भारतीय जनता को आशा थी कि शाही घोषणा और मॉन्ट-फोर्ड सुधारों के लागू होने के बाद सरकार अपराधियों को उपयुक्त सजाएं देगी और फौजी क़ानून शासन के पीडितों की पूर्ण रूप से क्षतिपूर्ति करेगी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। इतना ही नहीं, हंटर कमेटी के कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व भी सरकार ने अपराधी सरकारी कर्मचारियों की रक्षार्थ एक हानिपूर्ति बिल (Indemnity Bill) पास कर दिया था। हंटर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में, जो बहुमत की रिपोर्ट थी, जनरल डायर के अपराध पर परदा डालने का प्रयत्न करते हुए बताया कि उसका कार्य 'सच्चे पर कर्त्तव्य के ग़लत स्वरूप' पर आश्रित था और 'ग़लत निर्णय' करने के कारण वह 'समय की उचित आवश्यकताओं का अतिक्रमण कर गया'। भारत सरकार ने उसे सिर्फ नौकरी से पृथक् कर दिया और सर माइकेल ओडायर के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही नहीं की। ब्रिटिश संसद भी इस समय अपना कर्तव्य-पालन न कर सकी और भारतीयों के दुःखी हृदय को कोई सान्त्वना न दे सकी। लॉर्ड-सभा में जनरल डायर के कार्य को माफ करने के लिये लॉर्ड फिनले द्वारा पेश किये गये प्रस्ताव पर जो बहस हुई उसने तो भारतीयों के हृदय को मानो मसोस ही डाला। एंग्लो-इंडियन प्रैस ने जनरल डायर को भारत में ब्रिटिश शासन का रक्षक बता कर और उसके लिये जमा किये गये चन्दों ने स्थिति को और नाजुक बना दिया। इन सब बातों से यह तो स्पष्ट था कि ग्रेट ब्रिटेन को पंजाब के कारनामों पर कोई भी पश्चात्ताप न था। इसने देश में विक्षोभ का तूफान सा पैदा कर दिया और महात्मा गाँधी पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जो सरकार इतनी भयंकर गलतियां कर सकती है वह शैतान ही होगी। अतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने उससे अपने को सब तरह से पृथक् कर लिया। क्योंकि वे बुराई का साथ नहीं दे सकते थे, वे असहयोगी हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि यदि भारत सरकार ने सर माइकेल ओडायर, जनरल डायर और पंजाब के अत्याचारों से सम्बन्धित अन्य सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध उचित कार्यवाही की होती, तो महात्मा गांधी ने, जो प्रारम्भ से पक्के सहयोगी थे, असहयोग के मार्ग पर क़दम न धरा होता और भारत का बाद का सारा इतिहास बिल्कुल भिन्न होता। इसलिये हम सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के इस कथन से सहमत हैं कि रॉलट एक्ट असहयोग का 'जनक' था।

खिलाफत :— दूसरा कारण जिसने महात्मा जी को भारत सरकार के प्रति अपना रुख़ बदलने के लिये मजबूर किया खिलाफत का प्रश्न था। महायुद्ध के दौरान में भारतीय मुसलमानों को इस बात की आशंका हुई कि युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार कहीं तुर्की के विरुद्ध प्रतिशोध की नीति न अपनाये। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने इस बात को भांप लिया और अपने एक भाषण में घोषणा की कि ब्रिटेन तुर्की के विरुद्ध प्रतिशोधात्मक नीति नहीं अपनायेगा और न एशिया माइनर और थ्रेस के समृद्ध प्रदेशों से उसे वञ्चित करेगा। युद्ध की समाप्ति पर यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार अपनी प्रतिज्ञाओं को पूरा नहीं करेगी और तुर्की अवश्य छिन्न भिन्न किया जायगा। तुर्की के मामले का समर्थन करने के लिये मार्च १९२० में एक शिष्टमण्डल इंग्लैण्ड भेजा गया पर मांटेग्यु की पूर्ण सहायता के बावजूद यह कुछ भी हासिल न कर सका। शांति-संधि की शर्तों के अनुसार तुर्की का पूरी तरह अंगविच्छेद कर दिया गया; थ्रेस का प्रदेश यूनान को दे दिया गया और ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ने तुर्की के एशियाई भाग को आदेश-प्राप्त राज्य (Mandates) के रूप में बाँट खाया। सुल्तान मित्र राष्ट्रों के हाई कमीशन के हाथ में कैदी सा बन गया। भारतीय मुसलमानों ने इसे बहुत बुरा माना क्योंकि तुर्की के सुल्तान से, जो मुसलमानों का धर्मगुरु अथवा खलीफा भी था, उसकी सल्तनत का एक बहुत बड़ा भाग सदा के लिये छीन लिया गया था। अतः उन्होंने सुल्तान को वे सब प्रदेश, जो उसके पास प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व थे, वापिस दिलाने के लिये खिलाफत आन्दोलन शुरू किया। उनकी मांग थी कि थ्रेस और एशिया माइनर के प्रदेश तुर्की को वापिस दे दिये जाने चाहियें और धार्मिक स्थानों पर सुल्तान की सत्ता स्वीकार की जानी चाहिए। क्योंकि विजयी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शस्त्र उठाने की उनमें सामर्थ्य नहीं थी उन्होंने महात्मा गांधी की सलाह मानकर सरकार के साथ असहयोग करने का निश्चय किया। इस प्रकार अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के दो उद्देश्य थे— पंजाब की ग़लतियों को दूर करना और खिलाफत के प्रश्न का हल करना। बाद में इसके उद्देश्यों में स्वराज्य प्राप्ति भी जोड़ दी गई। मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना शौकत अली के नेतृत्व में मुसलमानों ने गांधी जी का साथ दिया और देश में हिन्दू-मुस्लिम एकता की महान् पर अस्थायी लहर दृष्टिगोचर हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस द्वारा असहयोग की स्वीकृति :— सितम्बर १९२० में लाला लाजपतराय के सभापतित्व में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के सामने महात्मा जी ने अपनी योजना रक्खी जिसमें पंजाब की ग़लतियों के निवारण और खिलाफत के प्रश्न के सन्तोषजनक रूप से हल हो जाने तक सरकार के साथ असहयोग करने का प्रस्ताव किया। इस अधिवेशन में मुस्लिम प्रतिनिधि भी बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए थे। असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव स्वयं महात्मा जी ने ही प्रस्तुत किया। पंडित मोतीलाल और अली भाइयों ने उनका समर्थन किया पर चितरंजनदास, पंडित मदनमोहन मालवीय, और श्रीमती बीसेन्ट ने इसका विरोध किया। लोकमान्य तिलक जिनका इस अधिवेशन से कुछ समय पूर्व ही स्वर्गवास हो चुका था, इस कार्यक्रम को पसन्द करते थे पर यह यातना और कष्ट का मार्ग था और उन्हें देशवासियों की कष्ट सहने की शक्ति में सन्देह था। किन्तु क्योंकि जनता इस कार्यक्रम को चाहती थी, यदि वे जीवित होते तो सोत्साह इसका स्वागत करते। प्रस्ताव भारी बहुमत से पास हुआ; ८७३ प्रतिनिधियों ने इसके विरुद्ध और १८५५ ने इसके पक्ष में मत दिये। क्योंकि यह कांग्रेस के कार्यक्रम और नीति में एक नये युग का सूत्रपात करता है इसे यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रस्ताव निम्न था :—

"चूंकि खिलाफत के प्रश्न पर भारत व ब्रिटेन दोनों देशों की सरकारें भारत के मुसलमानों के प्रति अपना फर्ज अदा करने में खास तौर से असफल रही हैं और ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने जान-बूझकर उन्हें दिये हुये वायदे को तोड़ा है और चूंकि प्रत्येक गैर-मुस्लिम भारतीय का यह फर्ज है कि अपने मुसलमान भाई पर आई हुई धार्मिक विपत्ति को दूर करने में प्रत्येक उचित उपाय से सहायता करे;

"और चूंकि अप्रैल १९१९ की घटनाओं के मामले में उक्त दोनों सरकारों ने पंजाब की बेकसूर जनता की रक्षा करने में और उन अफसरों को सज़ा देने में, जो पंजाब की जनता के प्रति असभ्य व सैनिक-धर्म-विरुद्ध आचरण करने के दोषी ठहरे हैं, घोर लापरवाही की है और चूंकि उक्त दोनों सरकारों ने सर माइकेल ओडायर को, जो अफसरों द्वारा किये गये बहुत से अपराधों के लिये स्वयं प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी था और जिसने जनता के दुःखों व कष्टों की सरासर अवहेलना की, बरी कर दिया; और चूंकि इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा में हुए वाद-विवाद से भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का दुःखपूर्ण अभाव स्पष्टतः प्रकट हो गया है और पंजाब में सुसंगठित रूप से आतंक और त्रास फैलाया गया है; और चूंकि वाइसराय की सब से ताजी घोषणा इस बात का प्रमाण है कि खिलाफत व पंजाब के मामलों पर तनिक भी पछतावे का भाव नहीं है, अतः इस कांग्रेस की राय है कि भारत में तब तक शांति नहीं हो सकती जब तक कि उक्त दोनों भूलों का सुधार नहीं किया जाता। राष्ट्रीय सम्मान की मर्यादा को कायम रखने के लिये और भविष्य में इस प्रकार की भूलों को दोहराने से बचाने के लिये उपयुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्ग केवल स्वराज्य की स्थापना ही है। इस कांग्रेस की यह राय है कि जब तक उक्त भूलों का सुधार न हो जाय और स्वराज्य की स्थापना न हो जाय, भारतवासियों के लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है कि वे गांधी जी द्वारा संचालित क्रमिक अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार करें और अपनावें।

"और चूंकि इसकी शुरुआत उन लोगों को ही करनी चाहिये जिन्होंने अब तक लोकमत को बनाया और उसका प्रतिनिधित्व किया है, और चूंकि सरकार अपनी शक्ति का संगठन लोगों को दी गई उपाधियों व सम्मान से, अपने द्वारा नियन्त्रित स्कूलों से, व अपनी अदालतों व कौंसिलों से ही करती है, और चूंकि आन्दोलन को चलाने के लिये यह वांच्छनीय है कि कम से कम ख़तरा रहे और वाँच्छित उद्देश्य की सिद्धि के लिये कम से कम त्याग किया जाय, यह काग्रेस सरगरमी के साथ सलाह देती है कि—

(क) सरकारी उपाधियों व अवैतनिक पदों को छोड़ दिया जाय और ज़िला और म्युनिसिपल बोर्ड व अन्य संस्थाओं में जो लोग नामज़द हुए हों वे त्यागपत्र दे दें;

(ख) सरकारी दरबारों, स्वागत-समारोहों तथा सरकारी अफसरों द्वारा किये गये या उनके सम्मान में किये जाने वाले अन्य सरकारी व अर्ध-सरकारी उत्सवों में भाग लेने से इन्कार किया जाय;

(ग) सरकार के, सरकार से सहायता प्राप्त करने वाले व सरकार द्वारा नियंत्रित स्कूल व कालिजों से छात्रों को धीरे धीरे निकाल दिया जाय;

(घ) वकीलों व मुवक्किलों द्वारा ब्रिटिश अदालतों का धीरे धीरे बहिष्कार हो और उनकी मदद से खानगी झगड़ों को तय करने के लिये पंचायती अदालतों की स्थापना हो;

(ङ) फौजी, क्लर्की व मज़दूरी करने वाले लोग मसोपटामिया में नौकरी करने के लिये भरती होने से इन्कार कर दें।

(च) नई कौंसिलों के चुनाव के लिये खड़े हुए उम्मीदवार अपने नाम उम्मीदवारी से वापिस ले लें और यदि कांग्रेस की सलाह के बावजूद कोई उम्मीदवार चुनाव के लिये खड़ा हो तो मतदाता उसे वोट देने से इन्कार करें;

(छ) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय।

"और चूंकि असहयोग को अनुशासन व आत्म-त्याग के एक साधन के रूप में पेश किया गया है जिसके बिना कोई भी राष्ट्र सच्ची उन्नति नहीं कर सकता; और चूंकि असहयोग के सब से पहिले युग में ही हर स्त्री, पुरुष व बालक को इस प्रकार के अनुशासन व आत्मत्याग का अवसर मिलना चाहिये, यह कांग्रेस सलाह देती है कि एक बड़े पैमाने पर स्वदेशी वस्त्रों को अपनाया जाय; और चूंकि भारतीय श्रम व प्रबन्ध से चलने वाली भारत की वर्तमान मिलें देश की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त सूत व कपड़ा तैयार नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकतीं और न ही इस बात की कोई सम्भावना है कि एक लम्बे अरसे तक वे ऐसा करने में समर्थ हो सकेंगी, यह कांग्रेस सलाह देती है कि प्रत्येक घर में हाथ की कताई को फिर से शुरु किया जाय और देश के उन असंख्य जुलाहों द्वारा, जिन्होंने अपने पुराने व सम्मानित पेशे को उत्साह न मिलने के कारण छोड़ दिया था, हाथ की बुनाई को पुनरुज्जीवित करके बड़े पैमाने पर वस्त्रों की उत्पत्ति तुरन्त ही बढ़ाई जाय।"

कांग्रेस के नियमित अधिवेशन में जो दिसम्बर १९२० में नागपुर में हुआ, यह प्रस्ताव फिर विचारार्थ प्रस्तुत हुआ। क्योंकि श्री चित्तरंजनदास और उनके अनुयायियों के विरोध का आधार धारासभाओं का बहिष्कार था और क्योंकि नई धारासभाओं के चुनाव एक मास पूर्व ही नवम्बर में हो चुके थे, महात्मा जी को बंगाल के महान् नेता को अपनी ओर मिलाने में कोई कठिनाई पेश नहीं आई। लाला लाजपतराय ने भी अपना विरोध वापिस ले लिया और वे प्रस्ताव का समर्थन करने को तैयार हो गये। पण्डित मदनमोहन मालवीय, श्रीमती बीसेंट, श्री मौहम्मद अली जिन्ना, और श्री बिपिनचन्द्र पाल अन्त तक प्रस्ताव के विरुद्ध ही रहे। कांग्रेस ने अन्त में इसे भारी बहुमत से स्वीकृत कर दिया।

कलकत्ता कांग्रेस के असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकृत करने के अतिरिक्त नागपुर अधिवेशन ने कांग्रेस के विधान में दो और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये और इसके संगठन को जड़ मूल से बदल दिया। अब तक कांग्रेस का ध्येय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत को स्व-शासन दिलाना था। वे कांग्रेसी जिन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहने पर आपत्ति थी और भारत का ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद चाहते थे, इस ध्येय से सहमत न थे। इन्हें कांग्रेस के साथ रखने के लिये कांग्रेस का ध्येय 'स्वराज्य' घोषित किया गया। प्रत्येक व्यक्ति इस 'स्वराज्य' के अपने ढंग से अर्थ करने में स्वतन्त्र था। महात्मा जी ने इसका अर्थ लगाया 'साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज यदि सम्भव हो तो और उसके बाहर यदि आवश्यक हो'। 'स्वराज्य' प्राप्ति के साधनों में भी परिवर्तन किया गया। कांग्रेस के लिये अब पहिले की तरह वैधानिक साधनों तक ही अपने को सीमित रखना आवश्यक न था, वह अन्य सब शांत एवं उचित उपायों का भी आश्रय ले सकती थी। यह परिवर्तन इसलिये किया गया था कि कांग्रेस यदि चाहे तो करबन्दी जैसे साधनों का भी, जो वैधानिक न थे, सहारा ले सके। कांग्रेस के उद्देश्यों और साधनों में यह परिवर्तन पंडित मालवीय और जिन्ना जैसे दक्षिण-पक्षी नेताओं तथा वामपक्षी नेताओं में, जो सब प्रकार के उपायों द्वारा देश को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाने के पक्ष में थे, एक समझौता था। इस प्रकार कांग्रेस का नागपुर अधिवेशन महात्मा जी की विजय का सूचक था। ब्रिटिश संसद के दो मज़दूर दली सदस्य कर्नल वेजवुड और श्री बेन स्पूर भी इसमें सम्मिलित हुए। नागपुर अधिवेशन ने कांग्रेस के संगठन में जो सुधार किये उनका जिक्र करने की हमें यहाँ आवश्यकता नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असहयोग आन्दोलन :— कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन द्वारा असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद महात्मा जी ने जनता के उत्साह को द्विगुणित करने, सरकारी उपाधियों, शिक्षा-संस्थाओं, अदालतों और धारासभाओं के बहिष्कार को लोकप्रिय बनाने और कांग्रेस के संगठन में आवश्यक सुधार करने के लिये सारे देश का दौरा किया। असहयोग का प्रारम्भ स्वयं उन्हीं से हुआ जब उन्होंने गवर्नर-जनरल को अपने पदक (Medals) वापिस किये। उन्होंने वकीलों से अपनी वकालत बन्द करने और जनता से उनके पास मुक़दमे न ले जाने का आग्रह किया। विद्यार्थियों से शिक्षा-संस्थाओं को छोड़ने, स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने और राष्ट्रीय शिक्षणालयों में प्रविष्ट होने की अपील की गई। आन्दोलन को आशातीत सफलता मिली। सैकड़ों व्यक्तियों ने अपनी उपाधियाँ वापिस कीं और हज़ारों वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ी। जिन लोगों ने अपने पेशों को छोड़कर अपना सारा समय आन्दोलन में लगाया उनमें बंगाल में चित्तरंजन दास, यू० पी० में मोतीलाल नेहरू और उनके सुपुत्र जवाहरलाल नेहरू, पंजाब में लाला लाजपतराय, गुजरात में वल्लभभाई पटेल और विट्ठलभाई पटेल, पूना में नरसिंह चिन्तामणि केलकर, मध्यप्रान्त में डाक्टर मुँजे और अभ्यंकर, बिहार में डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद और मद्रास में राजगोपालाचारी, सत्यमूर्ति और प्रकाशम् के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त मौलाना मुहम्मदअली और शौकतअली, डाक्टर अंसारी, तथा मौलाना अबुलकलाम आज़ाद आदि प्रमुख मुस्लिम नेता भी संग्राम में कूद पड़े। श्री जिन्ना, श्रीमती बीसेंट और विपिनचन्द्र पाल कांग्रेस से पृथक् हो गये क्योंकि उनका उसकी असहयोगात्मक नीति एवं कार्यक्रम से मौलिक मतभेद था। नरमदली पहिले ही काँग्रेस से पृथक् हो चुके थे, अतः उनके संग्राम में भाग लेने का सवाल ही नहीं उठता था।

नये एक्ट के मातहत बनी धारासभाओं का बड़ा शानदार बहिष्कार हुआ। कोई कांग्रेसी चुनाव में उम्मीदवार की हैसियत से नहीं खड़ा हुआ और बहुत थोड़े व्यक्तियों ने मत दिये। हजारों विद्यार्थियों ने स्कूल और कालिज छोड़ डाले। उन्हें शिक्षा देने के लिये अनेक राष्ट्रीय शिक्षणालय स्थापित किये गये जिनमें से प्रमुख निम्न थे: बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, बंगाल राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, तिलक विद्यापीठ, और अलीगढ़ का राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय। स्वदेशी को बहुत प्रोत्साहन मिला और लोगों ने हाथ से सूत कातना शुरु कर दिया। खादी राष्ट्रीय वेश हो गया। महात्मा जी ने देशवासियों से तिलक स्मारक निधि में चन्दा देने की अपील की और कुछ ही समय में एक करोड़ और कुछ लाख रुपये एकत्र हो गये। इस प्रकार आन्दोलन सन्तोषजनक रूप से प्रगति कर रहा था। जुलाई में महात्मा जी ने विदेशी कपड़े का बहिष्कार भी कार्यक्रम में और बढ़ा दिया। देश के प्रत्येक नगर व शहर में विदेशी कपड़ों की होली से यह प्रारम्भ हुआ। नवम्बर १९२१ में सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र (Prince of Wales) भारत में आये और कांग्रेस ने उनका बहिष्कार करने का निश्चय किया। ज्योंही वह बम्बई बन्दरगाह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर उतरे शहर में एक भारी दंगा हुआ। जहाँ भी वे गये जनता ने उनका हड़ताल से स्वागत किया जिसे पुलिस ने लाठियाँ चला कर तोड़ने की कोशिश की। महात्मा गाँधी के अतिरिक्त देश के सब प्रमुख नेता अब तक गिरफ्तार किये जा चुके थे जो जेल के सींकचों के अन्दर बन्द थे।

२४ दिसम्बर १९२२ को प्रिंस आफ वेल्स कलकत्ता पहुंचने वाले थे। लार्ड रीडिंग जो लार्ड चेम्सफोर्ड की जगह भारत के वायसराय नियुक्त होकर आये थे, एक सप्ताह पूर्व ही कलकत्ता पहुँच गये। क्योंकि स्थिति सरकार के काबू से बाहर होती जा रही थी और क्योंकि प्रिंस आफ वेल्स की उपस्थिति के कारण सरकार इसे सम्हालने के लिये पाशविक शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहती थी, लार्ड रीडिंग काँग्रेस से समझौता करने के लिये उत्सुक थे। विदेशों में हुई घटनाओं के कारण ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध मुस्लिम जगत के संगठन ने भी उन्हें इसी दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दी। पण्डित मदनमोहन मालवीय ने लार्ड रीडिंग और श्री चित्तरंजन दास के बीच, जो उस समय जेल में थे, मध्यस्थ का कार्य किया। पर शांति और सुलह की बातचीत अली भाइयों की रिहाई के प्रश्न पर, जिन्हें कराँची में राजद्रोहात्मक भाषण देने के अभियोग में जिसका असहयोग आन्दोलन से कोई सम्बन्ध न था, दो वर्ष कारावास की सजा हुई थी, भंग हो गई। महात्मा जी ऐसे समझौते के लिये राजी नहीं थे जिसमें अली भाइयों की रिहाई सम्मिलित न हो और गवर्नर-जनरल उन्हें रिहा न करने पर तुले हुए थे। समझोते के इस अवसर को खो देने से श्री चित्तरंजन दास बहुत विक्षुब्द और खिन्न हुए। लार्ड रीडिंग भारत के भावी विधान को बनाने के विषय में भारत सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों की गोल मेज़ परिषद बुलाने के लिये भी तैयार हो गये थे।

असहयोग आन्दोलन स्थगित :— महात्मा जी इस समय आन्दोलन को समाप्त करने से पूर्व गुजरात के बारदौली तालुका में करबन्दी संग्राम चलाने का विचार कर रहे थे। पहली फरवरी १९२२ को उन्होंने लार्ड रीडिंग को एक पत्र लिखा जिसमें बताया कि यदि सरकार ने ७ दिन के भीतर अपने हृदय-परिवर्तन का कोई प्रमाण न दिया तो वे करबन्दी संग्राम प्रारम्भ कर देंगे। पर ७ दिन की अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही ४ फरवरी को उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के एक चौराचौरी ग्राम में ३००० असहयोगियों की एक उत्तेजित भीड़ ने सरकार से प्रतिशोध लेने की भावना से पुलिस थाने में आग लगा दी और २१ सिपाहियों और १ थानेदार को जीवित ही जला दिया। चौराचौरी की दुर्घटना से पूर्व भी अनेक हिंसात्मक घटनाएं हो चुकी थीं। मलाबार में मोपलों ने हिन्दुओं पर पाशविक अत्याचार किये थे और बम्बई में भी प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर दंगे हो चुके थे। महात्मा जी ने अनुभव किया कि आन्दोलन अपना अहिंसात्मक स्वरूप खोता जा रहा है और जनता के बढ़ते हुए हिंसात्मक कृत्यों से उद्विग्न होकर उन्होंने कांग्रेस कार्य समिति की बैठक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुलाई तथा आन्दोलन को स्थगित कर दिया जिससे कांग्रेस के अन्य नेताओं तथा अनुयायियों को घोर निराशा और क्षोभ हुआ। आन्दोलन के साथ सरकारी कानूनों की अवज्ञा और करबन्दी दोनों ही बन्द कर दिये गये। गांधी जी ने अब देश से रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाने की अपील की जिसमें उन्होंने हाथ कताई व बुनाई, अस्पृश्यता निवारण, साम्प्रदायिक एकता की वृद्धि तथा शराबबन्दी को सम्मिलित किया। अब जब देश में तूफान शान्त हो गया और गांधी जी की गिरफ्तारी से देशव्यापी अशांति और अव्यवस्था की १९१९ की तरह कोई सम्भावना न रही, लार्ड रीडिंग ने महात्मा जी को गिरफ्तार कर लिया। १९२२ में श्री ब्रूमफील्ड ने गांधी जी को ६ वर्ष कारावास की सज़ा दी।

आन्दोलन का मूल्यांकन :— इस प्रकार प्रथम असहयोग अन्दोलन अपने उद्देश्य को पाने में असफल रहा। महात्मा जी ने देशवासियों को एक वर्ष के भीतर स्वराज्य दिलाने का आश्वासन दिया था। वर्ष समाप्त हो चुका था ; स्वराज्य के स्थान पर देश में घोर निराशा छाई हुई थी और आन्दोलन का प्रवर्तक जेल के सींकचों में बन्द था। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि आन्दोलन का कोई अच्छा परिणाम हुआ ही नहीं। इसने राजनीतिक चेतना के स्तर को कल्पनातीत रूप से ऊँचा कर दिया ; इसने कांग्रेस को जन-आन्दोलन में परिवर्तित कर दिया और स्वराज्य के सन्देश को समाज के निम्नतम भाग तक पहुँचा दिया। भारत में ब्रिटिश राज्य को इसने जड़ से हिला डाला। एक दूसरी तरह भी इसने देश को लाभ पहुँचाया। जब तक देश में असहयोग आन्दोलन चलता रहा सरकार उदारवादियों के सहयोग और सद्भावना को पाने के लिए उत्सुक रही और उसने सुधारों पर ठीक प्रकार से अमल किया। श्री सुभाषचन्द्र बोस के शब्दों में १९२१ की सफलताओं को हम इस प्रकार रख सकते हैं : १९२१ के वर्ष ने देश को निस्सन्देह एक सुव्यवस्थित पार्टी संगठन प्रदान किया ; इससे पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल था और वह मुख्यतया बात करने वाली संस्था थी। महात्मा जी ने इसे सिर्फ नया विधान ही नहीं दिया और इसे देशव्यापी ही नहीं बनाया अपितु इसे एक क्रान्तिकारी संगठन में परिवर्तित कर दिया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाये जाने लगे और एक जैसी नीति और एक जैसी विचार धारा सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगी। अंग्रेजी भाषा का महत्त्व जाता रहा और कांग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। खादी सब कांग्रेसियों की नियमित पोशाक हो गई।

स्वराज्य दल का जन्म :— जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन को स्थगित करने और अपनी शक्ति व ध्यान को रचनात्मक कार्यक्रम पर केन्द्रित करने के निश्चय ने कांग्रेस के नेताओं और अनुयायियों में बहुत विक्षोभ पैदा किया। इस निश्चय के विरुद्ध असन्तोष की अभिव्यक्ति स्वराज्य दल के निर्माण में हुई जिसके नेता चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू थे। इसका विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे पूर्व चित्तरंजन दास के दिमाग में पैदा हुआ और उन्होंने इस पर अलीपुर सैन्ट्रल जेल में अपने साथियों से विचार-विमर्श किया। वे जनता में फिर से उत्साह पैदा करने की दूसरी युक्ति निकालना चाहते थे। १९१९ के एक्ट के मातहत दिये गये सुधारों का धारासभा में रहकर विरोध करने के लिये उन्होंने व्यवस्थापिका सभाओं में प्रवेश का समर्थन किया। कलकत्ता कांग्रेस ने जिस प्रकार धारासभाओं के बहिष्कार की आशा की थी वह न हो पाया था ; क्योंकि यद्यपि कांग्रेसी उनसे दूर रहे थे दूसरे लोग उनमें प्रविष्ट हो गये थे, और वे उन्हें कार्यान्वित कर रहे थे। उदार दल के सदस्य जो उनमें प्रविष्ट हो गये थे, असहयोग आन्दोलन में कांग्रेसियों की सहायता करने के स्थान पर उसे दबाने में सरकार की मदद कर रहे थे। इस प्रकार स्वाधीनता संग्राम में विजय की तरफ ले जाने वाली एक महत्त्वपूर्ण परिस्थिति हाथ से निकल चुकी थी। अत उन्होंने सिफारिश की कि कांग्रेसियों पर से धारासभाओं में प्रविष्ट होने की पाबन्दी उठा ली जाय और उन्हें चुनाव लड़ने की इजाजत दी जाय ताकि वे वहाँ अवांच्छनीय व्यक्तियों को जाने और शरारत करने से रोक सकें। उनकी राय थी कि १९२३ में आने वाले चुनावों की तय्यारी से कांग्रेस को फिर देश भर में अपना प्रचार करने का अवसर मिलेगा।

जेल से रिहा होने के बाद देशबन्धु ने कौंसिल-प्रवेश के कार्य-क्रम के पक्ष में ज़ोरदार प्रचार किया। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि नवीन नीति का अर्थ कांग्रेस की दूसरी प्रगतियों को समाप्त या स्थगित करना नहीं ; 'इसका केवल मात्र अर्थ यह था कि उन प्रगतियों का इस प्रकार विस्तार किया जाय कि व्यवस्थापिका सभाओं तथा अन्य सब सार्वजनिक संस्थाओं में निर्वाचित स्थानों पर कब्ज़ा करना भी उनमें सम्मिलित कर दिया जाय।'* गाँधी जी के अनुयायियों ने, जिनमें चक्रवर्ती राजगोपालाचारी प्रमुख थे, इस नीति का विरोध किया और इन्हें 'अपरिवर्तनवादी' कहा जाने लगा। १९२२ में कांग्रेस के गया अधिवेशन में यह प्रश्न विचारार्थ प्रस्तुत हुआ और बावजूद इसके कि देशबन्धु चित्तरंजन दास स्वयं इसके सभापति थे, इसके पक्ष में निर्णय नहीं हुआ। इस पर पण्डित मोतीलाल नेहरू ने घोषणा की कि वे इस प्रयोजन के लिये 'स्वराज्य-पार्टी' के नाम से एक नये दल का निर्माण करेंगे। देशबन्धु दास और पण्डित नेहरू के घोर परिश्रम और जबर्दस्त प्रचार के उपरान्त मार्च १९२३ में इलाहाबाद में प्रथम 'स्वराजदली सम्मेलन' हुआ। इस सम्मेलन में दल का विधान बनाया गया और कार्य योजना तय्यार की गई। कुछ प्रान्तों में अपरिवर्तनवादियों और स्वराजदलियों में बढ़ती कटुता को दृष्टि में रखते हुए सितम्बर १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में दोनों दलों में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार कांग्रेसियों को धारा सभाओं के आगामी चुनाव में जो शीघ्र ही होने वाले थे भाग लेने और उनके अन्दर रहकर सरकार का 'एक जैसा सतत एवं उचित

* सुभाषचन्द्र बोस : 'दि इण्डियन स्ट्रगल', पृष्ठ ११४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध' करने की इजाज़त दे दी गई। कांग्रेस का सामूहिक रूप से इस सम्बन्ध में कोई उत्तरदायित्व न था। यह एक प्रकार से स्वराजदलियों की विजय थी; वे कौंसिल प्रवेश पर कांग्रेस की तरफ से लगाये गये प्रतिबन्ध को उठवाना चाहते थे और उपर्युक्त समझौते ने इस बात को स्वीकार कर लिया था। अपरिवर्तनवादियों के विरोध के बावजूद ९ मास के अथक परिश्रम के बाद उन्हें यह विजय मिली। क्योंकि आम चुनाव समीप ही थे अब उन्हें उनमें सफलता प्राप्त करने के लिये कठिन परिश्रम करना था। देशबन्धु चित्तरंजन दास तथा पंडित मोतीलाल नेहरू के योग्य नेतृत्व में उन्होंने पूरी संलग्नता से काम किया और उनमें आशातीत सफलता प्राप्त की। मध्य प्रान्त और बंगाल में उन्हें पूर्ण बहुमत मिला। अन्य प्रान्तों में यद्यपि उन्हें पूर्ण बहुमत नहीं मिला उनका दल दूसरे प्रत्येक दल की अपेक्षा सदस्य संख्या में बड़ा था। पर वह सरकार का 'एक जैसा, सतत एवं उचित विरोध' करने की स्थिति में न था। मध्य भारत और बंगाल में अपने अडंगों से उन्होंने मन्त्रियों के लिये कार्य करना असम्भव कर दिया, पर अन्यत्र उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचित स्थानों में से ४५ स्थान उनके हाथ में थे और स्वतन्त्र सदस्यों के मतों की सहायता से कभी-कभी सरकार को शिकस्त भी दे सकते थे। किन्तु क्योंकि गवर्नर जनरल को निषेधाधिकार (Veto power) और रद्द बिलों को प्रमाणित करने की विशेष शक्ति प्राप्त थी, उनके लिये अवरोध (Deadlock) पैदा करना या दूसरी तरह से सरकार के काम में रुकावट डालना सम्भव न था। कई बार उन्हें बजट को रद्द करने में सफलता मिली, पर जब जब यह रद्द हुआ तब तब गवर्नर जनरल ने अपनी विशेष शक्ति द्वारा इसे प्रमाणित कर दिया। कभी कभी वे विरोध-प्रदर्शनार्थ असेम्बली की बैठकों को छोड़कर बाहर भी चले जाते थे और कुछ समय बाद फिर वापिस आ जाते थे। संक्षेप में, मध्य प्रान्त और बंगाल में तो इन्हें पर्याप्त सफलता मिली और इन्हीं के कारण वहाँ द्विविध शासन प्रणाली को स्थगित भी करना पड़ा पर अन्यत्र स्वराज दल को विशेष सफलता नहीं मिली।

८ फरवरी १९२४ को पण्डित मोतीलाल नेहरू द्वारा पेश किये गये प्रस्ताव का यहाँ जिक्र करना आवश्यक सा प्रतीत होता है। सरकार के विरोध के बावजूद स्वराज-दलियों एवं स्वतंत्र सदस्यों के संयुक्त मतों से असेम्बली ने इसे पास कर दिया। प्रस्ताव निम्न था :—

'यह असेम्बली सपरिषद् गवर्नर-जनरल से सिफारिश करती है कि भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने के उद्देश्य से (१९१९ के) भारत सरकार अधिनियम को संशोधित करवाने के लिये प्रथम क़दम उठाये जायें और इसके लिये (क) भारत के समस्त प्रतिनिधियों की एक गोल मेज़ परिषद् बुलाई जाय जो देश के महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के अधिकारों व हितों की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए भारत के लिये एक विधान बनाये तथा (ख) वर्तमान केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को भंग करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवनिर्मित धारासभा के सम्मुख यह योजना (विधान) प्रस्तुत की जाय जो क़ानून बनने के लिये बाद में ब्रिटिश संसद को भेजी जाय।' सरकार की तरफ से इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए सर माल्कम हैली ने आश्वासन दिया कि वे शीघ्र ही द्वैध शासन प्रणाली की स्वाभाविक कमज़ोरियों और इस के प्रयोग के दौरान में प्रकाश में आई इसकी कठिनाइयों की जाँच पड़ताल करायेंगे और १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के प्रयोजन एव नीति को दृष्टि में रखते हुए इनके निवारण के लिये उपाय तथा साधन सुझायेंगे। यह उत्तर अत्यन्त असन्तोषजनक था अत: विरोधस्वरूप असेम्बली ने अनुदानों की कुछ मांगों को रद्द कर दिया और इतना ही नहीं अर्थ-विधेयक (Finance Bill) को प्रस्तुत करने की स्वीकृति भी नहीं दी। बाद में गवर्नर-जनरल ने अनुदानों की अस्वीकृत मांगों को बहाल कर दिया और अर्थ-विधेयक को प्रमाणित कर दिया। असेम्बली की समाप्ति पर भारत सरकार ने एक 'सुधार जांच कमेटी' नियुक्त की जिसके सभापति भारत सरकार के गृह सदस्य सर अलैग्ज़ैन्डर मुडीमन थे। स्वराजदल वालों ने इसका बहिष्कार किया पर श्री मुहम्मदअली जिन्ना और सर तेजबहादुर सप्रू ने इसके साथ सहयोग किया और इसकी सदस्यता स्वीकार कर ली। सरकार का 'एक समान, सतत एवं उचित विरोध' करने की नीति का अनुसरण करते हुए स्वराजियों ने जो कुछ चालें बरतीं उनके विषय में और कुछ कहना अनावश्यक है।

कुछ हल्कों में स्वराजियों की अड़ंगा नीति की उपयोगिता एवं व्यावहारिकता में भी सन्देह किया गया। श्री बिपिनचन्द्र पाल जैसे कांग्रेसियों तथा श्री जोसफ बप्तिस्ता जैसे स्वतन्त्र सदस्यों का विश्वास था कि सिर्फ अड़ंगा नीति एकदम निरर्थक है। उदारवादी भी इसके विरुद्ध थे; सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसे बेकार और अर्थशून्य बताया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिर्फ अड़ंगा नीति के सहारे केन्द्र अथवा संरक्षित विषयों के प्रशासन में प्रान्तों में किसी भी ठोस लाभ की आशा नहीं की जा सकती थी। स्वराजियों को दो प्रान्तों में द्विविध शासन को रोकने में अवश्य कामयाबी हासिल हुई लेकिन यह देश को उसके ध्येय स्वराज की ओर न ले जा सकी। डाक्टर ज़करिया ने स्वराज दल की अड़ंगा नीति का जो चित्र खींचा है वह ठीक ही प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि स्वराजियों की 'स्थिति उन व्यक्तियों की सी थी जो अपनी रोटी को रखना और साथ ही खाना भी चाहते हैं। वे उग्रवाद का जिक्र करना आवश्यक समझते थे पर उसी के साथ संसदवाद (Parliamentarianism) में भी उनका पूर्ण विश्वास था। परिणामत: जिस मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया उसमें सहयोग का अर्थ था असहयोग।'*

स्वराजियों के विरोधियों को उनकी अड़ंगा नीति उस समय कितनी ही तर्कशून्य एवं अव्यावहारिक क्यों न प्रतीत हुई हो और अब हमें भी यह कितनी ही दोषपूर्ण एवं निरर्थक क्यों न मालूम दे, यह सत्य है कि इसने उस समय बहुत उपयोगी कार्य किया। इसके

* ज़करिया : 'रिज़ेसेंट इंडिया', पृष्ठ २४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माताओं ने कभी आशा नहीं की थी कि यह देश को स्वराज के समीप ले जायेगी; इसे अपनाने का उनका एकमात्र उद्देश्य था देश में सरकार के विरुद्ध एक ऐसा वातावरण पैदा करना जिसमें सरकार जनता की मांगों को मानने से इन्कार न कर सके। असहयोग आन्दोलन के स्थगित हो जाने के कारण जनता में स्वाधीनता प्राप्ति के लिये जो उत्साह मृतप्राय हो गया था उसे फिर से जागृत करने और बढ़ाने में इस नीति ने आश्चर्यजनक कार्य किया। जबकि इस समय कांग्रेस ने रचनात्मक कार्य-क्रम पर अपनी सारी शक्ति केन्द्रित की, स्वराजियों ने देश की राजनीतिक बागडोर को सम्हाला और इस प्रकार जाति की महान् सेवा की। पर शीघ्र ही इसके कार्य-क्रम की नवीनता और आकर्षण फीके पड़ने लगे, जून १९२५ में इसके महान् कर्मठ नेता देशबन्धु चित्तरंजन दास का असमय में ही देहान्त हो गया और इसके अनुयायियों में मतभेद और फूट भी पड़ने लगी। इन सभी कारणों से इसकी प्रतिष्ठा और मर्यादा को बहुत ठेस पहुँची और इसे १९२६ के आम चुनाव में वह सफलता नहीं मिली जो तीन वर्ष पूर्व १९२३ में मिली थी। बंगाल सरकार ने इसके कुछ प्रभावशाली सदस्यों को गिरफ्तार करके और बिना मुकदमा चलाये जेल भेज कर इसकी रही सही हस्ती को भी समाप्त सा कर दिया। इसके कुछ सदस्यों ने तो सरकारी नौकरियाँ भी स्वीकार कर लीं।

महात्मा गांधी की रिहाई:— जिस समय महात्मा जी के कट्टर अनुयायियों के विरोध के बावजूद स्वराज दल अपना संगठन कर रहा था और अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, महात्मा जी स्वयं पूना जेल में ६ वर्ष कारावास की सज़ा काट रहे थे। वे वहाँ बीमार हो गये और इलाज के लिये पूना के सासून हस्पताल में पहुँचाये गये जहाँ उनका 'अपेन्डिसाइटिस' का आपरेशन हुआ। देश भर ने उनकी रिहाई की माँग की पर लार्ड रीडिंग का रुख इतना कठोर था कि उसने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में अपने प्रारम्भिक भाषण में न तो गाँधी जी की बीमारी का ज़िक्र किया और न उनकी रिहाई की मांग का। तथापि उन्हें ५ फरवरी १९२४ को ही जिस दिन धारासभा उनकी रिहाई के प्राइवेट प्रस्ताव पर बहस करने वाली थी, रिहा कर दिया गया। सरकार के लिये यह गौरव की बात होती यदि वह महात्मा जी को असेम्बली की माँग के उत्तर में रिहा करती, पर लार्ड रीडिंग का गौरव में विश्वास न था। वह स्वराजियों के असहयोग का जवाब असहयोग से ही देना चाहता था।

पण्डित मोतीलाल नेहरू महात्मा जी की रिहाई के बाद उनसे जुहू में मिले जहाँ वे बीमारी से उठने के बाद आरोग्य लाभ कर रहे थे और उन्होंने स्वराजियों की नीति के लिये उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उन्हें अपने कार्य में सफलता नहीं मिली, पर महात्मा जी और स्वराजी नेताओं में एक समझौता अवश्य हो गया जिसके अनुसार जबकि महात्मा जी को अपनी सारी शक्ति खादी और साम्प्रदायिक एकता में लगानी थी, स्वराजियों को देश की राजनीतिक बागडोर अपने हाथ में लेनी थी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी राजनीतिक समस्याओं को हल करना था। दोनों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करना था। कुछ व्यक्तियों ने इसका अर्थ यह लगाया कि महात्मा जी सक्रिय राजनीति से अवकाश ग्रहण करना चाह रहे हैं और कहना प्रारम्भ किया कि उनका जनता पर प्रभाव कम होता जा रहा है। यह विचार नितान्त ग़लत था। वे रचनात्मक कार्य द्वारा देश को भद्र अवज्ञा आन्दोलन के लिये तैयार कर रहे थे; वे राजनीति से कभी पृथक् नहीं हुए और जैसा कि बाद की घटनाओं से मालूम होता है जनता पर उनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। वे सिर्फ अपना समय निकाल रहे थे।

१९२३ और १९२४ के साम्प्रदायिक दंगों का ज़िक्र भी यहाँ ज़रूरी है। अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे प्रारम्भ हो गये और साम्प्रदायिक द्वेषभाव व तनातनी देश में बढ़ने लगी। मुसलमानों ने तबलीग़ और तंजीम तथा हिन्दुओं ने शुद्धि और संगठन के आन्दोलन प्रारम्भ किये। महात्मा जी ने इससे उद्विग्न और संतप्त होकर 'एकता-सम्मेलन' बुलाया। सितम्बर १९२४ में दिल्ली में इसका अधिवेशन हुआ जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रमुख नेताओं के अतिरिक्त 'स्टेट्समैन' के सम्पादक श्री आर्थर मूर और भारत के मुख्य पादरी (Metropolitan) डाक्टर वेस्टकाट भी सम्मिलित हुए। जिस समय सम्मेलन चल ही रहा था महात्मा जी ने दोनों सम्प्रदायों के सदस्यों के दुष्कृत्यों के प्रायश्चित्तस्वरूप २१ दिन का अनशन करने की घोषणा की। सम्मेलन ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की वृद्धि के लिये सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया पर उसका कुछ फल न हुआ।

इससे कुछ पूर्व मुस्तफा कमाल पाशा, जो तुर्की के शत्रुओं को सफलतापूर्वक पराजित करके उदीयमान तुर्की गणराज्य का प्रेज़ीडेंट बन गया था, खिलाफत को नष्ट कर चुका था। इसने खिलाफत आन्दोलन को निष्प्राण सा कर दिया। अनेक कमेटियां जो इसके कार्य को चलाने के लिये बनाई गई थीं समाप्त हो गईं और इनमें लगे मुसलमान बड़ी संख्या में कांग्रेस से नाता तोड़कर प्रतिक्रियावादी संस्थाओं में जा मिले। मुस्लिम लीग जो खिलाफत आन्दोलन में छिप सी गई थी अब फिर सजीव और सजग हो उठी। इस तरह मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद जो असहयोग के दिनों में लुप्तप्राय हो गया था अब फिर से जाग उठा।

१९२५, १९२६, और १९२७ में राष्ट्रीय आन्दोलन में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। महात्मा जी अपने रचनात्मक कार्यक्रम में व्यस्त रहे और इसके आधार पर उन्होंने देश के समस्त राजनीतिक दलों को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया पर उदारवादी खादी के कार्यक्रम में शरीक नहीं हुए। श्रीमती बीसेंट ने अपने 'कामनवेल्थ आफ इंडिया बिल' के लिये, जिसे वे बतौर प्राइवेट विधेयक के ब्रिटिश संसद में पेश कराना चाहती थीं, कांग्रेस की सहायता लेने का प्रयत्न किया पर उन्हें अपने कार्य में सफलता नहीं मिली। १९२५ में भारत सरकार ने भारतीय सेना में भारतीयकरण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भावनाओं की जांच पड़ताल करवाने के लिये स्कीन कमीशन की नियुक्ति की। स्वराज दल की एक जैसी अड़ंगा नीति के बावजूद पण्डित मोतीलाल नेहरू ने इसका सदस्य होना स्वीकार कर लिया। स्कीन कमीशन ने अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट में सेना के आधे भाग का आगामी २५ वर्षों में भारतीयकरण करने की सिफारिश की। सरकार ने एक न एक बहाना बनाकर इसकी सिफारिशों पर अमल नहीं होने दिया और इसके लिये पैसे का प्रबन्ध करने से इन्कार कर दिया। इससे उदारवादियों को भी निराशा हुई और उन्होंने ब्रिटिश जनता की सहायता और सहयोग से स्वराज प्राप्त करने के स्वप्न देखने छोड़ दिये।

साइमन कमीशन:— स्वराज दल का जन्म देश के राजनीतिक इतिहास में संकटापन्न समय में हुआ था। सरकार के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना को जीवित रखकर तथा जनता के उत्साह को बढ़ाकर इसने देश की महान् सेवा की। लेकिन जब इसके कार्यक्रम की नवीनता और आकर्षण समाप्तप्राय हो गये और इसका कौंसिल मोर्चा पुराना पड़ गया तो देश में एक भारी राजनीतिक उदासी सी छा गई। देशबन्धु चित्तरंजन दास के स्वर्गवास के उपरान्त तो देश के कोने कोने में निर्जीवता अनुभव होने लगी; इस समय देश के सम्मुख कोई प्रेरणाशील एवं उत्तेजक कार्यक्रम न था। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने एक भारी गलती की जिसने भारतीय राजनीतिज्ञों को देशव्यापी आन्दोलन के लिये अच्छा अवसर प्रदान किया: यह थी सर साइमन की अध्यक्षता में गोरे कमीशन की नियुक्ति।

नवम्बर १९२७ में भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन ने १९१९ के भारत सरकार अधिनियम की धारा ८४ (क) के मातहत एक भारतीय कमीशन नियुक्त करने की घोषणा की। इस धारा में प्रत्येक दस वर्ष के बाद भारत की राजनीतिक स्थिति की जाँच पड़ताल करने के लिये कमीशन बिठाने का आयोजन था। साधारणतया १९२१ में सुधारों के लागू किये जाने के बाद दूसरा कमीशन १९३१ में नियुक्त किया जाना चाहिये था। पर ग्रेट ब्रिटेन की टोरी सरकार इस कार्य को अपनी उत्तराधिकारी मज़दूर सरकार के लिये, जिसकी आगामी चुनावों के बाद बनने की आशा थी, नहीं छोड़ना चाहती थी और स्वयं ही इसे निबटाने के लिये उत्सुक थी। अनुदार दल वालों को भय था कि मज़दूर सरकार भारतीयों को स्वराज्य के सम्बन्ध में कहीं और रियायतें न दे दे। भारतीयों को निश्चित समय से कुछ वर्ष पूर्व कमीशन बिठाये जाने पर कोई आपत्ति न थी। उन्हें जिस बात पर आपत्ति थी और जिसने सारे देश को आन्दोलित कर डाला वह इसकी रचना व बनावट थी। भारत मन्त्री लार्ड बर्कनहैड ने ब्रिटिश संसद के एक सदस्य की अध्यक्षता में अंगरेज़ों और भारतीयों का एक सम्मिलित कमीशन न बिठा कर एक ऐसा कमीशन नियुक्त किया जिसके सातों सदस्य अंग्रेज़ थे। यद्यपि यह कमीशन भारत के भावी विधान के स्वरूप एवं आकृति को निर्धारित करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये बनाया गया था, भारतीयों को जानबूझ कर इससे पृथक् रक्खा गया। लार्ड बर्कनहैड को पहिले ही बता दिया गया था कि ऐसे विषय पर जिसका भारतीयों से घनिष्ठ सम्बन्ध है विशुद्ध गोरे कमीशन की नियुक्ति विपत्ति को आमन्त्रित करना है। पर उसने इस चेतावनी की तनिक भी परवाह न की और राष्ट्रीय भावना को भारी ठेस पहुँचाई। कमीशन में भारतीय सदस्यों को सम्मिलित न करने के पक्ष में भारत मन्त्री ने यह युक्ति दी कि देश में परस्पर विरोधी विचारों के अनेक दलों की उपस्थिति में उसके लिये दूसरों को अप्रसन्न किये बग़ैर कुछ भारतीयों का चुनना असम्भव था। उसके अनुसार भारतीयों के आन्तरिक मतभेद उनके सम्मेलन से पृथक् रक्खे जाने का प्रमुख कारण थे।

इस घोषणा की न सिर्फ कांग्रेसियों ने अपितु उदारवादियों तथा अन्य दल वालों ने भी जिनसे सरकार को सहयोग की पूर्ण आशा थी, एक स्वर से निन्दा की। सरकार को पहिले से विदित था कि कांग्रेस साइमन कमीशन का— भारतीय कमीशन इसी नाम से प्रसिद्ध था क्योंकि सर जान्ह साइमन इसके अध्यक्ष थे— बहिष्कार करेगी; यह कांग्रेस के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त (Principle of self-determination) में पूर्ण विश्वास का स्वाभाविक परिणाम था जिसका कमीशन की रचना ने प्रतिकार किया था। पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह आशा न थी कि उदार दल वाले भी इसका बहिष्कार करेंगे, उनका कमीशन के बहिष्कार का निश्चय सरकार के लिये एक महान् एवं दुःखद आश्चर्य था। इलाहाबाद के दैनिक पत्र 'लीडर' के अनुसार कमीशन भारत का अपमान और अवमानना थी और भारतीय लोकमत, भारतीय प्रतिभा, शक्ति एवं भारतीय आत्म-सम्मान का महान् तिरस्कार था। सर तेज बहादुर सप्रू के शब्दों में भारतीयों का कमीशन में सम्मिलित न किया जाना 'भारतीय जनता का तिरस्कार था क्योंकि इसने न सिर्फ उसे निम्न स्थिति ही प्रदान की अपितु इससे भी बढ़कर अपने देश के विधान के निर्धारण में भाग लेने के अधिकार से भी उसे वंचित कर दिया।' परिणामतः जहाँ जहाँ भी कमीशन गया वहाँ उसका हड़तालों, काले झण्डों और 'साइमन वापिस जाओ' के नारों से स्वागत हुआ। सरकार ने इसके विरुद्ध प्रदर्शन करवाने का प्रयत्न किया पर उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिली। इसके उपरान्त इसने पुलिस की सहायता से दमन का सहारा लिया। अनेक स्थानों पर प्रदर्शनकारियों को लाठी और डंडों का खुला प्रयोग करके तितर बितर करने का प्रयत्न किया गया। लाहौर में पुलिस ने शान्त प्रदर्शनकारियों पर, जिनका लाला लाजपतराय नेतृत्व कर रहे थे, लाठी वर्षा की। एक गोरे पुलिस कर्मचारी ने लाला जी की छाती पर प्रहार किया जिससे उनके हृदय पर गहरी चोट आई। इसी के परिणामस्वरूप यह महान् देशभक्त कुछ सप्ताह पश्चात् संसार से कूच कर गया। यह भारतीय राष्ट्रीयता की अवज्ञा थी और क्रान्तिकारियों ने इसका एक पुलिस कर्मचारी (सैन्डर्स) की, जिसे उन्होंने गलती से लाला जी पर लाठी प्रहार करने वाला समझा, हत्या करके प्रतिशोध लिया। लखनऊ में पंडित जवाहरलाल नेहरू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और पंडित गोविन्द बल्लभ पंत के साथ भी यही व्यवहार हुआ। इनके विस्तृत विवरण में जाने की यहां कोई आवश्यकता नहीं। हमारे प्रयोजन के लिये मुख्य बात जिसे हमें अपने सामने रखना है वह यह है कि भारत के सभी दल कमीशन के बहिष्कार में एकमत थे। सरकार कुछ सम्प्रदायवादियों और सरकारपरस्तों को ही कमीशन के सामने पेश करने और उनकी गवाही दिलवाने में सफल हो सकी। कई दृष्टियों से कमीशन का आगमन परमात्मा की इच्छा थी।

साइमन रिपोर्ट :— विरोधी प्रदर्शन के बावजूद कमीशन ने अपना कार्य अच्छी तरह सम्पन्न किया। यह दो बार भारत आया और इसे अपनी रिपोर्ट को तैयार करने में दो वर्ष से अधिक समय लगा जो मई १९३० में प्रकाशित हुई। यह स्वीकार करते हुए भी कि यह भारत की दृष्टि से अत्यन्त असन्तोषप्रद एवं निराशाजनक थी, यह मानना होगा कि इस पर व्यवसाय और परिश्रम की छाप अंकित थी। कोई भी व्यक्ति कूपलैण्ड के इस निर्णय से सहमत हो सकता है कि 'यह भारतीय समस्याओं का सब से अधिक सम्पूर्ण अध्ययन था' और 'इसने राजनीति-शास्त्र के पुस्तकालय को एक और उच्च कोटि की रचना प्रदान की।' 'रिपोर्ट में भारतीयों के लिये सभ्य एवं शिष्ट शब्द प्रयुक्त किये गये हैं जो मानव जीवन के प्रति उदासीन दृष्टिकोण में जो सरकारी प्रकाशनों में प्रायः मिलता है युगान्तर पैदा कर देते हैं और इस प्रकार इसे हमारे सम्मुख एक वांच्छनीय परिवर्तन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसमें शासक जाति की मनोवृत्ति से दूर रहने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है।'* इसका सब से बड़ा गुण यह था कि इसने भारतीय राजनीति की समस्त कठिनाइयों और समस्याओं पर प्रकाश डाला। इसने देश की रक्षा और उस पर ब्रिटिश राज के प्रभाव, जातिगत एवं साम्प्रदायिक मतभेद और भारत के वैधानिक पुनर्निर्माण में भारतीय रियासतों की स्थिति इत्यादि अनेक प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट किये। इसका सब से बड़ा दोष यह था कि इसने अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन से देश में पैदा हुए परिवर्तन और जनता की अभिलाषाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ण उपेक्षा की। 'इसने उस भारत को अपने सम्मुख रक्खा जो मैंने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भ होने से पूर्व ३० साल पहिले, जब मैं यहाँ से बाहर गया, देखा था; राष्ट्रीय जागृति के परिणामस्वरूप, उदीयमान युवक भारत का इससे परिचय नहीं मिलता।'† कमीशन प्रगतिशील नवीन भारत को नहीं देख पाया क्योंकि इसके सदस्य जनता से सम्पर्क नहीं स्थापित कर सके। उन्होंने जिस भारत को देखा वह सरकारी भारत था।

भारतीय राजनीतिक अवस्थाओं का सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त कमीशन इस परिणाम पर पहुँचा कि १९१९ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रारम्भ किया गया स्वशासन का परीक्षण आंशिक रूप से द्विविध-शासन पद्धति

---

* एण्ड्रूज़ : 'इण्डिया एण्ड दि साइमन कमीशन', पृष्ठ ३९

† एण्ड्रूज़ : 'इण्डिया एण्ड दि साइमन कमीशन', पृष्ठ ४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्वाभाविक कमज़ोरियों और आंशिक रूप से साम्प्रदायिक विरोध के कारण सफल नहीं हो सका; 'जिस विश्वास ने भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना के लिये प्रेरणा दी थी वह सत्य नहीं सिद्ध हुआ।' ‡ संसदीय संस्थाओं की स्थापना के प्रयत्न को मध्य में ही छोड़ देने की बनिस्बत कमीशन ने प्रान्तों में एकदम पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने की सिफारिश की। कमीशन का विश्वास था कि कानून और व्यवस्था को कायम रखने की ओट में उत्तरदायित्व का रोकना उत्तरदायी शासन का प्रतिकार करना है। इसलिये कमीशन ने सिफारिश की कि कानून और व्यवस्था सहित समस्त प्रान्तीय विषय लोकप्रिय मंत्रियों को सुपुर्द कर दिये जाने चाहियें। पर उसका यह भी विचार था कि ऐसी अवस्था में अभिरक्षण (Safeguards) भी आवश्यक हैं। अतः प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ इसने गवर्नरों को महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मंत्रियों के परामर्श को न मानने और प्रान्तीय सरकारों पर भारत सरकार के पूर्ण नियन्त्रण के कायम रखने की भी सिफारिश की। कमीशन ने धारासभाओं के विस्तार तथा मताधिकार के व्यापक बनाने की भी राय दी। इसके अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से होने थे तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पूर्ववत् जारी रहना था।

केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में इसने उत्तरदायित्व की लोकप्रिय मांग की छानबीन की पर इसे स्वीकार नहीं किया; यहाँ तक कि इसने केन्द्र के लिये द्विविध शासन पद्धति के विचार का स्वागत भी नहीं किया। इसकी इस मनोवृत्ति का कारण इसकी प्रशासन की एकता को बनाये रखने और उसे व्यवस्थापिका सभा के आधिपत्य से स्वतन्त्र रखने की इच्छा थी। पर कमीशन का यह विचार न था कि केन्द्र में ग़ैर-ज़िम्मेवार शासन इसी प्रकार हमेशा चलता रहे; रक्षा के प्रश्न के सन्तोषजनक रूप से हल हो जाने के बाद यह केन्द्र में भी उत्तरदायी शासन जारी किये जाने के पक्ष में था। इसने सुदूर भविष्य में भारत के लिये एक संघात्मक विधान की कल्पना भी की जिसमें ब्रिटिश भारत के समस्त प्रान्त और भारतीय रियासतें दोनों शामिल हों। इसने संघीय व्यवस्थापिका सभा के लोकप्रिय आगार के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति की सिफारिश की। भारतीय संघ के निर्माण से पूर्व इसने एक बृहत्तर भारत परिषद् स्थापित करने की राय दी जो ब्रिटिश भारत एवं भारतीय रियासतों दोनों का प्रतिनिधित्व करे और उनकी सामान्य समस्याओं का समाधान भी करे।

ये थीं साइमन कमीशन की सिफारिशें। औपनिवेशिक स्वराज्य देना तो दूर, इसने केन्द्र में उत्तरदायित्व तक नहीं दिया। जिस प्रान्तीय स्वतन्त्रता की इसने सिफारिश की वह गवर्नरों की विशेष शक्तियों से सीमित होने के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से भी मुक्त न थी। इसके अनुसार भारतीय सेना सम्राट् की सरकार की अधीनता में

‡ कूपलैण्ड : 'इण्डिया ए रिस्टेटमेंट', पृष्ठ १३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहनी थी यद्यपि उसका व्यय भारतीय करदाताओं पर पड़ना था। भारत ने मांगी थी रोटी, मिले उसे पत्थर। यही कारण था कि इसका किसी ने स्वागत नहीं किया और सभी ने एक स्वर से इसकी निन्दा की। सर शिवस्वामी अय्यर का यह कथन कि यह 'फटे काग़ज़ों की ढेरी में रखने योग्य है' भारतीयों की आम राय का द्योतक है। ग्रेट ब्रिटेन की मज़दूर सरकार ने भी इसे बहुत महत्व नहीं दिया और प्रथम गोल मेज़ परिषद ने इस पर विशेष ग़ौर नहीं किया। अनुदार सरकार के भारत मंत्री सर सैम्युअल होर ने इसे फिर से जीवित किया और १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में इसकी अनेक सिफारिशें सम्मिलित की गईं।

नेहरू रिपोर्ट :— गोरे कमीशन की नियुक्ति की भारतीय राजनीति पर एक और सुखद प्रतिक्रिया हुई। भारत मंत्री लॉर्ड बर्कनहैड ने कमीशन की नियुक्ति पर भाषण देते हुए कमीशन में भारतीयों के सम्मिलित न किये जाने को न्यायसंगत बताया और भारतीयों को देश के लिये एक सर्वसम्मत विधान तैयार करके उसे ब्रिटिश संसद के सम्मुख प्रस्तुत करने की चुनौती दी। इस चुनौती का आधार भारत मंत्री का यह विश्वास था कि भारतीय मिलकर एक विधान नहीं बना सकते। ऐसे वातावरण में जबकि देश के सभी दल गोरे कमीशन का मिलकर विरोध कर रहे थे भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया और जबकि अभी कमीशन भारत का दौरा कर ही रहा था एक सर्वदल सम्मेलन बुलाया जिसकी पहिली बैठक फरवरी १९२८ में हुई। सम्मेलन ने विधान का मसविदा तैयार करने के लिये पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक उप-समिति नियुक्त की। सर तेजबहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्री एम. एस. अणे, सरदार मंगलसिंह, श्री श्वैब कुरेशी, श्री जी. आर. प्रधान और श्री सुभाषचन्द्र बोस इसके सदस्य थे। इस उप-समिति ने एक ऐतिहासिक रिपोर्ट पेश की जो भारतीय इतिहास में 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। डाक्टर ज़करिया के शब्दों में 'यह एक उच्चकोटि की' रिपोर्ट थी जिससे राजनीतिक बुद्धिमत्ता का आभास मिलता है। इसने देश की सब मुख्य समस्याओं पर योग्यता और अन्तर्दृष्टि से विचार किया और उन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनके आधार पर उनका हल किया जाना था। विधान के आधार के अतिरिक्त अन्य सब प्रश्नों पर इसकी सिफारिशें सर्वसम्मत थीं। इसका बहुमत औपनिवेशिक स्वराज्य के पक्ष में था पर अल्पमत भारत के लिये पूर्ण स्वराज्य चाहता था। रिपोर्ट ने इन दोनों का मध्य-मार्ग जो समझौते के रूप में था, अपनाया। इसने औपनिवेशिक स्वराज्य अन्तिम उद्देश्य के रूप में नहीं अपितु तात्कालिक ध्येय के रूप में स्वीकार कर लिया। पर इसने उन सब दलों को जो पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य में विश्वास करते थे, कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी। यद्यपि यह भविष्य में ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के संघ के विचार से सहमत थी, इसने अपने को मुख्यतया ब्रिटिश भारत की समस्याओं तक ही सीमित रक्खा। तथापि इसने सलाह दी कि भारत की नवीन उत्तरदायी सरकार के संघ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन की स्थापना तक भारतीय रियासतों के प्रति वही अधिकार और कर्तव्य होने चाहियें जो इससे पहिले ब्रिटिश भारत की सरकार के थे। ब्रिटिश भारत के लिये इसने स्वायत्त उपनिवेशों की तरह पूर्ण उत्तरदायी शासन की सिफारिश की। कार्यपालिका शक्ति इंगलैंड के बादशाह में निहित थी पर गवर्नर-जनरल को उसके प्रतिनिधि के रूप में उसका प्रयोग करना था। गवर्नर-जनरल के लिये लोक-प्रिय मंत्रियों के परामर्श पर और वैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करना आवश्यक था। व्यवस्थापिका सभा द्विआगारिक होनी थी और मंत्रिमंडल उसके प्रति उत्तरदायी था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लोकप्रिय आगार का निर्माण प्रत्यक्ष निर्वाचन और वयस्क मताधिकार के आधार पर होना था। दूसरे आगार का प्ररोक्ष चुनाव रक्खा गया था। व्यवस्थापिका सभा को सेना के बजट पर बहस करने और मत देने का भी अधिकार दिया गया था। भारतीय सेना धारा सभा के प्रति ज़िम्मेवार एक हिंदुस्तानी मंत्री के नियंत्रण में रहनी थी। केन्द्रीय सर्विसेज़ पर भी केन्द्रीय धारासभा का अधिकार रहना था। इसी प्रकार प्रान्तों के लिये भी पूर्ण उत्तरदायी शासन की सिफारिश की गई थी। रिपोर्ट ने केन्द्र और प्रान्तों में शक्तियों के विवरण के सम्बन्ध में भी एक योजना बनाई और अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को देने की सलाह दी। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के टेढ़े प्रश्न पर रिपोर्ट ने अनेक बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्श दिये। इसने अल्पसंख्यक दलों के लिये आबादी के आधार पर स्थानों के आरक्षण (Reservation of Seats) के साथ संयुक्त निर्वाचन समूह का प्रस्ताव रक्खा और उन्हें अन्य स्थान के लिये चुनाव लड़ने का भी अधिकार दिया। पंजाब और बंगाल में किसी भी सम्प्रदाय के लिये स्थान सुरक्षित नहीं रक्खे जाने थे। रिपोर्ट ने नागरिकों के १९ मूलभूत अधिकारों का भी उल्लेख किया जिन्हें क़ानून का रूप दिया जाना था। इसने हिन्दू बहुमत प्रान्तों के साथ मुस्लिम बहुमत प्रान्तों का सन्तुलन करने के लिये भाषा के आधार पर नये प्रांतों के निर्माण की भी सिफारिश की। 'नेहरू रिपोर्ट को विस्तारपूर्वक पढ़ा जाना चाहिये क्योंकि यह प्रत्येक विषय पर जिसका यह ज़िक्र करती है प्रकाश डालती है और सामान्य व्यवहारिक बुद्धि से, जो न अपने को सैद्धान्तिक कल्पनाओं में खोती है और न निरर्थक बातों का आश्रय लेती है, परिपूर्ण है।'*

गाँधी जी ने फिर कांग्रेस का नेतृत्व सम्हाला:— सर्वदल सम्मेलन ने अगस्त १९२८ को लखनऊ में नेहरू-रिपोर्ट को सर्वसम्मति से पास किया था। पर सर्वदल सम्मेलन में भाग लेने वाले विभिन्न दलों की संस्थाओं के सामने जब यह रिपोर्ट स्वीकृति के लिये पेश हुई तो कई प्रकार की कठिनाइयां सामने आईं। अनेक संस्थाओं ने इस पर संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करना प्रारम्भ किया। मुस्लिम लीग के नेताओं में इस प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद था। राष्ट्रवादी मुसलमानों का दल जिसमें डाक्टर

* ज़करिया : 'रिनेसेंट इण्डिया', पृष्ठ २५१—२५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्सारी, हकीम अजमल खाँ और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद सरीखे व्यक्ति सम्मिलित थे, इसे पूर्णतया स्वीकृत करने के पक्ष में था; दूसरा दल जिसके नेता सर मुहम्मद शफी थे, इसे पूर्णतया अस्वीकृत करना चाहता था और कमीशन के साथ सहयोग करने के पक्ष में था; तीसरा दल श्री जिन्ना के नेतृत्व में इसमें कुछ ऐसे संशोधन करवाना चाहता था जो इसके वास्तविक स्वरूप को ही नष्ट कर देते थे। भारतीय मुसलमानों की तरफ से 'मुस्लिम कान्फरेन्स' ने मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचक समूह, आबादी के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व तथा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय मंत्रिमंडलों में उचित स्थानों की माँग की। इसने यह भी माँग की कि अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों के पास रहें। सिर्फ मुस्लिम संस्थाएँ ही रिपोर्ट पर एकमत न थीं, स्वयं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी इस पर विभक्त थी; कांग्रेस का युवक दल जिसके नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस थे, इसे पूर्ण-स्वतन्त्रता के आधार पर ही स्वीकार करने को तय्यार थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस का पुराना दल इसे पूर्णतया स्वीकार करना चाहता था। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में जब पूर्ण स्वतन्त्रता और औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रश्न विचारार्थ प्रस्तुत हुआ तो ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद पण्डित मोतीलाल नेहरू जो औपनिवेशिक स्वराज के पक्ष में थे, अपना प्रस्ताव कांग्रेस से न पास करा सकें। इस अवसर पर महात्मा गांधी ने बीच में पड़कर समझौते के रूप में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें नेहरू रिपोर्ट को पूर्णतया स्वीकार करने का आग्रह किया गया बशर्ते कि ब्रिटिश संसद १९२९ से पूर्व इसे कार्यान्वित कर दे। महात्मा जी का प्रस्ताव जिसे कांग्रेस ने पास किया निम्न था :—

"सर्वदल सम्मेलन (नेहरू कमेटी) की रिपोर्ट में शासन विधान की जो योजना पेश की गई है उस पर विचार करके कांग्रेस उसका स्वागत करती है और उसे भारत की राजनीतिक व साम्प्रदायिक समस्याओं को हल करने में बहुत अधिक सहायता देने वाली मानती है; और अपनी सब सिफारिशों को सर्व-सम्मति से पास करने के लिये कमेटी को बधाई देती है। और यद्यपि यह कांग्रेस मद्रास कांग्रेस के पूर्ण स्वाधीनता के निश्चय पर क़ायम है, फिर भी यह कमेटी द्वारा तय्यार किये गये विधान को राजनीतिक प्रगति की दिशा में एक बड़ा पग मानकर उसे मंजूर करती है विशेषतः इस विचार से कि देश के मुख्य मुख्य राजनीतिक दलों में जितना अधिक से अधिक मतैक्य हो सका है, उसका वह सूचक है।

"अगर ब्रिटिश संसद इस विधान को ज्यों का त्यों ३१ दिसम्बर १९२९ तक या उसके पहिले स्वीकार करले तो यह कांग्रेस इस विधान को अपना लेगी, बशर्ते कि राजनीतिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो। लेकिन यदि उस तारीख तक ब्रिटिश संसद उसे मंजूर न करे या इसके पहिले ही उसे नामंजूर कर दे तो कांग्रेस देश को करबन्दी की सलाह देकर और अन्य उपायों द्वारा जिनका वह बाद में निश्चय करेगी, अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलायगी।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार देश के सक्रिय राजनीतिक जीवन में महात्मा जी ने पुनः प्रवेश किया और उन्हीं के साथ १९२२ में स्थगित किये गये अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के पुनरुज्जीवित किये जाने की सम्भावना भी पैदा हो गई। यहां यह बताना आवश्यक है कि १९२८ के कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन से कुछ समय पूर्व बारदोली के किसानों ने श्री वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में सरकार की ओर से लगान बढ़ाये जाने के विरुद्ध करबन्दी सत्याग्रह किया था और इसमें विजय भी पाई थी। जिस योग्यता से श्री पटेल ने इस सत्याग्रह का नेतृत्व किया वह वस्तुतः सराहनीय है और इस पर देश ने उन्हें सरदार की उपाधि से सम्मानित किया।

१९२८-२९ की घटनायें :— १९२८ और १९२९ में कांग्रेस में वामपक्ष का प्रादुर्भाव हुआ। १९२७ में मद्रास कांग्रेस के अधिवेशन में कांग्रेस के ध्येय के रूप में पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव का पास होना और नेहरू रिपोर्ट का इस आधार पर विरोध कि इसने भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की है, यह दोनों ही घटनायें वामपक्षी मनोवृत्ति की द्योतक हैं। देश के युवकों में इस समय अभूतपूर्व जागृति दृष्टि-गोचर हुई। देश में अनेक स्थानों पर मज़दूरों ने हड़ताल की। बम्बई की कपड़े की मिलों, कलकत्ते के पटसन के कारखानों और जमशेदपुर के लोहे के व्यवसाय में इन हड़तालों का विशेष ज़ोर रहा। बम्बई की कपड़े की मिलों की हड़ताल का नेतृत्व शहर के कुछ शिक्षित साम्यवादियों (Communists) ने किया। सरकार इससे बहुत घबरा गई। और उसने ठीक समय पर देश के साम्यवादी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और उन पर सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के अभियोग में मुक़दमा चलाया। यह मुक़दमा साम्यवादी षड्यन्त्र केस के नाम से प्रसिद्ध है और यह मेरठ में चला। इसके परिणाम-स्वरूप २७ व्यक्तियों को कारावास की विभिन्न सज़ायें मिलीं।

लार्ड इरविन की घोषणा :— इस समय की दूसरी घटना जिसका यहाँ जिक्र करना आवश्यक है, ग्रेट ब्रिटेन के आम चुनाव हैं जो मई १९२९ में हुए और जिनके परिणामस्वरूप इङ्गलैण्ड में मज़दूर सरकार स्थापित हुई। मज़दूर दल चुनाव में विजयी अवश्य हुआ था पर ब्रिटिश लोकसभा में इसका पूर्ण बहुमत न था; इसने सरकार अवश्य बना ली थी पर शक्ति इसके हाथ में न थी। हमारे देश की राजनीतिक स्थिति पर इसका बहुत प्रभाव हुआ। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री मैकडानल्ड ने श्री वेजवुड बैन को भारत मन्त्री नियुक्त किया। नवीन भारत मन्त्री ने भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड इरविन को भारतीय समस्याओं पर विचार विनिमय करने और 'उन व्यक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोणों को जो भारतीय राजनीतिक लोकमत का प्रतिनिधित्व करते हैं, सम्राट् की सरकार तक पहुँचाने के लिये लन्दन बुलाया।' लार्ड इरविन जून से अक्टूबर तक लन्दन में रहे। वहां से वापिस आने पर उन्होंने ३१ अक्टूबर को सम्राट् की सरकार की तरफ से एक घोषणा की। इसे कलकत्ता कांग्रेस द्वारा पास किये गये प्रस्ताव का, जिसमें ब्रिटिश सरकार को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार करने के लिये एक वर्ष का समय दिया गया था, सरकारी उत्तर समझा जा सकता है। घोषणा निम्न शब्दों में समाप्त हुई : 'मुझे ब्रिटिश सरकार की ओर से स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करने का अधिकार दिया गया है कि सरकार की राय में १९१७ की घोषणा में यह बात अन्तर्निहित है कि भारत की वैधानिक प्रगति की स्वाभाविक समस्या, जैसा इसे उस समय समझा गया, औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति है।' घोषणा में साइमन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के एकदम बाद लन्दन में एक गोल मेज़ परिषद् करने का भी आश्वासन दिया गया जिसमें ब्रिटिश सरकार और भारतीयों के प्रतिनिधि साथ मिलकर साइमन रिपोर्ट तथा भारत की वैधानिक समस्या के सम्बन्ध में सुझाये गये अन्य प्रस्तावों पर बहस करेंगे। सरकार का गोल मेज परिषद को बिठाने का प्रयोजन 'सरकार की ओर से ब्रिटिश संसद के सम्मुख पेश होने वाले अन्तिम सुधार-प्रस्तावों पर सब दलों की अधिकाधिक सहमति प्राप्त करना था।'

घोषणा में शब्दों का प्रयोग बहुत सावधानी से किया गया था; इससे यह नहीं प्रतीत होता था कि हिन्दुस्तान को तत्काल औपनिवेशिक स्वराज दिया जाना है। एक बात तथापि बहुत स्पष्ट थी और डाक्टर ज़करिया के शब्दों में वह यह थी कि श्री वेजवुड बैन और लार्ड इरविन दोनों ही भारतीय समस्या का 'न्याय की वास्तविक इच्छा, प्रयोजन की सच्चाई और समानता की स्वाभाविक भावना के साथ' अध्ययन कर रहे थे।

वायसराय की घोषणा के २४ घण्टे बाद ही देश के बड़े राजनीतिज्ञ दिल्ली में एकत्रित हुए। एकत्रित नेताओं में सभी विचारों के नेता सम्मिलित थे। कांग्रेस कार्य समिति (Congress Working Committee) के सदस्यों के अतिरिक्त सर तेज बहादुर सप्रू भी वहाँ उपस्थित थे। घोषणा का सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त नेताओं ने इसके उत्तर में एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिस पर दूसरों के अतिरिक्त महात्मा गांधी, पण्डित मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर अन्सारी, पंडित मदनमोहन मालवीय, सरदार वल्लभभाई पटेल, डाक्टर मुँजे, श्रीमती एनी बीसेंट, सर तेज बहादुर सप्रू, और माननीय श्रीनिवास शास्त्री के भी हस्ताक्षर थे। इसमें घोषणा की सच्चाई और ब्रिटिश सरकार की भारतीय लोकमत को खुश करने की इच्छा की प्रशंसा की गई और ब्रिटिश सरकार को आश्वासन दिया गया कि देश के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना तैयार करने के प्रयत्न में भारतीय उसके साथ पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे। नेताओं ने गोल मेज़ परिषद् को, जो उनकी राय में औपनिवेशिक स्वराज्य दिये जाने के समय को निश्चित करने के लिये नहीं अपितु देश को औपनिवेशिक स्वराज्य की एक योजना प्रदान करने के लिये बैठ रही थी, निश्चित रूप से सफल बनाने के लिये राजनीतिक बन्दियों की रिहाई की भी माँग की। वक्तव्य के अन्तिम शब्द निम्न थे : 'हम इस बात को परमावश्यक समझते हैं कि जनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को यह अनुभव कराया जाय कि आज से नया युग प्रारम्भ हो गया है और नया विधान इसी तथ्य का पोषकमात्र होगा। अन्त में हम गोल मेज़ परिषद् की सफलता के लिये यह भी आवश्यक समझते हैं कि इसे जल्द से जल्द बुलाया जाय।'

जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है, वक्तव्य पर प्रभावशाली व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे जिनमें महात्मा गांधी, नेहरू, डाक्टर अन्सारी जैसे राष्ट्रीय मुसलमान तथा सर तेज बहादुर सप्रू और माननीय श्रीनिवास शास्त्री जैसे उदारदली नेता भी सम्मिलित थे। सिर्फ सुभाषचन्द्र बोस और श्रीनिवास आयंगर ने, जो कांग्रेस के वाम पक्ष के नेता थे और देश के लिये पूर्ण स्वराज्य चाहते थे, इसका विरोध किया। पर इनका विरोध बहुत महत्त्वपूर्ण न था, इसका स्वरूप सैद्धान्तिक ही था।

पूर्ण स्वराज्य :— यद्यपि मज़दूर दल के हाथ में शक्ति आने के बाद ब्रिटिश सरकार का भारत के प्रति दृष्टिकोण बदल चुका था और वह भारत को सहायता देने के लिये भी इच्छुक थी, ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं के वक्तव्य का कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। न तो राजनीतिक बन्दियों को ही रिहा किया गया और न वक्तव्य में उठाई गई बातों का स्पष्टीकरण ही किया गया। लार्ड इरविन के कुछ समझदार मित्रों ने उन्हें कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन से पूर्व इशारे के तौर पर कुछ कहने का परामर्श दिया ताकि कांग्रेसी नेता खाली हाथ लाहौर अधिवेशन में न जायं। शीघ्र ही वायसराय, महात्मा गांधी और पण्डित मोतीलाल नेहरू को मिलाने का प्रयत्न किया गया। श्री मुहम्मद अली जिन्ना, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री विट्ठलभाई पटेल भी इस अवसर पर उपस्थित थे। यह मीटिंग दिल्ली में २३ दिसम्बर १९२९ को हुई। वायसराय की ट्रेन को बम से उड़ाने के लिये किये गये दुर्भाग्यपूर्ण प्रयत्न का ज़िक्र करने के बाद महात्मा जी ने वायसराय से पूछा कि क्या सरकार यह आश्वासन दे सकती है कि लन्दन की गोलमेज़ परिषद् औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर भारत के लिये विधान तय्यार करवाने के वास्ते बुलाई जा रही है? घोषणा के इन शब्दों से कि 'भारतीय वैधानिक प्रगति की स्वाभाविक समस्या औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति है' बढ़कर लार्ड इरविन और कोई आश्वासन न दे सके। वे इस स्थिति में भी न थे कि गांधी जी को लन्दन की प्रस्तावित गोलमेज़ परिषद् के लिये निमंत्रण देते और उनसे औपनिवेशिक स्वराज्य देने की प्रतिज्ञा करते। अतः महात्मा जी और मोतीलाल जी को खाली हाथ लाहौर वापिस आना पड़ा।

क्योंकि श्री चर्चिल, लार्ड बर्कनहैड, लार्ड रीडिंग और दूसरे टोरी नेताओं ने वायसराय की ३१ अक्टूबर की घोषणा का सख्त विरोध किया था, लार्ड इरविन के लिये भारतीय नेताओं को यह आश्वासन देना असम्भव हो गया कि लन्दन की गोलमेज़ परिषद् औपनिवेशिक आधार पर भारत के लिये विधान तय्यार करने के लिये बुलाई जा रही है। श्री चर्चिल ने तो भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिये जाने के विचार को जुर्म बताया। यद्यपि उस समय ब्रिटेन में मज़दूर दल की सरकार थी पर शक्ति उसके हाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में न थी; अतः भारतीय प्रश्न को लेकर वह अपने अस्तित्व को ख़तरे में न डालना चाहती थी। इसलिये मज़दूर दल के नेताओं ने भारत को तत्काल औपनिवेशिक स्वराज्य देने के प्रश्न को टालमटोल करके टोरियों को अपने साथ रखने की चेष्टा की।

महात्मा गांधी ने अनुभव किया कि मज़दूर सरकार में भारत के प्रति अपनी नीति को कार्यान्वित करने की शक्ति नहीं है और वह तब तक भारतीय मांगों को स्वीकार न करेगी जब तक उसे यह विश्वास न हो जाय कि इसके सिवाय अब उसके पास और कोई चारा ही नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी अनुभव किया कि देश हिंसात्मक क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रहा है और उसे इससे बचाने का एकमात्र उपाय सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करना है। इसलिये उन्होंने लाहौर कांग्रेस में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें कलकत्ता कांग्रेस में पास हुए प्रस्ताव का अनुसरण करते हुए पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस का ध्येय निश्चित किया। इस प्रस्ताव के प्रमुख भाग निम्न हैं: "यह कांग्रेस स्वराज्य प्राप्ति के लिये चलाये गये राष्ट्रीय आन्दोलन के विषय में वायसराय के समझौते के प्रयत्नों की प्रशंसा करती है। तथापि उस सबको सोचते हुए जो तब से अब तक हुआ है और महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू, अन्य नेताओं और वायसराय में हुई बातचीत के परिणाम को दृष्टि में रखते हुए कांग्रेस की यह राय है कि वर्तमान परिस्थितियों में उसके प्रस्तावित गोलमेज़ परिषद् में सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं मिल सकता। यह कांग्रेस ..... घोषित करती है कि कांग्रेस विधान की पहिली धारा में 'स्वराज' शब्द का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है और आशा करती है कि अब से कांग्रेस के समस्त सदस्य भारत के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने की ओर अपना सारा ध्यान लगा देंगे .....। यह कांग्रेस अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को अधिकार देती है कि जब भी वह उचित समझे, चुने हुए क्षेत्रों में अथवा अन्यत्र भी आवश्यक बचावों के साथ सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन जिसमें करबन्दी सत्याग्रह भी सम्मिलित है, प्रारम्भ कर दे।" इस प्रकार स्वराज्य को प्राप्त करने के लिये दूसरे सत्याग्रह आन्दोलन को चलाने की पूरी तैयारी हो गई। यह आन्दोलन अहिंसात्मक आधार पर और गाँधी जी के नेतृत्व में चलाया जाना था।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की प्रगति के बारे में कुछ लिखने से पूर्व कुछ दूसरी ज़रूरी बातों का ज़िक्र करना भी वाञ्छनीय प्रतीत होता है। पहिली बात तो यह है कि महात्मा जी के प्रस्ताव की उस धारा पर जिसमें लार्ड इरविन को २३ दिसम्बर की सुबह बम दुर्घटना से अकस्मात् बचने के लिये बधाई दी गई थी, बहुत विवाद हुआ। कुछ वक्ताओं का विचार था कि एक राजनीतिक प्रस्ताव में इस प्रकार की धारा के लिये कोई स्थान न था। महात्मा जी के अनुरोध और आग्रह पर यह पास तो हो गया पर बहुत कम मतों से। दूसरी बात यह कि महात्मा जी ने उन व्यक्तियों को जिन्हें १९२२ में चौराचौरी के मामले पर अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के स्थगित कर दिये जाने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपत्ति थी विश्वास दिलाया कि इस बार ऐसा न होगा। २७ फरवरी १९३० के 'यंग इण्डिया' के अंक में गाँधी जी ने एक लेख में लिखा कि 'जबकि हिंसावृत्ति को रोकने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये, भद्र अवज्ञा आन्दोलन एक दफा प्रारम्भ होने के बाद तब तक नहीं रोका जा सकता और न रोका जाना चाहिये जब तक कि देश में एक भी सत्याग्रही जेल से बाहर अथवा जीवित है।' तीसरे, लाहौर षड्यंत्र केस के राजनीतिक बन्दियों ने जिन पर मुकदमा चल रहा था, सरदार भगतसिंह के नेतृत्व में माँग की कि उनके साथ जेल में अन्य साधारण कैदियों की अपेक्षा अच्छा व्यवहार होना चाहिये क्योंकि वे राजनीतिक बन्दी हैं और अभी उनका अभियोग साबित नहीं हुआ है। अपनी माँगों को मनवाने के लिये उन्होंने भूख-हड़ताल का आश्रय लिया। सरकार इस पर मौन साधे रही। भूख-हड़तालियों में से जतीन्द्रनाथ दास का ६४ दिन के उपवास के उपरान्त १३ सितम्बर को देहान्त हो गया। देश ने उनके प्रति आदर व सम्मान प्रदर्शित करके श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। पर महात्मा जी ने अपने साप्ताहिक पत्र 'यंग इण्डिया' में श्री दास का उल्लेख तक भी नहीं किया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन :— लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता को अपना ध्येय घोषित करने के अतिरिक्त एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस के सदस्यों से विभिन्न प्रान्तीय धारा सभाओं से त्यागपत्र देने का भी अनुरोध किया था। इस प्रकार देशबन्धु चित्तरंजन दास द्वारा १९२३ में बनाया गया कौंसिल-मोर्चा समाप्त हो गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के साथ कांग्रेसी धारा-सभाओं में किस प्रकार रह सकते थे! ३१ दिसम्बर की मध्य रात्रि को रावी के तट पर ठिठुरा देने वाली शीत में पर उत्साह, जोश व उत्तेजना से भरे भारी जन-समुदाय के बीच पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वाधीनता का झण्डा फहराया।

स्वतन्त्रता संग्राम में अगला क़दम २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस का मनाया जाना था। इस अवसर पर देश में प्रत्येक शहर, नगर व गाँव में कांग्रेस कार्य समिति द्वारा स्वीकृत स्वाधीनता की प्रतिज्ञा पढ़ी गई जिसे लाखों देशवासियों ने सुना और दोहराया। बहुत लम्बी होने के कारण इसे यहाँ पूरा उद्धृत करना सम्भव नहीं। इसका प्रारम्भिक और अन्त का भाग यहाँ दिया जाता है। इसका प्रारम्भिक भाग निम्न है:—

'हमारा विश्वास है कि अन्य देशवासियों की तरह ही हमारे देशवासियों का भी यह नैसर्गिक अधिकार है कि वे स्वाधीन हों, अपने परिश्रम के फलों का उपभोग करें और उनके पास जीवन की आवश्यक वस्तुएँ भी हों ताकि उन्हें अपने विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हो। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार जनता को इन अधिकारों से वञ्चित रखती है और उस पर अत्याचार करती है तो जनता को ऐसी सरकार को बदलने या उलट देने का भी अधिकार है। ब्रिटिश सरकार ने भारत में जनता को न सिर्फ स्वाधीनता से ही वञ्चित रक्खा है, पर यह जनता के शोषण पर आश्रित है और इसने देश को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से नष्ट कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाला है। अतः हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को ब्रिटेन से अपना नाता तोड़ लेना चाहिये और पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहिये।'

प्रस्ताव का अन्तिम भाग इस प्रकार था :—

'हमारी धारणा है कि जिस शासन ने हमारे देश को चारों प्रकार से नष्ट किया है उसके अधीन रहना मनुष्य और परमात्मा दोनों के प्रति अपराध करना है। तथापि हम स्वीकार करते हैं कि स्वराज्य प्राप्ति का सबसे प्रभावात्मक तरीका हिंसा नहीं है। अतः हम ब्रिटिश सरकार के साथ अपने सब सम्बन्धों को तोड़कर अपने को सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिये, जिसमें करबन्दी सत्याग्रह भी शामिल होगा, तैयार करेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि हम उकसाने वाली परिस्थितियों में भी हिंसा से बचकर सरकार को सब प्रकार की सहायता देना बन्द कर सकते हैं और लगान देना रोक सकते हैं तो इस अमानुषिक शासन का अन्त अवश्यम्भावी है। अतः हम प्रतिज्ञा करते हैं कि आज से हम उन सब निर्देशों का पूर्णतया पालन करेंगे जो कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य स्थापित करने के लिये समय समय पर जारी करेगी।'

तब से हमेशा २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाता रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने तक इस अवसर पर सार रूप में प्रतिज्ञा भी दोहराई जाती रही। १५ अगस्त के साथ, जब देश को स्वतन्त्रता मिली, यह दिवस भी देश के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा।

देश के विभिन्न भागों से पहुंची ख़बरों से मालूम हुआ कि स्वतन्त्रता दिवस अपूर्व उत्साह और जोश के साथ मनाया गया था। लाहौर कांग्रेस में पास हुए प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस के सदस्यों ने धारासभाओं से भी त्याग-पत्र दे दिये थे। कांग्रेस कार्य-समिति ने महात्मा गांधी को आन्दोलन चलाने के लिये पूर्ण अधिकार दे दिये थे। इस प्रकार १९३० के महान और वीरतापूर्ण संग्राम की सब तैयारियाँ हो चुकी थीं।

महात्मा जी ने आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व लार्ड इरविन को एक लम्बा पत्र लिखा। यह सत्याग्रह के नैतिक नियमों की मांग थी। इस पत्र में महात्मा जी ने वायसराय को बताया कि उन्हें भद्र अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का उग्र कदम क्यों लेना पड़ रहा है और सूचित किया कि यदि पत्र में निर्दिष्ट शिकायतों को दूर न किया गया तो वे साबरमती आश्रम के अपने कुछ साथियों के साथ नमक कानून को तोड़कर इस आन्दोलन को प्रारम्भ कर देंगे। महात्मा जी के पत्रवाहक थे उनके एक अंग्रेज़ मित्र श्री रेजीनाल्ड रेनाल्ड्स। ११ मार्च १९३० को उन्होंने यह पत्र लार्ड इरविन को दिया। वाइसराय का उत्तर निराशाजनक था। अतः गांधी जी ने सत्याग्रह प्रारम्भ करने के अपने निश्चय की घोषणा करदी। १२ मार्च को अपने आश्रम के साथियों और गुजरात विद्यापीठ के विद्यार्थियों के साथ, जिनकी संख्या ७९ थी, उन्होंने संसार के सब से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्तिशाली साम्राज्य की अवज्ञा करने और उसे चुनौती देने के वास्ते दंडी के लिये प्रस्थान कर दिया। दंडी पर समुद्र के किनारे नमक इकट्ठा करके नमक-कानून तोड़ा जाना था। दंडी तक की यात्रा पैदल ही की जानी थी। यह दंडी यात्रा ऐतिहासिक घटना हो गई है; श्री सुभाषचन्द्र बोस ने इसकी तुलना एल्बा से लौटने के बाद नैपोलियन की पैरिस यात्रा तथा मुसोलिनी की रोम यात्रा से की है जो शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से की गई थी। प्रैस ने इस यात्रा का विस्तृत प्रकाशन किया। यात्रा के दृश्य, जो इसके प्रारम्भ होने से पूर्व, इसके बीच में और बाद में दृष्टिगोचर हुए, इतने जोशीले, शानदार और हृदयद्रावी थे कि क़लम उनका वर्णन नहीं कर सकती। दंडी यात्रा के विषय में बौम्बे क्रॉनिकिल ने लिखा कि 'मनुष्य जाति के हृदय में राष्ट्रभक्ति की लहर ने इतने ज़ोर से कभी हिलोर नहीं लिये जो इस अवसर पर लिये। भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतहास में इसे महान् आन्दोलन का महान् प्रारम्भ कहा जायगा।'

भारत सरकार ने पहिले इस यात्रा को कोई महत्त्व नहीं दिया; उसे यह आशा न थी कि इसके इतने गम्भीर परिणाम होंगे। आंग्ल-भारतीय पत्रों ने नमक सत्याग्रह के विचार की खिल्ली उड़ाई; स्टेट्समैन ने अपने सम्पादकीय लेख में लिखा कि 'औपनिवेशिक स्वराज्य के मिलने तक महात्मा गांधी समुद्र के पानी को बराबर उबाल सकते हैं।' श्री ब्रेलसफोर्ड ने दंडी यात्रा को 'भारतीय क्रान्ति की प्रारम्भिक अवस्था' बताया। उन्हें इस बात पर हंसी आई कि 'एक बरतन में समुद्र के पानी के उबाले जाने से ब्रिटिश सम्राट् को गद्दी से उतारा जा सकता है।' ऐसे व्यक्ति ६ अप्रैल को जो जलियांवाला बाग की दुर्घटना की स्मृति में मनाये जाने वाले राष्ट्रीय सप्ताह का प्रथम दिवस था, नमक-क़ानून के भंग किये जाने के नैतिक पहलू को समझने में असमर्थ थे। यह समस्त देश में नमक-क़ानून के भंग किये जाने की प्रारम्भिक घंटी थी। इसके उपरान्त हज़ारों गांवों में हज़ारों आदमियों ने नमक-क़ानून तोड़ा। जिन स्थानों पर खारा पानी या ऐसी मिट्टी उपलब्ध न थी जिससे नमक बनाया जा सकता, वहाँ दूसरे क़ानून तोड़े गये। कलकत्ता में सार्वजनिक सभाओं में राजद्रोहात्मक साहित्य पढ़ा गया और इस प्रकार राजद्रोह क़ानून तोड़ा गया; मध्यप्रान्त में जंगलात के क़ानून भंग किये गये। भद्र अवज्ञा आन्दोलन के अङ्ग के रूप ही में देश भर में व्यापक पैमाने पर विदेशी वस्त्र और अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार शुरू हुआ और शराब की दुकानों पर धरने दिये गये। महात्मा जी ने स्त्रियों को भी आन्दोलन में भाग लेने की इजाज़त दे दी और उन्हें विशेषतः विदेशी माल तथा शराब की दुकानों पर धरना देने का काम सुपुर्द किया। इसका जादू का सा असर हुआ। पुराने विचारों और सम्भ्रान्त परिवारों की महिलाएँ भी घरों से निकल आईं और उन्होंने आन्दोलन में भाग लिया। जिस प्रकार भारतीय स्त्री समाज ने सत्याग्रह में कार्य किया वह आश्चर्यजनक था। प्रत्येक ने इसकी प्रशंसा की। उनमें मनुष्यों से भी बढ़ चढ़ कर उत्साह था। जिस दिन उन्होंने सत्याग्रह में शरीक होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये घर से बाहर पांव रक्खा उसी दिन से उनका उद्धार प्रारम्भ हो गया। सत्याग्रह का यह एक बहुत सुखद परिणाम था।

आन्दोलन दावानल की तेज़ी से फैल रहा था ; इसने सारे देश में मानों आग लगा दी। अब सरकार की आंखें खुलीं, उसने अनुभव किया कि स्थिति बहुत संगीन हो चुकी है और उस पर काबू पाने के लिये उसने दमन-नीति का आश्रय लेने का निश्चय किया। स्थिति को सम्हालने के लिये लॉर्ड इरविन की सरकार ने करीब आधे दर्जन अध्यादेश जारी किये। प्रत्येक स्थान पर नेताओं, कार्यकर्ताओं और स्वयंसेवकों की गिरफ्तारियाँ प्रारम्भ हो गईं और कांग्रेस को ग़ैरकानूनी करार दे दिया गया। कारावास की लम्बी सज़ाएँ और भारी जुर्माने तो आम बात हो गई। करीब साठ हज़ार व्यक्ति जेल भेजे गये। पुलिस ने लाठी का खुला प्रयोग किया, यहाँ तक कि भीड़ और जलूसों पर गोलियां भी चलाईं जिसके परिणामस्वरूप सैकड़ों मारे गये तथा सैकड़ों ही घायल हुए। पाशविक शक्ति का प्रयोग नवीन भारत को, जो गहरी नींद से जाग रहा था, भयभीत न कर सका। सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिये जितनी ही सख्तियाँ कीं और हिंसात्मक उपाय बरते उतना ही आन्दोलन बढ़ा। सरकार के कठोर दमनचक्र से कोई प्रान्त अछूता न रहा और प्रत्येक की अपनी अपनी दर्दभरी कहानी थी। सरकारी अफसरों से प्रतिशोध लेने के लिये मिदनापुर ज़िले में एक आतंकवादी आन्दोलन ने जन्म लिया। इन जोशीले और स्मरणीय दिनों की बातों का और ज़िक्र करने की कोई आवश्यकता नहीं। वेब, मिलर, जार्ज सोलोकोम्ब, और ब्रेल्सफोर्ड इत्यादि विदेशी पत्रों के सम्वाददाताओं ने जो सम्वाद अपने पत्रों को यहाँ से भेजे उनसे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि जनता में कितना जोश और उत्साह था और वह भड़कीली परिस्थितियों में भी किस प्रकार शांत और अहिंसात्मक बनी रही। महात्मा जी ने मृत देह में मानो नवीन जीवन फूँक दिया था।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के इस संक्षिप्त एवं अपूर्ण वर्णन को समाप्त करने से पूर्व इसकी कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालना भी ज़रूरी है। सत्याग्रह में पहल बहुत अर्से तक जनता की ओर से हुई; सरकार ने प्रारम्भ में इसे दबाने के लिये कोई क़दम नहीं उठाया। यह सरकार की भारी ग़लती थी; आन्दोलन जंगल की आग की तरह फैलने दिया गया। बाद में सरकार ने ऐसे अवसरों पर प्रारम्भ से ही दमन का आश्रय लिया। जनता को विस्तृत हिदायतें भी नहीं दी गई थीं कि उन्हें क्या करना है। उन्हें कार्य-क्रम की मुख्य बातें अवश्य मालूम थीं और उन्हें यह भी पता था कि उन्हें अहिंसात्मक रहना है। पर उन्होंने संगठन और सूझ की आश्चर्यकारी शक्ति का परिचय दिया। जब सरकार ने समाचारपत्रों के लिये कांग्रेस की प्रगतियों का प्रकाशन असम्भव कर दिया, लोगों ने समाचारों को साइक्लोस्टाइल करके बांटना शुरू किया और कई स्थानों पर तो खबरों को ब्राडकास्ट भी किया। प्रभात-फेरियाँ शुरू हुईं और वानर सेनाएँ संगठित की गईं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलन को चलाने के लिये समूचे देश, प्रान्तों, ज़िलों और शहरों में डिक्टेटर नियुक्त किये गये और ज्योंही एक डिक्टेटर व नेता गिरफ्तार हुआ उसका स्थान फौरन दूसरे ने ले लिया। जब पंडित जवाहरलाल नेहरू गिरफ्तार हुए उन्होंने पंडित मोतीलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। पंडित मोतीलाल नेहरू ने सरदार बल्लभभाई पटेल को अपना उत्तराधिकारी बनाया और इस प्रकार संग्राम चलता रहा। सत्याग्रह की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता भारतीय महिलाओं का कार्य था जो उन्होंने विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर धरना देने के सम्बन्ध में किया। सत्याग्रह के लिये उनकी देन बहुत बड़ी थी। उनके आन्दोलन में सम्मिलित होने से सत्याग्रह का नैतिक महत्त्व बहुत बढ़ गया। किसी को भी, यहाँ तक कि उस महान जादूगर को भी जिसने यह कायापलट की, यह आशा न थी कि भारतीय महिलाएँ इतनी भारी संख्या में सत्याग्रह में भाग लेंगी और इस शान के साथ अपना कार्य सम्पन्न करेंगी। यहाँ तक कि ७ वर्ष से कम आयु के बच्चों ने भी समाचार-वितरण-दल और प्रभात-फेरियों में शरीक होकर अपना भाग अदा किया।

गोल मेज़ परिषद् :— जब देश में आत्मिक शक्ति और पाशविक शक्ति में घमासान संग्राम चल रहा था और जनता क्रूरतापूर्ण दमन का वीरता के साथ सामना कर रही थी, उसी समय साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। सरकार की पूरी कोशिशों के बावजूद इसमें जान नहीं थी। और यह स्वाभाविक भी था; रिपोर्ट में जागते हुए नवीन भारत की परिवर्तित मनोवृत्ति और भावना की पूरी तरह उपेक्षा की गई थी; अतः प्रकाशित होने के समय भी यह अपने समय से बहुत पीछे थी। भारतीय जनता को समझने में यह घोर अन्धकार में थी और इसी अनुपात में इसमें भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का भी अभाव था।* किसी ने भी इसकी सिफारिशों पर ध्यान नहीं दिया; इसके अनुसार केन्द्र में निरंकुश शासन ही चलना था और प्रान्तों में पर्याप्त अंश में स्व-शासन दिया जाना था। केन्द्रीय असेम्बली तक ने भी, जिससे कांग्रेसी सदस्य इस्तीफा दे चुके थे, इसकी सिफारिशों को मानने से एकदम इन्कार कर दिया। भारतीय उदार दल के नेताओं ने जो इस आश्वासन के बगैर ही गोल मेज़ परिषद् में भाग लेने को राजी हो गये थे कि यह भारत के लिये औपनिवेशिक विधान तैयार करेगी, मांग की कि परिषद् में रिपोर्ट को वाद-विवाद का आधार न बनाया जाये।

इस बीच में जॉर्ज सोलोकोम्ब नामक एक साहसी पत्रकार ने महात्मा जी से यरवदा जेल में, जहाँ वे सरदार पटेल और श्रीमती सरोजनी नायडू के साथ नजरबन्द थे, मुलाकात करने की इजाज़त ली। सोलोकोम्ब की मुलाकात का उद्देश्य महात्मा जी से यह जानकारी हासिल करना था कि वे किन शर्तों पर सत्याग्रह आन्दोलन को वापिस लेने को तैयार हैं; इस प्रकार वह ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करना चाहता था जिनमें कांग्रेस

* ज़करिया : 'रिनेसेंट इण्डिया', पृष्ठ २६९.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये गोल मेज़ परिषद में भाग लेना सम्भव हो सके। महात्मा जी ने उसे बताया कि वे उस समय तक सत्याग्रह आन्दोलन को वापिस न लेंगे जब तक उन्हें यह निश्चित आश्वासन न दे दिया जायगा कि परिषद् में भारत को सार रूप में स्वतन्त्रता दे दी जायेगी। उन्होंने सत्याग्रह को स्थगित करने के लिये चार शर्तें पेश कीं। सोलोकोम्ब इसके अनन्तर इसी सम्बन्ध में पंडित मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू से नैनी जेल में मिला और उसने उनसे मिलकर एक वक्तव्य तैयार किया जिसके आधार पर कांग्रेस तथा सरकार में समझौते की बातचीत प्रारम्भ हो सकती थी। बाद में डाक्टर जयकर और सर तेजबहादुर सप्रू ने मध्यस्थ का कार्य किया और सरकार और कांग्रेस में समझौता कराने का प्रयत्न किया। पर दोनों दलों में मतभेद गहरे थे, उनके बीच की खाई इतनी विस्तृत थी कि उसे पाटना सम्भव नहीं था; परिणामतः कांग्रेस ने अपना संग्राम जारी रक्खा और सरकार अपनी दमन नीति पर अड़ी रही और १२ नवम्बर १९३० को लन्दन में कांग्रेस प्रतिनिधियों के बग़ैर गोलमेज़ परिषद् का अधिवेशन प्रारम्भ हो गया। ८९ प्रतिनिधियों में से जिन्होंने इसमें भाग लिया, ३ ब्रिटिश संसद में तीन प्रमुख राजनीतिक दलों के नुमाइन्दे थे, १६ भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि थे और ५७ ब्रिटिश भारत से नामज़द किये गये थे। डाक्टर पट्टाभि सीतारमय्या के अनुसार परिषद् की कुल सदस्य संख्या ८६ थी जिनमें से १३ ग्रेट ब्रिटेन के, १६ भारतीय रियासतों के और शेष ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की नामज़दगी गवर्नर जनरल ने की थी और उसी ने भारतीय रियासतों से १६ प्रतिनिधियों का चुनाव किया था। उसने इस सम्बन्ध में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं का परामर्श भी नहीं लिया। राष्ट्रीय मुसलमानों को इनमें जान-बूझकर नहीं सम्मिलित किया गया। भारतीय प्रतिनिधियों के चुनाव के इस तरीके पर टिप्पणी करते हुए श्री ब्रेल्सफोर्ड ने कहा: "सेंट जेम्स महल में भारतीय नरेश, हरिजन, सिक्ख, मुसलमान, हिन्दू, ईसाई और ज़मींदारों, मज़दूर संघों व वाणिज्य संघों, सभी के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए पर भारतमाता वहाँ उपस्थित नहीं थी।" प्रतिनिधियों के चुनाव के इस ढंग का परिषद् के कार्य पर भी प्रभाव पड़ना आवश्यक था। जैसा कि बाद की घटनाओं से मालूम हुआ प्रत्येक प्रतिनिधि ने भारत की स्वाधीनता की मांग पर ज़ोर देने के बजाय अपने अपने सम्प्रदायों और हितों के दावों के ही राग अलापे। परिणामतः भारत के भविष्य के प्रश्न का निर्णय ब्रिटिश सरकार के लिये छोड़ दिया गया।

गोलमेज़ परिषद् में सम्मिलित न होकर और सत्याग्रह को चलाकर कांग्रेस ने देश का अधिक भला किया। यदि वह परिषद् के अधिवेशन में भाग लेना स्वीकार कर लेती तो कदाचित् देश का इतना भला न कर पाती। इससे ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता को मालूम हुआ कि कांग्रेस की स्वाधीनता की मांग के पीछे लोकमत की कितनी भारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति मौजूद है। देश की सारी जनता एक होकर इसका समर्थन कर रही थी और ब्रिटिश सरकार अब इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। गोलमेज़ परिषद् ने भी इस बात को समझा और संघीय सिद्धान्त को इसकी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल स्वीकार करके प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन और केन्द्र में द्विविध शासन पद्धति को स्थापित करने का निश्चय किया। पर साथ ही परिवर्तन काल (Period of transition) में आरक्षण (Reservation) और अभिरक्षण (Safeguards) लगाये जाने की भी इसने सिफारिश की। १९ जनवरी १९६१ को इसका अधिवेशन समाप्त हुआ। भारत के भावी विधान के विषय में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने सम्राट् की सरकार की नीति की घोषणा की जो निम्न थी :—

'सम्राट् की सरकार का मत है कि भारत सरकार का उत्तरदायित्व केन्द्रीय एवं प्रान्तीय धारासभाओं पर होना चाहिये, पर इसी के साथ परिवर्तन काल में इस बात का भी आयोजन होना चाहिये कि सरकार अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों का पालन कर सके, असाधारण स्थितियों को सम्हाल सके और अल्प-संख्यकों के अधिकारों व स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सके।'

'परिवर्तन काल की आवश्यताओं की पूर्ति के लिये बनाये गये अभिरक्षणों के सम्बन्ध में सम्राट् की सरकार को यह देखना होगा कि संरक्षित शक्तियाँ (Reserved powers) इस प्रकार बनाई और इस्तेमाल की जायं कि वे उत्तरदायी शासन की दिशा में, जो विधान के द्वारा स्थापित किया जाना है, भारत की उन्नति में बाधा न डालें।'

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने यह भी कहा कि यदि इस बीच में 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन में लगे हुए व्यक्ति वायसराय की अपील को सुनकर उसे बन्द कर देंगे तो उनकी सेवाओं के प्रयोग के लिये कदम उठाये जायेंगे।'

इससे पूर्व कि हम यह बतायें कि भारत सरकार ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिये क्या कदम उठाये, हम यहाँ पहिले यह बताना वांछनीय समझते हैं कि ब्रिटिश सरकार केन्द्र में उत्तरदायी शासन देने के लिये किस तरह राजी हो गई जबकि उदार दल और अनुदार दल दोनों ही इसके सख्त विरुद्ध थे। वे साइमन कमीशन की रिपोर्ट से आगे बढ़ने को तैयार नहीं थे जो केन्द्र में निरंकुश शासन को ही कायम रखना चाहती थी।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने सुदूर भविष्य में भारत में संघ शासन स्थापित होने की भी कल्पना की थी जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतें साझी होते। पर इसने इस बात पर कि यह संघ किस प्रकार और कब बनेगा कुछ प्रकाश नहीं डाला। जब यह प्रश्न गोलमेज़ परिषद् के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत हुआ तो महाराज बीकानेर ने इसका स्वागत किया और कहा कि भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्याओं का सर्वोत्तम हल संघ-शासन ही है। उन्होंने भारतीय रियासतों की संघ शासन में सम्मिलित होने की इच्छा का जिक्र करते हुए ऐलान किया कि भारतीय नरेश 'उन्नति की तरफ रहेंगे और कभी भी ब्रिटिश भारत में रहने वाले अपने साथी देशवासियों की न्यायसंगत आशाओं की पूर्ति के मार्ग में रोड़ा न अटकायेंगे।' इस घोषणा ने ब्रिटेन के अनुदार दल के सदस्यों के विचारों में एक काया-पलट सी कर दी जो अब सोचने लगे कि केन्द्रीय सरकार में भारतीय नरेश एक अपरिवर्तनशील एवं विश्वसनीय दल का कार्य करेंगे जिनके सहारे ब्रिटिश भारत की प्रगतिशील शक्तियों को रोका जा सकेगा। यह निहायत दिलचस्प बात है कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने केन्द्र में उत्तरदायित्व तो दिया पर संघ की स्थापना की शर्त पर और संघ की स्थापना भारतीय रियासतों की कुछ निश्चित संख्या के संघ में प्रविष्ट होने पर निर्भर थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में संघ स्थापित करने का प्रयत्न ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की सब से कुटिल चाल थी। संघ-शासन, केन्द्र में उत्तर-दायित्व एवं अभिरक्षण (Safeguards)— यही तीनों बातें गोलमेज़ परिषद् के वास्तविक परिणामों में एक दूसरे से सम्बद्ध थीं और यही तीनों १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में मौजूद थीं।

गांधी-इरविन समझौता :— ब्रिटिश प्रधानमंत्री के वक्तव्य पर, जिसके कुछ उद्धरण पिछले पृष्ठों पर दिये जा चुके हैं, विचार करने की पूर्ण स्वाधीनता देने के लिये वायसराय ने कांग्रेस कार्य समिति पर से रोक उठा ली और इसके सदस्यों को रिहा करने के आदेश जारी कर दिये। इनकी रिहाई ठीक २६ जनवरी के दिन हुई जिस तारीख को एक वर्ष पूर्व देश ने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली थी। ६ फरवरी को गोलमेज़ परिषद् के प्रतिनिधि लन्दन से वापिस आ गये और दो दिन बाद सर तेजबहादुर सप्रू और डाक्टर जयकर गांधी जी से मिले। उन्होंने और माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने जो कुछ समय बाद इस बातचीत में शरीक हुए, गांधी जी को विश्वास दिलाया कि मज़दूर सरकार अपने इरादों में सच्ची है और वह भारत को अपने मामलों का स्वयं निर्णय करने का अधिकार देना चाहती है। कांग्रेस कार्य-समिति ने महात्मा जी को अपना दूत बनाकर वायसराय के साथ समझौते की बातचीत करने की सारी शक्तियाँ प्रदान कर दीं। महात्मा जी ने तदनुसार लॉर्ड इरविन से समझौते की बातचीत प्रारम्भ कर दी जो बहुत लम्बे अरसे तक चली। अनेक उतारों और चढ़ावों के बाद अन्त में ५ मार्च १९३१ को दोनों में एक समझौता हुआ। यह समझौता, जिसे आम तौर पर गांधी-इरविन समझौता कहा जाता है, बहुत लम्बा है अतः इसे यहां पूरा उद्धृत नहीं किया जा सकता और न इसकी सब बातों से हम सम्बन्धित ही हैं। कांग्रेस की तरफ से महात्मा जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित करना स्वीकार किया, आन्दोलन के दौरान में सरकार की ओर से जनता पर किये गये अत्याचारों और ज्यादतियों की जांच पड़ताल कराने की मांग को वापिस लिया, और गोलमेज़ परिषद् के अगले अधिवेशन में सम्मिलित होने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये स्वीकृति दी। सरकार की ओर से वायसराय ने आन्दोलन के दौरान में गिरफ्तार हुए समस्त राजनीतिक बन्दियों को रिहा करना स्वीकार किया, ज़ब्त सम्पत्ति को जो अभी तक न नीलाम हुई थी और न बेची गई थी उसके मालिकों को वापिस देने का वायदा किया, संकटकाल में जारी किये गये अध्यादेशों को वापिस लिया, समुद्र तट के समीप रहने वाले भारतीयों को बगैर कर दिये नमक एकत्र अथवा बनाने की इजाज़त दी और शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर शांति से धरना देने की भी इजाज़त दी।

समझौते का मिश्रित स्वागत हुआ; बहुत से व्यक्तियों ने इसका कांग्रेस की विजय के रूप में स्वागत किया पर वामपक्षियों ने इसकी यह कहकर निन्दा की कि यह तो कांग्रेस का सरकार के प्रति समर्पण है। श्री सुभाषचन्द्र बोस के अनुसार देश की युवक संस्थाओं और राजनीति में दिलचस्पी रखने वाले व्यक्तियों को इससे अत्यन्त निराशा हुई। इसकी एक धारा के शब्दों को पढ़कर तो जवाहरलाल नेहरू को पर्याप्त धक्का सा पहुंचा; सेना, वैदेशिक मामले और अल्पसख्यकों की स्थिति जैसे विषयों के साथ आरक्षणों और अभिरक्षणों को देखकर वे बहुत उद्विग्न हुए। क्योंकि हिंसात्मक अपराधों में सज़ा पाये हुए राजनीतिक बन्दियों को इसने रिहा नहीं किया, अतः बंगालियों ने इसके प्रति कोई उत्साह नहीं प्रदर्शित किया। बावजूद सब कोशिशों के महात्मा जी को सरदार भगतसिंह और उनके दो साथियों की फांसी की सजा को कालेपानी की सज़ा में बदलवाने में कामयाबी नहीं हासिल हुई। निस्सन्देह समझौते में कमियाँ थीं; पर महात्मा जी समझौते की बातचीत को इसलिये नहीं समाप्त करना चाहते थे कि सविनय अवज्ञा जैसा आन्दोलन अनिश्चित समय तक नहीं चलाया जा सकता। इसके अतिरिक्त समझौते में कोई बड़ी बात नहीं छूटी थी और न किसी सिद्धान्त का ही त्याग किया गया था। महात्मा जी ने इसे दोनों दलों की विजय कहा। यह महात्मा जी और लॉर्ड इरविन दोनों की ही समझौता करने की सामान्य इच्छा की विजय थी। इसने कांग्रेस को उन दुःखों और कष्टों से ही नहीं बचाया जो समझौते की बातचीत के भंग हो जाने की अवस्था में उसे सहने पड़ते, पर उसकी प्रतिष्ठा और मर्यादा को भी बढ़ाया। पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्म-कथा में बताया कि जिन दिनों महात्मा जी और लॉर्ड इरविन में समझौते की बातचीत चल रही थी, प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति दिल्ली की ओर आकृष्ट हुए चले आते थे। समझौते के हो जाने के पश्चात् अनेक व्यक्तियों ने, जो तूफानी दिनों में तकलीफों से घबराकर कांग्रेस से बचते रहे थे, इसमें प्रविष्ट होना चाहा और अपने पिछले व्यवहार में सुधार करना चाहा। यहां तक कि साम्प्रदायिकतावादियों ने भी इसके समीप पहुंचना चाहा। कष्टों और दुःखों में से गुज़रने के कारण निस्सन्देह इसका मान बढ़ा और जाति का भी नैतिक स्तर ऊँचा हुआ। समझौता 'दोनों दलों की समझदारी और उच्च देश-भक्ति का स्मारक है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली समझौते के बाद :— सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में हुई करांची कांग्रेस में समझौते को स्वीकृति के लिये पेश किया जाना था। कांग्रेस के अधिवेशन से एक सप्ताह पूर्व सरदार भगतसिंह और उसके दो साथियों को फांसी दी जा चुकी थी। इसके कारण समझौते का महत्त्व फीका पड़ा जा रहा था और कांग्रेस के वामपक्षी दल ने इस घटना का समझौते को रद्द करवाने के लिये पूरा प्रयोग किया। पर महात्मा जी ने स्थिति को सम्भाल लिया और समझौता स्वीकृत हो गया।

यदि लार्ड इरविन एक वर्ष और भारत के वायसराय बने रहते और ग्रेट ब्रिटेन में सरकार न बदलती तो यह सम्भव था कि दो श्रेष्ठ आत्माओं में दिल्ली में हुए अस्थायी समझौते से भारतीय समस्या के उचित हल का कोई रास्ता निकल आता और ग्रेट ब्रिटेन और भारत में एक चिरस्थायी मैत्री स्थापित हो जाती ; दोनों देश सौहार्द सम्बन्ध में बँध जाते जो दोनों के लिये लाभप्रद सिद्ध होता। पर दैव को कुछ और ही मंजूर थी। लार्ड इरविन की जगह लार्ड विलिंगडन भारत के वायसराय बन कर आये जो स्वभाव और ख्याति में अपने पूर्ववर्ती से एकदम भिन्न थे और मजदूर सरकार के स्थान पर एक ऐसी सरकार इंगलैण्ड में बनी जिसके अधिकांश सदस्य अनुदार दल के थे। श्री वेजवुड बेन का स्थान सर सैम्युअल होर ने लिया जो अब भारत मन्त्री बने। इन परिवर्तनों ने दोनों देशों की परिस्थितियों को एकदम बदल दिया। भारत में कांग्रेस ने शिकायत करनी शुरू की कि सरकारी कर्मचारी समझौते की शर्तों का पालन नहीं कर रहे हैं ; यहां तक कहा गया कि इसका पालन करना तो दरकिनार हर कोशिश इसे भंग करने की ही की जा रही है। जिन जिन अवसरों पर इसे तोड़ा गया था उसकी एक लम्बी सूची बनाकर सरकार को भेजी गई। महात्मा जी में और सरकार में इस सम्बन्ध में एक लम्बे अरसे तक खतोकिताबत होती रही जिसके परिणामस्वरूप महात्मा जी को सरकार को सूचित करना पड़ा कि वे गोलमेज़ परिषद में सम्मिलित होने के लिये लन्दन नहीं जा रहे हैं। यह १३ अगस्त १९३१ की घटना है। सरकार को भी यह शिकायत थी कि कांग्रेस समझौते का पालन नहीं कर रही है। अन्त में महात्मा जी और लार्ड विलिंगडन शिमले में फिर मिले और उनमें एक समझौता हो गया और महात्मा जी ने कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि होने के रूप में लन्दन जाना स्वीकार कर लिया। सरकार ने पण्डित मदन मोहन मालवीय और श्रीमती सरोजनी नायडू को व्यक्तिगत रूप से परिषद के लिये नामज़द कर दिया।

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि कांग्रेस ने महात्मा जी को अपने एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में लन्दन भेजकर बुद्धिमानी नहीं की। उनका मत है कि यदि कांग्रेस पर्याप्त संख्या में अपने नेताओं को लन्दन कान्फ्रेंस में भेजती तो गाँधी जी की स्थिति अधिक मज़बूत रहती। निस्सन्देह अधिक संख्या में कांग्रेसी नेताओं का लन्दन जाना श्रेयस्कर होता यदि परिषद के सामने भारत के लिये एक विधान तय करने का प्रश्न होता। किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सामने यह प्रश्न न था। प्रश्न सिर्फ यह था कि भारतीय जनता को कितनी शक्ति हस्तान्तरित की जानी है। कांग्रेस की स्थिति और मांग को स्पष्ट करने और इसकी युक्तियुक्तता को प्रदर्शित करने के लिये एक व्यक्ति पर्याप्त था और गांधी जी जाति के नेता के रूप में इस कार्य के लिये एकदम योग्य थे। इसके अतिरिक्त देश की स्थिति भी उस समय पर्याप्त नाजुक थी और इसे सम्हालने के लिये भी उच्च कोटि के नेताओं का यहाँ रहना अत्यावश्यक था। यह आम अनुभव था कि बावजूद इसके कि गोलमेज़ परिषद का अधिवेशन लन्दन में हो रहा था गुरुता-केन्द्र भारत ही था। और यह भी निश्चय किया जा चुका था कि यदि महात्मा जी को कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों से परामर्श लेना आवश्यक होगा तो वे हफ्ते भर में वहाँ पहुँच सकते थे। अतः अधिकांश में कांग्रेस का गांधी जी को अपना एकमात्र प्रतिनिधि बना कर लन्दन भेजने का निश्चय सही था; देश को इससे कोई क्षति नहीं पहुंची।

द्वितीय गोलमेज़ परिषद् :— महात्मा गांधी द्वितीय गोलमेज़ परिषद में भाग लेने के लिये, जो ७ सितम्बर को प्रारम्भ हुई, २९ अगस्त १९३१ को इंगलैण्ड के लिये रवाना हो गये। वे परिषद के अधिवेशन के प्रारम्भ होने के ५ दिन बाद १२ तारीख को लन्दन पहुंचे। दूसरी दृष्टि से भी महात्मा जी इसमें पीछे रहे। डाक्टर ज़करिया के मतानुसार यदि महात्मा जी पहिली गोल मेज़ परिषद में, जब इंगलैण्ड में मज़दूर सरकार थी, भाग लेते तो यह हमारे लिये अधिक लाभप्रद होता क्योंकि उस समय तक कोई निर्णय नहीं किये गये थे। पर वे लन्दन उस समय पहुंचे जब आर्थिक संकट के कारण मज़दूर सरकार इस्तीफा दे चुकी थी और श्री रेम्ज़े मैकडानल्ड ने एक नई सरकार बनाली थी जो कहने के लिये तो राष्ट्रीय थी पर वस्तुतः टोरी या अनुदार सरकार थी। महत्वपूर्ण निर्णय पहले ही किये जा चुके थे जिन्हें अब बदलना मुश्किल था। पर हम इस विचार से सहमत नहीं। सविनय अवज्ञा आन्दोलन ही के कारण सरकार को केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व देने के लिये बाधित होना पड़ा था। इसी बीच में ग्रेट ब्रिटेन में भी युग परिवर्तन हुआ। अक्टूबर में आम चुनाव हुए जिसके परिणामस्वरूप लोकसभा में अनुदार दल के सदस्यों का बहुमत हो गया। ये परिवर्तन भारत के अत्यन्त प्रतिकूल जाने वाले थे; जिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को भारत से सहानुभूति और स्नेह था वे या तो चुनाव में सफल नहीं हुए या उनका महत्त्व जाता रहा और जो उसके विरोधी थे वे प्रधानता में आ गये। वेजवुड बेन का स्थान सर सैम्युअल होर ने लिया जो लोह पुरुष था। अतः पहिली गोल मेज़ परिषद के समय जो भावना मौजूद थी वह दूसरी गोल मेज़ परिषद के समय नहीं थी; ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल का रुख अब बिल्कुल बदला हुआ था। '१९३० में श्री बेन के मातहत कान्फरेन्स वस्तुतः एक ऐसी सभा थी जिसमें लार्ड लोगों ने मिलकर विचार विमर्श किया था, पर १९३१ में सर सैम्युअल होर की अधीनता में यह उस शानदार विवाद सभा की विरासत मात्र रह गई जो धीमे धीमे समाप्त होती जा रही थी।'*

* ज़करिया : 'रिनेसंट इण्डिया', पृष्ठ २८१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कान्फरेंस का बाह्य उद्देश्य इंग्लैण्ड तथा भारत के बीच के झगड़े का निपटारा और भारत की वैधानिक समस्या का हल निकालना था। पर सब बातें कुछ इस ढंग से की गई थीं कि सब तरफ साम्प्रदायिक समस्या ही नज़र आती थी। वैधानिक समस्या को तो अलग छोड़ दिया गया और भारतीय मांगों को अनुपयुक्त ठहराने के लिये एक छोटी समस्या को प्रधानता दी गई। महात्मा गांधी साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने पर तुले हुए थे, या फिर उसे भविष्य के लिये टाल देना चाहते थे ताकि भारतीय प्रतिनिधि मण्डल अड़चनों को हटाकर स्वराज्य प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर सकता। लेकिन उनके प्रयत्न असफल रहे। भारतीय प्रतिनिधि मंडल की रचना ही इस प्रकार की गई थी कि उसने साम्प्रदायिक समस्या का हल बहुत कठिन कर दिया था। इसमें ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित थे जिनका काम ही साम्प्रदायिक विरोध करना था। जो व्यक्ति साम्प्रदायिक समस्या की ओर तर्क-संगत रुख़ रख सकते तथा उसके निराकरण के लिये जी जान से प्रयत्न कर सकते थे, कान्फ्रेंस में उन्हें नामज़द ही नहीं किया गया था। डाक्टर अन्सारी जैसे व्यक्तियों को इसमें सम्मिलित कराने के प्रयत्न असफल रहे। उन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की छिपी कोशिशों ने तो, जो 'फाड़कर शासन करने की नीति' का अनुसरण करते हुए ब्रिटिश शासन को भारत में कायम रखने के लिये उत्सुक थे, साम्प्रदायिक समस्या का तर्कसम्मत हल असम्भव ही बना दिया। पंजाब और बंगाल में मुसलमान अपना बहुमत तथा उन प्रान्तों में अपनी आबादी के अनुपात से अधिक स्थान (Excessive weightage) चाहते थे जिनमें वे अल्प-संख्या में थे। ये केन्द्र में भी एक तिहाई प्रतिनिधित्व चाहते थे। पंजाब में सिक्ख भी उसी प्रकार अपनी संख्या के अनुपात से अधिक स्थान (Weightage) चाहते थे जिस प्रकार मुसलमानों को आसाम, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा मद्रास में मिला था। सिक्खों के 'वेटेज' के दावे तथा हिन्दुओं के अधिकारों के साथ मुसलमानों को पंजाब में बहुमत देना असम्भव था। उसी प्रकार मुसलमानों की बंगाल में पूर्ण बहुमत की मांग के साथ युरोपियनों के 'वेटेज' का मेल नहीं बैठता था। दलित वर्गों ने भी दूसरों की देखा देखी अपने लिये अलग प्रतिनिधित्व की मांग की। ऐसा वातावरण जिसमें राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखकर सभी अपने अपने लिये अधिक से अधिक अधिकारों की मांग करते हों, ऐसी जटिल समस्याओं के हल के अनुकूल नहीं पड़ता। यदि महात्मा गांधी अपने प्रयत्नों में असफल रहे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मुस्लिम सदस्यों की इस ज़िद ने कि बिना अपनी मांगों की पूर्ति के वे वैधानिक वाद विवाद में भाग न लेंगे, और भी अड़ंगा लगा दिया। मुसलमानों ने प्रतिक्रियावादी ब्रिटिश हितों के साथ मेल कर लिया जिसका अंत शरारत-भरी अल्प-संख्यकों की संधि (Minorities Pact) में हुआ। लायलिस्टों (Loyalists) की एक गुप्त गश्ती चिट्ठी से, जिसमें ब्रिटिश हितों के भारतीय प्रतिनिधि श्री बैन्थल की राय भी सम्मिलित थी, हम यहाँ एक अंश उद्धृत करते हैं जो उस शर्मनाक तरीके पर प्रकाश डालता है जिससे गोलमेज़ कान्फ्रेंस में साम्प्रदायिक समस्या सुलझाने के प्रयास में रोड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अटकाये जा रहे थे। यह निम्न है : 'मुसलमानों का गुट्ट बड़ा ही पक्का और जोशीला था ..... उन्होंने अपना काम बड़ी चतुराई से सम्पन्न किया। उन्होंने हमें पूरी सहायता देने का आश्वासन दिया और उसे अच्छी प्रकार निभाया भी। इसके बदले में उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम बंगाल में उनकी आर्थिक दीनता को न भूलें और युरोपियन फर्मों में उन्हें पर्याप्त संख्या में नौकरियां दिलायें ताकि अपनी आर्थिक दशा को उन्नत करके वे अपनी जाति को शक्तिशाली बना सकें। चुनाव के बाद सरकार के दक्षिण पक्ष ने कान्फ्रेंस समाप्त करके कांग्रेस से लड़ने का निश्चय किया। इसलिये जो मुसलमान केन्द्र में उत्तरदायित्व नहीं चाहते थे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई .....। हमने अपने मन में सोच लिया था कि कांग्रेस से युद्ध अनिवार्य है; हमने यह अनुभव किया कि संघर्ष जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा है, लेकिन हमने यह भी सोच लिया था कि शानदार विजय के लिये हमें सभी सम्भव मित्रों को अपनी ओर कर लेना चाहिये। मुसलमान तो हमारी ओर थे ही; इसके अतिरिक्त अल्प-संख्यक समझौते तथा सरकार के सामान्य रुझान ने यह आश्वासन दे ही दिया था। राजे तथा अल्प-संख्यक भी हमारी ओर थे ..... मुसलमान युरोपियनों के पक्के मित्र बन गये हैं। वे अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हैं और हमारे साथ काम करने के लिये प्रस्तुत हैं।'* यदि मुसलमान प्रतिनिधियों का दूसरा दल आमन्त्रित किया गया होता तो ऐसा गठबन्धन असम्भव था। इन चालाकियों का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि अल्पसंख्यक-उपसमिति साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने में असफल रही। यह मामला अन्त में प्रधानमंत्री के हाथ में छोड़ दिया गया। सरकार ने इस समस्या का निराकरण साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) देकर किया। साम्प्रदायिक निर्णय कुछ वर्गों के एकदम अनुकूल था और कुछ के एकदम प्रतिकूल। इसका विस्तृत विवेचन अन्य स्थान पर किया जायेगा।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा के निम्न अंश लन्दन कान्फ्रेंस की कार्यवाही के स्वरूप और इसकी असफलता के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं। वे लिखते हैं : 'कान्फ्रेंस में हमारा पलड़ा बहुत हलका था और क्योंकि हमें इससे कोई विशेष आशा न थी हमने इसकी कार्यवाही को आश्चर्य और घृणा के साथ देखा। हमने देखा उन दयनीय और निहायत लचर कोशिशों को जो राष्ट्रीय एवं आर्थिक समस्याओं के सिर्फ समतल (Surface) को मानो खुरचने की गरज़ से ही की गई थीं। हमने देखा समझौतों, साजिशों और दांवों को, हमने देखा ब्रिटिश अनुदार दल के अत्यन्त प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के साथ अपने ही कुछ देशवासियों के गठबन्धन को, छोटे छोटे प्रश्नों पर न समाप्त होने वाली बहस को, महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के जान बूझ कर टाले जाने को, निहित स्वार्थों और विशेषकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के

* 'नान-वायलेंट नान-कोआपरेशन' में सरदार शार्दुलसिंह कवीश्वर द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथों में निरन्तर खेले जाने को, पारस्परिक रार को जिसमें रंगरलियों और एक दूसरे की प्रशंसा का भी पुट था। यह सारा नौकरियों का धंधा था— बड़ी नौकरियाँ, छोटी नौकरियाँ, हिन्दुओं के लिये नौकरियाँ, मुसलमानों के लिये नौकरियाँ, सिक्खों, आंग्ल-भारतीयों और युरोपियनों के लिये नौकरियाँ! बस नौकरियों की ही सर्वत्र गूँज सुनाई दे रही थी!! पर यह सब नौकरियाँ उच्च वर्ग के लिये ही थीं, सर्वसाधारण से इनका कोई सम्बन्ध न था। अवसरवाद का बोलबाला था और विभिन्न दल भूखे भेड़िये की तरह अपने शिकार की— नये विधान की लूट में भाग लेने की— इन्तज़ार में थे। स्वतन्त्रता का एकमात्र अर्थ नौकरियाँ हासिल करना रह गया था। किसी को स्वतन्त्रता का, शक्ति को लोकतन्त्रात्मक भारत को हस्तान्तरित करने का, भारतीय जनता की सबसे आवश्यक आर्थिक एवं अन्य समस्याओं के हल का, विचार तक भी न था .....।

'उस खचाखच भरे हुए और जगमगाते हुए हाल में गांधी जी बैठे थे, चुप और शांत। उनका वेश अथवा वस्त्राभाव उन्हें दूसरों से पृथक् कर रहा था, पर इससे भी अधिक अन्तर उनके और उनके इर्द गिर्द सुन्दर पोशाक में बैठे हुए व्यक्तियों के विचारों और दृष्टिकोणों में था। उस कान्फरेंस में उनकी स्थिति असाधारण थी और हम इतनी दूर बैठे हुए आश्चर्य कर रहे थे कि गांधी जी इन सब बातों को किस प्रकार सह रहे होंगे। पर आश्चर्यकारी धैर्य के साथ वे अपने कार्य में व्यस्त रहे और उन्होंने समझौते का सामान्य आधार मालूम करने के लिये अनेक प्रयत्न किये।'*

उपर्युक्त उद्धरण से मालूम पड़ता है कि क्यों महात्मा जी उन विभिन्न समस्याओं को हल नहीं कर सके जो उनके और कान्फरेंस के सामने पेश थीं। उनका लन्दन जाने का उद्देश्य उनमें और लार्ड इरविन में हुई अस्थायी संधि को एक स्थायी समझौते में परिवर्तित करना था। पर परिस्थितियाँ इतनी कठोर थीं कि वे उनके काबू से बाहर थीं। ब्रिटिश सरकार प्रस्तुत समस्या का हल निकालने के लिये तनिक भी उत्सुक न थी; इतना ही नहीं जैसा कि श्री बैन्थल की गश्ती चिट्ठी से पता चलता है, वह कांग्रेस के साथ लड़ाई की तैयारियाँ कर रही थी। भारत की नौकरशाही को लार्ड इरविन का समानता के आधार पर कांग्रेस से व्यवहार करना और महात्मा गाँधी के साथ समझौता करना पसन्द न था; इसकी शिक्षा और रौबीली मनोवृत्ति दोनों ही इसे सहन न कर सकते थे। ब्रिटिश सरकार ने कान्फरेंस में ऐसी चाल चली कि आवश्यक एवं मूलभूत प्रश्न तो पीछे छूट गये और सारा समय मामूली प्रश्नों पर बिता दिया गया। इच्छा अथवा अनिच्छा से अधिकांश भारतीय नेता भी इसमें ब्रिटिश सरकार के साथ हो लिये। महात्मा जी को कान्फरेंस की इस अनियमित कार्यवाही से बहुत दुख हुआ और उन्होंने इसे 'लम्बी और धीमी वेदना' बताया।

गोलमेज़ परिषद् का अधिवेशन १ दिसम्बर १९३१ को समाप्त हुआ। महात्मा जी

* जवाहरलाल नेहरू: 'आत्म-कथा', पृष्ठ २९३-२९४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वास्थ्य सुधार के लिये कुछ समय और इङ्गलैण्ड में ठहरना चाहते थे और युरोप के सब देशों का दौरा भी करना चाहते थे। पर उन्हें देश से अपने सह-कार्यकर्ताओं का बुलावा आया क्योंकि यहाँ स्थिति शीघ्रता से बिगड़ती जा रही थी। अपना पहिला कार्य-क्रम रद्द करके वे रोमां रोलां और मुसोलिनी से मिलते हुए शीघ्र भारत वापिस आ गये।

सत्याग्रह पुनः प्रारम्भ :— महात्मा जी ने इङ्गलैण्ड में जो भी कुछ सीखा और अनुभव किया उससे उन्हें विश्वास हो गया कि ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के रास्ते भिन्न हैं। ब्रिटिश प्रधान मंत्री के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव पेश करते हुए उन्होंने अपनी इस धारणा को अभिव्यक्त किया। लन्दन से विदा होने से पूर्व उन्होंने एक प्रेस संवाददाता को कहा कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के देश-व्यापी पैमाने पर तत्काल फिर से प्रारम्भ किये जाने का तो इस समय प्रश्न ही नहीं उठता पर सरकार के अन्यायपूर्ण कार्यों और सख्तियों के विरोध-स्वरूप स्थानीय रूप से इसे अवश्य चलाया जायगा।

ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण दूसरा था। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है भारतीय सिविल सर्विस के अफसर लार्ड इरविन द्वारा समानता के आधार पर महात्मा जी के साथ किये गये समझौते को बिल्कुल पसन्द न करते थे। उनका विचार था कि इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा और मर्यादा पहिले से बहुत बढ़ गई है और इसे गिराना चाहिये। श्री बैन्थल की गुप्त गश्ती चिट्ठी से भी यही ज्ञात होता है कि सरकार ने कांग्रेस से लड़ने का और इसे सबक देने का निश्चय कर लिया था। सर सैम्युअल होर और लार्ड विलिंगडन दोनों ही यह तय कर चुके थे कि वे 'यह देखने की इन्तज़ार न करेंगे कि आन्दोलन हिंसात्मक रूप धारण करता है अथवा अहिंसात्मक, पर इसे किसी भी रूप में प्रारम्भ ही न होने देंगे।'* अतः २८ दिसम्बर १९३१ को जब महात्मा जी बम्बई उतरे उन्हें भद्दी और विषम स्थिति का सामना करना पड़ा। उनकी अनुपस्थिति में, जब वे लन्दन कान्फ्रेंस में हिस्सा ले रहे थे, सरकार ने संयुक्त प्रान्त, बंगाल और सीमा प्रान्त में दमन करना शुरू कर दिया था। बंगाल में सरकारी कर्मचारियों के अत्याचारपूर्ण एवं सख्त कार्यों के विरुद्ध प्रतिशोध के रूप में एक आतंकवादी आन्दोलन फिर से पैदा हो गया था। इन क्रान्तिकारी प्रगतियों को दबाने के लिये सरकार एक अध्यादेश भी जारी कर चुकी थी जिसने चिटगांव ज़िले में एक प्रकार से सैनिक क़ानून का शासन शुरू कर दिया था। उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त में भी एक अध्यादेश जारी किया जा चुका था जिसने लाल कुर्ती स्वयंसेवक दल (Red Shirt Volunteers) को ग़ैरकानूनी करार दे दिया था और उसके नेता खान अब्दुल गफ्फार खां अपने भाई डाक्टर खाँ साहब के साथ गिरफ्तार करके एक दूरस्थ जेल में भेज दिये गये थे। संयुक्त प्रान्त में भी सीमित करबन्दी आन्दोलन को, जिसे स्थानीय कांग्रेस कमेटी ने चलाने का निश्चय किया था, कुचलने के लिये एक अध्यादेश जारी किया गया था। इस सब से बढ़कर पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री

* ज़करिया : 'रिनेसेंट इण्डिया', पृष्ठ २८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टी. ए. शेरवानी को महात्मा जी से मिलने के लिये बम्बई जाते हुए रास्ते में गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस कार्य समिति ने स्थिति पर विचार किया और महात्मा जी को वायसराय से मुलाकात करने को कहा। महात्मा जी ने वायसराय को निम्न तार दिया: 'मैं जब कल बम्बई उतरा तो मुझे नहीं मालूम था कि सीमा प्रान्त और यू. पी. के अध्यादेश, सीमा प्रांत का गोली कांड, सीमा प्रान्त और यू. पी. में सम्मानित साथियों की गिरफ्तारियाँ और इन सब से बढ़कर बंगाल का अध्यादेश मेरा इन्तज़ार कर रहा था। क्या मैं इन सब को इस बात का प्रमाण समझूँ कि हमारा मैत्री सम्बन्ध अब समाप्त हो गया है या आप अब भी मुझसे यह आशा करते हैं कि मैं आपसे मिलूँ और कांग्रेस को परामर्श देने के सम्बन्ध में आपसे सलाह लूं।' वायसराय ने इसका एक लम्बा उत्तर गांधी जी को भेजा जिसमें बताया कि वे उन अध्यादेश आदि के बारे में, जो सम्राट् की सरकार की पूर्ण सहमति के साथ बंगाल, यू. पी. और सीमा प्रान्त में स्थिति को काबू करने के लिये जारी किये गये हैं, वाद-विवाद करने को बिल्कुल तैयार नहीं। कांग्रेस कार्य समिति ने इस उत्तर पर विचार करके एक प्रस्ताव पास किया जिसमें सरकार के साथ अनेक बातों में सहयोग देने की इच्छा प्रकट की बशर्ते कि वह इसकी माँगों का सन्तोषजनक जवाब दे और देश से अपील की कि यदि यह मांगें न मानी जायं तो वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन को फिर प्रारम्भ करदे।

सरकार ने इसका जवाब दिया धर पकड़ से। आधी रात को महात्मा जी तथा कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया और देश भर में सैंकड़ों व्यक्ति गिरफ्तार कर लिये गये ताकि सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ ही न हो सके। 'हफ्ते भर में प्रत्येक व्यक्ति जिसका कांग्रेस पार्टी से कुछ भी सम्बन्ध था गिरफ्तार कर लिया गया।'* इस प्रकार इस बार हमले में पहल सरकार की ओर से हुई जिसने कांग्रेस को शुरू में ही कुचल देना चाहा। अस्थायी समझौते के काल में ही सरकार ने कांग्रेस पर हमला करने की पूरी तैयारियाँ करली थीं जबकि महात्मा जी शांति की नीति पर चल रहे थे और फिर से सत्याग्रह प्रारम्भ करने के लिये न तो इच्छुक थे और न तैयार थे। पर सरकार ने उन्हें और देश दोनों को ही संग्राम में घसीटा। १९२०—२१ के असहयोग आन्दोलन और १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में तथा १९३२ के सत्याग्रह में यह सबसे बड़ा अन्तर था। पहिले दो संग्रामों में पहल कांग्रेस की तरफ से हुई थी और सरकार अपने बचाव पर रही थी। इसके अतिरिक्त सरकार कांग्रेस के ढंगों से अपरिचित थी और वह नहीं जानती थी कि इस प्रकार के आन्दोलन से किस प्रकार प्रभावात्मक रूप से निबटा जाय। १९३२ के संग्राम में पहिला वार सरकार की तरफ से हुआ जिसने आन्दोलन को प्रारम्भ होने से पूर्व ही कुचल देने की सारी तैयारियां की हुई थीं; इस दफा कांग्रेस बचाव पर रही।

---

* सुभाषचन्द्र बोस : 'दि इण्डियन स्टगल', पृष्ठ ३३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बावजूद इसके कि कांग्रेस संघर्ष के लिये तैयार न थी और सरकार ने प्रारम्भ में ही इस पर भयंकर हमला किया, लॉर्ड विलिंगडन की यह गर्वोक्ति कि वे इसे ६ हफ्ते में ही कुचल कर रख देंगे, पूरी न हो सकी। सरकार ने कांग्रेस को और उससे सम्बन्धित सब संस्थाओं को ग़ैरकानूनी करार दे दिया। इस प्रकार जो संस्थाएं ग़ैरकानूनी घोषित की गईं उनकी संख्या हज़ारों में थी। उनकी सम्पत्ति और कोष भी ज़ब्त कर लिये गये और आदेश जारी किये गये कि कोई भी उन्हें पैसे से अथवा दूसरी तरह से सहायता न दे। कांग्रेस स्वयंसेवकों को पनाह देना भी जुर्म था। सभाओं और जलूसों पर पाबन्दी लगा दी गई और राष्ट्रीय समाचारपत्रों के मुँह बन्द कर दिये गये। कई स्थानों पर तो गिरफ्तारशुदा आदमियों के नाम भी प्रकाशित नहीं किये जा सके। कांग्रेस के सहायकों और हमदर्दों पर भारी जुर्माने किये गये ताकि वे आगे से ऐसा न करें। सरकार ने प्रत्येक उपलब्ध साधन से कांग्रेस का विरोध किया; भारत इस समय एक प्रकार से सैनिक क़ानू के मातहत था और कांग्रेस को पहल अथवा स्वतन्त्रता से कार्य करने का अवसर अन्त तक नहीं मिला।'† १९३१ के संग्राम की अपेक्षा १९३२ के संग्राम में देशवासियों को अधिक दुःख और कष्ट उठाने पड़े। ग़दर के बाद से सरकार ने इतना कठोर और क्रूरतापूर्ण दमन नहीं किया था। सर सैम्युअल होर तक ने ब्रिटिश लोकसभा में स्वीकार किया कि भारत सरकार द्वारा जारी किये गये अध्यादेश बहुत उग्र और कठोर थे और भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका असर हुआ। इसके बावजूद साल के पहिले आठ महीनों में आन्दोलन पूरे जोश और उत्साह से चला। सत्याग्रहियों की कमी नहीं थी; देश ने सरकार की चुनौती का बहादुरी से जवाब दिया। सरकारी आंकड़ों के अनुसार जनवरी १९३२ में १४८०० और फरवरी में १७८०० व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। २० अप्रैल तक यह संख्या ६६६४६ हो गई जिस में ५३२५ स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं। कांग्रेस के अनुसार पहिले चार महीनों में गिरफ्तार हुए व्यक्तियों की संख्या ८०००० से कम नहीं थी। जेलों में और व्यक्तियों के लिये जगह नहीं थी, अतः राजनीतिक बन्दियों को उनमें रखने के लिये साधारण कैदियों को रिहा कर दिया गया। कांग्रेस स्वयंसेवकों को संख्या की अधिकता के कारण जब सरकार के लिये जेलों में रखना असम्भव हो गया तो उसने दूसरी चाल चलनी शुरू की। क़ानून को भङ्ग करने के अपराध में कांग्रेस स्वयंसेवकों को गिरफ्तार करने के बजाय सरकार ने उनके प्रदर्शनों को रोकने के लिये शक्ति का प्रयोग करना शुरू किया। पाशविक एवं आत्मिक शक्तियों की इस लड़ाई का विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। एक ओर था अत्याचार तथा पाशविकता का व्यंगात्मक कठोर अट्टहास, दूसरी ओर थी त्याग और कष्ट-सहन की चरम सीमा। लोगों ने बहादुरी से सब कष्ट सहे। सरकार ने सिरतोड़ कोशिश की कि कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन न हो सके पर दिल्ली निवासियों ने

† जवाहरलाल नेहरू : 'आत्म-कथा', पृष्ठ ३२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घण्टाघर पर अहमदाबाद के सेठ रणछोड़दास के सभापतित्व में इसे भी कर दिखाया। भारत के विभिन्न भागों से करीब ७०० प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए। जब अधिवेशन की कार्यवाही समाप्त हो चुकी तो पुलिस वहाँ पहुँची और उसने बहुत से व्यक्तियों को गिरफ्तार किया। ऐसी ही परिस्थितियों में कांग्रेस का आगामी अधिवेशन कलकत्ता में श्रीमती जे. एम. सेनगुप्ता के सभापतित्व में हुआ। इस अधिवेशन के मनोनीत सभापति पण्डित मदनमोहन मालवीय पहिले ही गिरफ्तार किये जा चुके थे। इसमें देश के विभिन्न भागों से २५०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। मनोनीत सभापति के भाषण का निम्न अंश जनता के उस समय के भावों को व्यक्त करता है: 'अन्दाज़ किया जाता है कि पिछले १५ महीनों में १ लाख २६ हज़ार व्यक्ति जिनमें हज़ारों महिलाएँ भी हैं गिरफ्तार किये गये और जेल भेजे गये हैं .....। १५ महीनों में सरकार अपने उद्देश्य को (कि वह कांग्रेस को ६ हफ्तों में कुचल कर रख देगी) नहीं पूरा कर सकी है। इससे दूने समय में भी वह इस काम को नहीं कर पायगी।'

संग्राम जारी रहा पर दबे रूप में। सरकार की दमन नीति जनता की भावना को तो नष्ट नहीं कर सकी पर इसने उन बाह्य प्रदर्शनों को जो १९३० में इतने बड़े पैमाने पर हुए थे, न होने दिया। विदेशी माल का बहिष्कार कांग्रेस कार्यक्रम का प्रमुख अंग था। जब ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार भी जुर्म करार दे दिया गया तो लोगों ने 'स्वदेशी वस्तुओं के खरीदने' का प्रचार करना शुरू किया। बहुत से आदमियों को स्वदेशी के प्रचार के अपराध में भी गिरफ्तार किया गया और जेल भेजा गया।

महात्मा जी का उपवास, पूना पैक्ट और उसके बाद :— अभी सत्याग्रह चल ही रहा था कि १७ अगस्त १९३२ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री रैम्ज़े मैकडानल्ड ने साम्प्रदायिक समस्या पर अपना निर्णय घोषित किया। इस निर्णय की आपत्तिजनक बातों में से एक यह भी थी कि इसने हरिजनों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया था। महात्मा जी ने ब्रिटिश सरकार को इंग्लैण्ड ही में इसके विरुद्ध चेतावनी दे दी थी। ११ मार्च को गांधी जी ने सर सैम्युअल होर को लिखा कि यदि सरकार हरिजनों के लिये पृथक् निर्वाचक समूह (electorates) बनाकर उन्हें हिन्दु जाति से पृथक् करने की कोशिश करेगी तो वे इस बात का अपने जीवन को खतरे में डालकर भी विरोध करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार ने इस चेतावनी को बहुत गम्भीरता से नहीं लिया क्योंकि प्रधान मंत्री के 'साम्प्रदायिक निर्णय' ने दलित वर्ग के लिये पृथक् निर्वाचक समूह बना दिये। परिणामतः महात्मा जी ने आमरण अनशन की घोषणा कर दी। यह अनशन तब तक छोड़ा नहीं जा सकता था जब तक या तो सरकार स्वयं या फिर लोकमत के दबाव से इस योजना को रद्द न कर दे। अनशन के समाचार से देश भर में घबराहट फैल गई और लोगों ने भरसक कोशिश की कि महात्मा जी इस विचार को छोड दें। पर सब कोशिशें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेकार रहीं और २० सितम्बर १९३२ को अनशन प्रारम्भ हो गया। पण्डित मदनमोहन मालवीय ने यह विचार करने के लिये कि महात्मा जी के जीवन को किस प्रकार बचाया जाय बम्बई में हिन्दू नेताओं की कान्फरेंस बुलाई। प्रारम्भिक वाद-विवाद के बाद कान्फरेंस ने अपना स्थान बम्बई से पूना बदल लिया। कान्फरेंस के परिश्रम के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध पूना पैक्ट बना जिसे हिन्दू महासभा ने और बाद में सम्राट् की सरकार ने भी स्वीकृत कर लिया। 'साम्प्रदायिक निर्णय' में दलित वर्ग को ७१ पृथक् स्थान दिये गये थे। पूना पैक्ट ने ७१ के स्थान पर उन्हें १४८ स्थान दिये पर इस आधार पर कि सब हिन्दुओं का एक सामान्य निर्वाचक समूह हो। पूना समझौते की अन्य बातें अन्यत्र बताई जायेंगी। इस प्रसग में उनका वर्णन करना अनावश्यक है।

महात्मा जी के उपवास ने अस्पृश्यता निवारण के आन्दोलन में मानो जान सी डाल दी। पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन पर इसका प्रभाव अच्छा न हुआ। उपवास के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने के बाद महात्मा जी जेल के सींकचों के पीछे से ही अछूतोद्धार आन्दोलन को चलाते रहे। इसने लोगों का ध्यान सविनय आन्दोलन से हटा दिया। अनेक उत्साही कार्यकर्त्ता राजनीतिक संघर्ष को तिलांजलि देकर अस्पृश्यता निवारण के कार्य में लग गये।

इस बीच में भद्र अवज्ञा आन्दोलन भी देश में चलता रहा यद्यपि इसका जोश समाप्त हो चुका था। सरकार की कठोर दमन नीति ने जन-प्रदर्शनों को लगभग असम्भव बना दिया था। कांग्रेस में जान डालने और जनता में इसके लिये फिर से उत्साह पैदा करने के वास्ते पूर्ववत् २६ जनवरी को 'स्वाधीनता दिवस' मनाया गया और अप्रैल में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन करने का प्रयत्न किया गया। दोनों ही अवसरों पर सरकार ने पाशविक शक्ति का प्रयोग करके प्रदर्शन को रोका और अनेक व्यक्तियों को गिरफ्तार किया।

यरवदा जेल में रहते हुए महात्मा जी ने 'अपने और अपने साथियों की हृदय-शुद्धि और हरिजनों के कार्य में अधिक चौकन्ना रहने के लिये' तीन सप्ताह का उपवास करने की घोषणा की। उपवास ८ मई १९३३ को प्रारम्भ हुआ और उसी दिन महात्मा जी को बिना शर्त जेल से रिहा कर दिया गया। रिहाई के बाद उन्होंने सबसे प्रथम कार्य यह किया कि तत्कालीन कांग्रेस प्रेज़ीडेंट को ६ सप्ताह के लिये सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करने की सलाह दी और सरकार से भी सब अध्यादेशों को वापिस ले लेने और समस्त राजनीतिक बन्दियों को रिहा करने की अपील की। आन्दोलन पहिले ६ हफ्ते के लिये और उसके बाद दुबारा ६ हफ्ते के लिये स्थगित किया गया पर सरकार ने इस अरसे में न तो अध्यादेश ही वापिस लिये और न राजनीतिक बन्दियों को ही रिहा किया। आन्दोलन के स्थगित कर देने मात्र से इसकी सन्तुष्टि नहीं हुई, यह चाहती थी कि इसे बिना शर्त वापिस ले लिया जाय। २४ जुलाई को महात्मा जी ने कांग्रेस प्रेज़ीडेंट को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामूहिक आन्दोलन को स्थगित करने की सलाह दी। उन्होंने स्वयं अपना साबरमती आश्रम भी बन्द कर दिया और कैर ज़िले के रास गाँव में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने की घोषणा की। इस पर उन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया गया और एक वर्ष तक यरवदा जेल में रक्खा गया। इस बार भी जेल में उन्होंने हरिजन कार्य को चलाने के लिये उन्हीं सुविधाओं की माँग की जो उन्हें १९३२ में जेल में प्रदान की गई थीं, पर सरकार ने उनकी प्रार्थना अनसुनी करदी। इस पर उन्होंने फिर अनशन करने का निश्चय किया, पर सरकार ने उन्हें फिर रिहा कर दिया। जेल से रिहा होने के बाद कारावास की एक वर्ष की अवधि तक उन्होंने सविनय अवज्ञा न करने का निश्चय किया और अपनी समस्त शक्ति इस अरसे में उन्होंने हरिजन आन्दोलन में लगाई। नैतिक आधार पर यह निश्चय कितना ही न्याय्य एवं सही क्यों न हो इसने व्यक्तिगत अवज्ञा आन्दोलन को बिल्कुल समाप्त कर दिया। महात्मा जी ने हरिजनों की सेवा के लिये तमाम देश का दौरा किया। इसी समय बिहार में भयङ्कर भूकम्प आया जो महात्मा जी को बिहार ले गया जहाँ उन्होंने इसके सम्बन्ध में अपने सहयोगियों से पर्याप्त समय तक बातचीत की। इस बातचीत के परिणामस्वरूप एवं गहन आत्मनिरीक्षण तथा परमात्म-चिन्तन के बाद गांधी जी इस परिणाम पर पहुँचे कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अकेले उन्हें ही अपने ऊपर लेना चाहिये। अतः उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की पटना बैठक में सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द करने की भी सलाह दी। इस प्रकार इस संग्राम में, जो लार्ड विलिंगडन की सरकार द्वारा काँग्रेस पर थोपा गया था और जिसमें सरकार कांग्रेस पर हमला करने के लिये पहिले से पूरी तरह तय्यार थी, ज़ाहिरा तौर पर सरकार की विजय हुई और कांग्रेस हारी। कांग्रेस की इस अर्थ में हार हुई कि उसे अपने ध्येय को प्राप्त किये बगैर सत्याग्रह को वापिस लेना पड़ा। सरकार के डरावने दमन ने अध्यादेश शासन की संगठित अवज्ञा और जन-प्रदर्शन असम्भव कर दिये। यह सब ठीक है, पर सरकार विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना को जनता के हृदयों में से न निकाल पाई। दमन कुछ समय के लिये स्वाधीनता की भावना को दबा सकता है पर उसे सदा के लिये जड़ से नष्ट नहीं कर सकता।

इस बीच में कुछ कांग्रेस जन उस समय की परिस्थितियों में कौंसिल प्रवेश के कार्यक्रम को फिर से अपनाने के पक्ष में होते जा रहे थे। श्री एन. सी. केलकर और जमनादास महता ने इस विचार को लोकप्रिय बनाने के लिये १९३४ के प्रारम्भ में डिमोक्रटिक स्वराज पार्टी की एक कान्फरेंस पूना में बुलाई। कुछ समय बाद डाक्टर अन्सारी और डाक्टर विधानचन्द्र राय ने अपने विचारों के कांग्रेसियों की एक सभा मार्च में दिल्ली में बुलाई जिसने धारासभा के आगामी चुनावों को लड़ने के लिये 'स्वराज पार्टी' को पुनर्जीवित करने का निश्चय किया। एक इससे भी बड़ी सभा रांची में बुलाई गई जहाँ महात्मा जी के विचारों के उपलब्ध होने की भी आशा थी। इस सभा ने दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कान्फ्रेंस के निश्चय का समर्थन किया। मई १९३४ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तीन वर्ष बाद फिर पटना में बैठी जहाँ उसने व्यक्तिगत सत्याग्रह को नियमित रूप से वापिस लेने का निश्चय किया और कांग्रेसजनों को व्यवस्थापिका सभा में प्रविष्ट होने की इजाज़त दी। सविनय अवज्ञा का अधिकार एकमात्र गांधी जी को ही दिया गया जो यदि ठीक समझें तो इसे कर सकते थे। इस प्रकार समय बिताने के उद्देश्य से कांग्रेस फिर कौंसिल मोर्चे पर वापिस आ गई। स्वराज पार्टी को यह कार्य न सुपुर्द करके कांग्रेस ने चुनाव लड़ने की सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली और केन्द्रीय धारा सभा के उम्मेदवारों को चुनने तथा चुनाव सम्बन्धी अन्य कार्यों को चलाने के लिये उसने एक चुनाव बोर्ड (Parliamentary Board) की नियुक्ति की। जब कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द करने और चुनावों में भाग लेने के निश्चय की घोषणा की तो सरकार ने भी कांग्रेस की सारी संस्थाओं पर से पाबन्दी हटा ली और उन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी।

असेम्बली के चुनाव :— केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के चुनाव नवम्बर १९३४ में हुए। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है कांग्रेस ने उनमें भाग लेने का निश्चय किया, प्रत्येक आम स्थान के लिये चुनाव लड़ा और अन्त में शानदार कामयाबी हासिल की। पंजाब के सिवाय प्रत्येक प्रान्त में कांग्रेस विजयी हुई और इस प्रकार इसने लार्ड विलिंगडन को बता दिया कि कठोर दमन चक्र के बावजूद भी उसमें जान है और वह सरकार से टक्कर ले सकती है। सबसे दिलचस्प चुनाव दक्षिण भारत में 'वाणिज्य' के स्थान के लिये हुआ। इस स्थान के लिये दो उम्मीदवार थे, एक सर षण्मुखम चेट्टी जो ओटावा से वापिस आने के बाद केन्द्रीय असेम्बली के प्रेज़ीडेंट चुने गये थे, और दूसरे थे वेंकटाचलम चेट्टी। सर षण्मुखम का समर्थन मद्रास और भारत सरकार दोनों कर रही थीं। उनके चुनाव घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने वालों में सबसे प्रमुख मद्रास सरकार के भूतपूर्व गृह-सदस्य सर मुहम्मद उस्मान और मद्रास के बड़े मंत्री बोबिली के राजा थे। श्री वेंकटाचलम का समर्थन कांग्रेस कर रही थी। इस प्रकार यह दरअसल कांग्रेस और सरकार का संघर्ष था। निर्वाचन क्षेत्र छोटा और शिक्षित था। चुनाव ऐसे समय पर रक्खा गया था कि इसका देश के दूसरे चुनावों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। कई दृष्टियों से यह दोनों दलों की शक्तियों की जाँच थी। काँग्रेस जिसे लार्ड विलिंगडन की सरकार ने पाशविक शक्ति की सहायता से सदा के लिये कुचलना चाहा था, चुनाव में विजयी रही। इसके उम्मीदवार ने सरकारी उम्मीदवार को मात दी।

कांग्रेस ने असेम्बली में भी अपना कार्य बहुत खूबसूरती से निभाया और प्रगतिशील तत्त्वों की सहायता से अनेक अवसरों पर इसने सरकार को शिकस्त दी।

तीसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस :— १९३२ से १९३५ तक ब्रिटिश सरकार ने भारत में दोहरी नीति का अनुसरण किया। एक तरफ तो कांग्रेस के विरुद्ध इसका दमन चक्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता रहा और दूसरी तरफ यह भारत के लिये विधान बनाने का कार्य करती रही। भारत सरकार ने इसी समय कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों के नेताओं से सम्पर्क स्थापित करने तथा मताधिकार, संघीय वित्त और भारतीय रियासतों पर बिठाई गई जांच कमेटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिये एक परामर्शदात्री कमेटी बिठाई।

भारत मंत्री सर सैम्युअल होर गोलमेज़ कान्फ्रेंस का कोई और अधिवेशन करने के पक्ष में न थे। वे साइमन कमीशन की योजना के अनुसार भारतीयों को ब्रिटिश संसद की एक कमेटी के सामने, जिसे भारत का भावी विधान बनाना था, अपने मामले को पेश करने के लिये आमंत्रित करना चाहते थे। तदनुसार २७ जून १९३२ को गोलमेज़ कान्फ्रेंस के तृतीय अधिवेशन के न किये जाने की घोषणा कर दी गई। भारतीय उदार दल के नेताओं को यह बहुत बुरा लगा अतः इस घोषणा के विरोधस्वरूप उन्होंने परामर्शदात्री कमेटी की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिये। इसका सरकार पर प्रभाव पड़ा और वायसराय ने असेम्बली के सामने ऐलान किया कि ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों का एक प्रतिनिधि मंडल ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल से विधान के बारे में बहस करने के लिये लन्दन भेजा जायेगा। संक्षेप में ब्रिटिश सरकार ने अनिच्छा से गोलमेज़ कांफ्रेंस का तीसरा अधिवेशन बुलाना मंजूर किया। यह १७ नवम्बर १९३२ से २४ दिसम्बर १९३२ तक हुआ। क्योंकि कांग्रेस संग्राम में व्यस्त थी अतः इसके इसमें भाग लेने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित हुआ। ब्रिटिश मज़दूर दल ने भी इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया क्योंकि श्री वेजवुड बैन तथा प्रोफेसर लीज़ स्मिथ, जिन्हें इसने अपना प्रतिनिधि नामज़द किया था, ब्रिटिश सरकार को मान्य न थे। ब्रिटिश सरकार इन्हें इसलिये ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल में सम्मिलित करने को तैयार न थी कि कहीं ये उसमें फूट न पैदा कर दें। पहिले की भांति भारत से केवल सरकार के विश्वस्त आदमी बुलाये गये। यहाँ तक कि हिन्दू महासभा द्वारा चुने गये सदस्यों तथा भारतीय उदार संघ (Indian Liberal Federation) के प्रेज़ीडेंट को भी आमंत्रित नहीं किया गया। कान्फ्रेंस ने तीन प्रमुख समस्याओं पर विचार किया। ये समस्याएँ थीं— संरक्षण अथवा अभिरक्षण, संघ में सम्मिलित होने के लिये रियासतों की शर्तें तथा अवशिष्ट शक्तियों (residuary powers) का बँटवारा (allocation)। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि मंडल ने विधान में एक अधिकार पत्र (Bill of Rights) भी सम्मिलित करना चाहा लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों ने इसे अस्वीकार कर दिया।

अधिवेशन की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र (White Paper) के रूप में अपने प्रस्ताव प्रकाशित किये। ये प्रस्ताव भारतीय माँगों को पूरा नहीं करते थे; यहाँ तक कि नरम दल भी इनसे असन्तुष्ट था। जिन अधिकारों की प्राप्ति से एक देश को स्वतन्त्र राष्ट्र कहा जा सकता है वे सभी गवर्नर जनरल को दे दिये गये थे; विदेशी मामलों तथा रक्षा-विभाग से जनप्रिय मंत्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार की योजनाएँ असन्तोषजनक और निराशाप्रद तो थीं ही, बिल के रूप में जब वे संयुक्त संसदीय समिति (Joint Parliamentary Committee), जिसकी बैठकें १८ महीने तक होती रहीं और जिसने अनेक गवाहियाँ लीं, तथा ब्रिटिश संसद के सामने रक्खी गईं तो इन्होंने उनमें और भी कमी कर दी। यह सब ब्रिटिश संसद के अनुदार (diehard) दल को प्रसन्न करने के लिये ही किया गया था। १९२८ में साइमन कमीशन की स्थापना से लेकर संसद में बिल पर वाद-विवाद होने तक चलने वाले इस लम्बे मामले का अन्त हुआ १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के रूप में। इस अधिनियम के मुख्य उपबन्धों का विवेचन दो आगामी अध्यायों में होगा।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२

१९३५ का भारत सरकार अधिनियम: संघ सरकार

विषय प्रवेश :— जबकि १९१९ का भारत सरकार अधिनियम पूर्ण उत्तरदायी शासन के मार्ग पर प्रथम कदम था, १९३५ का भारत सरकार अधिनियम इसी मार्ग पर दूसरी मंज़िल थी। जिन परिस्थितियों में ब्रिटिश संसद ने इसे पास किया उनका पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार ब्रिटेन की रूढ़िवादी (Conservative) सरकार ने 'ब्रिटिश भारत में शासन पद्धति, शिक्षा की उन्नति तथा प्रतिनिधिसत्तात्मक संस्थाओं के विकास' की जांच कराने तथा इस बात पर रिपोर्ट देने के लिये कि 'क्या और किस हद तक भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना वांच्छनीय है', सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक गोरा कमीशन भारत भेजा। इस कमीशन का देश ने पूरी तरह बहिष्कार किया और इसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने से पूर्व ही एक प्रकार से अस्वीकृत की जा चुकी थी। रूढ़िवादी सरकार की उत्तराधिकारी मज़दूर सरकार ने इंग्लैण्ड में एक गोलमेज़ कान्फ्रेंस बुलाई जिसमें ग्रेट ब्रिटेन के तीन प्रमुख राजनीतिक दलों, भारतीय रियासतों तथा ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। १९३० से १९३२ तक इसके तीन अधिवेशन हुए जिनमें से केवल दूसरे में महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से शरीक हुए। दूसरे और तीसरे अधिवेशनों के समय इंग्लैण्ड में अनुदार दल के हाथ में शक्ति थी। इसके सदस्यों ने कान्फ्रेंस के भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के प्रक्रियावादी एवं सम्प्रदायवादी तत्वों के साथ गठ-बन्धन कर लिया, अतः कान्फ्रेंस ने जो भी निश्चय किये वे भारतीय राष्ट्रीयता की दृष्टि से अत्यन्त असन्तोषप्रद थे। इन्हीं निर्णयों के आधार पर १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के मुख्य उपबन्ध बनाये गये। ये चार विभिन्न शक्तियों के संयुक्त कार्य का परिणाम थे। भारतीय राष्ट्रवाद, ब्रिटिश साम्राज्यवाद, साम्प्रदायिक एवं अन्य प्रकार के अल्प-संख्यक दल और भारतीय नरेश, ये चार शक्तियां थीं जिनका १९३५ के एक्ट पर मुख्यतया प्रभाव पड़ा। इनमें भारतीय राष्ट्रवाद सब से कमज़ोर और ब्रिटिश साम्राज़्यवाद सबसे मज़बूत था क्योंकि शेष दो शक्तियां इसी का समर्थन कर रही थीं। यही कारण है कि भारतीय दृष्टिकोण से १९३५ का एक्ट बहुत निराशाजनक था।

अधिनियम की मूलभूत विशेषताएं :— हम एक पहिले अध्याय में यह देख चुके हैं कि प्रान्तों में द्वैध शासन का समावेश करके १९१९ के भारत सरकार अधिनियम ने देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उत्तरदायी शासन की स्थापना की ओर प्रथम कदम उठाया। १९३५ के अधिनियम ने द्वैध शासन को समाप्त कर और प्रान्तीय प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्र में उत्तरदायी शासन को स्थापित करके इसी दिशा में आगे की ओर एक और क़दम बढ़ाया। प्रान्तों में संरक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों का भेद मिटा दिया गया तथा समस्त प्रान्तीय विषय मंत्रियों के उत्तरदायित्व के क्षेत्र में समाविष्ट कर दिये गये। पर प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन का समावेश तब तक निरर्थक था जब तक उन्हें केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से मुक्त न कर दिया जाता। अतः प्रान्तों को स्वतन्त्र इकाई बनाया गया। इस प्रकार प्रान्तीय स्वाधीनता (Provincial Autonomy) की स्थापना, जिसमें प्रान्तों की स्वतन्त्र स्थिति और उत्तरदायी शासन दोनों ही समाविष्ट हैं, १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की सबसे प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है। इसके स्वरूप एवं महत्त्व पर बाद में प्रकाश डाला जायगा। पर प्रान्तीय स्वाधीनता केन्द्र में ग़ैर-ज़िम्मेवार सरकार के साथ मेल नहीं खाती, अतः भारत सरकार का प्रजातन्त्रीकरण भी आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त भारतीय लोकमत भी एक लम्बे अरसे से केन्द्र में उत्तरदायित्व की मांग कर रहा था। अतः १९३५ के अधिनियम ने केन्द्र को आंशिक उत्तरदायित्व प्रदान किया। कुछ केन्द्रीय विषयों का प्रशासन गवर्नर जनरल को जनप्रिय मंत्रियों की सहायता और परामर्श से चलाना था और दूसरों के लिये वह स्वयं पूर्णरूपेण ज़िम्मेवार था। संक्षेप में, एक्ट ने केन्द्र में द्विविध शासन पद्धति का समावेश किया।

केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व के समावेश के निश्चय ने भारतीय संघ शासन के विचार को, जिसे साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने अस्पष्ट ही छोड़ दिया था, एक क्रियात्मक प्रस्ताव का रूप दे दिया। ब्रिटिश सरकार केन्द्र में उस समय तक जनता के प्रतिनिधियों को सीमित शक्ति भी हस्तान्तरित करने को तय्यार न थी जब तक उसे यह विश्वास न हो जाता कि उग्र एवं प्रगतिशील तत्वों को रोकने के लिये, जिनका आना अनिवार्य था, वहाँ स्थायी एवं अनुदार तत्व भी उपस्थित होंगे। इन स्थायी तत्वों का निर्माण भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों के रूप में किया गया जिन्हें संघ शासन में अपनी रियासतों की ओर से भाग लेना था। और दूसरी भी बातें थीं जिन्होंने संघ शासन के विचार का समर्थन किया पर वह बात जिसने इसे क्रियात्मक प्रस्ताव का रूप दिया भारतीय रियासतों की प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने की इच्छा थी। इस प्रकार एक नई शासन प्रणाली की स्थापना, जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय रियासतों को संघीय सिद्धान्त के आधार पर एक साथ मिलाया जाना था, १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता थी।

इस प्रकार, प्रान्तीय स्वाधीनता, केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व, और अखिल भारतीय संघ (Federation), यह तीनों एक दूसरे से संबद्ध थे। पर इनमें से किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी १९३५ के एक्ट में पूर्णतया स्वीकार नहीं किया गया था। प्रांतीय स्वाधीनता प्रान्तीय गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों एवं विवेक से कार्य करने की शक्ति के अधीन थी; केन्द्र में भी उत्तरदायित्व इसी प्रकार गवर्नर जनरल की आरक्षण तथा अभिरक्षण की शक्तियों से सीमित था। आरक्षण और अभिरक्षण एक्ट की उतनी ही बड़ी विशेषताएँ थीं जितना कि जनता के प्रतिनिधियों को केन्द्र और प्रान्तों में शक्ति हस्तान्तरित करने का प्रस्ताव। इसी अध्याय में बाद में इन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा। भारतीय अवस्थाओं और अंग्रेजी हितों को दृष्टि में रखते हुए इसी प्रकार 'संघीय सिद्धान्त' को भी हल्का किया गया। यह एक आकस्मिक घटना थी जो ब्रिटिश नीति को कार्यान्वित करते हुए पैदा हो गई थी, न कि जनता की आन्तरिक इच्छा की अभिव्यक्ति। यह आंशिक लोकतन्त्र एवं पूर्ण निरंकुश शासन को एक जगह मिलाने का अस्वाभाविक प्रस्ताव था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है, कुछ इकाइयों के लिये संघ शासन में सम्मिलित होना अनिवार्य था और कुछ के लिये ऐच्छिक। संघ के विभिन्न अंगों पर संघीय सरकार की शक्ति भी एक समान न थी। इस बात पर और रोशनी डालना आवश्यक नहीं।

अन्त में यह भी बता देना जरूरी है कि एक्ट ने किसी भी प्रकार ब्रिटिश संसद की प्रभुता को भारत सरकार के ऊपर से कम न होने दिया। वैधानिक कानून को परिवर्तित, संशोधित और रद्द करने का अधिकार केवल ब्रिटिश संसद को ही प्राप्त था। एक्ट ने बर्मा को भारत से और सिंध को बम्बई से पृथक् कर दिया।

शक्ति वितरण :— १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में प्रस्तावित अथवा २६ नवम्बर १९४९ को भारतीय संविधान परिषद् (Constituent Assembly) द्वारा पास किये गये संघात्मक विधान का अर्थ यह है कि राजनीतिक दृष्टि से स्वायत्त एवं स्वशासी राज्य स्वेच्छा से एक सामान्य अथवा राष्ट्रीय सरकार के मातहत इस प्रकार मिल जायं कि राष्ट्रीय सरकार और संघ के अंगीभूत राज्यों की सरकारों का अपना अपना निश्चित एवं बंटा हुआ कार्यक्षेत्र हो और अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही स्वतन्त्र एवं सर्वोपरि हों। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि संघात्मक विधान संघीय क्षेत्र को राज्य के क्षेत्रों से पृथक् करता है। कुछ विषय संघ सरकार के लिये अलग कर देता है और संघीय धारासभा को उन पर कानून बनाने का पूर्ण अधिकार देता है। अन्य विषय यह संघ के अंगीभूत राज्यों को दे देता है जिन पर उनकी धारासभाओं को बिना किसी हस्तक्षेप के अपने नागरिकों के लिये कानून बनाने का अधिकार होता है। संघीय सरकार तथा संघ के अंगीभूत राज्यों की सरकारों में इस प्रकार का विषय-विभाजन संघ शासन का एक आवश्यक अंग है। इसके बगैर संघात्मक विधान बन नहीं सकता। संघीय सरकार और संघ के अंगीभूत राज्यों की सरकारों में विषय-विभाजन दो प्रकार से हो सकता है। जिन विषयों और शक्तियों को राज्य, संघ सरकार को देने को तैयार हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका विशिष्ट रूप से उल्लेख कर दिया जाय और शेष सब शक्तियां राज्यों के लिये छोड़ दी जायं। दूसरे शब्दों में, संघ सरकार की शक्तियों का विशिष्ट रूप से तथा राज्यों की शक्तियों का नकारात्मक रूप से निर्धारण किया जा सकता है। अमेरिका में यही पद्धति अपनायी गई है। दूसरा ढंग यह है कि अंगीभूत राज्यों की शक्तियों का उल्लेख कर दिया जाय और अवशिष्ट शक्तियां संघीय सरकार को दे दी जायं; इसमें राज्यों की शक्तियां विशिष्ट रूप से तथा संघ सरकार की शक्तियां निषेधात्मक रूप से निश्चित की जाती हैं। यह प्रणाली कनाडा में केन्द्रीय सरकार सुदृढ़ बनाने के लिये काम में लाई गई। १९३५ के अधिनियम में इसमें से कोई सा भी तरीका नहीं अपनाया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय लोकमत केन्द्र को प्रबल बनाने के लिये अवशिष्ट शक्तियाँ संघीय सरकार को देना चाहता था। मुस्लिम लीग केन्द्र को शक्तिहीन बनाकर प्रान्तों को प्रमुखता देना चाहती थी और इसीलिये लगातार इस बात पर ज़ोर दे रही थी कि केन्द्र की शक्तियाँ निर्दिष्ट कर दी जायं और अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों को सौंप दिये जायं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद राष्ट्रीय मत से सहमत था पर सम्प्रदायवादियों को अप्रसन्न करना न चाहता था, अतः दोनों ही पक्षों को खुश रखने के लिये इसने एक नई योजना बनाई। १९३५ के अधिनियम में केन्द्रीय विषयों की एक संघीय सूची और प्रान्तीय विषयों की दूसरी प्रान्तीय सूची बनाई गई। इस प्रकार इसने संघ तथा उसके अंगीभूत राज्य दोनों की ही शक्तियों का विशिष्ट रूप से उल्लेख किया। इनके अतिरिक्त इसने एक तीसरी समवर्ती सूची (Concurrent list) भी बनाई। इस सूची में सम्मिलित विषयों पर संघ एवं राज्य दोनों की धारासभाओं को समान रूप से क़ानून बनाने का अधिकार था। प्रायः सभी विषयों को इन तीनों सूचियों में से किसी न किसी में रखने का प्रयत्न किया गया था परन्तु यदि कोई नया विषय निकल आये तो गवर्नर-जनरल को पूर्ण अधिकार था कि वह उसे किसी भी सूची में सम्मिलित कर दे। अवशिष्ट शक्तियों की समस्या को सुलझाने का यह नया ही ढंग था।

संघीय सूची में सम्मिलित विषयों पर संघीय धारासभा ही कानून बना सकती थी। ये विषय ५९ थे। इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण विषय निम्न थे: सम्राट् की भारतीय जल-सेना, हवाई सेना तथा स्थल सेना; सेना के तीनों पक्षों से सम्बन्धित कारखाने; विदेशी मामले; गिरजों से सम्बन्ध रखने वाले व मज़हबी मामले; मुद्रा व सिक्का इत्यादि; संघ का सार्वजनिक ऋण; डाक, तारघर, टेलीफोन, वायरलैस, ब्राडकास्टिंग तथा डाकघर का सेविंग्स बैंक; संघीय नौकरियां, व लोक सेवा आयोग (Public Service Commission); राजकीय पुस्तकालय व भारतीय अजायबघर; बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय व अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय; भारत की पैमाइश; प्राचीन एवं ऐतिहासिक स्मारक; जनगणना; संघीय रेलें; जहाज़रानी; प्रमुख बन्दरगाह; हवाई जहाज और हवाई सेवाएं; प्रकाश स्तम्भ; आविष्कार व कापीराइट; विनिमय के बिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व चैक; हथियार इत्यादि; विस्फोटक पदार्थ; अफीम; मिट्टी का तेल; व्यवसायों का विकास; खानों और तेल के चश्मों में मज़दूरी; बीमा; बैंकिंग; तटकर; शराब को छोड़ कर देश में पैदा होने वाली वस्तुओं और तम्बाकू पर आन्तरिक कर; भारतीय सन; दवाइयाँ और शृङ्गार की वस्तुएं; कारपोरेशन कर; नमक; सरकारी लाटरियां; आय कर; पूंजी कर; उत्तराधिकार कर; चुङ्गी (Terminal tax) और रेल के किरायों व माल पर कर। ये सब विषय संघ के अस्तित्व के लिये अत्यावश्यक हैं और समस्त देश से सम्बन्ध रखते हैं। यह आवश्यक है कि इन सबके विषय में देश भर में एक सी नीति बरती जाय।

वे विषय जिनका स्वरूप प्रान्तीय था अर्थात् जिनका संघ की अपेक्षा प्रान्तों से अधिक सम्बन्ध था और जिनके विषय में देश भर में एकसी नीति अपनाने की ज़रूरत नहीं थी, प्रान्तीय सूची में सम्मिलित किये गये। ये प्रान्तीय धारासभाओं के अधिकार-क्षेत्र में थे। साधारण परिस्थितियों में संघीय धारासभा को इन पर क़ानून बनाने का अधिकार न था पर संकटकाल में गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति से वह ऐसा भी कर सकती थी। प्रान्तीय सूची में ५४ विषय थे जिनमें से मुख्य निम्न थे:— सार्वजनिक व्यवस्था व न्यायप्रशासन, संघीय न्यायालय के अतिरिक्त सब न्यायालयों की रचना; पुलिस, जेलखाने तथा वयस्क सुधारगृह (Reformatories); प्रान्त का सार्वजनिक ऋण; प्रान्तीय नौकरियां व प्रान्तीय लोक-सेवा आयोग; ज़मीन पर सरकारी कब्ज़ा; प्रान्तीय पुस्तकालय, अजायबघर इत्यादि; स्थानीय स्वशासन; सार्वजनिक स्वास्थ्य व सफाई; औषधालय, चिकित्सालय और पैदा होने तथा मरने वालों की रजिस्ट्री; शिक्षा; यातायात; सिंचाई व नहरें; कृषि, जमीन का पट्टा (Tenure) व कृषि-सम्बन्धी ऋण, वज़न और माप; प्रान्तीय व्यवसायों का विकास; प्रान्तीय व्यापार व वाणिज्य; बेकारी व ग़रीबों की सहायता; थियेटर व सिनेमाघर; सहयोग; लगान; पी जाने वाली शराब, अफीम और औषधियों पर आन्तरिक कर (excise duty); कृषि-सम्बन्धी आय पर कर; ज़मीन व इमारतों पर कर; खेती की ज़मीनों पर उत्तराधिकार कर; केपीटेशन कर, पेशों, व्यापार व रोज़गार पर कर; पशु-कर, विज्ञापन व बिक्री कर; भोग-विलास की सामग्री, खेल तमाशों और जुए इत्यादि पर कर तथा चुंगी। एक्ट के एक संशोधन ने बिजली की बिक्री व उपभोग पर तथा बनारस व अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों के अतिरिक अन्य सब विश्वविद्यालयों पर कर लगाने का अधिकार भी प्रान्तों को दिया और इन करों को प्रान्तीय सूची में बढ़ा दिया।

इन दो सूचियों के अतिरिक्त एक तीसरी सूची भी थी जिसे समवर्ती सूची कहा जाता था। इसमें २६ विषय थे जो दो भागों में रक्खे गये थे। प्रथम भाग में मुख्य विषय निम्न थे: फौजदारी क़ानून; ज़ाब्ता फौजदारी; ज़ाब्ता दीवानी; गवाही व शपथ; विवाह, तलाक व तलाक; सम्पत्ति का हस्तान्तरण; दस्तावेजों की रजिस्ट्री; वसीयतनामा,

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना वसीयत की सम्पत्ति व उत्तराधिकार; ट्रस्ट और ट्रस्टी; संविदा (Contracts); दिवाला; वकीलों, डाक्टरों आदि के पेशे; समाचारपत्र, पुस्तकें और छापेखाने; ज़हर और ज़हरीली औषधियां; मशीन से चलने वाली गाड़ियां; बौयलर; खानाबदोश युरोपियन व जरायमपेशा (Criminal) जातियां। दूसरे भाग में निम्न विषय थे: कारखाने; मज़दूरों की बेहतरी के कार्य, उनका प्राविडेंट फन्ड तथा बेकारी का बीमा; मज़दूर संघ; व्यावसायिक एवं श्रमिकों के झगड़े; बिजली; तटीय जहाज़रानी; संघ के मातहत व्यक्तियों की नज़रबन्दी; और प्रदर्शन के लिये सिनेमा की फिल्मों की स्वीकृति।

समवर्ती सूची में ऐसे विषय सम्मिलित किये गये थे जिनमें प्रान्तों की विशेष दिलचस्पी थी पर साथ ही जिनके विषय में देश भर में एक जैसी नीति बरती जानी आवश्यक थी। संघीय एवं प्रान्तीय दोनों ही धारासभाओं को इन विषयों पर क़ानून बनाने का अधिकार था; प्रान्तीय धारासभाएँ इन विषयों पर संघीय धारासभाओं द्वारा बनाये गये क़ानूनों में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकती थीं।

विद्यार्थियों को यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि संघात्मक विधान के लिये संघीय सरकार तथा राज्यों की सरकार द्वारा प्रशासित विषयों में भेद करना अत्यावश्यक है। विधान द्वारा स्वीकृत शक्ति-वितरण की योजना में इनमें से कोई भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकता; केवलमात्र वैधानिक संशोधनों के द्वारा ही इसमें परिवर्तन सम्भव है। कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष के क्षेत्र पर हमला नहीं कर सकता; राज्यों की सरकारें संघीय विषयों पर कानून नहीं बना सकतीं और संघीय धारासभा का राज्यों व प्रान्तों के विषयों से कोई वास्ता नहीं। यद्यपि १९१९ के अधिनियम में भी समस्त विषयों को केन्द्रीय एवं प्रांतीय विषयों में विभक्त कर दिया गया था, इस विभाजन का स्वरूप संघात्मक न था; केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को प्रान्तीय विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार था और प्रान्तीय धारासभा इसी प्रकार अपने प्रान्त के लिये उन विषयों पर भी कानून बना सकती थी जो केन्द्र को दे दिये गये थे। इस प्रकार १९३५ के अधिनियम के संघीय एवं प्रान्तीय धारासभाओं के नियमित विषय वितरण में तथा १९१९ के अधिनियम के केन्द्र और प्रान्तों के विधायक सम्बन्धों में ज़मीन आसमान का अन्तर है।

भारतीय संघ योजना की विशेषताएँ :— १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में जिस संघात्मक विधान की रूपरेखाएँ खींची गई हैं उनकी अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य संघात्मक विधानों से पृथक् करती हैं। इनमें से अधिकांश विशेषताओं का मूल कारण यह है कि भारत में संघ का विचार और उसकी प्रेरणा जनता से नहीं अपितु एक बाह्य स्रोत से ली गई। इसका विचार सब से पहिले ब्रिटिश सरकार के दिमाग में आया। 'भारत में संघ शासन अंशतः ब्रिटिश भारत के राजनीतिक विकास, अंशतः भारतीय रियासतों की देश की वैधानिक उन्नति में भाग लेने एवं सर्वोपरि सत्ता (Paramount

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Power) के सम्बन्ध में अपनी स्थिति को स्पष्ट कराने की इच्छा तथा अधिकांश में ब्रिटिश सरकार की केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व देने से पूर्व दृढ़, स्थायी एवं अपरिवर्तनशील तत्वों को पाने की चिन्ता का परिणाम है।'* यह स्मरण रखना होगा कि राष्ट्रीय भारत एक लम्बे अरसे से केन्द्र में उत्तरदायी सरकार पाने के लिये आन्दोलन कर रहा था, पर १९१९ के भारत सरकार अधिनियम ने केन्द्र में उत्तरदायित्व नहीं दिया। ब्रिटिश सरकार ने यह तक स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि गोलमेज़ कान्फरेंस भारत के लिये औपनिवेशिक विधान तैयार करने के लिये बैठ रही है। यही कारण था कि कांग्रेस गोलमेज़ कान्फरेंस के पहिले अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुई और उसने स्वराज्य प्राप्ति के लिये संग्राम छेड़ दिया। स्वतन्त्रता के अहिंसात्मक संग्राम में जनता ने स्वेच्छा और प्रसन्नता से जो भारी कष्ट और भयंकर यातनाएँ सहीं उन्होंने सम्भवतः ब्रिटिश सरकार को इस बात का विश्वास दिला दिया कि जनता को केन्द्र में शक्ति हस्तान्तरित करने में अधिक विलम्ब नहीं किया जा सकता। पर केन्द्रीय उत्तरदायित्व के प्रति जिस बात ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के रुख में सब से बड़ा परिवर्तन किया और उन्हें यह विश्वास दिलाया कि यह न सिर्फ आदर्श ही है जिसकी पूर्ति सुदूर भविष्य में ही हो सकती है अपितु क्रियात्मक राजनीति के दायरे की वस्तु है, भारतीय नरेशों की प्रस्तावित संघ शासन में सम्मिलित होने की इच्छा थी। ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि यदि भारतीय रियासतें संघ शासन में सम्मिलित हो जायँ तो केन्द्रीय सरकार में एक चिर अभिलषित दल पैदा हो सकता है जो इसे टिकाऊ व अपरिवर्तनशील बनाये रक्खेगा। उसे आशा थी कि संघीय धारासभा में रियासतों का शक्तिशाली गुट्ट ब्रिटिश हितों की रक्षा करेगा और इस दशा में वह आसानी से बिना किसी आशंका के जनता को शक्ति हस्तान्तरित कर सकेगी। अब हम समझ सकते हैं कि क्यों केन्द्र में उत्तरदायित्व देने से पूर्व ब्रिटिश राजनीतिज्ञ संघ शासन स्थापित करने पर तुले हुए थे और क्यों वे यह चाहते थे कि संघ शासन उस समय स्थापित हो जब भारतीय रियासतें पर्याप्त संख्या में इसमें सम्मिलित हो जायँ।

यह संघ शासन की दूसरी प्रमुख विशेषता पर भी प्रकाश डालती है। संघ शासन सर्वत्र स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्मेलन की प्रक्रिया से ही स्थापित हुआ है, पर हमारे देश में उल्टी गंगा ही बही है। यहाँ पहिले एकात्मक ब्रिटिश भारत को स्वतन्त्र प्रान्तों में विभक्त किया गया और इन विभक्त प्रान्तों को उन भारतीय रियासतों के साथ मिलाने की योजना की गई जो संघ में सम्मिलित होने को तैयार थीं। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस समय भारत दो भागों में बंटा हुआ था, सैनिक, वैदेशिक तथा आर्थिक दृष्टि से वह एक लम्बे अरसे से एक था। भारत में उनमें से कोई भी उद्देश्य, प्रयोजन व कारण विद्यमान न थे जिन्होंने अन्यत्र संघ शासन की स्थापना की है और जिन उद्देश्यों

* जोशी : 'दि न्यू कान्स्टिटचूशन आफ इण्डिया', पृष्ठ ९१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने यहाँ संघ शासन को जन्म दिया वे अन्यत्र कहीं मौजूद न थे। इस दृष्टि से प्रस्तावित भारतीय संघ अनुपम ही था।

इसकी अन्य भी अनेक विशेषताएँ थीं। इसकी इकाइयों की स्थिति व स्वरूप बहुत भिन्न थे। ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में लोकतन्त्रात्मक शासन था; उनके नागरिकों को अनेक राजनीतिक एवं नागरिक अधिकार प्राप्त थे और उन्हें धारासभा की एक सभा के लिये अपने प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से तथा दूसरी सभा के लिये अप्रत्यक्ष रूप से चुनना था। भारतीय रियासतों में लोकतन्त्रात्मक शासन नहीं अपितु एक व्यक्ति का निरंकुश शासन था। उनके नागरिकों को राजनीतिक एवं दूसरे अधिकार भी प्राप्त न थे और संघीय धारासभा में रियासतों की ओर से भेजे जाने वाले प्रतिनिधियों के चुनाव में भी उनका कोई भाग न था। इस प्रकार भारतीय संघ में दो अथवा तीन विभिन्न प्रकार की इकाइयों को मिलाने का प्रयत्न किया गया था।

भारतीय संघ की स्थापना सम्राट् के द्वारा होनी थी। यह संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों के पारस्परिक समझौते के परिणामस्वरूप नहीं पैदा होना था। कौन कौन सी रियासतें संघ में शरीक होंगी और किन शर्तों पर होंगी इनका निर्णय ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को नहीं करना था। इन सब बातों का फैसला करना था सम्राट् को। इसके अतिरिक्त जबकि संघ को सब प्रान्तों पर समान अधिकार दिये गये थे भारतीय रियासतों के बारे में उसके अधिकार समान न थे। दूसरी संघ योजनाओं में यह विषमता न थी। इस बात का हम पहिले ही संकेत कर चुके हैं कि संघीय सरकार तथा अंगीभूत राज्यों की सरकारों में अधिकार वितरण की योजना अभूतपूर्व थी।

प्रस्तावित संघ योजना की अन्य विशेषताओं का कारण भारत की राजनीतिक पराधीनता थी। संघीय विधान में संशोधन करने की प्रक्रिया बहुत कठोर एवं जटिल थी। संशोधन की शक्ति ब्रिटिश संसद में निहित थी। संघ में शामिल होने वाली रियासतें प्रस्तावित संशोधनों के मार्ग में असहमत होने की अवस्था में भारी रुकावटें पैदा कर सकती थीं। रियासतों के सर्वोच्च सत्ता (Paramount Power) के साथ सम्बन्ध संघ के दायरे से बाहर थे। सम्राट् के साथ उनका सीधा सम्बन्ध रहना था; ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को यह अधिकार न था।

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम में निर्दिष्ट विधान संसार का सबसे बड़ा और सबसे पेचीदा विधान था। एक्ट में ३२१ अनुच्छेद (Sections) और १० अनुसूचियाँ थीं। इसके अनेक उपबन्धों का सम्बन्ध वैधानिक समस्याओं से न होकर प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं से था। इसके अनेक अनुच्छेदों में वाणिज्य सम्बन्धी संस्थाओं का ज़िक्र था, कुछ उपबन्धों में भेदपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध आयोजन था तथा कुछ में रिज़र्व बैंक तथा संघीय रेलवे प्राधिकार (Federal Railway Authority) के विधान पर प्रकाश डाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया था। ये सब विषय विधान की अपेक्षा प्रशासन से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं। संघ योजना की अन्य भी विशेषताएँ थीं पर उनका सम्बन्ध धारासभा के आगारों की रचना इत्यादि गौण विषयों से था। इनका ज़िक्र हम पृथक् रूप से अन्यत्र करेंगे।

संघ शासन की स्थापना :— १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने संघ शासन को स्थापित नहीं किया। उसमें तो केवल इसकी योजना ही थी। इसके अनुसार भारत में संघ शासन की स्थापना एक शाही घोषणा के द्वारा होनी थी। पर इस घोषणा से पूर्व दो शर्तों का पूरा होना आवश्यक था। प्रथम तो यह कि ब्रिटिश संसद के दोनों आगारों को इसके लिये ब्रिटिश सम्राट् को एक प्रार्थनापत्र भेजना था और दूसरी यह कि इस प्रार्थनापत्र के ब्रिटिश सम्राट् को भेजे जाने से पूर्व उन भारतीय नरेशों के संघ में सम्मिलित होने की स्वीकृति आवश्यक थी जिनकी रियासतों की आबादी रियासतों की कुल आबादी की आधी हो और जिन्हें संघीय धारासभा के दूसरे आगार में समस्त रियासतों को दिये गये प्रतिनिधित्व का आधा अर्थात् ५२ स्थान प्राप्त हों। इस प्रकार संघ शासन की स्थापना रियासतों की निश्चित संख्या के संघ में सम्मिलित होने पर निर्भर थी। क्योंकि जितनी रियासतों का संघ में शरीक होना ज़रूरी था उतनी रियासतें इसमें शरीक होने के लिये राज़ी नहीं हुईं, अतः संघ शासन स्थापित नहीं हो सका।

स्वाभाविक रूप से यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि आखिरकार भारतीय नरेश संघ में शरीक होने के लिये राज़ी क्यों नहीं हुए। गोलमेज़ कान्फरेन्स की समाप्ति पर राजनीतिज्ञों की आम धारणा यह थी कि रियासतें एक या दो वर्ष में आवश्यक संख्या में संघ में शामिल हो जायेंगी। पर उनकी यह धारणा ग़लत साबित हुई। इसका स्पष्टीकरण यह दिया जाता है कि गोलमेज़ कान्फरेंस के प्रथम अधिवेशन में जब भारतीय नरेशों ने प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की थी तो उन्होंने इस स्थिति के अर्थ को, विशेषतः अपने प्रभुत्व (Sovereignty) पर इसके परिणामों को, पूरी तरह नहीं विचारा था। बावजूद इसके कि एक्ट में भारतीय राजाओं के दावों को सुरक्षित रखने के लिये अधिकतम सुविधाएँ एवं रियायतें दी गई थीं उन्होंने संघ-योजना का स्वागत नहीं किया; उन्हें संघात्मक शासन प्रणाली के मातहत भारत के विभिन्न प्रदेशों को एक सूत्र में पिरोने की इतनी चिन्ता नहीं थी जितनी कि अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने की। ब्रिटिश सम्राट् के साथ उनके सम्बन्धों का प्रश्न उनकी दृष्टि से संतोषजनक रूप से हल नहीं किया जा सका और न वे शर्तें ही तय हो सकीं जिनके आधार पर उन्हें संघ में प्रविष्ट होना था। इसी बीच में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और यह प्रश्न ठंडा पड़ गया।

देश में १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की एक स्वर से निन्दा की गई थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मुस्लिम लीग और देश के अन्य राजनीतिक दल सभी एक्ट के विरुद्ध थे यद्यपि उनके विरोध के कारण एक दूसरे से भिन्न थे। उदार संघ के नेताओं तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने जो अधिकांश में इसे कार्यान्वित करने के पक्ष में थे, स्व-शासन पर लगाये गये प्रतिबंधों के लिये इसकी कड़ी आलोचना की। कांग्रेस को इसके उन आरक्षणों एवं अभिरक्षणों पर आपत्ति थी जिन्होंने जनता को दी गई शक्ति को एकदम निरर्थक कर दिया था। एक्ट द्वारा प्रस्तुत योजना में विकास एवं उन्नति के लिये कोई स्थान न था। कांग्रेस इस बात से भी सहमत न थी कि राजा लोग ही रियासतों की तरफ से संघ में भेजे जाने वाले प्रतिनिधियों को नामज़द करें। एक्ट के प्रति कांग्रेस की मनोवृत्ति पर पंडित जवाहरलाल नेहरू की 'डिस्कवरी आफ इंडिया' के निम्न अंश से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। १९३५ के अधिनियम की आलोचना करते हुए पंडित जी लिखते हैं: 'इसने एक प्रकार की प्रान्तीय स्वाधीनता एवं संघात्मक शासन व्यवस्था का आयोजन किया पर इसमें इतने संरक्षण और प्रतिबंध लगाये गये थे कि आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियां पहले की तरह अब भी ब्रिटिश सरकार में ही केन्द्रित रहीं। तथापि इसने ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका की शक्तियों का समर्थन किया और किसी अंश तक उन्हें बढ़ाया भी। संघीय सरकार का निर्माण इस प्रकार किया गया था कि उसमें किसी प्रकार की उन्नति सम्भव ही न थी ·····। इस प्रकार क्योंकि यह प्रतिक्रियावादी थी इसमें स्व-विकास का बीज भी न था ·····। एक्ट ने भारतीय नरेशों, ज़मींदारों और देश के अन्य प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के साथ सरकार के गठ-बन्धन को मज़बूत किया ·····। इसने भारत के वित्त, सेना एवं वैदेशिक सम्बन्धों पर ब्रिटेन के नियंत्रण को कायम रक्खा; इसने वायसराय को पहिले से भी कहीं अधिक शक्तिशाली बना दिया।'*

मुस्लिम लीग ने भी संरक्षणों की, जिन्होंने उत्तरदायी शासन की वास्तविकता को ही समाप्त कर दिया था, निन्दा की, पर वह एक्ट के प्रान्तीय भाग को कार्यान्वित करने के लिये तैयार थी। बावजूद इसके कि भारत के सभी राजनीतिक दल संघ योजना के विरुद्ध थे और भारतीय नरेश भी इसमें सहयोग देने के लिये तैयार न थे, ब्रिटिश सरकार यदि चाहती तो भारत में संघ शासन को प्रारम्भ कर सकती थी। उसके लिये भारतीय नरेशों को पर्याप्त संख्या में संघ में प्रविष्ट होने के लिये राज़ी करना कठिन न था। पर वह तो स्वयं कुछ काल तक इसे कार्यान्वित करना न चाहती थी। वह केन्द्र में भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को शक्ति हस्तान्तरित करने से पूर्व यह देखना चाहती थी कि प्रान्तों में स्वाधीनता की योजना किस प्रकार कार्य करती है। यूरोप की लड़ाई और देश की कुछ घटनाओं ने स्थिति को एकदम बदल दिया और संघ-योजना को कार्यान्वित किये बगैर ही छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार जबकि एक्ट के अनुसार प्रान्तों को स्वाधीनता दे दी गई और प्रान्तों ने स्वतंत्र इकाइयों की तरह कार्य करना प्रारम्भ कर दिया, केन्द्रीय सरकार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ; केन्द्रीय सरकार १९१९ के अधिनियम के अनुसार ही कार्य करती रही। वह पहिले की तरह अब भी ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी थी, न कि भारतीय जनता के प्रति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

* 'डिस्कवरी आफ इण्डिया', पृष्ठ ३५०।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघ में रियासतों का प्रवेश :— क्योंकि संघ-योजना का कार्यान्वित होना रियासतों के निश्चित संख्या में संघ में प्रविष्ट होने पर निर्भर था, यहाँ हमारे लिये उस विधि का भी अध्ययन करना आवश्यक है जिसके द्वारा रियासतें संघ में प्रविष्ट हो सकती थीं। एक्ट के छठे अनुच्छेद के अनुसार संघ में प्रविष्ट होने के लिये भारतीय नरेशों को 'प्रवेश-पत्र' (Instrument of Accession) भरना आवश्यक था। इस प्रवेश-पत्र में उन्हें संघ में सम्मिलित होने की इच्छा की घोषणा करते हुए यह प्रण करना था कि वे स्वयं और उनके उत्तराधिकारी गवर्नर-जनरल, संघीय व्यवस्थापिका सभा, संघीय न्यायालय और संघ की अन्य संस्थाओं के रियासतों के सम्बन्ध में उन कृत्यों को सम्पादित करने के अधिकार को स्वीकार करेंगे जो उन्हें एक्ट ने सुपुर्द किये हैं। संघीय शक्ति सिर्फ संघ के प्रयोजनों के लिये और उन्हीं विषयों के बारे में प्रयुक्त की जा सकती थी जिनका 'प्रवेश-पत्र' में उल्लेख था। बाद के इकरारनामों द्वारा रियासतों के सम्बन्ध में संघ-शक्ति के क्षेत्र को बढ़ाया तो जा सकता था पर सीमित नहीं किया जा सकता था। 'प्रवेश-पत्र' तभी वैध माना जा सकता था जब उस पर सम्राट् की स्वीकृति मिल जाय। इंग्लैण्ड के बादशाह को किसी प्रवेश-पत्र को अस्वीकृत करने का अधिकार था यदि वह नियमित फार्म पर न हो। संयुक्त संसदीय समिति के अनुसार सब प्रवेशपत्रों का एक फार्म पर होना अत्यावश्यक था यद्यपि यह ज़रूरी नहीं था कि सब प्रवेशपत्रों में संघ को दिये गये विषय एक ही हों। भारतीय नरेशों और ब्रिटिश सरकार में पर्याप्त समय तक प्रवेश-पत्र की भाषा और उन शर्तों पर बहस चलती रही जिन पर नरेशों को संघ में शरीके होना था पर इसका कोई परिणाम नहीं निकला।

यह एक निहायत दिलचस्प बात है कि जबकि रियासतों को उन विषयों को चुनने की पूर्ण स्वाधीनता दी गई जिन्हें वे संघ को देना चाहते थे, ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को यह स्वाधीनता नहीं दी गई। उनके लिये संघ में शामिल होना अनिवार्य था।

यहाँ इस बात का ज़िक्र कर देने की भी ज़रूरत है कि संघ शासन की स्थापना के बाद पहिले बीस वर्ष तक संघीय व्यवस्थापिका सभा का रियासतों के संघ में प्रविष्ट होने के प्रश्न के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहना था। इसके पश्चात् संघ में प्रवेश पाने की सब दरख्वास्तें गवर्नर जनरल के द्वारा भेजी जानी थीं जिसके लिये उन्हें तब तक बादशाह को भेजना ज़रूरी न था जब तक कि संघीय व्यवस्थापिका सभा के दोनों आगार बादशाह से यह प्रार्थना न करें कि उक्त रियासत को संघ में शामिल कर लिया जाय।

संघ सरकार

विषय प्रवेश :— संघ गवर्नरों के ११ प्रान्तों, चीफ कमिश्नरों के ६ प्रान्तों और उन भारतीय रियासतों से मिलकर बनना था जो इसमें प्रविष्ट होने को राज़ी होतीं। गवर्नरों के प्रान्त निम्न थे : बम्बई, बंगाल, मद्रास, आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रांत (C. P.), संयुक्त प्रान्त, पंजाब, उत्तर पश्चिमीय सीमाप्रांत, और सिंध। बर्मा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत से पृथक् कर दिया गया। सिंध और उड़ीसा को भी उन प्रान्तों से अलग कर दिया गया जिनमें वे १९१९ के अधिनियम के अनुसार सम्मिलित थे और उन्हें स्वतन्त्र प्रान्त बना दिया गया। दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग, ब्रिटिश बलूचिस्तान, पन्थ-पिपलोदा और अन्डमान व निकोबार द्वीपसमूह— ये ६ चीफ कमिश्नर के प्रान्त थे। ये सब प्रान्त अनिवार्य रूप से संघ के सदस्य होने थे। भारतीय रियासतों को संघ में सम्मिलित अथवा असम्मिलित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

संघ की कार्यपालिका शक्ति इंग्लैण्ड के बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर जनरल में निहित थी। संघ की विधायक शक्ति (legislative authority) भी सम्राट् और संघीय धारासभा के 'हाउस आफ असेम्बली' एवं 'कौंसिल आफ स्टेट' नामक दो आगारों के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर जनरल ही में निहित थी। शासन विधान की सुरक्षा एवं निर्वचन (Interpretation) तथा उन झगड़ों के निबटारे के लिये जो संघ सरकार तथा संघ के अंगीभूत राज्यों की सरकारों में, अथवा परस्पर अंगीभूत राज्यों की सरकारों में पैदा हों, एक संघीय न्यायालय का भी आयोजन किया गया था। संघ की रेलों के प्रशासन के लिए एक्ट ने एक पृथक् क़ानूनी संस्था को जन्म दिया जिसे 'फेडरल रेलवे अथारिटी' कहा जाता था। इसके अतिरिक्त एक्ट में संघ के आर्थिक स्थायित्व को कायम रखने, प्रचलित मुद्रा व उधार (credit) पर नियंत्रण रखने तथा नोट जारी करने के लिये एक 'रिज़र्व बैंक' का भी आयोजन था जिसका संघ शासन की स्थापना से पूर्व स्थापित होना आवश्यक था। रिज़र्व बैंक ने १९३५ में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया और १ अक्टूबर १९३७ को संघीय न्यायालय भी स्थापित कर दिया गया। संघ सरकार के अन्य भाग कभी पैदा ही नहीं हुए। हम यहां उनके गठन, शक्तियों व कृत्यों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

संघीय कार्यपालिका

गवर्नर जनरल :— जैसा कि हम पहिले भी बता चुके हैं संघ की कार्य-पालिका शक्ति व अधिकार बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर जनरल को सौंप दिये गये थे जिनका उसे सम्राट् की ओर से स्वयं अथवा अपने मातहत कर्मचारियों के द्वारा परोक्ष रूप से प्रयोग करना था। कार्यकारिणी शक्ति के प्रयोग के तरीकों का वर्णन करने से पूर्व हम पहिले उसके विस्तार के विषय में कुछ कहना आवश्यक समझते हैं। इसमें (क) वे सब विषय समाविष्ट थे जिन पर संघीय व्यवस्थापिका सभा को क़ानून बनाने का अधिकार था; (ख) इसके अतिरिक्त सम्राट् की ओर से ब्रिटिश भारत में जल, स्थल, और वायु सेनाओं का निर्माण और भारतीय कोष की सहायता से रक्खी जाने वाली सम्राट् की फौजों की व्यवस्था भी इसी में सम्मिलित थी; (ग) जन-जाति क्षेत्रों के विषय में संधियों, प्रथाओं, व अन्य वैध उपायों द्वारा प्राप्त अधिकारों का प्रयोग भी इसी में समाविष्ट था। उन विषयों में जिन पर प्रान्तों की धारासभाओं को कानून बनाने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार था, प्रान्त संघ की कार्यकारिणी शक्ति के क्षेत्र से बाहर थे बशर्ते कि स्वयं एक्ट में ही किसी विषय पर संघ को यह अधिकार विशेष रूप से न दे दिया गया हो। रियासतों में संघ की कार्यकारिणी शक्ति का विस्तार सिर्फ उन विषयों तक था जो 'प्रवेश-पत्र' के द्वारा संघ को दे दिये गये थे और जिन पर संघीय व्यवस्थापिका सभा कानून बना सकती थी। हमें यह न भूलना चाहिये कि संघीय धारासभा के क्षेत्र में सम्मिलित होने वाले विषयों में भी प्रत्येक रियासत की कार्यकारिणी शक्ति तब तक अक्षुण्ण समझी जाती थी जब तक स्वयं 'प्रवेश-पत्र' में ही उसने इसका परित्याग न कर दिया हो। संघीय कार्यकारिणी शक्ति के क्षेत्र के सम्बन्ध में ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और रियासतों में यह एक और बड़ा भेद था।

हमें यह भी समझ लेने की ज़रूरत है कि प्रान्तों को स्वाधीनता मिल जाने के बाद प्रान्तीय सरकारों पर भारत सरकार की कार्यकारिणी शक्ति बहुत कम हो गई। जब तक गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों का ही प्रश्न न उपस्थित हो जाय, उसे प्रान्तीय सूची में सम्मिलित विषयों के प्रशासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। १९१९ के और १९३५ के अधिनियमों में यह भारी अन्तर था।

देश के साधारण प्रशासन का अध्यक्ष होने के अतिरिक्त गवर्नर-जनरल देश की जल, स्थल एवं वायु सेनाओं का भी प्रमुख कमाण्डर था। पर यह कमाण्ड नाम-मात्र की थी; सेना की वास्तविक शक्ति कमाण्डर-इन-चीफ के हाथ में थी जिसकी नियुक्ति सम्राट् करता था और जो उन समस्त सैनिक शक्तियों का प्रयोग करता था जो संघ ने उसे सुपुर्द की हुई थीं।

संघीय कार्यपालिका के अध्यक्ष अथवा प्रमुख के रूप में विधान द्वारा सौंपी गई कार्यकारिणी शक्तियों के अतिरिक्त गवर्नर-जनरल सम्राट् के विशेषाधिकार से सम्बन्धित उन शक्तियों का भी प्रयोग करता था जो सम्राट् की ओर से उसे सौंपी गई थीं बशर्ते कि वे एक्ट के उपबन्धों के प्रतिकूल न हों। ये थीं सम्मान इत्यादि प्रदान करने और भारतीय सेना में कमीशन देने की शक्तियाँ। यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि गवर्नर-जनरल और वायसराय के दो पृथक् पद थे जो एक दूसरे से बहुत भिन्न थे। संघ में सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से भारत का सर्वोच्च पदाधिकारी गवर्नर-जनरल कहलाता था और वही जब रियासतों में सम्राट् का प्रतिनिधित्व करता था तो उसे वायसराय कहा जाता था। सम्राट् यदि चाहता तो इन दो पदों पर पृथक् व्यक्तियों को भी नियुक्त कर सकता था; उसे इन दोनों पदों पर एक व्यक्ति को नियुक्त करने का भी अधिकार था। भारत में ब्रिटिश राज की समाप्ति तक यह दोनों पद एक ही व्यक्ति के हाथ में रहे।

गवर्नर जनरल की नियुक्ति ब्रिटिश प्रधान मंत्री के परामर्श पर सम्राट् द्वारा होती थी; उसका वार्षिक वेतन [illegible] बादशाह द्वारा निश्चित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भत्ते भी मिलते थे। देश को सब मिलाकर उस पर वर्ष में १८ लाख रुपये व्यय करने पड़ते थे। संसार के किसी अन्य सरकारी पदाधिकारी को इतना बड़ा वेतन नहीं मिलता। जब वह छुट्टी पर जाता तो उसके स्थानापन्न गवर्नर-जनरल को यही वेतन और भत्ते मिलते थे। यह सब व्यय भारतीय कोष में से किया जाता था और व्यवस्थापक मण्डल को इन पर मत देने का अधिकार न था।

कार्यकारिणी शक्ति के प्रयोग के विभिन्न प्रकार :— १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार भारत सरकार की समस्त कार्यकारिणी शक्ति सपरिषद् गवर्नर जनरल में निहित थी जो भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी था, न कि भारतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति। इसका प्रयोग एक ही प्रकार से हो सकता था। पर १९३५ के अधिनियम ने स्थिति को बहुत बदल दिया। इसके अनुसार कुछ शक्ति जनता को हस्तान्तरित की जानी थी और कुछ ब्रिटिश सरकार के ही हाथ में रहनी थी। अतः गवर्नर जनरल में निहित संघ की कार्यकारिणी शक्ति अनेक प्रकार से प्रयुक्त की जानी थी। जिस क्षेत्र में जनता के प्रतिनिधियों को शक्ति हस्तान्तरित कर दी गई थी उसमें गवर्नर जनरल को एक प्रकार से कार्य करना था और जिस क्षेत्र में वह जनता की इच्छा की अवहेलना कर सकता था उसमें उसे दूसरे प्रकार से कार्य करना था। इस प्रकार संघ शासन के सम्पूर्ण क्षेत्र को दो भागों में विभक्त कर दिया गया था; एक तो उत्तरदायी मन्त्रियों का क्षेत्र था और दूसरा गवर्नर जनरल का। वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा, धार्मिक विषय व जन-जाति क्षेत्र (Tribal areas), इन चार संघीय विषयों का प्रशासन गवर्नर जनरल को स्वयं चलाना था। इनके प्रशासन के लिये वह सीधा भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी था; इन विषयों में वह वैधानिक दृष्टि से अपने मंत्रियों का परामर्श लेने के लिये बाध्य नहीं था। यदि इन विषयों में वह उत्तरदायी मन्त्रियों की उपेक्षा करता तो उन्हें क़ानूनी तौर पर उसके विरुद्ध शिकायत करने का अधिकार न था। क्योंकि एक व्यक्ति के लिए इतने बड़े और महत्त्वपूर्ण विभागों का प्रशासन चलाना असम्भव है, अतः अधिनियम ने गवर्नर-जनरल को इन विषयों के प्रशासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये तीन सलाहकारों को नियुक्त करने का भी अधिकार दिया। इनका कार्य उसे सहायता पहुँचाना और सलाह देना था। सलाहकारों की वेतन तथा सेवा की शर्तें सपरिषद् बादशाह द्वारा निर्धारित की जानी थीं। प्रत्येक सलाहकार कार्यकारिणी का सदस्य होने के नाते संघीय धारासभा के प्रत्येक आगार का भी सदस्य था जहाँ उसे अपने विभाग का प्रतिनिधित्व करना था। उसे वाद-विवाद में भाग लेने की स्वतंत्रता थी पर मत देने की नहीं। प्रत्येक गवर्नर-जनरल की नियुक्ति के समय जारी किये जाने वाले निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) में उसे रक्षा विभाग के प्रशासन के विषय में समूची मंत्रि-परिषद् (Council of Ministers) से परामर्श लेने की हिदायतें जारी की जानी थीं। चारों संरक्षित विभागों के प्रशासन में उसे स्व-विवेक से (in his discretion) कार्य करना था। इसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय थे जिनमें उसे अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक का प्रयोग करना था। इनमें से कुछ का वर्णन हम बाद में करेंगे। गवर्नर-जनरल के विषय में उस समय यह कहा जा सकता था कि वह स्व-विवेक से कार्य कर रहा है जब वह अपने उत्तरदायित्व पर किसी निर्णय को करता और उसके लिये क़ानूनन मंत्रियों से परामर्श लेना आवश्यक न होता। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वह क्षेत्र जिसमें उसे स्व-विवेक से कार्य करने का अधिकार था वह उत्तरदायी मंत्रियों के क्षेत्र से बाहर था। इस प्रकार जब भी वह स्व-विवेक से कार्य करता वह भारत मंत्री और उसके द्वारा ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होता।

मंत्रि-परिषद् (Council of Ministers) :— संघ के शेष विषयों का प्रशासन गवर्नर-जनरल को मंत्रि-परिषद् की सलाह और सहायता से चलाना था। मंत्रि-परिषद् की सदस्य संख्या १० से अधिक नहीं होनी थी। मंत्रियों का चुनाव और उनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल को करनी थी; उसके खुश रहने तक ही वे पदारूढ़ रह सकते थे और वह स्वेच्छा से उन्हें अपने पदों से हटा भी सकता था। निर्देश-पत्र में मंत्रि-परिषद् की नियुक्ति के लिये गवर्नर-जनरल को हिदायतें जारी की गई थीं। इंग्लैण्ड की तरह ही उसे यहाँ भी उस व्यक्ति की सलाह से मंत्रियों की नियुक्ति करनी थी जिसका लोकप्रिय आगार अर्थात् 'हाउस ऑफ असेम्बली' में स्थायी बहुमत हो। यद्यपि अधिनियम और 'निर्देश-पत्र' दोनों ही में प्रत्यक्ष रूप से 'प्रधान मंत्री' का जिक्र न था, उस व्यक्ति को जो 'हाउस ऑफ असेम्वली' में बहुसंख्यक दल का नेता होता और जिसके परामर्श पर मंत्रियों की नियुक्ति की जाती, प्राधन मंत्री का कार्य करना था। 'निर्देश-पत्र' में गवर्नर-जनरल को मंत्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को प्रोत्साहन देने और मंत्रि-परिषद् में महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक दलों व भारतीय रियासतों के प्रितिनिधियों को सम्मिलित करने की भी हिदायतें जारी की गई थीं। ज़ाहिरा तौर पर इन दो परस्पर-विरोधी आवश्यकताओं को कैसे पूरा किया जा सकता था इसके विषय में निर्देशपत्र बिल्कुल चुप था। मंत्रियों की नियुक्ति आम तौर पर संघीय धारासभा के दोनों आगारों के सदस्यों में से ही होनी थी। यदि कोई मंत्री लगातार ६ महीने तक धारासभा के किसी भी आगार का सदस्य न हो जाता तो उसके लिये पद-त्याग करना आवश्यक था। मंत्रियों के वेतन धारासभा के एक अधिनियम के द्वारा निर्धारित होने थे और उनके सेवा-काल में उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। इसका अभिप्राय यह है कि धारासभा को कटोती के प्रस्ताव के रूप में मंत्रियों के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश करने का अवसर न था। वेतनों पर प्रतिवर्ष धारासभा की स्वीकृति की आवश्यकता न थी। तथापि मंत्री लोग धारासभा के प्रति उत्तरदायी थे और उसी के द्वारा अपने पदों से भी हटाये जा सकते थे। १९१९ के एक्ट के मातहत नियुक्त किये गये कार्यकारिणी के सदस्यों (Executive Councillors) और १९३५ के एक्ट के मातहत नियुक्त किये जाने वाले सलाहकारों में से कोई भी व्यवस्थापक मंडल के प्रति उत्तरदायी न था, पर मंत्री लोग अपनी नीतियों व कार्यों के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारासभा के प्रति पूर्णतया जवाबदेह थे। अपने अधीनस्थ विभागों के प्रशासन में उनके लिये जनता की इच्छा के अनुसार कार्य करना आवश्यक था। यद्यपि कानून के अनुसार मंत्रियों में विभागों का विभाजन गवर्नर-जनरल का कार्य था, यह आशा की जाती थी कि वस्तुतः यह कार्य प्रधानमंत्री करेगा। गवर्नर जनरल अपने विवेकानुसार मंत्रि-परिषद् (Council of Ministers) की बैठकों का सभापतित्व भी कर सकता था।

हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन में गवर्नर-जनरल के लिये जनप्रिय मंत्रियों का परामर्श लेना अनिवार्य था, पर विशेष उत्तरदायित्व की ओट में वह किसी भी प्रश्न पर मंत्रियों से मतभेद रख सकता था और उनकी अवहेलना करता हुआ अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता था। ऐसी दशा में वह जो भी कार्य करता वह व्यक्तिगत निर्णय (Individual Judgment) के अनुसार किया गया माना जाता। अधिनियम ने लगभग ३२ परिस्थितियों में उसे अपने वैयक्तिक निर्णय के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता दी थी। हमें गवर्नर-जनरल के उन कार्यों में जो वह अपने विवेक के अनुसार करता और उन कार्यों में जो वह अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार करता भेद भली भांति समझ लेना चाहिये। अपने विवेक के अनुसार कार्य करते हुए उसे लोकप्रिय मंत्रियों की सलाह लेने की आवश्यकता न थी; इस प्रकार के कार्य उत्तरदायी मन्त्रियों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर थे। जब वह अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करता, तब उसके लिये मंत्रियों से सलाह लेना तो आवश्यक था पर वह उसे स्वीकार और अस्वीकार करने में स्वतन्त्र था। यद्यपि ये विषय उत्तरदायी मंत्रियों के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत थे, इनके सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व भी थे। प्रशासन के शेष क्षेत्र में, जहां न गवर्नर-जनरल की विवेक शक्तियों का प्रश्न उठता था और न उसके विशेष उत्तरदायित्वों का, गवर्नर-जनरल के लिये मंत्रि-परिषद् के परामर्श पर कार्य करना आवश्यक था।

इस प्रकार गवर्नर-जनरल उन शक्तियों का, जो साधारण प्रशासन के प्रमुख के नाते उसमें निहित थीं, तीन प्रकार से प्रयोग कर सकता था। वह (i) अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता था, (ii) अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था और (iii) लोकप्रिय मंत्रियों के परामर्श के अनुसार भी कार्य कर सकता था। जिन विषयों में गवर्नर-जनरल मंत्रियों के परामर्श पर कार्य करता, सिर्फ उन्हीं में लोकप्रिय शासन कायम हुआ समझा जा सकता था। जिन क्षेत्रों में गवर्नर-जनरल अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करता उनमें जनता को शक्ति हस्तान्तरित हुई नहीं समझी जा सकती थी। अतः यह जानने के लिये कि संघ शासन में किस अंश तक लोकतन्त्रात्मक सरकार भारत को दी गई, हमें यह जानने की ज़रूरत है कि कब और कहां गवर्नर-जनरल मंत्रियों से स्वतन्त्र होकर कार्य कर सकता था और उनकी अवहेलना कर सकता था।

गवर्नर-जनरल की स्वविवेक-शक्तियाँ :— अधिनियम में लगभग ९४ अनुच्छेदों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Sections) में गवर्नर-जनरल की स्वविवेक-शक्तियों का ज़िक्र किया गया है। उन सब का पूरा विवरण देना यहां आवश्यक नहीं; हम उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण शक्तियों का ही ज़िक्र करेंगे और कुछ शब्द उन पर समालोचना के रूप में कहेंगे।

१. रक्षा विभाग, वैदेशिक सम्बन्धों (उपनिवेशों के सम्बन्धों को छोड़कर), धार्मिक विषयों और जन-जाति क्षेत्रों का प्रशासन : ये चार संरक्षित विषय थे। इनमें से प्रथम दो बहुत महत्त्वपूर्ण थे। रक्षा विभाग तथा वैदेशिक सम्बन्धों पर जनता के प्रतिनिधियों का नियन्त्रण हुये बिना किसी प्रकार के स्वराज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। पर इन विषयों पर जनता का नियन्त्रण तो दरकिनार, लोकप्रिय मंत्रियों को संघीय सरकार की सैनिक एवं वैदेशिक नीतियों को प्रभावित करने का भी अवसर न था। जनता को यदि इन विषयों के सम्बन्ध में कुछ दिया गया था तो वह यह कि निर्देश पत्र में गवर्नर-जनरल को हिदायतें जारी की गई थीं कि वह मंत्रियों और सलाहकारों में संयुक्त विचार-विमर्श को प्रोत्साहन दे। १९१९ के भारत सरकार अधिनियम में प्रांतीय गवर्नरों को भी इसी प्रकार की हिदायतें जारी की गई थीं। उन्होंने इन हिदायतों की जिस प्रकार उपेक्षा की उसको देखते हुये १९३५ के एक्ट से भी कुछ अधिक आशा नहीं की जा सकती थी।

२. मंत्रियों का चुनाव, आह्वान, और उनकी बर्खास्तगी। सिंध के प्रधान मन्त्री श्री अल्लाबख्श को धारासभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के बावजूद जिस प्रकार सिंध के गवर्नर ने बर्खास्त किया उससे बर्खास्तगी की शक्ति के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है।

३. मन्त्रि-परिषद् की बैठकों का सभापतित्व।

४. सलाहकारों, वित्तीय परामर्शदाता (Financial Adviser) और उसके कर्मचारियों की नियुक्ति; उनके वेतन, भत्तों और सेवा की शर्तों का निर्धारण; चीफ कमिश्नरों की नियुक्ति, Reserve Bank के गवर्नर और डिप्टी गवर्नरों की नियुक्ति और बर्खास्तगी और उनके वेतन, भत्तों की स्वीकृति; संघीय रेलवे प्राधिकार (Federal Railway Authority) के ३/७ सदस्यों और प्रेज़ीडेंट की नियुक्ति, तथा रेलवे न्यायालय (Railway Tribunal) के लिये एक सदस्य-नामावली (Panel) की रचना और उनमें से न्यायालय के सदस्यों का चुनाव; रेलवे न्यायालय के प्रेज़ीडेन्ट, भारतीय रेल कम्पनियों के संचालकों और उप-संचालकों तथा हाई कोर्ट के स्थायी एवं अतिरिक्त न्यायाधीशों और स्थानापन्न प्रमुख न्यायाधीश की नियुक्ति; संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों व सभापति की नियुक्ति और उनके वेतन, भत्तों और सेवा की शर्तों का निर्धारण।

क्योंकि सलाहकार गवर्नर-जनर के प्रति उत्तरदायी थे, हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि उनकी नियुक्ति में मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक न था, पर उनसे राजनीतिक नियुक्तियों के सब अधिकार ले लेना और सरकार के सब ऊँचे कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को दे देना किसी भी आधार पर न्यायसंगत नहीं कहा जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता। इसका अर्थ था गवर्नर-जनरल के हाथों में सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्रीकरण।

५. सरकार के कार्य को सुचारु रूप से चलाने व मंत्रियों में कार्य को बांटने, गवर्नर-जनरल को सूचनायें पहुँचाने, और सरकार के आदेशों इत्यादि को प्रमाणित करने के लिये नियमों का निर्माण। यह नियम निर्माण की शक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इसी शक्ति के सहारे गवर्नर-जनरल अपनी कार्यकारिणी परिषद पर आधिपत्य करने लगा था। उसे संघीय नियुक्तियों के लिये लोक सेवा आयोग का परामर्श लेने के वास्ते उप-नियम बनाने का अधिकार भी था। वह ब्रिटिश बिलोचिस्तान, तथा अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूहों के उत्तम शासन और शान्ति के लिये भी नियम बनाता था।

६. गवर्नर-जनरल की व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्तियाँ— धारासभा का बुलाना, स्थगित करना तथा निम्न आगार (Lower House) की बर्खास्तगी, विधेयकों के बारे में सन्देश भेजना, दोनों आगारों का संयुक्त अधिवेशन बुलाना, कुछ विधेयकों को पेश होने से रोकना, कुछ पर अपनी स्वीकृति न देना या उन्हें सम्राट् की स्वीकृति के लिये रख लेना, तथा कुछ विधेयकों को पेश करने के लिये पूर्व अनुमति देना।

७. विधायक कार्य अर्थात् गवर्नर-जनरल के अधिनियमों का बनाना तथा अध्या-देशों की घोषणा करना।

८. संकटकालीन घोषणा जारी करना, विधान को स्थगित करना और उसकी कुछ शक्तियों को स्वयं ले लेना, गवर्नरों को अध्यादेश घोषित करने की इजाज़त देना तथा गवर्नरों को अपने विवेक के अनुसार कार्य करते हुए और अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते हुए निर्देश जारी करना और उन पर नियन्त्रण रखना।

उपर्युक्त सूची गवर्नर-जनरल की थोड़ी सी विवेक शक्तियों का ही वर्णन करती है। उसकी अनेक शक्तियाँ इसमें सम्मिलित नहीं हैं पर इनसे हमें उसकी वास्तविक शक्तियों का परिचय मिल जाता है जो हमारे प्रयोजन के लिये पर्याप्त है।

गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व एवं अन्य शक्तियां :— मंत्रियों के क्षेत्र में गवर्नर-जनरल के अनेक विशेष उत्तरदायित्व थे जिनका पालन करते हुए वह मंत्रीपरिषद के परामर्श की अवहेलना कर सकता था और अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने में स्वतन्त्र था। १९३५ के अधिनियम की यह एक बहुत बड़ी विशेषता थी। जनता को शक्ति हस्तान्तरित करने के कारण गवर्नर-जनरल को ये विशेष उत्तरदायित्व देने की आवश्यकता पड़ी। एक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल के निम्न विशेष उत्तरदायित्व थे :—

१. भारत अथवा भारत के किसी भाग में शान्ति भंग करने वाली बातों का निवारण।

२. संघ सरकार के आर्थिक स्थायित्व एवं साख (Credit) की रक्षा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

३. अल्पसंख्यक दलों के उचित हितों की रक्षा।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. सरकारी नौकरों और उनके आश्रितों को वे अधिकार दिलाना जो उन्हें अधिनियम ने दिये हैं और उनके उचित हितों की रक्षा।

५. कार्यकारिणी की तरफ से ऐसा कोई काम न होने देना जो वाणिज्य के सम्बन्ध में भेदपूर्ण एवं असमान व्यवहार का द्योतक हो।

६. संयुक्त राज्य अथवा बर्मा से भारत में आये माल के साथ भेदपूर्ण व्यवहार अथवा दण्ड देने के इरादे से किये गये कार्यों को रोकना।

७. भारतीय रियासतों के अधिकारों एवं उनके शासकों के अधिकारों व सम्मान एवं प्रतिष्ठा की रक्षा।

८. यह ख्याल करना कि उसके किसी कार्य से उन विषयों के कर्तव्य पालन में बाधा न पड़े जिनमें अधिनियम के अनुसार उसे या तो अपनी विवेक शक्तियों का प्रयोग करना है या अपने व्यक्तिगत निर्णय के मुताबिक कार्य करना है।

इन विशेष उत्तरदायित्वों के विषय में कुछ शब्द कहना ज़रूरी है। भारतीय लोकमत इनके इसलिये विरुद्ध था 'क्योंकि इन्होंने सरकार के दैनिक कार्य का बहुत बड़ा भाग लोकप्रिय मंत्रियों के हाथ से छीन लिया था।'* इनका उद्देश्य कार्यपालिका को शक्तिशाली एवं स्वतन्त्र बनाना था, अतः ये उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त के प्रतिकूल थे। हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में भी ये गवर्नर-जनरल को वैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करने से रोकते थे। ये अत्यन्त अस्पष्ट थे; एक्ट में इनकी कोई परिभाषा नहीं दी हुई थी और प्रतिक्रियावादी एवं स्वेच्छाचारी गवर्नर-जनरल इनकी सहायता से राष्ट्रीय विकास एवं अभ्युदय के मार्ग में रोड़ा अटका सकता था। जैसा कि डाक्टर सर शफात अहमद खाँ 'भारतीय संघ शासन' नामक अपनी पुस्तक में लिखते हैं 'विशेष उत्तरदायित्व सम्पूर्ण प्रशासन में व्याप्त थे और ऐसा कोई विषय नहीं था जिसमें इन्हें किसी भी समय लागू न किया जा सके।' यह एक प्रकार से ब्रिटिश हितों के ख़तरे के विरुद्ध संरक्षण था जो जनता को शक्ति हस्तान्तरित करने के कारण पैदा हो गया था।

प्रशासकीय विभागों में से एक विभाग क़ानून और व्यवस्था का भी था जो एक उत्तरदायी मंत्री के हाथ में था। तथापि भारत तथा भारत के किसी भाग में अमन और चैन के ख़तरे को रोकने के विशेष उत्तरदायित्व की ओट में गवर्नर-जनरल आतंकवादी प्रगतियों, क्रान्तिकारी योजनाओं, व सविनय अवज्ञा आन्दोलनों से लड़ने के लिये मंत्रि-परिषद् की इच्छा के विरुद्ध कोई भी क़दम उठा सकता था। इतना ही नहीं, इसी की ओट में वह अन्य प्रशासकीय विभागों के प्रस्तावों को भी मानने से इन्कार कर सकता था यदि उसकी राय में वे गलत हों और देश की शांति को भंग करते हों। २६ जनवरी

* के. वी. राव 'पेडरल सिस्टम', पृष्ठ १२०-१२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को सरकारी छुट्टी मनाने, स्थायी बन्दोबस्त को समाप्त करने अथवा भूमि व्यवस्था में परिवर्तन के प्रस्ताव इसी प्रकार के प्रस्ताव थे।

कानून एवं व्यवस्था विभाग की तरह वित्त-विभाग भी एक उत्तरदायी मंत्री के अधीन था। ब्रिटेन के निहित स्वार्थों को भय था कि राष्ट्रवादी अर्थमन्त्री कहीं इस प्रकार की नीतियां न बना डाले जो उनके प्रतिकूल जायं। भारत के सरकारी ऋण और होम चार्जेज़ के विरुद्ध भी देश में आवाज़ उठाई जा चुकी थी। अतः इन्हें भी लोकप्रिय मंत्रियों के कार्यों से बचाने की आवश्यकता थी। यही कारण था कि गवर्नर-जनरल को संघ सरकार के आर्थिक स्थायित्व एवं साख को कायम रखने का विशेष उत्तरदायित्व भी सौंपा गया था। अपनी आर्थिक जिम्मेवारियों को पूर्णतया निभाने के लिये उसे एक आर्थिक सलाहकार (Financial Adviser) को नियुक्त करने का भी अधिकार था। इसके सहकारी कर्मचारियों की नियुक्ति एवं वेतन व सेवा की शर्तों का निर्धारण भी उसे स्वयं ही करना था। वह गवर्नर-जनरल की खुशी तक ही पदारूढ़ रह सकता था। संघ सरकार भी आर्थिक मामलों में आर्थिक सलाहकार से परमार्श ले सकती थी। इस पद पर पहिली नियुक्ति को छोड़कर अन्य सब नियुक्तियों में गवर्नर-जनरल के लिये मंत्रियों की सलाह लेना भी आवश्यक था।

अल्प-संख्यक दलों के उचित हितों की रक्षा के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका उद्देश्य अल्प-संख्यक दलों को सन्तुष्ट करना तथा उनके इस भय को हटाना था कि बहुसंख्यक दल स्वेच्छाचारी होकर उन पर अत्याचार न करने लग जायं। सरकारी नौकरों के हितों की रक्षा के उत्तरदायित्व का भी यही उद्देश्य था। पर अल्पसंख्यक दलों के हितों की रक्षा के उत्तरदायित्व की अपेक्षा यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था; इसने 'सर्विसेज़' के सदस्यों को उन मंत्रियों के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया जिनके मातहत उन्हें कार्य करना था और जिनकी नीतियों व निश्चयों का उन्हें पालन करना था।

भारत ब्रिटेन के तैयार माल का सबसे उत्तम बाज़ार था जहाँ ब्रिटिश लोगों ने बहुत बड़ी मात्रा में अपनी पूँजी भी लगा रक्खी थी। इसी के साथ वे लोग अपने व्यवसायों के लिये भारत से ही कच्चा माल मंगाते थे। ब्रिटेन के व्यापारिक एवं वाणिज्य वर्ग को आशंका थी कि स्वायत्त भारत ऐसे कार्य करेगा जिससे उनके हितों को भारी धक्का पहुँचेगा। यही कारण था कि इनके विरुद्ध भेदपूर्ण व्यवहार को रोकना भी गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों में शामिल किया गया था।

सबसे अन्त में निर्दिष्ट उत्तरदायित्व का सीधा सा अर्थ यह था कि गवर्नर-जनरल को किसी भी विभाग के उन कार्यों को बीच में रोकने का अधिकार था जो उसके विशेष दायित्व के पालन में बाधक होते हों। इन सब विशेष उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे अवसर थे जब गवर्नर-जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णयों के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य कर सकता था— जैसे संकटकाल में अध्यादेश जारी करते हुए, भारतीय रिज़र्व बैंक के संचालकों की नियुक्ति व पद-त्याग के समय, संघ सरकार तथा संघीय रेलवे प्राधिकार के बीच कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये नियम बनाते समय तथा भारत के हाई कमिश्नर की नियुक्ति एवं वेतन व सेवा की शर्तों के निर्धारण के समय।

उपसंहार :— इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन में भी गवर्नर-जनरल को वैधानिक प्रमुख के रूप में ही कार्य करना था। इन विषयों के प्रशासन को जिस हद तक प्रभावित करने की उससे आशा की जाती थी उसकी तुलना संसार के किसी भी लोकतन्त्रात्मक देश के विधान में नहीं मिल सकती। वह प्रशासन का केन्द्र था। यह एक निहायत दिलचस्प बात है कि मंत्रिपरिषद् 'सरकार' का भाग नहीं थी; संपूर्ण कार्यकारिणी शक्ति गवर्नर-जनरल में निहित थी और उसी के नाम से उसका प्रयोग होना था। मंत्रियों को निश्चय करने अथवा आदेश जारी करने का अधिकार न था; उनका एकमात्र कार्य गवर्नर-जनरल को परामर्श देना था। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि एक्ट में धारासभा के प्रति मंत्रियों के उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने के लिये कोई आयोजन न था। वे गवर्नर-जनरल की खुशी तक ही अपने पदों पर आसीन रह सकते थे और उनके सेवाकाल में उनकी वेतनें भी बदली नहीं जा सकती थीं। मंत्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त अभिसमय (Convention) के रूप में ही विकसित होना था।

गवर्नर-जनरल की प्रशासकीय, विधायक और आर्थिक शक्तियाँ बहुत व्यापक थीं। उनका विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं; वे सब उसकी विवेक सम्बन्धी शक्तियों और वैयक्तिक निर्णय के अधिकार में ही आ जाती थीं। यहाँ उसकी असाधारण शक्तियों का ज़िक्र करना भी ज़रूरी है। ये दो प्रकार की थीं— उसे धारासभा का परामर्श लिये बग़ैर अथवा उसकी इच्छाओं के प्रतिकूल भी "गवर्नर-जनरल के अधिनियम" (Governor-General's Act) बनाने और जारी करने का अधिकार था। अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार किये जाने वाले कार्यों से सम्बन्धित अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिये यदि वह किसी क़ानून की आवश्यकता अनुभव करता तो एक संदेश में व्यवस्थापिका सभा को इसकी आवश्यकता बताकर 'गवर्नर-जनरल का अधिनियम' बना सकता था। यदि वह चाहता तो अधिनियम के मसविदे को धारासभा के पास भेज सकता था और उसके संशोधनों पर ग़ौर कर सकता था। पर यह उसके लिये आवश्यक नहीं था। दूसरे, उसे अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार था। ये भी दो प्रकार के थे। उस समय जबकि धारासभा का अधिवेशन न हो रहा हो यदि कोई ऐसा संकट पैदा हो जाय जिसको सम्भालने के लिये तत्काल कार्य करने की आवश्यकता हो तो गवर्नर-जनरल मंत्रियों के परामर्श पर अध्यादेश जारी कर सकता था। अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग भी, यदि आवश्यक हो तो वह ऐसी अवस्था में कर सकता था। इस प्रकार जारी किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये अध्यादेश कानून के ही समान समझे जाते थे पर इन्हें धारासभा के सम्मुख प्रस्तुत करना ज़रूरी था और यदि अपने अधिवेशन के प्रारम्भ होने के छः हफ्ते के भीतर धारा-सभा इसे पास न कर दे तो यह रद हुआ समझा जाता था। गवर्नर-जनरल को अपनी विवेक सम्बन्धी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर भी अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। इस प्रकार के अध्यादेश ६ महीने से अधिक जारी नहीं रह सकते थे पर उनकी अवधि को एक नये अध्यादेश के द्वारा ६ महीने के लिये और बढ़ाया जा सकता था। इसकी सूचना भारत मंत्री तक पहुंचाना आवश्यक था जिसका कर्त्तव्य था कि वह इसे ब्रिटिश संसद के दोनों आगारों के सम्मुख प्रस्तुत करे।

किसी भी लोकतन्त्रात्मक राज्य में गवर्नर-जनरल की विधायक शक्तियों की सी शक्तियाँ देखने को नहीं मिलतीं। यहां उनकी आवश्यकता उसके विशेष उत्तरदायित्वों व शक्तियों के कारण पैदा हुई।

महाधिवक्ता (Advocate-General) :— संघ के लिये एक एडवोकेट-जनरल की नियुक्ति का भी आयोजन किया गया था। उसकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल को अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करते हुए करनी थी। उसके वेतन आदि का निर्धारण भी उसे इसी प्रकार करना था। उसकी योग्यतायें संघीय न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश की योग्यतायें थीं। उसका कार्य क़ानूनी मामलों में संघीय धारासभा को परामर्श देना था। इसके अतिरिक्त उसे वे सब कार्य भी करने ज़रूरी थे जो गवर्नर-जनरल उसको सौंपता। उसका मंत्रिमंडल से कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं था। उसे संघीय धारासभा के दोनों आगारों में भाषण देने का अधिकार था और वह गवर्नर-जनरल की खुशी तक अपने पद पर आरूढ़ रह सकता था।

निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) :— यहाँ निर्देश-पत्र के विषय में भी, जो एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ था, कुछ शब्द कहना असंगत न होगा। इसी के द्वारा संघीय एवं प्रान्तीय सरकारों में उत्तरदायी शासन के मूलभूत सिद्धान्तों को समावेश किया जाना था। यह स्मरण रखना चाहिये कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में मंत्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त अथवा इस आवश्यकता का कि उन्हें धारासभा का विश्वासपात्र होना चाहिये, ज़िक्र तक न था। गवर्नर-जनरल को ये निर्देश जारी करके कि मंत्रियों की नियुक्ति उस व्यक्ति के परामर्श से होनी चाहिये जिसका धारासभा में स्थायी बहुमत रहने की आशा हो और मंत्रियों में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना पैदा की जानी चाहिये, निर्देश-पत्र ही ने केन्द्र और प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का श्रीगणेश किया। इसी ने गवर्नर-जनरल को मंत्रि-परिषद् में महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक सम्प्रदायों व रियासतों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने की हिदायतें जारी कीं और इसी ने गवर्नर-जनरल को यह निर्देश दिया कि उसे किस प्रकार अपनी विशेष शक्तियों व विशेष उत्तरदायित्वों का प्रयोग करना चाहिये। इसी में उसे देश की रक्षा के मामलों में तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना के भारतीयकरण अथवा भारतीय सेनाओं को लड़ाई के लिये विदेश भेजने के सम्बन्ध में मंत्रियों की सलाह लेने का आदेश भी दिया गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देश में उत्तरदायी शासन का विकास निर्देश-पत्र के द्वारा ही होना था।

निर्देश-पत्र गवर्नर-जनरल को नियुक्ति के समय बादशाह द्वारा दिया जाना था। इसका मसविदा भारत मंत्री को तय्यार करना था जिसके लिये इसे ब्रिटिश संसद के सम्मुख रखना आवश्यक था। इसके ऊपर तब तक और कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती थी जब तक संसद के दोनों आगार इस सम्बन्ध में बादशाह से प्रार्थना न करें। यही प्रक्रिया उस समय भी दोहराई जानी थी जब इस निर्देश-पत्र में परिवर्तन करने, संशोधन करने अथवा इसके उपबन्धों को रद करने के लिये कोई दूसरा निर्देश-पत्र जारी करना ज़रूरी हो। इस प्रकार निर्देश-पत्र के लिये संसद की स्वीकृति अनिवार्य थी। उपनिवेशों के गवर्नर-जनरलों को निर्देश-पत्र जारी करने की प्रक्रिया इससे बहुत भिन्न थी।

यद्यपि वैधानिक दृष्टि से निर्देश-पत्र का महत्त्व बहुत अधिक था, यह देश के नियमित कानून का अंश न था, अतः इसे कानूनी न्यायालयों के द्वारा कार्यान्वित नहीं कराया जा सकता था। गवर्नर-जनरल या गवर्नरों के किसी भी कार्य पर इस आधार पर कोई कानूनी आपत्ति नहीं उठाई जा सकती थी कि यह निर्देश-पत्र के उपबन्धों के विरुद्ध है। अतः प्रान्तों में गवर्नरों द्वारा अल्पसंख्यक दलों के अस्थायी मन्त्रि-मंडल नियुक्त किये जाने के औचित्य के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सका। यदि गवर्नर जनरल संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना को मंत्रियों में प्रोत्साहित न करता अथवा 'निर्देश-पत्र' की हिदायतों के विरुद्ध मंत्रि-परिषद् का निर्माण करता तो उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार निर्देश-पत्र उत्तरदायी शासन के विकास का एक अत्यन्त दोषपूर्ण साधन था।

संरक्षण व अभिरक्षण (Safeguards) :— गवर्नर-जनरल की स्वविवेक-शक्तियों व विशेष उत्तरदायित्वों के उपर्युक्त वर्णन से संरक्षणों का स्वरूप भी पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। संरक्षण १९३५ के अधिनियम की उतनी ही बड़ी विशेषता थी जितना कि जनता को शक्ति हस्तान्तरित करने का प्रस्ताव। संरक्षण के बिना ब्रिटिश सरकार के लिये भारतीयों को शासन-शक्ति देना संभव न था।

सबसे प्रथम संरक्षण का विचार साइमन कमीशन ने प्रस्तुत किया। गोलमेज़ सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन ने इसका समर्थन किया। सर तेजबहादुर सप्रू ने कहा: 'जितने भी संरक्षण चाहो लगाओ बशर्ते कि ये वास्तविक सिद्धान्त को ही छिन्न भिन्न न कर दें, और फिर साहस एवं विश्वास के साथ आगे बढ़ते जाओ।' महात्मा गांधी ने भी, गोलमेज़ सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में सम्मिलित होने की अपनी सहमति देकर संरक्षण के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था; पर उनका विश्वास था कि ये संरक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीयों के हितों को दृष्टि में रखते हुए ही बनाये जायेंगे। १९३५ के अधिनियम में इन्हें जिस रूप में समाविष्ट किया गया उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके निर्माण में भारतीय हितों की अपेक्षा ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके सहयोगियों के हितों का ही विशेष ध्यान रक्खा गया था। इनका मूल था भारतीयों का अविश्वास और साम्प्रदायिक समस्या की ओट में ब्रिटिश हितों को भारत में तरक्की देने की इच्छा। 'क्योंकि भारतीय नरेश लोकतन्त्र के और मुसलमान बहुसंख्यक सम्प्रदाय के शासन के विरुद्ध हैं, हमारे अंग्रेज़ शासकों को इस सम्बन्ध में उनके भयों की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने का अच्छा अवसर मिल जाता है। अतः संरक्षणों का मुख्य अभिप्राय अंग्रेज़ों, मुसलमानों तथा भारतीय नरेशों को अभिरक्षण देना है। अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण से भारत के साथ उनके सम्बन्धों के चिरस्थायी रहने के लिये सबसे बड़ा संरक्षण है भारत में संघ शासन की स्थापना। अतः संघ में केन्द्रीय सरकार की योजना इस प्रकार तैयार की गई है कि उग्रवादियों (Extremists) के हाथ में उसका नियंत्रण ही न आ पाये।'*

संघ सरकार

विषय प्रवेश :— १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार संघीय व्यवस्थापिका सभा, ब्रिटिश बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर-जनरल और 'हाउस ऑफ असेम्बली' तथा 'कौंसिल ऑफ स्टेट' नामक दो आगारों से मिलकर बननी थी। द्विआगारिक धारासभा १९३५ के एक्ट की कोई नवीनता न थी; इससे पूर्व १९१९ के एक्ट के मातहत भी केन्द्रीय व्यवथापिका सभा के दो आगार थे। संघीय विधान सदा द्विआगारिक धारासभा की ही कल्पना करता है; एक आगार संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है तथा दूसरा जनता अथवा समूचे राष्ट्र का। अतः १९३५ के अधिनियम की नवीनता सिर्फ यह थी कि इसने बादशाह को प्रत्यक्ष रूप से धारासभा का एक अंग बना दिया था। इस परिवर्तन के लिये कोई कारण नहीं दिये गये थे। और न यह महत्त्वपूर्ण ही था।

कौंसिल ऑफ स्टेट :— संघीय धारासभा के दूसरे आगार में, जिसमें संघ की इकाइयों को प्रतिनिधित्व दिया जाना था और जिसका नाम 'कौंसिल ऑफ स्टेट' पड़ना था, ब्रिटिश भारत के १५६ और रियासतों के अधिक से अधिक १०४ प्रतिनिधि होने थे। रियासतों के प्रतिनिधियों की वास्तविक संख्या संघ में प्रविष्ट होने वाली रियासतों की संख्या पर निर्भर थी। यह किसी भी सूरत में ५२ से कम नहीं हो सकती थी क्योंकि उस अवस्था में संघ पैदा ही नहीं हो सकता था। कुल स्थान रियासतों में उनकी सापेक्ष स्थिति एवं महत्त्व के अनुसार, जो उनकी वंशानुगत सलामी एवं अन्य बातों से तय किये जाने थे, बांटे जाने थे। इस प्रकार हैदराबाद को

*पुन्निया : 'दि कान्स्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ३१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५, मैसूर, काश्मीर, ग्वालियर और बड़ौदा को ३, और त्रावनकोर, कोचीन व उदयपुर इत्यादि को २ स्थान दिये गये। इन बातों के विस्तार में जाने की यहां जरूरत नहीं।

रियासतों के प्रतिनिधियों की नामज़दगी उनके शासकों द्वारा होनी थी। एक्ट के अनुसार रियासत के प्रतिनिधियों का चुनाव करते समय भारतीय नरेशों के लिये जनता का परामर्श लेना आवश्यक न था। सिद्धान्त रूप से सम्भव होते हुए भी इसकी बिल्कुल आशा नहीं की जा सकती थी। देसी राजाओं द्वारा नामज़द सदस्यों से सिर्फ अपने मालिकों के हितों का ख्याल रखने और ब्रिटिश सरकार के हाथ में यंत्र बनने की ही आशा की जा सकती थी। यही कारण था कि भारतीय लोकमत १९३५ के एक्ट के इस आयोजन के इतना विरुद्ध था। ब्रिटिश भारत के १५६ प्रतिनिधियों में से १५० प्रतिनिधि साम्प्रदायिक आधार पर नागरिकों द्वारा चुने जाने थे और ६ स्त्रियों, अल्प-संख्यक सम्प्रदायों व दलित वर्ग को प्रतिनिधित्व देने के लिये गवर्नर-जनरल द्वारा नामज़द किये जाने थे। प्रत्येक प्रान्त को और प्रत्येक प्रान्त में भी विभिन्न सम्प्रदायों को कितने स्थान दिये गये इसके विस्तार में जाने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं। हमारे लिये यहाँ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि संघ की प्रत्येक इकाई को 'कौंसिल ऑफ स्टेट' में समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। इस दृष्टि से यह अमेरिका की 'सीनेट' और स्विट्ज़रलैण्ड की 'कौंसिल ऑफ स्टेट' से बहुत भिन्न थी। सामान्य स्थान तथा मुसलमानों व सिक्खों के लिये सुरक्षित स्थान प्रत्यक्ष चुनाव से भरे जाने थे। जो स्थान युरोपियनों, आंग्ल-भारतीयों एवं भारतीय ईसाइयों के लिये सुरक्षित रक्खे गये थे उनका चुनाव परोक्ष रूप से होना था। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिये प्रत्येक सम्प्रदाय का एक निर्वाचक मण्डल (Electoral College) बनाया जाना था जिसमें उस सम्प्रदाय के वे सब व्यक्ति सम्मिलित होने थे जो उसकी ओर से विभिन्न प्रान्तीय धारा-सभाओं के सदस्य थे। परिगणित वर्ग (Scheduled Class) के प्रतिनिधियों का चुनाव भी इसी प्रकार परोक्ष रूप से होना था। महिलाओं का निर्वाचन भी इसी प्रकार उस प्रान्त की धारासभा के समस्त सदस्यों को, जिनमें स्त्री व पुरुष सदस्य दोनों सम्मिलित थे, करना था जिसमें से स्त्रियां चुनी जानी थीं। यद्यपि मताधिकार के विषय में कुछ निश्चय नहीं किया गया था, आशा की जाती थी कि सम्पत्ति को इसका आधार बनाया जायगा। इस प्रकार कौंसिल ऑफ स्टेट धनी वर्ग की संस्था थी। अमेरिका की सीनेट के समान ही यह भी एक चिरस्थायी संस्था थी जो किसी एक समय में भंग नहीं की जानी थी। हर तीसरे वर्ष इसके एक तिहाई सदस्य बदल दिये जाने थे। इसके सदस्यों की अवधि ९ वर्ष थी। स्थायित्व की दृष्टि से यह १९१९ के एक्ट के मातहत बनी 'कौंसिल ऑफ स्टेट' से बहुत भिन्न थी।

हाउस ऑफ असेम्बली :— संघीय व्यवस्थापिका सभा के निम्न आगार का नाम 'हाउस ऑफ असेम्बली' था जिसे भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करना था। इसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश भारत के प्रान्तों से २५० और भारतीय रियासतों से अधिक से अधिक १२५ प्रतिनिधि लिये जाने थे। कौंसिल की तरह ही इसमें भी रियासतों के प्रतिनिधि उनके शासकों द्वारा नामज़द किये जाने थे; रियासतों की प्रजा को उन्हें चुनने का अधिकार न था। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि विभिन्न प्रान्तों तथा प्रत्येक प्रान्त में विभिन्न सम्प्रदायों व हितों में विभक्त कर दिये गये थे। प्रतिनिधित्व के प्रयोजन के लिये निम्न निर्वाचन क्षेत्र बनाये गये थे; सामान्य, परिगणित वर्ग, मुस्लिम, सिक्ख, भारतीय ईसाई, युरोपियन, आंग्ल भारतीय, व्यवसाय एवं वाणिज्य, ज़मींदार, श्रम एवं महिला निर्वाचन क्षेत्र। सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से हिन्दुओं, पारसियों तथा अन्य सम्प्रदायों में से जिन्हें पृथक् साम्प्रदाविक प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था, १०५ प्रतिनिधि चुने जाने थे जिनमें परिगणित वर्ग के १९ प्रतिनिधि भी शामिल थे। इसके अतिरिक्त मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से ८२, तथा सिक्ख, भारतीय ईसाई, युरोपियन, आंग्ल भारतीय, व्यवसाय एवं वाणिज्य, ज़मींदार और मज़दूरों के चुनाव हल्कों से क्रमशः ६, ८, ८, ४, ११, ७ और १० प्रतिनिधि चुने जाने थे। महिलाओं को भी ९ स्थान दिये गये थे। संक्षेप में, १९३५ का एक्ट साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के दूषित सिद्धान्त को १९१९ के एक्ट से भी कहीं आगे ले गया। हमारे नये संविधान ने इस पद्धति को बिल्कुल समाप्त कर दिया है। भारतीय रियासतों के स्थान भी विभिन्न रियासतों में बाँट दिये गये थे। हैदराबाद को १६ तथा मैसूर और त्रावनकोर में से प्रत्येक को ७ स्थान दिये गये थे। इसी प्रकार अन्य रियासतों को भी उनके महत्त्व एवं आबादी के अनुसार स्थान बाँट दिये गये थे। इनका विस्तृत विवरण देने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं।

असेम्बली की अवधि ५ वर्ष रक्खी गई थी; १९१९ के एक्ट के मातहत इसकी अवधि ३ वर्ष थी। गवर्नर जनरल यदि चाहता तो इसे अवधि के समाप्त होने से पूर्व भी भंग कर सकता था। यद्यपि असेम्बली को सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करना था, इसका चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होना था। यह एक विचित्र बात थी; संसार के किसी भी निम्न एवं लोकप्रिय आगार का चुनाव परोक्ष रूप से नहीं होता। यह साइमन कमीशन की सूझ थी। बाद में सैम्युअल होर ने भी इसका अनेक युक्तियों से समर्थन किया जिनके विस्तार में जाने की हमें ज़रूरत नहीं। दोनों आगारों की रचना के सम्बन्ध में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि दोनों में से नामज़द सरकारी तथा गैरसरकारी सदस्यों के गुट्ट को लगभग समाप्त कर दिया गया। ६ सदस्यों के अतिरिक्त, जो गवर्नर-जनरल द्वारा 'कौंसिल ऑफ स्टेट' के लिये नामज़द किये जाने थे, दोनों आगारों में और नामज़द सदस्य नहीं रहने थे। हमें यह न भूलना चाहिये कि १९१९ के एक्ट के मातहत बनी प्रान्तीय धारासभाओं में सरकारी एवं गैरसरकारी नामज़द सदस्यों के गुट्ट ने ही द्वैध शासन में मंत्रियों के उत्तरदायित्व की सच्ची भावना को पनपने नहीं दिया। पर इस बात पर अनावश्यक रूप से ज्यादा जोर नहीं देना चाहिये; पुराने वैधानिक ढाँचे में जो भाग सरकारी एवं गैरसरकारी नामज़द सदस्यों के गुट्ट का था वही भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय राजाओं द्वारा नामज़द किये जाने वाले रियासती प्रतिनिधियों का संघीय धारासभा में होता। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि संघीय धारासभा के दोनों आगारों में रियासतों को उनकी आबादी से कहीं ज्यादा प्रतिनिधित्व दिया गया था। यद्यपि उनकी आबादी भारत की कुल आबादी की २४ प्रतिशत थी, उन्हें कौंसिल में ४० प्रतिशत और असेम्बली में ३३⅓ प्रतिशत स्थान दिये गये थे। इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि रियासतों के प्रतिनिधि राजाओं द्वारा नामज़द किये जाने थे, यह प्रतिनिधित्व और भी महत्त्वपूर्ण एवं आपत्ति-जनक हो जाता है। रियासतों के नामज़द सदस्यों की पर्याप्त संख्या में उपस्थिति तथा परोक्ष निर्वाचन के तरीके ने असेम्बली के लोकतन्त्रात्मक स्वरूप को नष्ट कर दिया। यह एक निहायत दिलचस्प बात है कि जबकि हिन्दुओं को जो कुल आबादी के ७० प्रतिशत थे, १०५ स्थान दिये गये थे (जिनमें वे १९ स्थान भी सम्मिलित थे जो परिगणित वर्ग को दिये गये थे), उतने ही स्थान मुसलमानों, सिक्खों, युरोपियनों, भारतीय ईसाइयों और आंग्ल-भारतीयों को प्रदान किये गये थे जिनकी कुल आबादी ३० प्रतिशत ही थी। ज़मींदारों, वाणिज्य व व्यवसाय एवं मज़दूरों को २८ स्थान दिये गये थे। इस प्रकार असेम्बली में हिन्दुओं का अल्पमत कर दिया गया था। युरोपियनों तथा आंग्ल-भारतीयों को भी उनकी आबादी के अनुपात से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया था। असेम्बली का यह विचित्र गठन ही कदाचित् ब्रिटेन के निहित स्वार्थों के लिये सब से बड़ा संरक्षण था। यहाँ इस बात का निर्देश कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में भी स्थानों का बंटवारा आबादी के आधार पर नही किया गया था। यद्यपि बंगाल, मद्रास और संयुक्त प्रान्त की आबादियों में जो क्रमशः ५०१००००००, ४४२००००००, और ४८४००००००० थी, पर्याप्त अन्तर था इनमें से प्रत्येक को ३७ स्थान दिये गये थे। कुल १८२००००० की आबादी के साथ बम्बई को ३० और मध्यप्रान्त को जिसकी आबादी १५५००००० थी केवल १५ स्थान मिले।

१९३५ के अधिनियम में प्रस्तावित संघ योजना की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि इसमें संघीय धारासभा के निम्न आगार की रचना के लिये परोक्ष निर्वाचन का सिद्धान्त अपनाया गया था। इससे राष्ट्रीय एकता एवं देशभक्ति के विकास में बहुत बाधा पहुँचती क्योंकि इसके कारण सम्पूर्ण देश की समस्याओं एवं प्रश्नों के आम जनता के सम्मुख प्रस्तुत किये जाने का कोई अवसर ही न पैदा होता जिसका सम्बन्ध केवल मात्र प्रान्तीय प्रश्नों से रहता। अतः जन-साधारण में राष्ट्रीय दृष्टिकोण की जगह एक प्रान्तीय दृष्टिकोण पैदा हो जाता जो उन्हें हर समस्या को प्रान्त के हित एवं अहित की दृष्टि से हल करने के लिये बाधित करता। चुनाव प्रान्तीय प्रश्नों के आधार पर लड़े जाते और अखिल भारतीय अथवा संघीय समस्याएँ उपेक्षित रहतीं। इस प्रकार राष्ट्रीय हित का एकदम लोप हो जाता। सर हरबर्ट सैम्युअल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अप्रत्यक्ष निर्वाचन के विरुद्ध इसी आपत्ति को ब्रिटिश लोकसभा के सम्मुख बहुत प्रभावशाली शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहा : "भारतीय चाहते हैं कि उनका देश एक इकाई बना रहे। वे चाहते हैं कि वह एक महान् राष्ट्र बने। गत दो शताब्दियों में भारत में ब्रिटिश शासन की सबसे प्रमुख सफलता यही रही है कि उसने इतिहास में पहिली बार किसी अंश तक एक 'संयुक्त भारत' को जन्म दिया है। भारत के साथ ब्रिटिश सम्बन्धों की यह असंदिग्ध सफलता है जिसका सब विचारों के भारतीयों ने स्वागत किया है ..... वे एक ऐसी असेम्बली चाहते हैं जो भारत का इसी रूप में प्रतिनिधित्व करे। प्रस्तावित असेम्बली संयुक्त एवं एकात्मक भारत का, जो दृश्य रूप से एक महान् राष्ट्र होने के अतिरिक्त संसार की नजरों में अविभाज्य है, इस रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। यह तो १० या ११ विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों का समूहमात्र होगी। यही चीज़ है जिसे भारतीय बिल्कुल नहीं चाहते और इसी कारण केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा भारत के सम्पूर्ण निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से और अखिल भारतीय प्रश्नों पर चुनी जानी चाहिए।"

निम्न आगार के चुनाव के लिये परोक्ष निर्वाचन पद्धति को अपनाने का दूसरा परिणाम यह होता कि इससे असेम्बली और सरकार के मतभेदों को दूर करने के उद्देश्य से असेम्बली का भंग करना निरर्थक हो जाता। उस समय ऐसा कोई लोकमत ही न होता जिससे सदस्य लोग अथवा सरकार अपील कर सकती। प्रत्येक सदस्य के प्रान्तीय धारासभा में ६ या ७ समर्थक सदस्य होते। यही उसे उसी तरह दुबारा भी चुनकर भेज देते जैसे उन्होंने उसे पहिले चुना था। इस प्रकार धारासभा का विलयन (dissolution) बिल्कुल निरर्थक हो जाता। इसके अतिरिक्त इससे भ्रष्टाचार फैलने का भी खतरा था।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के विरोध में पेश की गई दलीलों में जान थी और इसके पक्ष में दी गई युक्तियां लचर थीं। संसार में निम्न आगार के अप्रत्यक्ष निर्वाचन तथा दूसरे आगार के प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर बनाये जाने का दूसरा कोई उदाहरण नहीं मिलता; यह समस्त सिद्धान्तों एवं प्रथाओं के विपरीत था। प्रगतिशील भारतीय लोकमत की मांग थी कि निम्न आगार की रचना प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर की जाय।

क्योंकि असेम्बली के चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होने थे, मताधिकार का प्रश्न पैदा ही न होता था। असेम्बली का जीवन-काल ५ वर्ष रक्खा गया था, पर गवर्नर जनरल इस अवधि के समाप्त होने से पूर्व भी इसे बरखास्त कर सकता था। पर उसे इसकी अवधि को बढ़ाने का अधिकार न था। इसे अपने ही सदस्यों में से अध्यक्ष (Speaker) एवं उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) को चुनने का अधिकार था। स्पीकर का कार्य इसकी बैठकों का सभापतित्व करना तथा वे सब काम करना था जो धारासभा का सभापति आम तौर पर करता है। उसे सामान्यतया मत देने का अधिकार न था पर मतसाम्य की अवस्था में वह अपना मत भी दे सकता था। वह अपने पद से किसी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय त्यागपत्र दे सकता था जो गवर्नर-जनरल के पास भेजा जाता था और असेम्बली भी उसे अपने पद से हटा सकती थी। ये सब बातें 'कौंसिल ऑफ स्टेट' के प्रेज़ीडेंट के साथ भी लागू होती हैं।

सदस्यों की योग्यतायें व विशेषाधिकार:— कोई भी व्यक्ति एक समय में दोनों आगारों का सदस्य नहीं हो सकता था। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति एक ही समय में संघीय धारासभा के किसी एक आगार और प्रान्तीय धारासभाओं के किसी एक आगार का सदस्य भी नहीं हो सकता था। वे व्यक्ति जो भारत में सम्राट् के मातहत सरकारी पदों पर वेतन पा रहे हों, जो न्यायालय द्वारा पागल करार दे दिये गये हों, कर्ज़दार दिवालिये हों, किसी जुर्म या चुनाव में गड़बड़ी करने के कारण अपराधी घोषित कर दिये गये हों, और जिन्हें काले पानी अथवा २ वर्ष कारावास की सज़ा मिल चुकी हो और रिहाई से पूर्व जिन्हें ५ वर्ष न बीत चुके हों, संघीय धारासभा की सदस्यता के लिये खड़े नहीं हो सकते थे। 'कौंसिल ऑफ स्टेट' के सदस्य की कम से कम आयु ३५ वर्ष और असेम्बली के सदस्य की कम से कम आयु २५ वर्ष होनी आवश्यक थी। कोई भी व्यक्ति जो फौजदारी के जुर्म में कारावास अथवा काला पानी की सज़ा भुगत रहा हो संघीय धारासभा के किसी भी आगार का सदस्य नहीं चुना जा सकता था। यदि कोई सदस्य अपने चुनाव के हिसाब का विवरण पेश करना भूल जाता तो उसका स्थान उसके हाथ से जाता रहता।

प्रत्येक सदस्य के लिये अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व ब्रिटिश बादशाह के प्रति वफादारी की शपथ लेना आवश्यक था। प्रत्येक सदस्य को अपने आगार के नियमों के अन्दर रहते हुए भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता थी। आगार में कही गई किसी बात अथवा मद को लेकर किसी सदस्य के विरुद्ध कोई क़ानूनी कार्यवाही नहीं चलाई जा सकती थी। उनकी वेतनें व भत्ते धारासभा द्वारा पास किये गये क़ानूनों के द्वारा निर्धारित किये जाने थे। उनके विशेषाधिकार भी व्यवस्थापिका सभा के क़ानूनों के द्वारा ही निर्धारित किये जाने थे।

व्यस्थापिका सभा की शक्तियाँ:— व्यवस्थापिका सभा की शक्तियों व कृत्यों का निम्न चार शीर्षकों के मातहत अध्ययन किया जा सकता है: विधिनिर्माण अथवा व्यवस्थापन (legislation), राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण एवं उन पर विचार, वित्त एवं प्रसाशन पर नियंत्रण तथा मंत्रियों के उत्तरदायित्व पर अमल।

(क) विधायक शक्तियाँ:— कुछ ऐसे विषय थे जिन पर एकमात्र संघीय धारासभा को ही क़ानून बनाने का अधिकार था। संघीय सूची में निर्दिष्ट विषयों पर ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग के लिये संघीय धारासभा ही क़ानून बना सकती थी। निर्देश-पत्र द्वारा संघ को समर्पित किये गये विषयों पर भी उसे ही रियासतों के लिये क़ानून बनाने का अधिकार था। भारत के किसी भाग में स्थायी रूप से बसी हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश प्रजा तथा ब्रिटिश भारत एवं संघ में सम्मिलित होने वाली रियासतों में रजिस्टर हुए जहाज़ों, हवाई जहाजों तथा उन पर काम करने वाले व्यक्तियों के लिये भी वही क़ानून बना सकती थी। संघीय सूची में उल्लिखित किसी भी विषय पर किसी भी प्रान्तीय धारासभा को क़ानून बनाने का अधिकार न था।

समवर्ती सूची (Concurrent List) में निर्दिष्ट विषयों पर भी संघीय धारासभा को क़ानून बनाने की शक्ति थी। पर इन विषयों पर प्रान्तीय धारासभाओं को भी क़ानून बनाने का अधिकार था। सामान्य परिस्थितियों में संघीय धारासभा को प्रान्तीय सूची के विषयों पर क़ानून बनाने की शक्ति नही थी। पर संकट काल में जब युद्ध एवं आन्तरिक अशांति के कारण देश की सुरक्षा को ख़तरा हो अथवा दो या दो से अधिक प्रान्त मिल कर संघीय धारासभा से प्रार्थना करें तो वह प्रान्तीय विषय पर भी प्रान्तों के लिये क़ानून बना सकती थी। प्रान्तीय धारासभाओं की सीमा को उल्लंघन करने की शक्ति, सिर्फ गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति से ही, जो स्वविवेक में दी जानी थी, प्रयुक्त की जा सकती थी। यह बात हमें सदा याद रखनी चाहिये कि ब्रिटिश भारत की समस्त धारासभाएँ पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्थायें न थीं; उनकी क़ानून बनाने की शक्ति अनेक प्रकार से सीमित थी।

(ख) **राष्ट्रीय नीति का निर्धारण :—** संविधान में संघीय धारासभा द्वारा इस शक्ति के प्रयुक्त किये जाने का स्पष्ट शब्दों में कहीं भी उल्लेख नहीं था। पर महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रस्ताव पेश करने और उन पर बहस करने, बजट पर बहस करने तथा उसे पास करने और मंत्रियों के उत्तरदायित्व को कार्यान्वित कराने की उसकी शक्तियों में यह बात स्वतः निहित थी कि संघीय धारासभा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण का कार्य भी करेगी। १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के मातहत बनी केन्द्रीय धारासभा को भी यह शक्ति प्राप्त थी। पर जैसा कि एक पहिले अध्याय में बताया जा चुका है कार्यकारिणी के लिये इसके द्वारा पास किये गये प्रस्तावों को स्वीकार करना आवश्यक न था; ये सिर्फ सिफारिशों के रूप में होते थे। १९३५ के एक्ट के मातहत ये प्रस्ताव सिफारिशों के रूप में न होकर आदेशात्मक (Mandatory) होते। मंत्री लोग यदि इनकी अवहेलना करते तो सम्भव था कि उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया जाता। पर यदि इन प्रस्तावों का उन विषयों से सम्बन्ध होता जिनमें गवर्नर-जनरल को स्व-विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग का अधिकार था तो इनका महत्त्व सिफारिशों से अधिक कुछ न होता और मंत्रि-मंडल चाहता तो इन पर गौर करता और न चाहता तो इन्हें ठुकरा भी सकता था।

(ग) **वित्तीय शक्तियाँ :—** धारासभा किस हद तक राष्ट्रीय नीतियों के निर्धारण पर अपना प्रभाव डाल सकती है और किस हद तक कार्यपालिका के उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करा सकती है यह बात अधिकांश में इसकी वित्तीय शक्तियों पर निर्भर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहती है। 'प्रशासन पर भी उसी का नियंत्रण रहता है जिसका थैली पर नियंत्रण होता है।' यह जानने के लिए कि अधिनियम ने किस हद तक शक्ति नौकरशाही से भारत की जनता को हस्तान्तरित की, हमें इसके मातहत संघीय व्यवस्थापिका सभा की वित्तीय शक्तियों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

गवर्नर-जनरल का यह कर्तव्य था कि वह प्रति वर्ष आगामी वर्ष के लिये अन्दाज़न संघ के आय और व्यय का एक विवरण तैयार कराये और इस 'वार्षिक वित्तीय विवरण' (Annual Financial Statement) को संघीय धारासभा के दोनों आगारों के सम्मुख प्रस्तुत करे। विवरण में तीन प्रकार की राशियों को स्पष्टतया दिखाना आवश्यक था: (i) वह राशि जो उस व्यय को पूरा करने के लिये आवश्यक थी जो संघीय राजस्व पर भार था, (ii) वह राशि जो संघ के राजस्व में से किये जाने वाले अन्य व्ययों के लिये आवश्यक थी, और (iii) वह राशि जो गवर्नर-जनरल के कहने पर विवरण में इसलिये दिखाई जानी आवश्यक थी क्योंकि उसकी राय में उसके विशेष उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये यह जरूरी थी। प्रथम दो राशियों में बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर था जिसे हमें पूर्णतया समझ लेना चाहिये। प्रथम श्रेणी में व्यय के वे सब मद सम्मिलित थे जिन पर व्यवस्थापिका सभा के मत की आवश्यकता न थी; वे संघीय राजस्व पर भार थे। मंत्रि-मंडल अथवा व्यवस्थापिका सभा की सलाह लिये बगैर ही गवर्नर-जनरल इन मदों पर व्यय किये जाने की इजाज़त दे सकता था। कुल व्यय का ७५ अथवा ८० प्रतिशत व्यय इन मदों पर होता था। ये निम्न थे:

(क) गवर्नर-जनरल का वेतन, भत्ते तथा उसके दफ्तर के अन्य व्यय, जिनका आयोजन सपरिषद् आदेश (Order-in-Council) द्वारा किया जाना था।

(ख) संघ के ऋण सम्बन्धी व्यय, जिनमें ब्याज, ऋण अदा करने के लिये जमा किया गया कोष, व कर्ज उतारने के खर्च तथा कर्ज लेने के सम्बन्ध में किये जाने वाले व्यय आदि शामिल थे।

(ग) मंत्रियों, सलाहकारों (Counsellors), वित्तीय परामर्शदाता (Financial Adviser), एडवोकेट-जनरल, चीफ कमिश्नरों और वित्तीय परामर्शदाता के कर्मचारियों की वेतनें व भत्ते।

(घ) संघीय न्यायालय एवं हाई कोर्ट के न्यायाधीशों की वेतनें, भत्ते तथा पेंशनें।

(ङ) रक्षा, वैदेशिक सम्बन्धों, जनजाति क्षेत्रों (tribal areas) तथा धार्मिक विषयों के बारे में अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए गवर्नर-जनरल द्वारा किये जाने वाले व्यय।

(च) वह राशि जो अधिनियम के मातहत सम्राट् को संघ के राजस्व में से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस व्यय के सम्बन्ध में दी जानी थी जो भारतीय रियासतों के प्रति उसके कर्तव्य पालन के परिणाम-स्वरूप होता।

(छ) किसी भी प्रान्त में अपवर्जित क्षेत्रों (Excluded areas) के प्रशासन के सम्बन्ध में दी जाने वाली राशि।

(ज) किसी भी अदालत तथा पंचायती न्यायालय (arbitral tribunal) के निर्णय एवं आदेश इत्यादि को पूरा करने के लिये खर्च की जाने वाली राशि।

(झ) कोई दूसरा व्यय जिसे संघीय व्यवस्थापिका सभा अपने एक्ट के अनुसार इस प्रकार का घोषित करे।

इस बात का फैसला कि अनुदानों की कौन सी माँग अमतदेय मदों में आती थी गवर्नर-जनरल को अपने विवेकानुसार करना था और उसका निर्णय अन्तिम माना जाना था।

यद्यपि इन मदों पर व्यवस्थापिका सभा को मत देने का अधिकार न था उसे गवर्नर-जनरल की वेतन व भत्ते एवं (च) के मातहत सम्राट् को दी जाने वाली राशि के अतिरिक्त अन्य सब मदों पर वाद-विवाद करने की स्वाधीनता थी।

संख्या (ii) के मातहत द्वितीय श्रेणी में सम्मिलित मदों के व्यय पर व्यवस्थापिका सभा को मत देने का अधिकार था। कार्यपालिका इन व्ययों को तब तक नहीं कर सकती थी जब तक धारासभा इन्हें पास न कर दे। यह कुल व्यय का सिर्फ २५ प्रतिशत था। इस सीमित क्षेत्र में भी धारासभा का नियंत्रण पूर्ण न था। गवर्नर-जनरल यदि चाहता तो वह असेम्बली द्वारा अस्वीकृत एवं कम की गई अनुदान की किसी भी मांग को प्रमाणिस व्ययों की सूची में इस आधार पर सम्मिलित कर सकता था कि यह उसके विशेष उत्तरदायित्वों के सम्पादन के लिये आवश्यक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघीय सरकार की आर्थिक एवं वित्तीय शक्तियाँ बहुत सीमित थीं। रक्षा और वैदेशिक सम्बन्धों जैसे खर्चीले विभागों का मंत्रियों के नियंत्रण से बाहर रहना और विशेष उत्तरदायित्वों को निभाने के आधार पर व्ययों को स्वीकृत करने की गवर्नर-जनरल की शक्ति, ये दोनों धारासभा की वित्तीय शक्तियों पर भारी परिसीमाएँ (limitations) थीं।

संघीय वित्त के विषय में संघीय व्यवस्थापिका सभा एवं गवर्नर-जनरल की शक्तियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह समझना आवश्यक है कि किस प्रकार धारासभा आर्थिक अनुदानों को पास करती थी। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है सब से प्रथम दोनों आगारों के सामने वार्षिक वित्तीय विवरण प्रस्तुत किया जाना था जिसमें आगामी वर्ष की अन्दाज़न आय और अन्दाज़न व्यय दिखाये जाते। इस सम्बन्ध में 'कौंसिल ऑफ स्टेट' की अपेक्षा 'हाउस ऑफ असेम्बली' के कोई विशेष अधिकार नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। दोनों हीं आगारो में उसके बाद सम्पूर्ण बजट पर वाद-विवाद होना था। यह वाद-विवाद दोनों ही आगारों को सामान्यतया प्रशासन की समीक्षा करने, सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों की आलोचना करने तथा राष्ट्रीय शिकायतों को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करने का अवसर देता। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि दोनों आगारों को गवर्नर-जनरल की वेतन व भत्ते तथा रियासतों के सम्बन्ध में होने वाले व्यय के अतिरिक्त उन सब व्ययों पर बहस करने का अधिकार था जो संघ के राजस्व पर भार थे अर्थात् धारासभा के मत से मुक्त थे। बजट पर आम बहस वित्तीय प्रक्रिया की दूसरी स्टेज थी। असेम्बली के सम्मुख अनुदानों की विभिन्न मांगों के वोट के लिये प्रस्तुत किये जाने के साथ तीसरी स्टेज प्रारम्भ होनी थी। यहाँ पाठकों को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि कुल व्यय का सिर्फ २० अथवा २५ प्रतिशत भाग ही ऐसा था जिस पर धारासभा मत दे सकती थी। शेष भाग 'संघीय राजस्व पर भार' था। असेम्बली अनुदान की किसी भी मांग को स्वीकृत, अस्वीकृत अथवा कम कर सकती थी पर वह इसे बढ़ा नही सकती थी। और न यह किसी नये व्यय का प्रस्ताव रख सकती थी। यह सार्वजनिक वित्त (Public Finance) के उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का अनुकरण था जिसके अनुसार कार्यपालिका अथवा गवर्नर-जनरल की सिफारिश पर ही किसी भी अनुदान की माँग प्रस्तुत की जा सकती है और कोइ भी प्राइवेट सदस्य किसी भी नये व्यय का प्रस्ताव नहीं पेश कर सकता। जब प्रत्येक माँग पर असेम्बली में मत-गणना हो चुकती तो वे सब माँगें जो असेम्बली में पूर्णतया अथवा कमी बेशी के साथ पास हो चुकतीं, मतदान के लिये 'कौंसिल ऑफ स्टेट' में भेज दी जातीं। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि १९३५ के अधिनियम ने 'कौंसिल ऑफ स्टेट' को भी निम्न आगार के समान ही आर्थिक शक्तियाँ प्रदान की थीं। निम्न आगार का एकमात्र विशेषाधिकार यह था कि अनुदानों की माँगें सब से प्रथम उसी में प्रस्तुत की जानी थीं और जिन माँगों को वह अस्वीकृत कर देता वे तब तक दूसरे आगार के सामने प्रस्तुत नहीं की जा सकती थीं जब तक कि गवर्नर-जनरल ही इसके लिये आज्ञा न दे दे। यदि यह किसी अनुदान में कमी कर देता तो कम किया हुआ अनुदान ही 'कौंसिल ऑफ स्टेट' के सामने प्रस्तुत किया जा सकता था बशर्ते कि गवर्नर-जनरल ही बीच में पड़ कर यह न आदेश दे देता कि मूल अनुदान ही दूसरे आगार के सामने पेश किया जाय। इस प्रकार १९३५ के अधिनियम ने दो नई परिपाटियों को जन्म दिया; एक तो इसने दूसरे आगार को प्रथम आगार के समान ही आर्थिक शक्तियाँ प्रदान कीं तथा दूसरे, गवर्नर-जनरल को इसने उस समय निम्न आगार की अवहेलना करने का भी अधिकार दिया जब वह किसी अनुदान को कम अथवा अस्वीकृत कर दे।

यदि अनुदान की किसी मांग पर दोनों आगारों का मतभेद होता अर्थात् यदि एक आगार से पास हो जाने के बाद दूसरा आगार उसे अस्वीकृत कर देता अथवा इतना कम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर देता कि वह पहले आगार को मान्य न होती तो इस मामले को तय करने के वास्ते गवर्नर-जनरल के लिये दोनों आगारों का संयुक्त अधिवेशन बुलाना आवश्यक था। दोनों आगारों की रचना व गठन इस प्रकार का था कि अधिकांश अवस्थाओं में गवर्नर-जनरल की इच्छा के सर्वोपरि रहने की ही आशा की जा सकती थी। उसे रियासतों के प्रतिनिधियों, जिनकी संख्या २२९ थी, ज़मीदारों, यूरोपियनों, आँग्ल भारतीयों एवं वाणिज्य व व्यवसाय के प्रतिनिधियों, जिनकी संख्या लगभग ४० थी, तथा सम्प्रदायवादी एवं नामज़द सदस्यों का समर्थन और मत सदा प्राप्त हो सकते थे। संयुक्त अधिवेशन में लोकेच्छा (popular will) के माने जाने का कोई अवसर न था। जब अनुदानों पर दोनों आगारों से पृथक् पृथक् अथवा संयुक्त रूप से मतगणना हो चुकती तो बजट की चौथी और अन्तिम स्टेज प्रारम्भ होती। इस समय दोनों आगारों द्वारा पास किये गये अनुदानों एवं उन राशियों की एक अनुसूची (schedule) तैयार की जाती जो 'संघीय राजस्व पर भार रूप' थी और गवर्नर-जनरल अपने हस्ताक्षरों से इसे प्रमाणित करता। अनुसूची को प्रमाणित करते हुए गवर्नर-जनरल को आगारों द्वारा अस्वीकृत एवं कम की गई अनुदानों को मूलरूप में बहाल करने का अधिकार था यदि वह उनकी अस्वीकृति एवं कटौती को अपने विशेष उत्तरदायित्वों के सम्पादन में बाधक समझता। प्रमाणित अनुसूची दोनों आगारों के सम्मुख प्रस्तुत की जाती थी, पर न वे उस पर बहस कर सकते थे और न मत दे सकते थे। यह तमाम वर्ष में किये जाने वाले व्यय की एक प्रकार से नियमित एवं क़ानूनी स्वीकृति थी। यदि किसी आर्थिक वर्ष में अतिरिक्त व्यय की आवश्यकता पड़ती तो पूरक बजट (supplementary budget) पास करना पड़ता और उसे भी इन्हीं सब स्टेजों में से गुज़रना पड़ता।

यहां एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। १९३५ के अधिनियम से पूर्व यह प्रथा थी कि जब अनुदानों की विभिन्न माँगों पर धारासभा में विचार हो चुकता और वह उन्हें पास कर देती तो वे 'अर्थ-विधेयक' (Finance Bill) के रूप में फिर स्वीकृति के लिये उसके सामने प्रस्तुत की जाती थीं। अनेक दफा ऐसा हुआ कि असेम्बली ने सरकार की नीति के विरोधस्वरूप विधेयक को रद कर दिया। वित्त सम्बन्धी नई प्रक्रिया के अनुसार 'अर्थ-विधेयक' के स्थान पर 'प्रमाणित अनुसूची' धारा सभा के सम्मुख प्रस्तुत की जानी थी जिस पर न वह बहस कर सकती थी, न मत दे सकती थी और न जिसे वह अस्वीकृत कर सकती थी।

अनेक दृष्टियों से नवीन प्रस्ताव प्रतिक्रियात्मक एवं अस्वीकरणीय थे। गठन से 'कौंसिल ऑफ स्टेट' अत्यन्त अप्रगतिशील संस्था थी और इस अप्रगतिशील संस्था को वित्तीय क्षेत्र में हाउस ऑफ असेम्बली के समान अधिकार दिये गये थे। इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को धारासभा द्वारा अस्वीकृत अथवा कम की गई राशियों को बहाल करने का भी अधिकार था। धारासभा की वित्त सम्बन्धी शक्तियों का उपसंहार करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए प्रोफेसर के. टी. शाह लिखते हैं : 'व्यवस्थापिका सभा की वित्तीय शक्तियों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए हमें यह स्वीकार करना होगा कि व्यवस्थापिका सभा का वित्तीय क्षेत्र बहुत सीमित है। इस सीमित क्षेत्र में भी, निम्न आगार में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की आवाज़ को अनसुना करने को पूरी कोशिश की गई है। संघीय धारासभा में वार्षिक बजट के पास होने के समय पग पग पर गवर्नर-जनरल को हस्तक्षेप करने तथा सुझाव एवं आदेश देने की शक्तियां दी गई हैं। अन्तिम निर्णय गवर्नर-जनरल के हाथ में है और संघीय धारासभा के दोनों आगारों के संयुक्त मतों द्वारा गवर्नर-जनरल के किसी सुझाव के ठुकरा दिये जाने के बाद भी उसी का निर्णय मान्य रहेगा। क्योंकि वित्त उत्तरदायी शासन की महराब का केन्द्रीय पत्थर है, संघीय धारासभा की वित्तीय शक्तियों एवं अधिकारों पर लगाये गये प्रतिबन्धों में से प्रत्येक की अपनी अपनी कहानी है। यदि कुछ उनमें से भारतीय राजनीतिज्ञों के विषय में ब्रिटिश सन्देह एवं अविश्वास के द्योतक हैं तो कुछ ब्रिटिश साम्राज्यवादी तत्त्वों के भारत को गुलाम और अपने शोषण का क्षेत्र बनाये रखने के भयावह निश्चय के परिचायक हैं।'*

वार्षिक वित्तीय विवरण के दूसरे भाग अर्थात् वर्ष की अनुमानित आय पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। इसमें सरकार के कर सम्बन्धी प्रस्ताव तथा राजस्व प्राप्ति के अन्य साधन दिखाये जाने थे। कर एवं ऋण सम्बन्धी कोई भी प्रस्ताव गवर्नर-जनरल की सिफारिश के बिना धारासभा के सम्मुख प्रस्तुत नहीं हो सकता था। धारासभा किसी प्रस्ताव को स्वीकृत, अस्वीकृत और उसकी राशि को कम तो कर सकती थी पर उसे उसमें वृद्धि करने अथवा नया प्रस्ताव पेश करने का अधिकार न था। असेम्बली से पास हो जाने के पश्चात् इसे 'कौंसिल ऑफ स्टेट' में भेजा जाना था। कर सम्बन्धी कोई भी प्रस्ताव 'कौंसिल ऑफ स्टेट' में प्रारम्भ नहीं किया जा सकता था; इसकी शुरुआत 'हाउस ऑफ असेम्बली' से ही हो सकती थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक प्रश्नों को उठाने और उन पर अन्तिम निर्णय देने की शक्ति कार्यपालिका के हाथों में थी। ग्रेट ब्रिटेन में भी आर्थिक मामलों में पहल की शक्ति कार्यपालिका के हाथों में है पर उन पर अन्तिम निर्णय का अधिकार पार्लिमेंट का है। अधिनियम ने दोनों आगारों को आर्थिक मामलों में लगभग समान स्थिति एवं समान अधिकार दिये थे। इसके अतिरिक्त कि 'अर्थ विधेयक' कौंसिल ऑफ स्टेट में शुरू नहीं किये जा सकते थे, इसे असेम्बली के अन्य सब अधिकार प्राप्त थे। यह आयोजन ब्रिटिश प्रथा के प्रतिकूल है जिसके अनुसार ब्रिटिश लार्ड सभा को कोई आर्थिक शक्ति प्राप्त नहीं है। यह एक अत्यन्त प्रतिगामी आयोजन था और इसीलिये भारतीय लोकमत इसके सख्त विरुद्ध था।

(घ) प्रशासन पर नियंत्रण:— इसका अधिनियम में प्रत्यक्ष रूप से कोई

* के. टी. शाह : 'फेडरल स्टक्चर', पृष्ठ ३२२-२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयोजन न था। तथापि यह धारासभा की अनुदानों को स्वीकृत एवं अस्वीकृत करने की शक्ति तथा सामान्य नीति के विषयों पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने, काम-रोको प्रस्ताव (Motions of adjournment) पेश करने और प्रश्न पूछने के अधिकार में अन्तर्निहित थी। धारासभा के दोनों आगारों द्वारा नियुक्त की जाने वाली विविध समितियाँ प्रशासन पर सब से अच्छी तरह नियंत्रण एवं निरीक्षण रख सकती हैं। पर क्योंकि अधिनियम के मातहत संघीय धारासभा का कभी निर्माण ही नहीं हुआ, समिति प्रणाली का भी विकास नहीं हो पाया।

दोनों आगारों का सम्बन्ध :— १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार विधायक (Legislative) एवं वित्तीय क्षेत्रों में 'हाउस ऑफ असेम्बली' एवं 'कौंसिल ऑफ स्टेट' की शक्तियां एवं स्थिति लगभग समान थीं। जैसाकि पहिले भी जिक्र किया जा चुका है वित्तीय क्षेत्र में 'हाउस ऑफ असेम्बली' को एक अधिकार विशेष रूप से प्राप्त था और वह यह कि समस्त अर्थ विधेयक सबसे प्रथम इसी में पेश किये जा सकते थे। दोनों आगारों की विधायक क्षेत्र में इस लिये समान शक्तियां थीं क्योंकि (i) प्रत्येक विधेयक (अर्थ विधेयक को छोड़ कर) दोनों आगारों में शुरू किया जा सकता था और (ii) कोई भी विधेयक तब तक गवर्नर-जनरल के पास उसकी स्वीकृति के लिये नहीं भेजा जा सकता था जब तक वह एक ही रूप में दोनों आगारों में पास न हो जाय। कोई भी विधेयक, जिसे दोनों में से एक आगार अस्वीकृत कर दे अथवा उसमें इस प्रकार संशोधन कर दे कि वह दूसरे आगार को मान्य न हो, समाप्त हुआ समझा जाता था और उसे गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के लिये नहीं भेजा जा सकता था। दोनों आगारों के मतभेद उनकी संयुक्त बैठक में ही दूर किये जा सकते थे जो गवर्नर-जनरल द्वारा बुलाई जानी थी। प्रत्येक निर्णय दोनों आगारों के उपस्थित एवं मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से ही किया जाना था। जबकि १९१९ के एक्ट के मातहत 'कौंसिल ऑफ स्टेट' को अनुदानों को पास करने का अधिकार न था, १९३५ के अधिनियम ने दूसरे आगार (Upper chamber) को भी यह शक्ति दे दी। अनुदानों की समस्त माँगें पहिले असेम्बली के सामने पेश की जानी थीं और उसके पश्चात् उन्हें उसी रूप में 'कौंसिल ऑफ स्टेट' में रक्खा जाना था बशर्ते कि गवर्नर-जनरल ही 'स्व-विवेक' में इसके विपरीत कोई आदेश न जारी कर दे। दूसरे शब्दों में, गवर्नर-जनरल को 'कौंसिल ऑफ स्टेट' से 'हाउस ऑफ असेम्बली' के निश्चयों के विरुद्ध अपील करने का अधिकार था। दोनों के मतभेद संयुक्त अधिवेशन में दूर किये जाने थे। अपने विशेष उत्तरदायित्वों की पूर्ति को दृष्टि में रखते हुए गवर्नर-जनरल को दोनों आगारों द्वारा अस्वीकृत एवं कम किये गये अनुदानों को बहाल करने की भी शक्ति थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धनिक एवं कुलीन वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली 'कौंसिल ऑफ स्टेट', जिसके ४० प्रतिशत भारतीय सदस्य रियासतों के शासकों द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोनीत (Nominate) किये जाने थे संसार की सबसे शक्तिशाली द्वितीय सभा (Second chamber) होनी थी। यह प्रथम सभा (Lower chamber) की तुलना में भी उतनी ही शक्तिशाली होनी थी जितनी कि अमेरिका की सीनेट। अमेरिका की सीनेट के समान ही यह स्थायी और एक समय में न भंग होने वाली संस्था भी होती। धनिक वर्ग की प्रतिनिधि, अप्रगतिशील एवं शक्तिशाली द्वितीय सभा की रचना १९३५ के अधिनियम की एक ऐसी विशेषता थी जो संसार के किसी भी देश के विधान में उपलब्ध नहीं होती। एक्ट की इसी प्रकार की एक दूसरी विशेषता यह थी कि जबकि इसने द्वितीय सभा को अविघटनीय (indissoluble) अर्थात् स्थायी बनाया था और उसका निर्वाचन प्रत्यक्ष रक्खा था, लोकप्रिय निम्न सभा को इसने अस्थायी बनाया और उसका निर्वाचन भी परोक्ष रक्खा। हमें यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि 'कौंसिल ऑफ स्टेट' को मंत्रि-परिषद् के कार्यों की समालोचना करने, प्रश्नों (Interpellations) के द्वारा सर्वसाधारण की शिकायतों को प्रस्तुत करने, तथा काम रोको प्रस्ताव पेश करने का भी अधिकार था। निम्न सभा के समान ही इससे भी संघीय मंत्रिमंडल के बनाने और गिराने की आशा की जाती थी।

गवर्नर-जनरल और धारासभा :— अधिनियम ने गवर्नर-जनरल को सिर्फ क़ानून बनाने की ही शक्ति नहीं दी थी, अपितु धारासभा के ऊपर भी कई शक्तियाँ व अधिकार दिये थे। उसकी क़ानून निर्माण अथवा विधायक शक्तियों का पहिले ज़िक्र किया जा चुका है। वह धारासभा का परामर्श लिये बिना गवर्नर-जनरल का अधिनियम (Governor-General's Act) बना सकता था और अध्यादेश घोषित कर सकता था। ये असाधारण विधायक शक्तियाँ हैं जो लोकतन्त्र के सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं और किसी भी प्रजातन्त्रात्मक राज्य में नहीं पाई जातीं। पर जिन देशों में संसदीय शासन प्रचलित है वहाँ कार्यकारिणी के प्रमुख को धारासभा पर अवश्य कुछ शक्तियाँ दी जाती हैं। पर भारत के गवर्नर-जनरल को अधिनियम ने संघीय धारासभा के विषय में जो शक्तियाँ प्रदान कीं वे इङ्गलैण्ड के बादशाह और फ्रांसीसी गणतन्त्र के प्रेज़ीडेन्ट की शक्तियों से कहीं अधिक थीं। इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ निम्न थीं :—

१. वह धारासभा को बुला सकता था, इसके अधिवेशनों का समावसान (prorogue) कर सकता था और 'हाउस ऑफ असेम्बली' का इसकी ५ वर्ष की अवधि के समाप्त होने से पूर्व विघटन (dissolution) भी कर सकता था। उसके लिये वर्ष में धारासभा का एक अधिवेशन बुलाना आवश्यक था और यह देखना भी ज़रूरी था कि दूसरी बैठक बुलाये बग़ैर १२ महीने का समय न बीत जाय।

२. वह सदस्यों की अयोग्यताओं के विषय में नियम बना सकता था और उसे उन्हें व्यक्तिगत रूप से सदस्यता से हटाने का भी अधिदार था।

३. वह सदस्यों को अपने भाषण में उपस्थित रहने के लिये बाधित कर सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था और विशेष परिस्थितियों में दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक भी बुला सकता था।

४. उसे अपनी विवेक सम्बन्धी शक्तियों व व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग के अन्दर आने वाले विषयों के बारे में किसी भी सभा (Chamber) के कार्य को चलाने के लिये नियम बनाने का अधिकार था। इस प्रकार वह वित्तीय सामलों को ठीक समय पर निबटाने के लिये नियम बना सकता था।

५. वह किसी भी विषय पर (i) जिसका भारतीय रियासतों के उन मामलों से सम्बन्ध हो जिन पर संघीय धारासभा क़ानून न बना सकती हो, (ii) जो सम्राट् अथवा गवर्नर-जनरल के किसी विदेशी राष्ट्र या भारतीय रियासतों के साथ सम्बन्धों से ताल्लुक रखता हो, (iii) जो प्रान्तीय मामलों से सम्बन्धित हो, अथवा (iv) जिसका भारतीय रियासतों के शासक या राजघराने के किसी सदस्य के व्यक्तिगत चरित्र से सम्बन्ध हो, धारासभा में बहस और प्रश्न पूछना रोक सकता था।

६. निम्न विधेयकों को पेश करने से पूर्व उसकी स्वीकृति जो स्वविवेक में दी जानी थी आवश्यक थी: (i) जो विधेयक ब्रिटिश भारत में लगे हुये पार्लमेंट के किसी एक्ट को रद करना चाहे, उसमें संशोधन करना चाहे अथवा उसकी धाराओं के प्रतिकूल हो, (ii) जो गवर्नर-जनरल के अधिनियमों (Governor General's Acts) एवं अध्यादेशों को रद अथवा संशोधित करना चाहे अथवा उनके प्रतिकूल हो, (iii) जो उन बातों से सम्बन्धित हो जिनमें उसे स्वविवेक से कार्य करने का अधिकार हो, (iv) जो पुलिस सम्बन्धी किसी क़ानून पर असर डालता हो तथा उसे रद अथवा संशोधित करता हो, (v) जो फ़ौजदारी मामलों में युरोपियनों पर चलाये जाने वाले मुक़दमों की प्रक्रिया पर असर डालता हो, (vi) जो ब्रिटिश भारत में रहने वाले व्यक्तियों व ब्रिटिश भारत में पूर्णतया प्रबंधित एवं नियंत्रित कम्पनियों की अपेक्षा ब्रिटिश भारत में न रहने वाले व्यक्तियों तथा ब्रिटिश भारत में पूर्णतया न नियंत्रित एवं प्रबन्धित कम्पनियों पर अधिक कर लगाता हो, (vii) जो संयुक्त राज्य (United Kingdom) में होने वाली आय पर लगने वाले किसी संघीय कर की मुक्ति पर असर डालता हो, (viii) जो मुद्रण व टंकण (Coinage and currency) तथा भारतीय रिज़र्व बैंक के विधान तथा कृत्यों पर प्रभाव डालता हो, या (ix) जो पेशा सम्बन्धी योग्यताओं को निर्धारित करना चाहता हो। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि नये कर अथवा नये खर्च का कोई भी प्रस्ताव गवर्नर-जनरल की सिफारिश के बिना धारासभा के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था।

७. वह कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों की धारासभा से सिफारिश कर सकता था और आशा कर सकता था कि धारासभा उसकी सिफारिशों को, अवश्य मानेगी। अर्थ विधेयक तथा संरक्षित विषयों के प्रशासन से सम्बन्धित विधेयक इस श्रेणी में शामिल थे।

८. वह किसी भी विधेयक, उसकी किसी धारा अथवा उससे सम्बन्धित किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संशोधन पर धारासभा में कार्यवाही रोक सकता था यदि वह यह समझता कि यह भारत या उसके किसी भाग में शांति भंग करने वाले ख़तरों को रोकने के उसके विशेष उत्तर-दायित्वों के सम्पादन में बाधक है।

९. उसे धारासभा द्वारा पास किये गये किसी भी विधेयक को अपनी स्वीकृति देने, न देने अथवा उसे सम्राट् की स्वीकृति के लिये रोक रखने का भी अधिकार था। वह किसी भी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा को फिर से विचार करने के लिये धारासभा को वापिस भेज सकता था।

व्यवस्थापिका सभा की शक्तियों पर प्रतिबन्ध:— संघीय व्यवस्थापिका सभा विधायक दृष्टि से सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न संस्था न थी; इसकी क़ानून निर्माण की शक्तियों पर अनेक परिसीमाएँ एवं प्रतिबन्ध थे। सबसे पहिली बात तो यह है कि इसे सांविधानिक शक्तियाँ न थीं; यह भारत सरकार अधिनियम या उसके उपबन्धों को नहीं बदल सकती थी, न उसमें संशोधन कर सकती थी और न उन्हें रद कर सकती थी। भारत के संविधान को बदलने का अधिकार ब्रिटिश संसद ने खुले तौर पर अपने लिये सुरक्षित रख लिया था। दूसरी बात यह है कि कुछ विषयों पर इसे क़ानून बनाने की मनाही थी जैसे सम्राट् से सम्बन्ध रखने वाले मामले, सम्राट् का उत्तराधिकार, सेना अधिनियम, वायु सेना एक्ट एवं नौ सेना अनुशासन अधिनियम। तीसरे, कुछ ऐसे विषय थे जिन पर व्यवस्थापिका सभा गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति से ही क़ानून बना सकती थी जो 'स्व-विवेक में' दी जानी थी। इनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। चौथे, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, गवर्नर-जनरल और बादशाह दोनों ही धारासभा द्वारा पास किये गये विधेयकों को अस्वीकृत कर सकते थे। कुछ ऐसे विधेयक थे जिन्हें गवर्नर-जनरल को सम्राट् की स्वीकृति के लिये सुरक्षित रखना ज़रूरी था। ब्रिटिश भारत के उच्च न्यायालयों (High Courts) की शक्ति को कम करने वाले तथा स्थायी बन्दोबस्त के स्वरूप को परिवर्तित करने के लिये प्रान्तीय धारासभाओं द्वारा पास किये गये विधेयक इसी प्रकर के विधेयक थे।

ब्रिटेन के व्यापारिक एवं वाणिज्य सम्बन्धी हितों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण व्यवहार को रोकने वाले १९३५ के एक्ट के उपबन्ध भी संघीय धारासभा की शक्तियों पर प्रतिबन्ध ही थे।

संघीय धारासभा की विधायक क्षमता (Legislative competence) पर लगाई गई इन परिसीमाओं (Limitations) का कारण यह था कि संघीय धारासभा क़ानून निर्माण की दृष्टि से एक सहायक (Subordinate) संस्था थी जिसे ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार अधिनियम के अनुसार कुछ निश्चित विधायक शक्तियां प्रदान की हुई थीं। ब्रिटिश संसद ने न सिर्फ भारतीय संविधान को निर्धारित करने अपितु भारत के लिये साधारण क़ानून बनाने का अधिकार भी अपने लिये सुरक्षित रक्खा हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संविधान की विफलता की अवस्था में आयोजन :— अधिनियम द्वारा गवर्नर-जनरल को प्रदान की गई एक और महत्त्वपूर्ण शक्ति का ज़िक्र करना और शेष रह जाता है। इसका सम्बन्ध है उस सांविधानिक मशीनरी की विफलता से जिसे अधिनियम ने जन्म दिया था। यदि कभी ऐसा अवसर पैदा हो जाता (जैसा कि १९३९ में प्रान्तों में उस समय पैदा हुआ जबकि ब्रिटिश सरकार द्वारा युद्ध के उद्देश्यों की भारतीय लोकमत के अनुसार घोषणा न होने के कारण कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिया और दूसरा मंत्रिमंडल न बन सका) जब गवर्नर-जनरल को विश्वास हो जाता कि अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार संघ का शासन नहीं चल सकता तो वह सम्पूर्ण विधान को अथवा उसके किसी भाग को स्थगित करने की घोषणा कर सकता था। इस घोषणा में उसे यह भी ऐलान करना था कि वह इसमें निर्दिष्ट अपने कृत्यों का प्रयोग 'स्व-विवेक में' करेगा और यदि वह चाहता तो संघीय न्यायालय के अतिरिक्त संघ की किसी भी अन्य संस्था अथवा प्राधिकार (Authority) में निहित या उसके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति को अपने हाथ में ले सकता था। यह घोषणा भारत मंत्री को पहुँचाई जानी थी जो उसे संसद के सामने प्रस्तुत करता। यह ६ मास तक जारी रह सकती थी और यदि ब्रिटिश संसद के दोनों निकाय (Houses) इसे जारी रखने पर राजी हो जाते तो इसकी अवधि १२ महीने के लिये और बढ़ाई जा सकती थी। संविधान को स्थगित करने की घोषणा एक दूसरी घोषणा द्वारा वापिस ली जा सकती थी।

संघ का शासन ३ वर्ष से अधिक इस प्रकार की घोषणाओं द्वारा नही चलाया जा सकता था। ३ वर्ष के बाद संसद द्वारा पास किये गये संशोधनों एवं परिवर्तनों के अनुसार ही शासन चलाया जाना था। पर वास्तव में कुछ प्रान्तों का शासन ३ वर्ष से अधिक इस प्रकार की घोषणाओं द्वारा चलाया जाता रहा।

सांविधानिक मशीनरी के रुक जाने की अवस्था में सरकार की घोषणा द्वारा चलाये जाने का यह आयोजन प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के एकदम प्रतिकूल था। ग्रेट ब्रिटेन अथवा अन्य लोकतन्त्रात्मक राज्यों के सांविधानिक कानून एवं प्रथाओं में ऐसा कोई आयोजन नहीं मिलता। वहां जब कभी भी कार्यपालिका और विधानमंडल (Legislature) में संघर्ष अथवा गति-अवरोध (deadlock) उत्पन्न होता है तो राज्य का प्रमुख विधान-मंडल को विघटित (dissolve) कर देता है और आम चुनाव के लिये हिदायतें जारी कर देता है। इस प्रकार प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्रों में इस तरह के मामलों की अपील निर्वाचक समूह से की जाती है जो अवरोध को दूर करता है। हिन्दुस्तान में गवर्नर-जनरल जनता को विधानमंडल के कार्यों को स्वीकृत एवं अस्वीकृत करने का अवसर दिये बगैर विधानमंडल को स्थगित कर सकता था और इसकी तथा संघीय सरकार की अन्य संस्थाओं की शक्तियां भी अपने हाथ में ले सकता था। घोषणा द्वारा शासन स्वेच्छाचारी शासन एवं तानाशाही का ही दूसरा रूप है। इस आयोजन का उद्देश्य यह था कि विधान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंडल गवर्नर-जनरल को उन कार्यों को करने के लिये मजबूर न करे जिन्हें वह उचित नहीं समझता था। इसका लक्ष्य निर्वाचक समूह से अपील के द्वारा कार्यपालिका और विधानमंडल में सहयोग एवं मेल पैदा करना न था।

संघीय न्यायालय

संघीय न्यायालय की आवश्यकता :— संघीय संविधान सरकार के समस्त कृत्यों को संघीय सरकार तथा संघ की अंगीभूत सरकारों में बांट देता है। इनमें से प्रत्येक का अपना सुनिश्चित कार्य-क्षेत्र होता है जिसका वह अतिक्रमण नहीं कर सकता। संघीय संविधान इसी के साथ लिखित संविधान की सर्वोच्चता को भी मानता है। कोई भी सरकार इसके उपबन्धों का उल्लंघन नहीं कर सकती। संघीय सरकार अथवा संघ की अंगीभूत सरकारों का कोई भी कार्य अथवा कानून इसके विपरीत होने पर अवैध माना जाता है। अतः संघ शासन में एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) का होना आवश्यक है जो संविधान की विभिन्न धाराओं का निर्वचन (interpretation) करे, विभिन्न सरकारों के कार्यों एवं कानूनों के औचित्य एवं अनौचित्य का निर्णय करे तथा उनके अधिकार-क्षेत्रों के विषय में उत्पन्न होने वाले झगड़ों का फैसला करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में ऐसा कोई भी संघ शासन नहीं जहाँ सर्वोच्च न्यायालय न हो। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने भी इसीलिये एक संघीय न्यायालय की स्थापना की। यद्यपि भारत में संघ शासन का स्वप्न कभी पूरा नहीं हुआ, संघीय न्यायालय स्थापित कर दिया गया जिसने १ अक्टूबर १९३७ से नियमित रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

इसकी रचना :— संघीय न्यायालय मुख्य न्यायाधिपति तथा ज्यादा से ज्यादा छः न्यायाधीशों से मिलकर बनना था। गवर्नर-जनरल के द्वारा संघीय विधानमंडल के सम्राट् को समावेदन (Address) देने पर न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाई भी जा सकती थी। इसकी स्थापना के समय इसमें मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त सिर्फ दो न्यायाधीश और थे। न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा हुई थी और वे ६५ वर्ष की आयु तक पदासीन रह सकते थे। न्यायाधीश यदि चाहता तो अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता था; प्रिवी परिषद् (Privy Council) के कहने पर सम्राट् उसे कदाचार तथा मानसिक असमर्थता के आधार पर पदच्युत भी कर सकता था। अस्थायी रूप से रिक्त हुए स्थानों को गवर्नर-जनरल भी भर सकता था।

संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों को दलबन्दी से दूर रखने और उनके निर्णयों की स्वाधीनता एवं निष्पक्षता की सुरक्षा के लिये संघीय धारासभा तथा संघीय सरकार को उनकी नियुक्ति और बरखास्तगी से पृथक् रखा गया था। भारतीय लोकमत न्यायाधीशों की नियुक्ति को एक बाह्य अधिकारी अर्थात् भारतमंत्री के हाथ में छोड़ने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सख्त विरुद्ध था। इस बात का भय था कि 'जब तक न्यायाधीश मुख्यतया ऐसे बाह्य अधिकारी के प्रति वफादार रहेंगे जो अचेतन रूप से मौजूदा हुकूमत के पक्ष में है, उनका उस वर्ग व शक्ति की तरफ झुकना स्वाभाविक है जिसकी बदौलत उन्हें जीवन में इतना सम्मानित स्थान व महत्त्व मिला हुआ है .....। इस प्रकार निष्पक्षता का तथाकथित गुण जो भारत के उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के इस तरीक़े से पैदा होगा, वास्तविक उद्देश्य को पूरा न कर सकेगा; जबकि इस से ठीक इसके विपरीत वस्तु के पैदा होने का इतना ही खतरा है।'*

न्यायाधीशों की योग्यता :— संघीय न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने के लिये किसी भी व्यक्ति का ब्रिटिश भारत या संघ के अंगीभूत राज्य के किसी उच्च न्यायालय (High Court) का ५ वर्ष तक न्यायाधीश रहना अथवा इंग्लैंड का या उत्तरीय आयरलैंड का १० वर्ष पुराना बैरिस्टर होना, अथवा स्काटलैण्ड के एडवोकेट संघ (Faculty of Advocates) का १० वर्ष तक सदस्य रहा होना, अथवा ब्रिटिश भारत या संघ के अंगीभूत राज्य के किसी उच्च न्यायालय में १० वर्ष तक वकील रहना आवश्यक था। मुख्य न्यायाधिपति के लिये नियुक्ति के समय बैरिस्टर और १५ वर्ष पुराना एडवोकेट होना आवश्यक था। इस आयोजन का अभिप्राय सिविल सर्विस के सदस्यों को मुख्य न्यायाधिपति बनने से रोकना था। अस्थायी रूप से रिक्त स्थान पर गवर्नर-जनरल किसी भी संघीय न्यायाधीश को स्थानापन्न मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त कर सकता था।

संघीय न्यायालय अभिलेख अथवा रिकार्ड न्यायालय भी था, अर्थात् इसकी कार्यवाही एवं निर्णय सरकारी तौर पर एवं नियमित रूप से लिखे और प्रकाशित किये जाते थे और उन्हें छोटे न्यायालों में प्रमाण के तौर पर उद्धृत किया जा सकता था। इस की बैठकें सामान्यतया दिल्ली में होती थीं। न्यायाधीशों की वेतन, भत्ते एवं पेंशन सपरिषद् बादशाह द्वारा निर्धारित की जाती थीं और ये संघीय राजस्व पर 'भार रूप थीं'।

न्यायालय का अधिकारक्षेत्र :— संघीय न्यायालय का अधिकारक्षेत्र तीन प्रकार का था— प्रारम्भिक (Original), अपीलीय (Appellate) एवं परामर्श सम्बन्धी। संघ तथा उसकी इकाइयों के मध्य पैदा होने वाले कानूनी अधिकार सम्बन्धी मुकदमों में इसका अनन्य (exclusive) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार था। दूसरे शब्दों में ये इस प्रकार के मुक़दमे थे जिनमें दोनों ओर कोई न कोई सरकार थी और जिनमें उनके क़ानूनी अधिकार विवादग्रस्त थे। प्रारम्भिक अधिकार के दायरे में काम करते हुये यह दोनों दलों के क़ानूनी अधिकारों के बारे में निर्णय दे सकता था।

---

* के. टी. शाह : 'फ़ेडरल स्ट्रक्चर', पृष्ठ ३८९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपीलीय क्षेत्र में कार्य करते हुये इसे ब्रिटिश भारत व संघ के अंगीभूत राज्यों के उच्च न्यायालों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार था; लेकिन यह अपील उसी समय सुनी जा सकती थी जब निर्णय देने वाला उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि अधिनियम अथवा उसके अंतर्गत बनने वाले परिषद-आदेश (Order-in-Council) के निर्वचन के सम्बन्ध में इसमें कोई क़ानून का वास्तविक प्रश्न समाविष्ट है। अधिनियम ने दीवानी और फौजदारी मुक़दमों में संघीय न्यायालय को अपील सुनने का अधिकार नहीं दिया। पर इसमें इस बात का आयोजन अवश्य था कि गवर्नर-जरनल की पूर्व अनुमति से संघीय विधानमंडल एक क़ानून बनाकर इसके अपीलीय क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकता था जिसके अनुसार यह उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उन दीवानी मुक़दमों की अपील सुन सकता था जिनमें ५०,००० रुपये की राशि सम्मिलित हो। इस आयोजन के कार्यान्वित होने का दशा में प्रिवी कौंसिल में मुकदमे की अपील नहीं की जा सकती थी।

यदि गवर्नर-जनरल किसी कानूनी प्रश्न पर जो उसके सामने आ चुका हो या जिसके उठने की संभावना हो, जानकारी प्राप्त करना चाहता तो उसे वह अपने विवेकानुसार संघीय न्यायालय के पास उसकी सम्मति के लिये भेज सकता था। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये न्यायालय की खुली बैठक होनी थी। संघीय न्यायालय का यह परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि गवर्नर-जनरल के लिये इसकी सम्मति को मानना अनिवार्य था।

संघीय न्यायालय की बैठक सदैव सामूहिक रूप से होती थी जिसमें संघ न्यायाधीश उपस्थित रहते थे और इसके निर्णय न्यायाधीशों में मतभेद होने की अवस्था में खुली अदालत के रूप में बहुमत से दिये जाते थे। जो न्यायाधीश बहुमत के निर्णय से असहमत होता था उसे अपना पृथक् विरोधी निर्णय देने का अधिकार था। अदालत की सम्पूर्ण कार्यवाही अंग्रेज़ी भाषा में होनी थी।

संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) नहीं था। उसके निर्णयों के विरुद्ध उन मुक़दमों में उसकी स्वीकृति के बिना भी प्रिवी परिषद् की न्याय समिति से अपील हो सकती थी जिनमें (i) अधिनियम अथवा परिषद् आदेश के निर्वचन का प्रश्न उपस्थित हो (और इसमें निर्णय प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार में दिया जाना था), (ii) किसी रियासत के प्रवेश-पत्र द्वारा संघ सरकार को दी गई विधायक एवं कार्यकारिणी शक्ति के विस्तार का सवाल पेश हो, अथवा जो (iii) किसी रियासत में संघीय क़ानून के प्रशासन के सम्बन्ध में संघ सरकार तथा संघ की किसी अंगीभूत रियासत के बीच हुये समझौते के परिणामस्वरूप पैदा हुआ हो। इनके अतिरिक्त दूसरे मुक़दमों में संघीय न्यायालय की स्वीकृति से ही प्रिवी परिषद् में अपील की जा सकती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने कार्य को चलाने के लिये संघीय न्यायालय स्वयं ही नियम बनाता था। इसके द्वारा घोषित क़ानून ब्रिटिश भारत के सब न्यायालयों के लिये बाध्य था और उन्हें उसका अनुकरण करना पड़ता था। संघ के समस्त सामान्य एवं न्याय-पदाधिकारियों का कर्तव्य था कि वे संघीय न्यायालय को जैसे भी हो सके सहायता पहुँचाएं।

संघीय रेलवे प्राधिकार

विषय परिचय :— भारत का रेलमार्ग संघीय सूची में सम्मिलित था; यह उन संरक्षित विषयों में न था जिनका प्रशासन गवर्नर-जनरल को अपने विवेकानुसार चलाना था और न यह लोकप्रिय मंत्री के नियंत्रण में रक्खा गया था। जबकि १९१९ के अधिनियम के अनुसार देश के रेल मार्ग का प्रबन्ध एक रेलवे संघ (Railway Board) के सुपुर्द था जो वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के यातायात-सदस्य के अधीन था और रेलवे बजट यातायात-सदस्य द्वारा केन्द्रीय विधान-मंडल को पृथक् रूप से पेश किया जाता था जिसे इस पर बहस करने और इसके एक भाग पर मत देने का अधिकार था, १९३५ के अधिनियम ने इसका प्रबन्ध और नियंत्रण एक नये प्राधिकार के सुपुर्द कर दिया। यह मंत्रिपरिषद् और संघीय विधान-मंडल के नियंत्रण से मुक्त था। यात्रियों की सुरक्षा और किसी अंश तक इसकी सामान्य नीति पर अवश्य इनका कुछ नियंत्रण था। इसका नाम रक्खा जाना था संघीय रेलवे प्राधिकार। अधिनियम में इसकी स्थापना का आयोजन अनुमानतः भारतीय रेलों के विदेशी हिस्सेदारों को सन्तुष्ट करने के लिये किया गया था कि उनके द्वारा रेलों में लगाई गई पूंजी भारतीय राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप तथा उनके फिजूल-खर्च-प्रबन्ध की सम्भावना से सुरक्षित रहेगी। इस प्रकार रेलवे प्राधिकार भारतीयों में अविश्वास का परिणाम था; इसकी रचना, शक्तियां व कृत्य अधिनियम में उल्लिखित थे और संघीय विधानमंडल को उनमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन करने का अधिकार न था। इससे सम्बन्धित अन्य विषयों में भी गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति से ही परिवर्तन हो सकते थे। क्योंकि यह कभी कार्यान्वित नहीं हो पाया और हमारे वर्तमान संविधान में भी ऐसी कोई संस्था नहीं है, इसकी रचना व शक्तियों इत्यादि के विषय में ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

संघीय वित्त (Federal Finance)

संघ शासन प्रणाली के लिये संघ सरकार तथा संघ की अंगीभूत सरकारों में सिर्फ शक्ति वितरण की ही आवश्यकता नहीं अपितु दोनों के आय स्रोतों का बंटवारा भी ज़रूरी है। १९३५ के अधिनियम के अनुसार संघ सरकार को दिये गये आम स्रोतों का परिगणन संघ की विधायक सूची में किया गया है। उनमें से निम्न मुख्य थे : तटकर, शराब, अफीम, नशीली औषधियों, शराब से बनी वस्तुओं व दवाई के तौर पर प्रयुक्त की जाने वाली श्रृंगार सम्बन्धी चीजों को छोड़कर देश में पैदा होने वाले माल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आन्तरिक कर; कॉरपोरेशन-कर; नमक-कर; कृषि सम्बन्धी आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर; पूँजी पर कर; कृषि सम्बन्धी ज़मीन के अलावा उत्तराधिकार सम्पत्ति पर कर; विनिमय की हुंडियों (Bills of Exchange), चैकों, प्रामिसरी नोटों और बीमा पॉलिसियों पर स्टाम्प ड्यूटी; रेलों तथा वायुयानों द्वारा जाने वाले माल व यात्रियों पर चुंगी (Terminal tax); और रेलवे के किराये व भाड़े पर कर। यद्यपि खेती की ज़मीन के अलावा उत्तराधिकार सम्बन्धी सम्पत्ति पर लगने वाला कर, विनिमय की हुँडियों इत्यादि पर लगने वाली स्टाम्प ड्यूटी, रेलों व वायुयानों द्वारा जाने वाले माल व यात्रियों पर लगने वाली चुंगी और रेलों के किराये व भाड़े का कर, संघ सरकार एकत्रित करती थी, ये प्रान्तों और रियासतों के नाम थे जिनमें इन्हें विधानमंडल द्वारा पास किये गये क़ानून के अनुसार विभक्त किया जाना था। ये कर संघीय राजस्व के अंग नहीं थे। आय-कर का एक निश्चित भाग भी प्रान्तों को दे दिया गया था। यद्यपि संघ सरकार ही नमक-कर, संघीय आन्तरिक-कर एवं निर्यात कर को लगाती और एकत्रित करती थी, यदि संघीय धारासभा चाहती तो एक कानून पास करके इनकी समूची आय अथवा उसके एक भाग को उसी प्रान्त अथवा रियासत को दे सकती थी जहाँ से वह एकत्रित किया जाता। संघीय सरकार के समस्त करों पर लगाये जाने वाला सबसे बड़ा कर (Surcharge) संघीय सरकार के पास ही रहना था।

भारतीय संचित अधिकोष (Reserve Bank of India) :— वित्त एक हस्तान्तरित विषय होने के नाते एक लोक-प्रिय मंत्री के अधीन रक्खा जाना था परन्तु इसके साथ गवर्नर-जनरल के आर्थिक स्थिरता और ऋण सम्बन्धी विशेष उत्तरदायित्व का पुछल्ला लगा हुआ था। किसी देश की वित्तीय व्यवस्था का उसके मुद्रण और विनिमय से गहरा सम्बन्ध है। और इस व्यवस्था की स्थिरता के लिये दूसरे विषयों पर नियंत्रण रखना ज़रूरी है। इन कारणों से श्वेत-पत्र (White Paper) में यह सुझाव रक्खा गया कि संघ-राज्य की स्थापना से पूर्व एक संचित अधिकोष (Reserve Bank) का बनाना आवश्यक है जिसे मुद्रण और ऋण को नियंत्रित करने, नोट छापने और संचय करने का काम दिया जाय। भारतीय विधान मंडल ने १९३४ ईस्वी में संचित अधिकोष सम्बन्धी अधिनियम बनाया और उसके अनुसार १९३५ से कार्यारम्भ हो गया।

इस अधिकोष का प्रबन्ध केन्द्रीय संचालक मण्डल (Central Board of Directors) को सौंपा गया जिसमें सपरिषद गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त एक गवर्नर और दो डिप्टी गवर्नर, और उसी के द्वारा मनोनीत चार संचालक, हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित आठ संचालक तथा भारत सरकार द्वारा मनोनीत एक सरकारी पदाधिकारी सम्मिलित थे। गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति के बिना कोई विधेयक भारत के संचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकोष के गठन व कृत्यों तथा मुद्रण तथा टंकण (Coinage and Currency) के विषय में विधानमण्डल में नहीं रक्खा जा सकता था।

गवर्नर व डिप्टी गवर्नर को नियुक्त करने, पद से हटाने, उनके वेतन नियत करने, केन्द्रीय संचालक मण्डल के ऊपर अधिकार करने, अधिकोष को भंग करने और संचालकों को नामज़द करने व पद से हटाने में गवर्नर-जनरल को स्व-विवेक में कार्य करना था। रिज़र्व बैंक को अब सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है।

उधार इत्यादि लेना :— उधार लेने के सम्बन्ध में भी इस अधिनियम में बहुत से उपबन्ध हैं जिनकी गहराई में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। उसमें ऑडीटर-जनरल की नियुक्ति का भी उल्लेख था जिसका कार्य था संघीय और प्रान्तीय व्यय सम्बन्धी हिसाब की जाँच करना। सम्राट् ही उसे नियुक्त व पदच्युत कर सकता था। उसकी और उसके कर्मचारी वर्ग की वेतन, भत्ते और उत्तर-वेतन (Pension) संघीय कोष से ही दिये जाने थे।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३

१९३५ का भारत सरकार अधिनियमः प्रान्तीय स्व-शासन एवं गृह शासन (Home Government)

विषय-प्रवेश :— पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि ११ गवर्नरों के प्रान्त, ६ चीफ कमिश्नरों के प्रान्त और प्रवेश-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाली भारतीय रियासतें प्रस्तावित भारतीय संघ की इकाइयां होनी थीं। सब इकाइयों में से भारतीय रियासतों में वही शासन प्रणाली रहनी थी जो उनमें पहिले से चली आ रही थी; १९३५ के अधिनियम ने उनके लिए न कोई क़ानून पास किया और न उनसे अपने प्रशासन को लोकप्रिय बनाने की मांग की। उसने चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों के प्रशासन में भी कोई परिवर्तन नहीं किया; उनका प्रशासन यथापूर्व चीफ कमिश्नरों के द्वारा गवर्नर-जनरल को ही करना था जो उसके द्वारा 'स्वविवेक में' नियुक्त किये जाने थे। उन्हें 'स्व-शासन' के अधिकार नही दिये जाने थे। पूर्ण उत्तरदायी शासन, जो गवर्नरों की विवेक-शक्तियों एवं विशेष उत्तरदायित्वों से अवश्य परिसीमित था, सिर्फ गवर्नरों के प्रान्तों में ही लागू किया जाना था। इस अध्याय में हम अधिनियम के उन उपबन्धों का उल्लेख करेंगे जो गवर्नरों के प्रान्तों से सम्बन्धित हैं।

प्रान्तीय स्व-शासन (Provincial Autonomy) :— १९३५ के अधिनियम का सब से महान् एवं मौलिक परिवर्तन प्रान्तों की नवीन स्थिति थी। यद्यपि १९१९ के एक्ट के मातहत भी प्रान्तों की अपनी कार्यपालिका और व्यवस्थापिका सभा थी, ये सिर्फ कोरे प्रादेशिक विभाग थे जो प्रदत्त शक्ति (Delegated Authority) का ही प्रयोग करते थे। इनकी स्वतन्त्र सत्ता एवं स्थिति न थी; इनमें से प्रत्येक की कार्यकारिणी, सपरिषद-गवर्नर-जनरल की प्रतिनिधि थी जो उसी के प्रति जिम्मेदार थी और उसी के द्वारा जारी किये गये आदेशों व निर्देशों को पालन करने का काम करती थी। यह उस एकात्मक शासन प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम था जो उस समय देश में प्रचलित थी।

१९३५ के अधिनियम ने इस सबको बदल दिया। इसके अनुसार प्रान्त शासन की स्वतन्त्र इकाई बना दिये गये। वे अब केवलमात्र प्रादेशिक विभाग ही नहीं थे जो भारत सरकार द्वारा दी गई कुछ शक्तियों का उपभोग करते थे अपितु भारतीय शासन की स्वतन्त्र इकाइयां थे जो अपनी समस्त शक्तियाँ एवं अधिकार सीधा सम्राट् से लेते थे। १९१९ के अधिनियम के सिद्धान्तों एवं चलन में यह मौलिक परिवर्तन था। प्रान्तों के स्वतन्त्र अथवा स्वायत्त इकाइयाँ होने का तात्पर्य यह था कि उनमें से प्रत्येक की अपनी अपनी 'कार्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालिका एवं व्यवस्थापिका सभा होनी थी जिनका प्रांत के अन्तर्गत एक निश्चित क्षेत्र में अनन्य अधिकार था और इस अनन्य एवं एकमात्र प्रान्तीय क्षेत्र में वे केन्द्रीय कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका सभा के नियंत्रण से मोटे तौर पर मुक्त थीं।' इस प्रकार प्रान्तीय स्व-शासक का अर्थ था प्रान्तीय विधायक सूची में उल्लिखित विषयों के प्रशासन में प्रान्तीय कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका सभा की भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्ति। पर प्रान्तों की यह स्वाधीनता पूर्ण न थी और न किसी संघ शासन में ऐसा हो ही सकता है। संघ सरकार का संघ की अंगीभूत सरकारों पर सर्वत्र कुछ न कुछ नियंत्रण रहता ही है। तथापि १९३५ के अधिनियम के मातहत प्रान्तीय सरकारों पर गवर्नर-जनरल का जितना अधिक नियंत्रण था वह संसार में अन्यत्र कहीं नहीं था। यही कारण है कि 'प्रान्तीय स्व-शासन' की उपर्युक्त परिभाषा में, जो संयुक्त संसदीय समिति (Joint Parliamentary Committee) ने अपनी रिपोर्ट में दी है, 'मोटे तौर पर मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया था। इस परिभाषा में प्रान्तीय कार्यपालिका के व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होने का कोई ज़िक्र न था। इसने प्रान्तीय स्व-शासन के अर्थ के एक पहलू पर ही ज़ोर डाला और यह था प्रान्तों की भारत सरकार के नियंत्रण एवं हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता। इस अर्थ में तो भारतीय रियासतें भी स्वतन्त्र इकाइयां थीं; और अधिनियम की धारा ९३ के अनुसार गवर्नरों के शासन के मातहत प्रान्तों को भी इस अर्थ में स्वतन्त्र इकाइयां कहा जा सकता था। पर रियासतों और धारा ९३ के अनुसार गवर्नर के शासन के मातहत प्रान्तों में नाम को भी उत्तरदायी शासन न था। इसका अर्थ यह है कि उत्तरदायी शासन के बिना भी प्रान्तीय स्वाधीनता रह सकती है, यद्यपि प्रान्तीय स्वाधीनता के बिना उत्तरदायी शासन नहीं रह सकता। १९३५ के अधिनियम ने इस संकीर्ण अर्थ में नहीं अपितु विस्तृत अर्थ में 'प्रान्तीय स्वाधीनता' व स्व-शासन की स्थापना की जिसमें उत्तर-दायी शासन भी सम्मिलित था। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने प्रत्येक प्रान्त के लिये पृथक् क्षेत्र ही नहीं निर्मित किया जोकि अधिकांश में १९१९ के एक्ट ने भी कर दिया था और न प्रान्तीय सरकारों को सिर्फ केन्द्र के नियंत्रण से ही मुक्त किया अपितु प्रान्तीय प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रान्तीय कार्यपालिका को प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के लिये उत्तरदायी भी बना दिया। इसके आगमन के साथ प्रान्तों में द्वैध शासन का अन्त हो गया, सुरक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों का भेद समाप्त कर दिया गया तथा समस्त प्रान्तीय विषय जन-प्रिय मंत्रियों को सुपुर्द कर दिये गये। जनता की दृष्टि में 'प्रान्तीय स्वाधीनता' का विचार प्रान्तीय प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना के साथ अटूट रूप से सम्बद्ध है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रान्त उत्तरदायी रूप से शासित स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयां बन गये।

पर हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अधिनियम के द्वारा स्थापित 'प्रान्तीय स्वाधीनता' पूर्ण एवं अप्रतिहत न थी। इस पर आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिसीमाएँ थीं। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है प्रान्त मोटे रूप से ही भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त थे। भारत अथवा उसके किसी भाग की शांति को खतरे से बचाने की अपनी शक्ति तथा अपने विशेष उत्तरदायित्वों को दृष्टि में रखते हुए गवर्नर-जनरल को गवर्नरों को आदेश जारी करने का अधिकार था जो प्रान्तीय स्वाधीनता को समाप्तप्राय कर देता था; प्रान्तीय स्वाधीनता पर यह बाह्य प्रतिबन्ध था। आन्तरिक दृष्टि से गवर्नर की विवेक शक्ति एवं विशेष उत्तरदायित्व मंत्रियों की अपनी नीति एवं कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की शक्ति पर भारी प्रतिबन्ध थे। इस प्रकार 'संरक्षण' अथवा 'अभिरक्षण' उत्तरदायी शासन के क्षेत्र पर जबरदस्त हमला था। इस विषय पर आगामी पृष्ठों में विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा।

अब हम अधिनियम के मातहत प्रान्तीय कार्यपालिका, विधान मंडल एवं न्यायापालिका का वर्णन करेंगे।

प्रान्तीय कार्यपालिका

इसका स्वरूप एवं विस्तार :— प्रान्तीय कार्यपालिका का स्वरूप लगभग संघीय कार्यपालिका के ही समान था। प्रान्त की कार्यकारिणी शक्ति सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर में निहित थी। १९१९ के एक्ट के मातहत और उससे पूर्व उसके अधिकारों व शक्तियों का स्रोत गवर्नर जनरल था, पर अब वह अपनी शक्तियाँ सीधा सम्राट् से लेने लगा। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है पिछली परिपाटी में यह मौलिक परिवर्तन था। यह भारत को संघ शासन बनाने के निश्चय का आवश्यक परिणाम था।

प्रान्त की कार्यकारिणी शक्ति का विस्तार उन सब विषयों तक था जो प्रांतीय विधायक सूची तथा समवर्ती सूची में सम्मिलित थे। इसका संघीय सूची में सम्मिलित विषयों से कोई सम्बन्ध न था। प्रान्तीय सूची में सम्मिलित विषयों पर प्रान्तीय कार्यपालिका का एक एकमात्र अधिकार था; केन्द्रीय सरकार को इन पर तब तक क़ानून बनाने का अधिकार न था जब तक या तो आपत्काल ही न हो या फिर प्रान्त से इस सम्बन्ध में क़ानून बनाने की स्वीकृति न ले ली गई हो। समवर्ती सूची में सम्मिलित विषयों पर केन्द्रीय एवं प्रान्तीय दोनों सरकारों को क़ानून बनाने का अधिकार था। कार्यकारिणी शक्ति का या तो गवर्नर स्वयं या फिर अपने मातहत कर्मचारियों के द्वारा प्रयोग करता था।

गवर्नर :— गवर्नर की नियुक्ति भारत मंत्री के परामर्श पर सम्राट् द्वारा होती थी। तीनों प्रेज़ीडेन्सियों के गवर्नरों की नियुक्ति ग्रेट ब्रिटेन के सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले व्यक्तियों में से की जाती थी जिनका आम तौर पर समृद्ध घरानों से सम्बन्ध होता था; शेष प्रान्तों के गवर्नरों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल की सिफारिश पर सिविल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्विस के प्रमुख पदाधिकारियों में से की जाती थी। उनके वेतन व भत्ते निश्चित थे जिन्हें व्यवस्थापिका सभा बदल नहीं सकती थी। समस्त ब्रिटिश काल में स्थायी रूप से रिक्त स्थान में सिर्फ एक या दो भारतीय तथा अस्थायी स्थानों में चार भारतीय नियुक्त किये गये थे।

गवर्नर का सेवा काल सामान्यतया ५ वर्ष था। नियुक्ति के समय उसे एक निर्देश-पत्र दिया जाता था जिसमें वे सब हिदायतें होती थीं जिनके अनुसार उसे अपने विवेक तथा विशेष उत्तरदायित्वों को निभाते हुए व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना था। इसमें मंत्रियों के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में वे सब अभिसमय (Conventions) व मेल आदि की बातें उल्लिखित थीं जो उत्तरदायी शासन के लिये आवश्यक होती हैं। गवर्नर-जनरल की तरह प्रान्तीय गवर्नर भी अपनी कार्यकारिणी शक्ति का तीन प्रकार से प्रयोग कर सकता था। वह अपने विवेक का प्रयोग कर सकता था, व्यक्तिगत निर्णय का इस्तेमाल कर सकता था अथवा अपने मंत्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य कर सकता था। विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने में जो अन्तर है उसे हम पहिले विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। अब हम उसकी विवेक सम्बन्धी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों का उल्लेख करेंगे।

गवर्नर की विवेक सम्बन्धी शक्तियाँ :— यद्यपि प्रान्तीय शासन के क्षेत्र में कोई संरक्षित विभाग न थे जिनका गवर्नर अपने विवेक के अनुसार प्रशासन करता, उसकी विवेक सम्बन्धी शक्तियों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उन्होंने उसे प्रान्तीय सरकार का नियामक एवं शक्तिशाली प्रमुख बना दिया था। इनका सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि इन्होंने कार्यपालिका के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यों को मंत्रिपरिषद् के क्षेत्र से हटाकर गवर्नर को दे दिया और उसे इस योग्य बना दिया कि वह क़ानून निर्माण में अपनी पहल (Initiative) तथा नियंत्रण की शक्तियों के सहारे व्यवस्थापिका सभा पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता था। प्रोफेसर के. टी. शाह ने ऐसे ३२ अवसरों का उल्लेख किया है जबकि गवर्नर को स्व-विवेक में कार्य करने का अधिकार था। उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण अवसर निम्न हैं:— (i) यह निश्चय करना कि कोई विषय ऐसा है या नहीं जिसमें वह स्व-विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता है; (ii) मंत्रिपरिषद् की बैठकों का सभापतित्व करना; (iii) सरकार को पलटने के लिये किये गए हिंसात्मक अपराधों से लड़ने के उपाय करना; (iv) इस सम्बन्ध में नियम बनाना कि पुलिस का कोई भी व्यक्ति आतंकवादियों के जुर्म सम्बन्धी इरादों के विषय में मिली सूचनाओं के स्रोत को उन अफसरों के सिवाय किसी और पर न प्रकट करेगा जिन्हें इस प्रकार की सूचनाएँ पाने का अधिकार होगा; (v) सरकारी कार्य को सुविधा से चलाने के लिये नियम बनाना; (vi) इस विषय में नियम बनाना कि सरकारी मंत्री तथा सचिव (Secretaries) प्रान्तीय सरकार के कार्य के विषय में उसे वे सब सूचनाएँ पहुंचायें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनका नियमों में उल्लेख है और जिनका विशेष रूप से उन विषयों के साथ सम्बन्ध है जिनमें उसके विशेष उत्तरदायित्व समाविष्ट हैं; (vii) धारासभा की उम्मीदवारी के लिये खड़े होने वाले व्यक्तियों की अयोग्यताओं को हटाना; (viii) व्यवस्थापिका सभा को बुलाना, उसका सत्रावसान करना तथा असेम्बली का विघटन करना; (ix) द्विआगारिक प्रान्तों में व्यवस्थापिका सभा के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाना; (x) यह निर्णय करना कि व्यय का कोई मद मतदेय है अथवा अमतदेय; (xi) व्यवस्थापिका सभा में ठीक समय पर आर्थिक मामलों के निबटारे के लिये नियम बनाना तथा कुछ विषयों पर बहस अथवा प्रश्नों का पूछना रोकना; (xii) विशेष परिस्थितियों में किसी विधेयक या उसकी किसी विशेष धारा पर बहस को बन्द करना; (xiii) गवर्नर के अधिनियम बनाना; अध्यादेशों का जारी करना; अपवर्जित एवं आंशिक रूप से अपवर्जित (Excluded areas) के उत्तम शासन एवं शान्ति के लिये नियम बनाना; विशेष प्रकार के विधेयकों को व्यवस्थापिका सभा में पेश करने की स्वीकृति देना; विधेयकों पर अपनी स्वकृति देना, स्वीकृति रोकना अथवा उन्हें सम्राट् की स्वीकृति के लिये सुरक्षित रखना; प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों एवं सभापति की नियुक्ति; और अपने दफ्तर के कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनके वेतन व भत्ते इत्यादि का निर्धारण।

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व:— अपने विशेष उत्तरदायित्वों के सम्पादन में ही गवर्नर को अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने की आवश्यकता थी, अर्थात् उसके लिये अपने मंत्रियों का परामर्श लेना तो अनिवार्य था पर वह उसे मानने और न मानने में स्वतन्त्र था। उसके विशेष उत्तरदायित्व निम्न हैं:—

१. प्रान्त अथवा उसके किसी भाग में शांति और सुव्यवस्था को भंग करने वाले खतरों को दूर करना।

२. अल्पसंख्यकों के उचित हितों की रक्षा।

३. सरकारी नौकरों और उनके आश्रितों को वे अधिकार दिलाना जो उन्हें अधिनियम ने दिये हैं और उनके उचित हितों की रक्षा करना।

४. कार्यकारिणी के क्षेत्र में भेदभावपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध संरक्षण दिलाना।

५. आंशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्रों में उत्तम शासन एवं शान्ति की व्यवस्था।

६. प्रत्येक भारतीय रियासत के अधिकारों तथा उसके शासक की मर्यादा एवं प्रतिष्ठा की रक्षा।

७. अधिनियम के छठे भाग के मातहत, जो प्रशासकीय सम्बन्धों को स्पष्ट करता है, गवर्नर-जनरल द्वारा जारी किये गए आदेशों व निर्देशों का पालन कराना।

सिन्ध के गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों में 'लायड बाँध और नहर योजना' का प्रशासन भी सम्मिलित था। इसी प्रकार मध्य प्रान्त और बरार के गवर्नर का भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह विशेष उत्तरदायित्व था कि प्रान्त के राजस्व का एक उचित भाग बरार निवासियों के लाभ के लिये खर्च हो। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि प्रान्त के वित्तीय स्थायित्व एवं प्रत्यय (credit) को कायम रखने और बर्मा तथा संयुक्त राज्य से भारत में आई हुई वस्तुओं के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार को रोकने का उत्तरदायित्व गवर्नर पर न था। क्योंकि मुद्रण, टंकण व विनिमय तथा तटकर संघीय सरकार के विषय थे, इन्हें भी प्रान्तीय गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्वों में समाविष्ट करने का कोई प्रश्न नहीं उठता था।

इन विशेष उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी ऐसे विषय और मामले थे जिनमें गवर्नर को अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने का अधिकार था। उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण निम्न थे: प्रान्त के महाधिवक्ता (Advocate General) की नियुक्ति, बर्खास्तगी व उसके वेतन का निर्धारण; व्यवस्थापिका सभा के अवकाश में अध्यादेशों की घोषणा; पुलिस के नियमों में संशोधन; और यह ऐलान कि किसी भारतीय रियासत का शासक व प्रजा अथवा किसी जन-जाति क्षेत्र अथवा भारत की सीमा से सम्बद्ध किसी भूभाग का बाशिन्दा प्रान्त के प्रशासन में सरकारी नौकरी करने के योग्य है।

अपने विशेष उत्तरदायित्वों का पालन और विवेक सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग करते हुए गवर्नर, गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी था और उसी के नियंत्रण में था। उसके लिये इन अवस्थाओं में गवर्नर-जनरल द्वारा दिये गये निर्देशों का पालन करना आवश्यक था। एक प्रगतिशील तथा उदार स्वभाव के गवर्नर के मार्ग में, जो विवेक सम्बन्धी शक्तियों तथा व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र में स्वयं अपने मन्त्रियों का परामर्श लेना और उसके अनुसार कार्य करना चाहता था, यह एक बड़ी भारी अड़चन थी।

गवर्नर की ये विशेष शक्तियाँ तथा उत्तरदायित्व प्रशासन के संपूर्ण क्षेत्र में मानों छाये हुए थे और शासन की जड़ों को खोखला किये जा रहे थे। प्रान्त में उत्तरदायी शासन के मार्ग में यह सबसे बड़ी बाधा थी और इसने गवर्नर को प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीय स्थिति प्रदान कर दी थी। वह सिर्फ वैधानिक प्रमुख ही न था वरन् महान् एवं वास्तविक शक्तियों से परिपूर्ण था। वह वास्तव में प्रान्त पर शासन करता था। १९३५ के अधिनियम की सफलता मुख्यतया उसकी चतुरता, योग्यता एवं अनुभव पर आश्रित थी।

वित्तीय एवं विधायक क्षेत्रों में भी अधिनियम ने गवर्नर को अनेक शक्तियाँ दी हुई थीं जिनका आगामी पृष्ठों में वर्णन किया जायगा। उसकी शक्तियों के इस विवरण को हम उसकी उस शक्ति का जिक्र करके समाप्त करना चाहते हैं जिसके अनुसार वह उस अवस्था में अधिनियम को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्थगित कर सकता था उब उसे विश्वास हो जाय कि प्रान्त का शासन अधिनियम की धाराओं के अनुसार नहीं चलाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता। अधिनियम की धारा ९३ के मातहत वह एक उद्घोषणा प्रकाशित कर सकता था जिसके अनुसार इसमें निर्दिष्ट उसकी समस्त शक्तियाँ उसके विवेकानुसार प्रयुक्त की जानी थीं और वह उच्च न्यायालय के अतिरिक्त प्रान्त की सब संस्थाओं में निहित तथा उनके द्वारा प्रयुक्त होने वाली शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता था।

वह व्यवस्थापिका सभा को विघटित कर सकता था, मन्त्रिपरिषद् को समेट सकता था और प्रान्त का प्रशासन सलाहकारों की सहायता से चला सकता था। जब १९३९ में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दिये तो कई प्रान्तों में गवर्नरों ने इस आयोजन का फायदा उठाया और वहाँ उत्तरदायी शासन को स्थगित कर दिया। प्रान्तीय गवर्नरों की यह शक्ति संघीय क्षेत्र में गवर्नर-जनरल की शक्ति के समान ही थी। और जिन अवस्थाओं में इनका प्रयोग हो सकता था वे भी समान थीं। यहाँ उन सब बातों को फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं।

यह स्पष्ट है कि 'गवर्नर की प्रान्त में वही शक्तियां हैं जो गवर्नर-जनरल की सम्पूर्ण देश में; अन्तर सिर्फ यह है कि जब कि प्रान्तीय गवर्नर के मातहत कोई संरक्षित विभाग नहीं और वित्तीय क्षेत्र में उसका कोई विशेष उत्तरदायित्व नहीं, उसे अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन स्व-विवेक में और आंशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार करना पड़ता है; इनके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल के आदेशों का पालन कराना भी उसका अतिरिक्त कर्त्तव्य है।'*

मंत्रिपरिषद्:— यद्यपि प्रान्त की कार्यकारिणी शक्ति गवर्नर में निहित थी और वह उसी के नाम से प्रयुक्त की जानी थी, अधिनियम ने उसे परामर्श देने और उसके कार्यों में सहायता पहुँचाने के लिये एक मंत्रिपरिषद् का भी आयोजन किया। उन कार्यों को छोड़कर जिन्हें गवर्नर को 'स्व-विवेक' में करना था, अन्य सभी कार्यों में वह परिषद् से परामर्श और सहायता ले सकता था। अधिनियम ने मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति के ढंग और उसके व्यवस्थापिका सभा के साथ सम्बन्धों के विषय में इसके सिवाय कुछ नहीं कहा कि वह गवर्नर द्वारा स्वविवेक में बुलाई और चुनी जानी थी और मंत्री लोग उसकी खुशी तक अपने पदों पर आसीन रह सकते थे। कोई भी मन्त्री जो लगातार ६ महीने तक व्यवस्थापिका सभा का सदस्य न रहता रहा हो अपने पद पर नहीं रह सकता था। मंत्रियों के गवर्नर और व्यवस्थापिका सभा के साथ सम्बन्ध को अच्छी तरह समझने के लिये अधिनियम को 'निर्देश-पत्र' के साथ मिलाकर पढ़ा जाना चाहिये। 'निर्देश-पत्र' में इस बात का विधान था कि गवर्नर को उस व्यक्ति के परामर्श से मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिये जिसका उसकी राय में व्यवस्थापिका सभा में बहुमत हो और इस प्रकार नियुक्त किये गये सब मंत्री सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका सभा के विश्वासभाजन हों। दूसरे शब्दों में, गवर्नर को निर्देश दिया गया था कि उसे व्यवस्थापिका सभा में बहुसंख्यक दल

* मसानी और चिन्तामणि: 'इण्डियाज कान्स्टिट्यूशन एट वर्क', पृष्ठ ८९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नेता को मंत्रि-मंडल बनाने के लिये आमंत्रित करना चाहिये और उन्हीं व्यक्तियों को मंत्री नियुक्त करना चाहिये जिनके नाम वह सुझाये। इसी प्रकार उनमें सामूहिक उत्तर-दायित्व की भावना पैदा की जा सकती थी। यद्यपि अधिनियम के अनुसार गवर्नर के प्रसाद तक ही मंत्री अपने पदों पर आसीन रह सकते थे, निर्देश-पत्र से यह स्पष्ट था कि वह तभी तक पदारूढ़ रह सकते थे जब तक उन्हें व्यवस्थापिका सभा का विश्वास प्राप्त था। धारासभा का विश्वास खो देने पर ही उन्हें अपने पदों से हटाया जा सकता था। इस प्रकार निर्देश-पत्र ने उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसे ही इसके प्रारम्भ और विकास दोनों का श्रेय जाता है।

प्रान्तों में मंत्रिमंडल अथवा संसदीय शासन प्रणाली को कार्य रूप में परिणत करने में एक बहुत बड़ी अड़चन थी। निर्देश-पत्र में गवर्नर को निर्देश दिया गया था कि 'यथा-सम्भव' मंत्रिमंडल में महत्त्वपूर्ण अल्प-संख्यक सम्प्रदायों के सदस्यों को भी स्थान दिया जाना चाहिये। पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के प्रचलित होते हुए उस समय बहुसंख्यक दल के लिये सदैव अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को मंत्रिमंडल में स्थान देना सम्भव नहीं था। उस समय जब किसी बहुसंख्यक दल में अल्पसंख्यक सम्प्रदाय का कोई सदस्य नहीं होता था तो गवर्नर 'यथासम्भव' शब्द का सहारा लेकर इस आयो-जन के कार्यान्वित किये जाने पर बहुत ज़ोर नहीं देता था। मंत्रियों के वेतन व्यवस्था-पिका सभा के कानून के द्वारा ही निर्धारित किये जाते थे। पर एक दफा इस प्रकार निर्धारित हो जाने के बाद बजट के समय उन्हें फिर व्यवस्थापिका सभा के सामने मतदान के लिये प्रस्तुत नहीं किया जाता था। यह बात भी उत्तरदायी शासन की भावना के प्रतिकूल थी। उत्तरदायित्व को कार्यान्वित कराने का एक महत्त्वपूर्ण साधन इस प्रकार व्यवस्थापिका सभा के हाथ से छीन लिया गया था। ग्रेट ब्रिटेन की मंत्रिमंडल शासन प्रणाली की प्रचलित परिपाटियों से इसमें दूसरा भेद यह था कि अधिनियम ने गवर्नर को 'स्व-विवेक में' मंत्रिपरिषद की बैठकों पर सभापतित्व करने का अधिकार भी दे दिया था।

क्योंकि मंत्रियों का चुनाव वस्तुतः प्रधान मंत्री द्वारा होना था उनके लिये इसके सिवाय कोई योग्यता नहीं निर्धारित की जा सकती थी कि उन्हें धारासभा का सदस्य अवश्य होना चाहिये। और क्योंकि अपने पदों पर कायम रहने के लिये उन्हें व्यवस्था-पिका सभा की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था उनका कार्य काल निश्चित नहीं किया जा सकता था। मंत्रिमंडल तभी तक पदासीन रह सकता था जब तक प्रान्तीय असेम्बली अर्थात् निम्न आगार में उसे बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। अधिनियम मंत्रियों की संख्या के बारे में चुप था। उनकी संख्या प्रत्येक प्रान्त में भिन्न भिन्न थी जिसका प्रान्त के आकार और आबादी से कोई सम्बन्ध नहीं था। आसाम में आठ, संयुक्त प्रान्त में छः और मध्य प्रान्त में सिर्फ ५ मंत्री थे। बंगाल में किसी समय ११ मंत्री तक रहे।

प्रान्तीय मंत्रिमंडलों ने विभाग पद्धति (Portfolio system) के आधार पर कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। प्रत्येक मंत्री को एक या दो विभाग सुपुर्द कर दिये गये जिनके प्रशासन के लिये वह उत्तरदायी था। सामान्य एवं दैनिक बातें मंत्री, जो उस विभाग का अध्यक्ष था, स्वयं निबटा देता था; सिद्धान्त और नीति से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर मंत्रिमंडल में विचार होना आवश्यक था और वही उन पर अन्तिम निर्णय भी कर सकता था। अपने अधीन विभागों के प्रशासन को चलाने के लिये प्रत्येक मंत्री को एक या दो संसदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) दिये गये थे। जिन देशों में संसदीय शासन प्रणाली प्रचलित है वहां सर्वत्र इस प्रकार के पदाधिकारी पाये जाते हैं।

इस प्रकार प्रान्तीय कार्यकारिणी संसदीय अथवा मंत्रिमंडल प्रणाली के अनुसार थी। इसमें गवर्नर, जो प्रान्त के सर्वोच्च प्रमुख के नाते सम्राट् का प्रतिनिधि था, और मन्त्रिपरिषद जो व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी थी, सम्मिलित थे। इस प्रकार प्रान्तों में उत्तरदायी शासन कार्य कर रहा था। गवर्नर की विवेक-शक्तियों एवं विशेष उत्तरदायित्वों ने इसके क्षेत्र को अवश्य सीमित कर दिया था। साम्प्रदायिक निर्वाचक समूह, साम्प्रदायिक दल, प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में प्रतिनिधित्व की योजना और गवर्नर की संविधान को स्थगित करने की शक्ति उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी और इन्होंने इसके विकास को पर्याप्त मात्रा में रोका। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अधिनियम ने प्रान्तीय क्षेत्र में भी पूर्ण और वास्तविक उत्तरदायी शासन नहीं दिया। तथापि यह तो कहना ही होगा कि यह १९१९ के अधिनियम से बहुत आगे बढ़ा हुआ था।

प्रान्तीय विधान मंडल

इसकी रचना:— जबकि गवर्नरों के समस्त प्रान्तों में एक जैसी कार्यकारिणी थी उनके विधान मंडलों में रचना की दृष्टि से एक मौलिक भेद था। उनमें से आसाम, मद्रास, बंगाल, बम्बई, बिहार और संयुक्त प्रान्त इन छः प्रान्तों में द्विआगारिक विधान-मंडल थे। निम्न और लोकप्रिय सदन को 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' और कुलीन एवं धनिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले दूसरे सदन को 'लेजिस्लेटिव कौंसिल' कहा जाता था। शेष प्रांतों अर्थात् पंजाब, मध्य प्रान्त व बरार, उत्तर-पश्चिमीय सीमा प्रान्त, उड़ीसा और सिन्ध में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका सभा थी जिसे 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' कहा जाता था। प्रत्येक प्रान्त का गवर्नर भी सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा का पूर्ण अंग था।

१९३५ के अधिनियम ने पहिली बार कुछ प्रान्तों में द्विआगारिक व्यवस्थापिका सभा को प्रारम्भ किया। श्री मांटेग्यु और लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने भी इस पर गम्भीरता से विचार किया था पर उन्होंने इसे प्रान्तों के लिये अनावश्यक एवं अनुपयुक्त पाया। संयुक्त संसदीय समिति इससे एकदम विपरीत परिणाम पर पहुँची और उसके श्वेत पत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(White Paper) के प्रस्तावों को स्वीकार करते हुये पांच प्रांतों में द्विआगारिक विधान-मंडल की स्थापना की सिफारिश की। ब्रिटिश संसद ने इनके साथ आसाम का छठा नाम और जोड़ दिया। यदि इसके पक्ष एवं विपक्ष की युक्तियों पर अच्छी तरह विचार किया जाय और उन्हें तोलने की कोशिश की जाय तो मालूम होगा कि इनका मामला बहुत बोदा है। भारतीय लोकमत की दृष्टि में यह एक अत्यन्त प्रतिगामी कदम था जो सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विषयों पर बनाये जाने वाले प्रगतिशील एवं उन्नतिसूचक कानूनों को रोकने के लिये उठाया गया था। यह निहित स्वार्थों के प्रति रियायत थी जिन्हें भय था कि कहीं लोकतन्त्रात्मक शासन उनके हितों पर कुठाराघात न करे। यह एक आश्चर्य की बात है कि हमारे नये संविधान ने भी द्विआगारिक धारासभा को परीक्षणात्मक रूप में कुछ प्रान्तों में लागू कर दिया है।

दूसरे सदन के पक्ष में निम्न युक्तियाँ पेश की गई थीं : (i) प्रान्तीय धारासभाओं की व्यापक वित्तीय शक्तियों को दृष्टि में रखते हुए निहित स्वार्थों को प्रतिनिधित्व देने के लिये कुछ प्रान्तों में द्वितीय सदनों की रचना आवश्यक थी। जांच पड़ताल करने पर मालूम होगा कि जिन छः प्रान्तों में द्विआगारिक व्यवस्थापिका सभा प्रारम्भ की गई उन सब में निहित स्वार्थों का जोर था। संयुक्त प्रान्त, बंगाल और बिहार में बड़े बड़े ज़मींदार थे जिनके ज़मींदारी हितों की रक्षा का प्रश्न था; बम्बई और मद्रास में ताक़तवर पूँजी-पतियों के हित थे जिन्हें उसी प्रकार संरक्षण की आवश्यकता थी जिस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रान्तों में ज़मींदारों के हितों को। आसाम में चाय के उत्पादकों के हित भी थे। (ii) लोकप्रिय सदस्यों की उपस्थिति के कारण इस बात का सदैव खतरा था कि निम्न सदन कहीं जल्दबाज़ी व आवेश में तथा बग़ैर सोचे बिचारे कानून न पास कर दे; इस खतरे को हटाने और इसके विरुद्ध संरक्षण देने के लिये द्वितीय सदन का होना अत्यावश्यक था। लॉर्ड हैलीफैक्स ने इस युक्ति को अपने शब्दों में यों प्रस्तुत किया है : 'भारत में, जो उत्तरदायी विधायक शक्तियों के नये जीवन को प्रारम्भ कर रहा है, जहाँ पर भी इस प्रकार के सदनों की स्थापना की सामग्री उपस्थित है वहां पर पुनरावृत्ति के प्रयोजनार्थ तथा व्यावहारिक कानून को प्रोत्साहन देने एवं अव्यावहारिक कानून को हर अवस्था में रोकने और दूसरे सदन को बाद में पैदा होने वाले विचारों को चरितार्थ करने का अवसर देने के लिये, इस प्रकार के सदनों की रचना के पक्ष में सभी कुछ कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य कुछ वर्गों के विशेषाधिकारों की जड़ों को मजबूत करना अथवा भारत में प्रगतिशील नीति को अनुसरण करने के अवसरों को रोकना नहीं है।'*

प्रगतिशील भारतीय लोकमत द्विआगारिक पद्धति के इसलिये विरुद्ध था क्योंकि उसे भय था कि निहित स्वार्थों के आधिपत्य में रहने के कारण दूसरे सदन का दृष्टिकोण अत्यन्त अनुदार एवं प्रतिक्रियात्मक होगा और इसीलिये वह प्रगतिशील सामाजिक एवं

* 'न्यू कान्स्टिटयूशन ऑफ इण्डिया' में पृष्ठ २१३ पर जोशी द्वारा उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक कानूनों को पास होने से रोकेगा। यह भी कहा गया कि प्रान्तों में दूसरे सदन के अनुरूप सदस्यों का मिलना भी मुश्किल होगा। वयोवृद्ध एवं अनुभवी राजनीतिज्ञों का पर्याप्त संख्या में प्रान्तों में मिलना कठिन था। तीसरी बात इसके विरुद्ध यह भी कही गई कि कि जब गवर्नर की विशेष शक्तियों और उत्तरदायित्वों के रूप में पूर्ण संरक्षण का आयोजन कर दिया गया तो प्रान्तीय धारासभाओं द्वारा जल्दबाज़ी और आवेश में पास किये गये अव्यावहारिक कानूनों पर रोकथाम लगाने का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। ज्यों ज्यों इस पद्धति को कार्यान्वित किया गया इसके अनुभवों से इस भय की पुष्टि होती चली गई कि द्वितीय सदन प्रतिक्रियात्मक राजनीति के गढ़ बन जायेंगे और प्रशासन को खर्चीला बना देंगे।

लेजिस्लेटिव कौंसिल का गठन :— निम्न तालिका उपर्युक्त छः प्रांतों में, जहाँ द्विआगारिक पद्धति लागू की गई थी, लेजिस्लेटिव कौंसिल के गठन पर प्रकाश डालती है :—

प्रान्त	कुल स्थान	सामान्य स्थान	मुस्लिम स्थान	युरोपियन स्थान	भा० ईसाइयों के स्थान	ले० असेम्बली द्वारा भरे जाने वाले स्थान	गवर्नर द्वारा भरे जाने वाले स्थान
मद्रास	कम से कम ५४ अधिकतम ५६	३५	७	१	५	—	कम से कम ८ अधिकतम १०
बम्बई	कम से कम २९ अधिकतम ३०	२०	५	१	—	—	कम से कम ३ अधिकतम ४
बंगाल	कम से कम ६३ अधिकतम ६५	१०	१७	३	—	२७	कम से कम ६ अधिकतम ८
संयुक्त प्रान्त	कम से कम ५८ अधिकतम ६०	३४	१७	१	—	—	कम से कम ६ अधिकतम ८
बिहार	कम से कम २९ अधिकतम ३०	९	४	२	—	११	कम से कम ३ अधिकतम ४
आसाम	कम से कम २१ अधिकतम २२	१०	६	२	—	—	कम से कम ३ अधितकम ४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगाल और बिहार में प्रान्तीय असेम्बलियों द्वारा भरे जाने वाले स्थानों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार 'एकल हस्तान्तरणीय मत प्रणाली' (Single transferable vote system) द्वारा होना था। प्रत्येक प्रान्त में विशेष हितों, विशेषकर महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने तथा सम्भावित असमानताओं को दूर करने के लिये गवर्नर को कुछ व्यक्तियों को कौंसिल अर्थात् दूसरे सदन में नामज़द करने का भी अधिकार दिया गया था।

केन्द्रीय 'कौंसिल आफ स्टेट' के समान ही प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिलें भी स्थायी संस्थाएं बनाई गई थीं जो एक समय में विघटित नहीं होनी थीं। प्रत्येक तीसरे वर्ष इनके एक तिहाई सदस्य बदले जाने थे। इनके सदस्यों का सेवा काल ९ वर्ष रक्खा गया था।

लेजिस्लेटिव असेम्बलियों की रचना :— आगामी पृष्ठ पर दी गई तालिका विभिन्न प्रांतों में लेजिस्लेटिव असेम्बलियों की रचना सम्बन्धी योजना पर प्रकाश डालती है। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि प्रत्येक प्रान्त की असेम्बली में सिर्फ़ निर्वाचित सदस्य ही रक्खे गये; नामज़द सदस्यों का दल, जो १९१९ के अधिनियम के मातहत प्रान्तीय धारासभाओं की एक बहुत बड़ी एवं महत्त्व-पूर्ण विशेषता थी, इसमें से बिल्कुल हटा दिया गया था। प्रत्येक प्रान्त में कुल स्थान पूना समझौते द्वारा संशोधित १९३२ में श्री रेम्ज़े मैकडानल्ड द्वारा दिये गये साम्प्रदायिक निर्णय में निहित योजना के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों व हितों में विभक्त कर दिये गये थे। निर्णय ने १७ विभिन्न निर्वाचक समूहों का निर्माण किया जो निम्न थे : (१) सामान्य निर्वाचक समूह जिसमें हिन्दू और वे सम्प्रदाय सम्मिलित थे जिन्होंने न पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग की थी और न उन्हें यह मिला था, जैसे पारसी। (२) पूना समझौते के अनुसार हरिजनों के लिये भी स्थान निश्चित किये गये थे पर वे सामान्य स्थानों में से ही दिये जाने थे। (३) मुस्लिम निर्वाचक समूह। (४) युरोपियनों का निर्वाचक समूह। (५) आंग्ल-भारतीयों का निर्वाचक समूह। (६) भारतीय ईसाइयों का निर्वाचक समूह। (७) पंजाब व उत्तर-पश्चिमीय सीमाप्रान्त में सिक्खों का निर्वाचक समूह। (८) वाणिज्य एवं व्यवसायों का निर्वाचक समूह जिनमें खानों व चाय आदि के उत्पादकों के हित भी सम्मिलित थे। (९) ज़मींदारों का निर्वाचक समूह। (१०) मज़दूरों का निर्वाचक समूह। (११) विश्वविद्यालय निर्वाचक समूह। (१२) पिछड़े क्षेत्रों व जातियों का निर्वाचक समूह। (१३) महिलाओं का सामान्य निर्वाचक समूह। (१४) पंजाब में सिक्ख महिलाओं का निर्वाचक समूह। (१५) मुस्लिम महिलाओं का निर्वाचक समूह। (१६) मद्रास में भारतीय ईसाई महिलाओं का निर्वाचक समूह। (१७) बंगाल में आंग्ल-भारतीय महिलाओं का निर्वाचक समूह। इनमें से प्रत्येक के स्थान साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा प्रत्येक प्रान्त के लिये निश्चित कर दिये गये थे। योजना का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्तीय लेजिस्लेटिव असेम्बिलियाँ

स्थानों की तालिका

प्रान्त	कुल स्थान	सामान्य स्थान: कुल सामान्य स्थान	सामान्य स्थान: हरिजनों के लिये सुरक्षित सा. स्थान	पिछड़े क्षेत्रों व जातियों के लिये सुरक्षित स्थान	सिक्ख स्थान	मुस्लिम स्थान	आंग्ल भारतीय स्थान	युरोपियन स्थान	भारतीय ईसाइयों के स्थान	वाणिज्य एवं व्यवसायों के लिये सुरक्षित स्थान	जमींदारों के स्थान	विश्वविद्यालयों के स्थान	मजदूरों के स्थान	महिलाओं के लिये: सामान्य	महिलाओं के लिये: सिक्ख	महिलाओं के लिये: मुस्लिम	महिलाओं के लिये: आंग्ल भारतीय	महिलाओं के लिये: भारतीय ईसाई
मद्रास	२१५	१४६	३०	१	—	२५	२	३	५	९	९	९	९	९	—	१०	—	—
बम्बई	१७५	११४	२५	२	—	२८	२	३	३	७	२	२	७	२	—	२	—	—
बंगाल	२५०	७५	३०	—	—	१२७	३	११	२	३	५	२	५	२	—	२	—	—
संयुक्त प्रान्त	२२८	१४०	२०	—	—	९२	२	२	२	३	९	२	९	९	९	२	—	—
पंजाब	१७५	४२	५	—	३१	५४	२	२	२	९	५	२	३	२	—	२	—	—
बिहार	१५२	५९	२५	७	—	३९	२	२	२	२	९	२	३	२	—	२	—	—
मध्य प्रान्त व बरार	११२	५४	२०	२	—	२४	—	२	—	३	२	२	३	२	—	२	—	—
आसाम	१०८	४७	७	३	—	३४	—	२	५	९	९	२	९	९	—	२	—	—
उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त	५०	९	—	३	३	३९	—	—	—	३	३	—	२	—	—	—	—	—
उड़ीसा	६०	४४	९	५	—	४	—	—	२	२	२	—	—	२	—	—	—	—
सिन्ध	६०	१५	—	—	—	३३	—	२	—	२	२	२	३	२	—	—	—	—
कुल योग	१५८५	५०८	१५३	२४	३४	४८२	११	२६	२०	५६	३७	८	३८	२८	१	१०	१	१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार यह था कि मुसलमान मुसलमान के लिये, सिक्ख सिक्ख के लिये, युरोपियन युरोपियन के लिये, आंग्ल-भारतीय आंग्ल-भारतीयों के लिये और भारतीय ईसाई सिर्फ भारतीय ईसाइयों के लिये ही मत दे सकते थे। कोई भी मुसलमान, सिक्ख, युरोपियन भारतीय ईसाई और आंग्ल-भारतीय न तो सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से उम्मीदवार ही खड़ा हो सकता था और न यहाँ से मतदाता हो सकता था। पृथक् निर्वाचक समूहों के द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की इस पद्धति का उद्देश्य भारतीय जाति को अलग-अलग टुकड़ों में बाँटना, उसकी राष्ट्रीय एकता नष्ट करना तथा स्वार्थों एवं पृथक्करण की प्रवृत्तियों को पैदा करना एवं प्रोत्साहन देना था।

यद्यपि महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दे चुके थे कि वे अपने जीवन की बाज़ी लगाकर भी उसकी हिन्दू जाति को छिन्न भिन्न करने की योजना का विरोध करेंगे, साम्प्रदायिक निर्णय ने पृथक् निर्वाचक समूह द्वारा हरिजनों को भी विशेष प्रतिनिधित्व दिया। निर्णय के प्रकाशित होने पर महात्मा जी ने ब्रिटिश सरकार को सूचित किया कि अगर वह हरिजनों के पृथक् निर्वाचक समूह को न समाप्त करेगी तो वे आमरण अनशन प्रारम्भ कर देंगे। जब यरवदा जेल में गांधी जी ने अपना ऐतिहासिक अनशन प्रारम्भ किया तो देश में असीम उत्तेजना थी। हिन्दुओं और हरिजनों के प्रतिनिधियों ने मिलकर शीघ्र ही एक योजना तैयार की जिसके अनुसार साम्प्रदायिक निर्णय में हरिजनों को दिये गये स्थानों से लगभग दुगने स्थान उन्हें दिये गये पर हिन्दुओं और हरिजनों के लिये सम्मिलित निर्वाचक समूह रक्खा गया। पूना समझौते के अनुसार हरिजनों के लिये सुरक्षित रक्खे गये स्थान दोहरे चुनाव के असाधारण ढंग से भरे जाने थे।

जिस सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से हरिजनों का एक प्रतिनिधि चुना जाना था उसके समस्त हरिजन मतदाताओं को पहिले तो अपने में से चार व्यक्तियों को चुनना होता था। यही चार व्यक्ति जिन्हें इस प्राथमिक चुनाव में इस प्रकार सबसे अधिक मत प्राप्त होते आम चुनाव के समय हरिजनों के उम्मीदवार के रूप में सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से खड़े हो सकते थे। सामान्य निर्वाचन क्षेत्र के समस्त मतदाताओं को, जिनमें सवर्ण हिन्दू और हरिजन दोनों सम्मिलित थे, इस चुनाव में मत देने का अधिकार था। चारों में से जिस उम्मीदवार को भी सबसे अधिक मत प्राप्त होते वही हरिजनों की ओर से चुना हुआ घोषित कर दिया जाता।

लेजिस्लेटिव असेम्बलियाँ अपनी प्रथम बैठक के समय से ५ वर्ष तक कार्य कर सकती थीं बशर्ते कि गवर्नर उन्हें स्वविवेकानुसार इससे पहिले विघटित अथवा भंग न कर देता। गवर्नर को उनकी अवधि को बढ़ाने का अधिकार न था। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में प्रान्तीय धारासभा के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता था। और न कोई व्यक्ति एक ही समय में संघीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं का सदस्य हो सकता था। यदि कोई व्यक्ति दोनों के लिये चुना जाता तो उसे एक की सदस्यता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवश्य त्यागपत्र देना पड़ता। यदि वह गवर्नर द्वारा निर्धारित समय में ऐसा न कर पाता तो प्रान्तीय धारासभा में उसका स्थान रिक्त घोषित किया जा सकता था।

संयुक्त प्रान्तीय धारासभा का गठन :— संयुक्त प्रान्तीय धारासभा में गवर्नर के अतिरिक्त, जो सम्राट् का प्रतिनिधि था, दो सदन थे जिन्हें क्रमशः लेजिस्लेटिव कौंसिल तथा लेजिस्लेटिव असेम्बली कहा जाता था। लेजिस्लेटिव कौंसिल में कम से कम ५८ और अधिक से अधिक ६० सदस्य रहने थे जिनमें से कम से कम ६ और अधिक से अधिक ८ गवर्नर द्वारा नामज़द किये जाने थे। शेष ५२ निर्वाचित स्थानों में से ३४ सामान्य, १७ मुस्लिम और १ युरोपियन स्थान था। लेजिस्लेटिव असेम्बली में २२८ सदस्य थे। इनमें से १४० सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों के, २० हरिजनों के और ६४ मुसलमानों के प्रतिनिधि थे। युरोपियनों व भारतीय ईसाइयों में से प्रत्येक के दो और आंग्ल भारतीयों का एक प्रतिनिधि था। इनके अतिरिक्त ३ प्रतिनिधि वाणिज्य व व्यापार के, ३ मज़दूरों के तथा ६ ज़मीदारों के थे। प्रान्त के तीनों विश्वविद्यालयों की ओर से एक प्रतिनिधि था। महिलाओं के कुल स्थान ६ थे जिनमें से ४ सामान्य तथा २ मुस्लिम क्षेत्रों से भरे जाने थे।

असेम्बली के लिये मताधिकार :— अधिनियम ने मताधिकार की योग्यताओं का स्वयं निर्धारण नहीं किया। ये परिषद् आदेशों द्वारा निर्धारित की गई थीं, जो लॉर्ड लोथियन के सभापतित्व में बिठाई गई मताधिकार समिति के निश्चयों के अनुसार थे। १९१९ के अधिनियम के मातहत भारत में सिर्फ ३ प्रतिशत व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त था। साइमन कमीशन ने आबादी के १० प्रतिशत भाग को मताधिकार देने की सिफारिश की। प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन ने कम से कम आबादी के एक चौथाई हिस्से को मताधिकार प्रदान करने की इच्छा प्रकट की। प्रगतिशील भारतीय लोकमत एक लम्बे अरसे से व्यापक वयस्क मताधिकार की माँग कर रहा था। द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन द्वारा बिठाई गई मताधिकार समिति ने ब्रिटिश भारत की कुल जनसंख्या के १४ प्रतिशत भाग को मताधिकार दिया। जब कि पहिले सिर्फ ७० लाख मनुष्यों व ३ लाख और १५ हज़ार महिलाओं को मताधिकार प्राप्त था, १९३५ के अधिनियम के मातहत मतदाताओं की संख्या बढ़कर ३ करोड़ ५० लाख हो गई जिनमें लगभग २ करोड़ ९० लाख पुरुष थे और ६० लाख महिलाएँ थीं। हरिजनों की कुल आबादी के १० प्रतिशत भाग को मत देने का हक हासिल हुआ।

किसी निर्वाचन क्षेत्र की मतदाताओं की सूची में अपना नाम दर्ज कराने के लिये किसी भी व्यक्ति के लिये अनेक शर्तों का पूरा करना आवश्यक था। उसके लिये ब्रिटिश प्रजा होना अथवा संघ में सम्मिलित किसी रियासत का शासक या प्रजा होना अथवा किसी विशेष भारतीय रियासत की प्रजा होना आवश्यक था। उसकी आयु कम से कम २१ वर्ष की होनी चाहिये थी। मुस्लिम, सिक्ख, भारतीय ईसाई, आंग्ल-भारतीय एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युरोपियन निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उसका क्रमशः मुस्लिम, सिक्ख, भारतीय ईसाई, आंग्ल-भारतीय तथा युरोपियन होना ज़रूरी था। जो व्यक्ति इनमें से किसी भी निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता था वह सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता नहीं हो सकता था। यह बात आसाम और उड़ीसा में महिलाओं के लिये सुरक्षित सामान्य स्थानों पर लागू नहीं होती थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने निर्वाचन क्षेत्र में कुछ समय से रह रहा होना भी आवश्यक था। इसकी अवधि प्रत्येक प्रान्त में भिन्न थी, मद्रास में यह १२० दिन तथा बम्बई में १८० दिन थी। इसके अतिरिक्त उसके लिये निम्न शर्तों में से कम से कम एक शर्त का पूरा करना भी आवश्यक था: आय-कर, मालगुज़ारी, शहरों में मकान-किराया अथवा न्यूनतम मात्रा से ज्यादा म्युनिसिपल-कर अदा करना। शिक्षा सम्बन्धी योग्यताएँ जैसे हाई स्कूल पास होना; फौज से छुटकारा पाये हुए, पेंशनयाफ्ता अथवा अवकाशप्राप्त अफ़सर व सिपाही भी मतदाता हो सकते थे। महिलाओं तथा हरिजनों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिये उनकी योग्यताएँ विशेष रूप से निर्धारित की गई थीं।

निर्वाचकों की योग्यताएँ प्रत्येक प्रान्त में उनमें प्रचलित परिस्थितियों के अनुसार भिन्न थीं। पर उन सब का सामान्य प्रभाव सब प्रान्तों में एक जैसी श्रेणियों व वर्गों को मताधिकार देना था। नवीन संविधान के मातहत वयस्क मताधिकार स्थापित कर दिये जाने के पश्चात् संयुक्त प्रान्त में असेम्बली और कौंसिल के मतदाताओं की योग्यताओं को विस्तार से बताने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम देती। फिर भी इतना बता देना आवश्यक है कि सम्पत्ति एवं कर सम्बन्धी योग्यतायें असेम्बली की अपेक्षा कौंसिल के लिये अधिक ऊँची रक्खी गई थीं।

व्यवस्थापिका सभा के अधिवेशन व पदाधिकारी आदि :— प्रत्येक प्रान्त में असेम्बली को अपनी पूरी अवधि के लिये अपने ही सदस्यों में से एक को अध्यक्ष (Speaker) और दूसरे को उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) चुनने का अधिकार था। ये दोनों पदाधिकारी अपने पदों से अवधि से पूर्व भी त्याग-पत्र दे सकते थे और सदस्यों के मत से पदच्युत भी किये जा सकते थे। कौंसिल को भी, जहाँ जहाँ यह थी, अपने सभापति व उपसभापति को जिन्हें प्रेज़ीडेण्ड तथा डिप्टी प्रेज़ीडेण्ट कहा जाता था, चुनने का अधिकार था। गवर्नर ही दोनों सदनों के अधिवेशन बुलाता था, पर दो अधिवेशनों के मध्य में ६ महीने के अधिक का समय नहीं बीत सकता था। प्रत्येक मंत्री को दोनों सदनों में भाषण देने की स्वतंत्रता थी पर वह मत सिर्फ उसी सदन में दे सकता था जिसका वह स्वयं सदस्य होता था। महाधिवक्ता (Advocate-General) भी दोनों सदनों की कार्यवाही में भाग ले सकता था पर मत नहीं दे सकता था। सदस्यों को भाषण की स्वतंत्रता तथा वे सब विशेषाधिकार प्राप्त थे जो संसार की अन्य धारासभाओं के सदस्यों को प्राप्त होते हैं। उनके वेतन व भत्ते धारासभा के द्वारा निर्धारित होते थे।

शक्तियाँ व कृत्य :— प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की शक्तियाँ तथा कृत्य संघीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्थापिका सभाओं की शक्तियों व कृत्यों के समान ही थे। उनका विधायक, वित्तीय, प्रशासकीय एवं विचारात्मक इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन किया जा सकता है।

(i) **विधायक शक्तियां :—** प्रान्तीय धारासभा प्रान्त में एकमात्र कानून-निर्मात्री संस्था थी। प्रान्तीय विधायक सूची में सम्मिलित समस्त विषयों पर उसे समूचे प्रान्त या उसके किसी भाग के लिये कानून बनाने का अनन्य अधिकार था। संकट की अवस्था में अथवा दो या अधिक प्रान्तों की स्वीकृति होने पर ही संघीय व्यवस्थापिका सभा को इन विषयों पर कानून बनाने की शक्ति थी। समवर्ती सूची में निर्दिष्ट विषयों पर प्रान्तीय धारासभा उसी तरह कानून बना सकती थी जिस तरह संघीय धारासभा। सिर्फ संघीय सूची में निर्दिष्ट विषयों पर इसे कानून बनाने का अधिकार न था क्योंकि यह इकला संघीय धारासभा का क्षेत्र था।

संघीय धारासभा की तरह ही प्रान्तीय धारासभाएँ भी प्रभुत्वरहित विधायक संस्थाएँ थीं। उनकी विधायक क्षमता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। संघीय धारा-सभा के सम्बन्ध में इस विषय में जो कुछ कहा जा चुका है उसको दृष्टि में रखते हुए इस विषय के विस्तार में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना बता देना पर्याप्त होगा कि कई ऐसे विषय थे जिन पर प्रान्तीय धारासभाएँ बिल्कुल कानून नहीं बना सकती थीं और इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय थे जिन पर वे गवर्नर की पूर्व स्वीकृति से ही कानून बना सकती थीं जो 'स्वविवेक में' दी जानी थी। गवर्नर को धारासभा पर वास्तविक निषेधाधिकार (Veto Power) प्राप्त था। कोई भी प्रान्तीय गवर्नर किसी भी विधेयक को गवर्नर-जनरल के विचारार्थ रोक सकता था जो या तो इस पर सम्राट् की ओर से स्वीकृति दे सकता था या प्रान्तीय धारासभा को पुनर्विचारार्थ वापिस कर सकता था या फिर इसे सम्राट् के विचारार्थ रोक सकता था। इन सब से बढ़ कर सम्राट् की यह भी शक्ति थी कि यदि वह चाहता तो उन विधेयकों को भी अस्वीकृत कर सकता था जो गवर्नर अथवा गवर्नर-जनरल द्वारा स्वीकृत कर दिये गये हों। भेदभाव-पूर्ण व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध भी प्रान्तीय धारासभा की शक्तियों पर प्रति-बन्ध ही थे। यहाँ यह बताना तो अनावश्यक सा जान पड़ता है कि प्रान्तीय धारासभाओं को संविधान में परिवर्तन करने की शक्ति न थी।

(ii) **वित्तीय शक्तियाँ :—** प्रान्तीय धारासभाओं की वित्तीय शक्तियाँ भी संघीय धारासभा के समान थीं। एक महत्त्वपूर्ण बात के सिवाय दोनों क्षेत्रों में वित्तीय प्रक्रिया एक समान थी। जबकि संघीय धारासभा में 'कौंसिल आफ स्टेट' को भी 'हाउस आफ असेम्बली' के साथ धन विधेयकों पर मत देने का अधिकार प्राप्त था प्रान्तीय क्षेत्र में द्विआगारिक धारासभाओं में यह अधिकार सिर्फ निम्न आगार अर्थात् लेजिस्लेटिव असेम्बली को ही हासिल था। लेजिस्लेटिव कौंसिल का अनुदानों की मांगों से कोई सरो-कार न था, वह उन पर मत नहीं दे सकती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघीय धारासभा की तरह ही प्रान्तीय धारासभाओं को भी वित्तीय मामलों में पहल (Initiative) का अधिकार न था। नया कर लगाने, लगे कर को बढ़ाने, ऋण लेने और प्रान्तीय राजस्व में से व्यय के सम्पूर्ण प्रस्ताव गवर्नर की पूर्ण सिफारिश से ही पेश किये जा सकते थे। इस प्रकार वित्तीय क्षेत्र में किसी भी प्रकार के विधेयक को प्रारम्भ करने की शक्ति गवर्नर के हाथ में थी। वही आर्थिक वर्ष के प्रारम्भ होने से पूर्व धारासभा के आगारों के सामने वार्षिक वित्तीय विवरण प्रस्तुत करवाता था। विवरण में तीन प्रकार की राशियाँ दिखाई जाती थीं : (i) वे राशियां जो उस व्यय को पूरा करने के लिये आवश्यक थीं जो प्रान्तीय राजस्व पर भार रूप था और इसलिये असेम्बली के मत की अपेक्षा नहीं करती थीं, (ii) वे राशियाँ जो अन्य प्रकार के व्यय को पूरा करने के लिये आवश्यक थीं और इसलिये जिनके लिये असेम्बली का मत अपेक्षित था, तथा (iii) वे राशियाँ जो गवर्नर के कथन पर इसलिये व्यय में सम्मिलित की जाती थीं कि वे उसके विशेष उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये आवश्यक थीं। इस बात का निर्णय कि कोई भी व्यय प्रान्तीय राजस्व पर भार रूप था या नहीं गवर्नर द्वारा 'स्व-विवेक में' किया जाता था। निम्न व्यय प्रान्तीय राजस्व पर भार रूप थे :

(क) गवर्नर के वेतन, भत्ते तथा उसके दफ्तर के अन्य व्यय जिनका आयोजन परिषद-आदेश द्वारा किया गया था।

(ख) ऋण-सम्बन्धी व्यय जो प्रान्त को करना होता था।

(ग) मंत्रियों व महाधिवक्ता के वेतन व भत्ते।

(घ) उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन व भत्ते।

(ङ) अपवर्जित क्षेत्रों के प्रशासन में होने वाला व्यय।

(च) किसी न्यायालय के निर्णय, आज्ञप्ति व पंचाट को कार्यान्वित करने के लिये अपेक्षित राशियाँ।

(छ) कोई दूसरा व्यय जिसे अधिनियम ने भार रूप बनाया हो।

यद्यपि ये सब मद अमतदेय थे, गवर्नर के वेतन व भत्तों के सिवाय सब पर धारा-सभा बहस कर सकती थी। मतदेय व्यय अनुदानों की मांगों के रूप में निम्न आगार के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। निम्न आगार अथवा लेजिस्लेटिव असेम्बली किसी भी अनुदान को स्वीकृत, अस्वीकृत अथवा कम कर सकती थी। उसे इसे बढ़ाने अथवा दूसरे अनुदानों में डालने का हक न था।

जब विभिन्न मांगों पर मत दिये जा चुकते तो गवर्नर अपने हस्ताक्षरों से एक प्रमाणित अनुसूची तैयार करता जिसमें तीन प्रकार की राशियाँ प्रदर्शित की जातीं— (i) वह राशियाँ व अनुदान जो असेम्बली द्वारा पास की गई थीं, (ii) वे अनुदान जो असेम्बली द्वारा कम अथवा अस्वीकृत कर दिये जाने के बाद भी उसमें इसलिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मिलित कर दिये गये थे क्योंकि वे उसके विशेष उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये आवश्यक थे, तथा (iii) वे राशियां जो प्रान्त के राजस्व पर भार रूप थीं। यह प्रमाणित अनुसूची असेम्बली के सम्मुख प्रस्तुत की जानी थी पर उस पर बहस न हो सकती थी और न मत दिये जा सकते थे। प्रान्तीय राजस्व में से ऐसा कोई भी व्यय नहीं किया जा सकता था जो प्रमाणित अनुसूची के अनुसार न होता। यदि आर्थिक वर्ष की समाप्ति से पूर्व और व्यय आवश्यक होता तो उसके लिये असेम्बली के सामने अनुपूरक विवरण पेश करना आवश्यक था जिसे उपर्युक्त प्रक्रिया की सब स्टेजों में से गुज़रना ज़रूरी था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघीय क्षेत्र की तरह ही प्रान्तीय क्षेत्र में भी राजस्व का एक बहुत बड़ा भाग उन प्रयोजनों पर व्यय किया जाता था जिन पर धारासभा का कोई नियंत्रण न था। पर प्रान्तीय क्षेत्र की अपेक्षा संघीय क्षेत्र में यह भाग अधिक बड़ा था क्योंकि यहाँ संरक्षित विभाग भी थे। शेष बजट पर धारासभा का नियन्त्रण था। पर इसमें भी धारासभा द्वारा कम या अस्वीकृत किया गया कोई अनुदान यदि गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों की पूर्ति में बाधक होता तो गवर्नर को अपना निषेधाधिकार प्रयुक्त करके उसे बहाल करने का अधिकार था। इस प्रकार प्रान्तीय धारासभा की वित्तीय शक्तियाँ अनेक प्रकार से सीमित थीं।

(iii) **प्रशासन पर नियन्त्रण :—** धारासभा सामान्यतया अनुदानों पर मत देने की अपनी शक्ति द्वारा, नीति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर साधारण तथा काम-रोको प्रस्ताव पेश करके तथा सामान्य एवं अनुपूरक प्रश्न पूछ कर प्रशासन पर नियंत्रण और निरीक्षण रखती है। प्रान्तीय धारासभाओं को भी ये सब शक्तियां थीं। हम ऊपर देख चुके हैं कि वित्त पर उनका किस हद तक नियंत्रण था। क्योंकि मंत्रियों का सेवा-काल लेजिस्लेटिव असेम्बली की खुशी एवं सदिच्छा पर निर्भर था, असेम्बली के द्वारा पास किये गये प्रस्तावों को प्रशासन के लिये कार्यान्वित करना आवश्यक था। धारासभा में प्रश्नों का घंटा एक अत्यन्त दिलचस्प समय था जिसे सदस्य सरकार की सब प्रकार की त्रुटियों को प्रकाश में लाने के लिये प्रयुक्त करते थे। धारासभा की समितियां भी इस प्रयोजन के लिये बहुत लाभप्रद थीं।

जिन विषयों अथवा मामलों का प्रशासन गवर्नर स्वविवेक में अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार करता था उन पर धारासभा का नियन्त्रण न था। क्योंकि 'सर्विसेज़' के बड़े सदस्य मन्त्रियों के मातहत रहते हुए भी उनके नियंत्रण में न थे (मंत्रियों को उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई करने का अधिकार न था), इसलिये भी धारासभा का प्रशासन पर नियंत्रण कम हो गया था।

(iv) **विचारात्मक शक्तियां :—** कुछ विषयों को छोड़कर जिन पर गवर्नर प्रश्न पूछने और प्रस्ताव पेश करने की मनाही कर सकता था प्रान्तीय धारासभा को सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की नीति पर प्रस्ताव पेश करने और प्रश्न पूछने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वित्तीय एवं प्रशासकीय क्षेत्र की अपेक्षा, इस क्षेत्र में धारासभा की शक्तियाँ अधिक वास्तविक तथा कम अप्रतिहत थीं। वह सरकारी नीतियों को पर्याप्त अंश में अपने विचारों के अनुसार ढाल और बना सकती थी।

विधायक प्रक्रिया :— प्रान्तीय धारासभाओं की विधायक प्रक्रिया ब्रिटिश संसद की प्रक्रिया के समान ही थी। अर्थ विधेयक को छोड़कर अन्य सब विधेयक किसी भी सदन में प्रारम्भ किये जा सकते थे। अर्थ विधेयक सिर्फ लेजिस्लेटिव असेम्बली अर्थात् निम्न आगार में ही शुरू किया जा सकता था। प्रत्येक विधेयक के लिये तीन पठनों (Readings) में से गुज़रना आवश्यक था। एक सदन से पास हो जाने के बाद यह दूसरे सदन में भेजा जाता था। यदि यह दूसरे सदन में भी संशोधन के बिना या ऐसे संशोधनों के साथ पास हो जाता जो निम्न आगार को मान्य होते तो इसे गवर्नर के पास भेज दिया जाता था जो इस पर अपने विवेकानुसार स्वीकृति दे सकता था या स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था। वह चाहता तो इसे धारासभा को पुनर्विचारार्थ वापिस कर सकता था या गवर्नर-जनरल अथवा सम्राट् की स्वीकृति के लिये रोक सकता था। दोनों सदनों के मत-भेद उनकी संयुक्त बैठकों में दूर किये जाते थे जिन्हें गवर्नर स्वविवेक में बुलाता था।

गवर्नर और धारासभा :— अधिनियम ने प्रान्तीय धारासभा के सम्बन्ध में भी गवर्नर को कई शक्तियां प्रदान की थीं। इनमें से कई ब्रिटिश बादशाह की शक्तियों की तरह साधारण शक्तियां थीं जैसे धारासभा को बुलाना, उसका सत्रावसान करना तथा निम्न आगार को अवधि से पूर्व विघटित करना। उसे पृथक् या संयुक्त रूप से दोनों सदनों में भाषण देने तथा विचाराधीन विधेयकों के बारे में संदेश भेजने का भी अधिकार था। दोनों सदनों में मतभेद की अवस्था में उसे अपने विवेकानुसार उनकी संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार था। धारासभा द्वारा पास किये गये विधेयकों के लिये उसकी स्वीकृति आवश्यक थी। वह अपनी स्वीकृति न देकर किसी भी विधेयक को कानून बनने से रोक सकता था। यद्यपि प्रत्येक सदन अपने कार्य को चलाने के लिये नियम बनाने में स्वतन्त्र था, उन विषयों से सम्बन्धित कार्यों के बारे में गवर्नर ही सदनों के अध्यक्षों के परामर्श से उनके नियम बना सकता था जिसमें उसके विशेष उत्तरदायित्व समाविष्ट होते थे। आर्थिक कार्यों के ठीक समय पर भुगतान के लिये भी वह नियम बना सकता था। गवर्नर के नियम बनाने की यह शक्ति धारासभा की शक्तियों पर जबर्दस्त हमला था। उसे भारत सरकार तथा किसी विदेशी राष्ट्र व भारतीय रियासतों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा जन-जाति एवं अपवर्जित क्षेत्रों के प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाले विषयों की बहस में अपनी पूर्व अनुमति के सिवाय प्रश्न न पूछे जाने के लिये नियम बनाने की असाधारण शक्ति भी प्राप्त थी। यदि वह यह अनुभव करता कि किसी विधेयक, उसकी धारा अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस पर पेश किये गये किसी संशोधन पर होने वाली बहस प्रान्त की शांति के लिये हानिकारक तथा उसके विशेष उत्तरदायित्वों की पूर्ति में बाधक है तो वह उसे रोक सकता था और आदेश दे सकता था कि इस पर और कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी। अपनी इन सब असाधारण शक्तियों के कारण वह धारासभा पर अपना पर्याप्त प्रभाव डाल सकता था जो इस प्रकार 'प्रान्तीय स्वाधीनता' के मूल्य को कम करने में बहुत सहायक थीं। ये लोकतन्त्रात्मक शासन के सिद्धान्त के एकदम प्रतिकूल थीं।

गवर्नर की विधायक शक्तियाँ :— गवर्नर को प्रान्तीय धारासभाओं के सम्बन्ध में विधेयकों को प्रारम्भ करने, नियमन और नियन्त्रण की शक्तियां ही प्राप्त न थीं, उसे इसकी इच्छा के प्रतिकूल क़ानून पास करने की भी शक्ति थी। गवर्नर-जनरल की तरह ही उसे 'गवर्नर का अधिनियम' बनाने और अध्यादेश घोषित करने की भी शक्ति थी। १९३५ के अधिनियम ने पहिली बार उसे ये शक्तियां प्रदान की थीं। यदि गवर्नर अपने उन कृत्यों का सम्पादन करने के लिये जिनमें उसे अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय से काम लेना पड़ता था, किसी क़ानून को आवश्यक समझता तो वह गवर्नर-जनरल की सहमति से धारासभा के विचार जानने के बाद या उससे परामर्श लिये बगैर एक स्थायी क़ानून बना सकता था जिसे गवर्नर का अधिनियम कहा जाता था। इस प्रकार का प्रत्येक अधिनियम गवर्नर-जनरल के द्वारा भारत मंत्री को भेजा जाता था जो उसे ब्रिटिश संसद के सामने प्रस्तुत करता था। गवनर के अधिनियम के पीछे उतनी ही कानूनी शक्ति और औचित्य होता था जितना कि धारासभा द्वारा पास किये गये और गवर्नर द्वारा स्वीकृत किये गये कानून के पीछे। यह एक असाधारण आयोजन था जो स्पष्टतया उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल था और जिसकी प्रशासकीय क्षेत्र में गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों के कारण आवश्यकता अनुभव की गई थी।

यदि प्रान्तीय धारासभा की अनुपस्थिति में ऐसी स्थिति का सामना करने की आवश्यकता पड़ती जिसमें कि तात्कालिक कार्यवाही करनी जरूरी होती तो मंत्री गवर्नर को अध्यादेश घोषित करने की सलाह दे सकते थे। इस प्रकार का अध्यादेश कानून की दृष्टि से उतना ही शक्तिशाली होता था जितना कि धारासभा द्वारा पास किया हुआ कानून और इसे धारासभा के अधिवेशन के होने के साथ ही उसके सामने पेश करना होता था और यदि वह इसे जल्दी ही अस्वीकृत न कर दे तो यह इसकी बैठक के छः हफ्ते बाद स्वयं कार्य करना बन्द कर देता था। गवर्नर इसे किसी भी समय वापिस ले सकता था। १९३९ में कांग्रेस मंत्रिमंडल के परामर्श पर इस प्रकार के दो अध्यादेश घोषित किये गये थे— एक था 'मद्रास मन्दिर प्रवेश हर्जाना अध्यादेश' और दूसरा था 'बम्बई चारा व अनाज अध्यादेश'।

एक अन्य प्रकार का भी अध्यादेश था जिसे गवर्नर स्वयं अपने विवेक में कार्य करते हुए घोषित कर सकता था। यदि किसी भी समय चाहे धारा सभा बैठी हो या न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठी हो, गवर्नर यह अनुभव करता कि उसके उन कृत्यों के सम्पादनार्थ जो स्वविवेक में किये जाने थे अथवा जिनमें उसके विशेष उत्तरदायित्व समाविष्ट थे, तात्कालिक कार्यवाही आवश्यक थी, तो वह मंत्रियों का परामर्श लिये बगैर भी एक अध्यादेश जारी कर सकता था। इस प्रकार के अध्यादेश को धारासभा के सम्मुख रखने की ज़रूरत नहीं थी और यह ६ महीने तक जारी रह सकता था जिसके अनन्तर इसे इतने ही समय के लिये और बढ़ाया जा सकता था। संकट काल के अतिरिक्त अध्यादेश घोषित करने की यह शक्ति गवर्नर-जनरल की सहमति से ही प्रयुक्त की जानी थी। अध्यादेश घोषित करने की पहली शक्ति की तरह ही यह भी उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल एक असाधारण शक्ति थी।

सांविधानिक योजना के असफल हो जाने पर संविधान को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्थगित करने और उच्च न्यायालय के अतिरिक्त प्रान्त के अन्य समस्त प्राधिकारियों की शक्तियों को अपने हाथ में ले लेने की गवर्नर की शक्ति का पहिले ही जिक्र किया जा चुका है।

अपवर्जित तथा आंशिक अपवर्जित क्षेत्र

प्रान्तीय शासन के उपर्युक्त विवरण में अनेक स्थानों पर अपवर्जित एवं आंशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्रों का वर्णन किया गया है जिनका प्रशासन गवर्नर का विशेष उत्तरदायित्व था। इन शब्दों के अर्थ पर प्रकाश डालना आवश्यक सा प्रतीत होता है।

राजनीतिक, आर्थिक एवं शिक्षा की दृष्टि से सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत समान रूप से उन्नत न था। देश के कुछ प्रदेशों में बसने वाली गोंड और सन्थाल इत्यादि जातियाँ पर्याप्त पिछड़ी हुई थीं। इन जातियों में संसदीय संस्थाओं का प्रारम्भ नहीं किया जा सकता था। ब्रिटिश सरकार को भय था कि लोकप्रिय मंत्री कहीं इन जातियों के हितों की उपेक्षा न कर। अतः इन प्रदेशों को उत्तरदायी शासन के क्षेत्र से पृथक् कर दिया गया था तथा इनका प्रशासन विशेष रूप से गवर्नरों को सौंप दिया गया था। ३ मार्च १९३६ को जारी किये गये एक परिषद आदेश में विभिन्न प्रान्तों के अपवर्जित एवं आंशिक अपवर्जित क्षेत्रों का परिगणन किया गया था।

यदि कोई प्रदेश इतना पिछड़ा हुआ था कि इसमें संसदीय संस्थाओं को बिल्कुल भी नहीं प्रारम्भ किया जा सकता था तो उसे अपवर्जित प्रदेश की श्रेणी में रक्खा गया था। आसाम के नागा पर्वत के ज़िले तथा पंजाब में कांगड़ा ज़िले के कुछ भाग इसी प्रकार के प्रदेश थे। वे सीधे गवर्नर के प्रशासन के मातहत रक्खे गये थे। यदि कोई प्रदेश अपेक्षाकृत कम पिछड़ा हुआ था और प्रान्तीय धारासभा द्वारा पास किये गये कुछ क़ानून इसमें लागू हो सकते थे तो इसे आंशिक अपवर्जित क्षेत्रों की श्रेणी में रक्खा गया था। इसके प्रशासन की विशेष ज़िम्मेवारी गवर्नर पर थी। देहरादून ज़िले का जौनसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बावर नामक परगना तथा मिर्ज़ापुर ज़िले का एक भाग संयुक्त प्रांत में आंशिक अपवर्जित क्षेत्र घोषित किये गये थे।

भारत की गृह सरकार

विषय परिचय :— सन् १९४७ तक भारत अमेरिका और रूस की तरह स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं अपितु ग्रेट ब्रिटेन के अधीन एक परतन्त्र राष्ट्र था। इसकी इस राजनीतिक दासता का परिणाम यह था कि भारत सरकार अपनी नीतियों के निर्माण में स्वाधीन नहीं थी और उसे ग्रेट ब्रिटेन के अधिकारियों के आदेशों व निर्देशों के अनुसार अपने कार्य को चलाना पड़ता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि देश का प्रशासन दो विभिन्न संस्थाओं के हाथ में था; इनमें से एक भारत स्थित थी और उसकी सीमाओं में रहकर अपना कार्य करती थी और दूसरी लन्दन में स्थित थी और वहाँ से भारत के प्रशासन के लिये आदेश जारी करती थी। इसमें तथा इसके पूर्व के अध्यायों में हमने प्रथम संस्था के गठन तथा स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अब हम दूसरी संस्था पर जो ब्रिटेन में रह कर कार्य कर रही थी और जिसे सामान्यतया 'भारत की गृह सरकार' के नाम से कहा जाता है, रोशनी डालेंगे।

सपरिषद् भारत मन्त्री :— १८५८ में 'भारत की बेहतर सरकार के अधिनियम' के पास होने तक भारत की गृह सरकार में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संचालक मंडल तथा १७८४ में स्थापित हुआ नियंत्रण संघ सम्मिलित थे। १८५८ में जब भारत का शासन कम्पनी से सम्राट् को हस्तान्तरित किया गया तब से सपरिषद् भारत मन्त्री ही गृह सरकार बन गया। भारत मन्त्री ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होता था तथा संसद का सीधा प्रतिनिधि होने के कारण भारतीय शासन के लिये उसके प्रति जिम्मेवार होता था। उसी के द्वारा ब्रिटिश संसद भारत सरकार पर अपना नियंत्रण रखती थी और उसके प्रशासन से अपने को अवगत रखती थी। वे सब शक्तियाँ जो इससे पूर्व भारत के सम्बन्ध में संचालक मंडल तथा नियंत्रण संघ के हाथ में थीं अब भारत मंत्री के हाथ में आ गई थीं। १९१९ के अधिनियम ने उसे भारत के शासन तथा राजस्व से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण कार्यों पर निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण की शक्तियाँ दे दी थीं। गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर दोनों के लिये उसके आदेशों का पालन अनिवार्य था। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की समस्त विधायक योजनाओं के लिये उसकी स्वीकृति आवश्यक थी। कर सम्बन्धी परिवर्तनों, राजस्व, तट-कर, मुद्रण एवं विनिमय सम्बन्धी विधेयकों तथा नये व्ययों एवं नीति में परिवर्तन सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रस्तावों का उसके सामने पेश किया जाना ज़रूरी था। वेतन, भत्तों व इनाम के रूप में कोई भी व्यय भारतीय राजस्व से उसकी स्वीकृति के बिना नहीं किया जा सकता था। भारत का 'गृह-व्यय' अर्थात् वह राशि जो हमें इङ्गलैण्ड को प्रति वर्ष पेंशन इत्यादि के रूप में देनी होती थी, और जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत सरकार के कुल वार्षिक व्यय का पाँचवाँ हिस्सा थी, उसके नियंत्रण में था। इङ्गलैंड में 'सर्विसेज़' के सदस्यों की भर्ती तथा भारत सरकार के विभागों का प्रबन्ध उसके अधीन था। गवर्नर-जनरल को छोड़कर भारत में होने वाली अन्य सब नियुक्तियाँ उसकी सलाह से सम्राट् द्वारा की जाती थीं। यह बात अवश्य सत्य है कि अपने विभिन्न कार्यों को करते हुए इण्डिया कौंसिल के बहुमत को उसे सदा अपने साथ रखना पड़ता था। तथापि भारत सरकार के सम्बन्ध में उसकी शक्तियाँ बहुत व्यापक थीं; कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य भारत सरकार उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं कर सकती थी। पर हमें इस सम्बन्ध में यह न भूलना चाहिये कि भारत सरकार पर भारत मन्त्री का नियन्त्रण सदा एक सा न रहता था; गवर्नर-जनरल के व्यक्तित्व के साथ यह घटता और बढ़ता रहता था। जैसा कि पिछले एक अध्याय में बताया जा चुका है कि यदि लार्ड मार्ले जैसे शक्तिशाली भारत मन्त्री इस धारणा पर कार्य करते रहे कि भारत सरकार उनकी अभिकर्त्ता मात्र (Agent) है तो ऐसे शक्तिशाली गवर्नर-जनरल भी भारत में आये जो भारत मंत्री को ब्रिटिश संसद में अपनी नीतियों का पोषक या समर्थक मात्र समझते रहे। प्रान्तों में हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन तथा अन्य दिशाओं में जिस हद तक भारत मन्त्री के नियन्त्रण को शिथिल करना वाञ्छनीय एवं आवश्यक समझा गया उसका ज़िक्र हम पहले कर आए हैं।

यद्यपि भारत मन्त्री की भारत सरकार पर नियन्त्रण इत्यादि की शक्तियाँ पूर्ववत् ही रहीं, १९३५ के अधिनियम ने उसकी कानूनी स्थिति में एक मौलिक परिवर्तन कर दिया। १९१९ के अधिनियम में सम्राट् की अपेक्षा भारत मन्त्री को अधिक प्रधानता दी गई थी पर १९३५ के अधिनियम ने इस क्रम को बिल्कुल बदल दिया। अब भारत मंत्री गौण हो गया तथा सम्राट् प्रमुख। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की किसी भी धारा में भारत सरकार पर निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण की शक्तियां १९१९ के अधिनियम की तरह भारत मंत्री को नहीं सौंपी गई थीं। इसके विपरीत ये शक्तियां सम्राट् को दी गई थीं। इस प्रकार १९३५ के अधिनियम ने सम्राट् को भारत के सब मामलों में प्रमुखता दी परन्तु क्योंकि भारत के सम्बन्ध में उसकी सब शक्तियां उसके वैधानिक परामर्शदाता द्वारा ही, जो भारत मंत्री था, प्रयुक्त की जानी थीं, वास्तव में भारत मंत्री की शक्तियां अक्षुण्ण बनी रहीं। इस प्रकार अधिनियम के द्वारा किया गया यह परिवर्तन वास्तविक न था।

जिन विषयों में गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को स्वविवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग करने का अधिकार था, उनमें वे भारत मन्त्री के नियंत्रण में थे और उन्हें भारत मंत्री के आदेशों व निर्देशों का पालन करना पड़ता था। और क्योंकि गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों की विवेक शक्तियाँ तथा विशेष उत्तरदायित्व प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्र में छाये हुये थे, भारत मंत्री का भारतीय प्रशासन पर नियंत्रण भी उतना ही व्यापक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। संघीय क्षेत्र में वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा तथा जन-जाति क्षेत्रों जैसे अधिक महत्त्वपूर्ण विभागों पर उसका पूर्ण नियंत्रण था। वही देश की मुद्रा एवं विनिमय व्यवस्था का जो संचित अधिकोष के प्रबन्ध में थी, नियमन करता था। गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों की अध्यादेश घोषित करने तथा विशेष कानून बनाने की अन्य विवेक शक्तियों व विशेष उत्तरदायित्वों का जिक्र करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। सम्राट् के वैधानिक सलाहकार के रूप में वही परिषद्-आदेशों व गवर्नर-जनरल व गवर्नरों को जारी किये जाने वाले निर्देश-पत्रों के प्रकाशन तथा गवर्नरों और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों को नियंत्रित करता था। वही भारतीय धारासभाओं द्वारा पास किये गये तथा गवर्नर-जनरल एवं गवर्नरों द्वारा स्वीकृत किये गये विधेयकों को अस्वीकृत करने की सम्राट् की शक्ति का प्रयोग करता था। उसे संघीय एवं प्रान्तीय सरकारों की तरफ से ब्रिटिश बाज़ार में ऋण लेने, 'सर्विसेज़' के सदस्यों को भर्ती करने और उनके वेतन, भत्तों, व पेंशनों को निर्धारित करने तथा उनके हितों की हिफाज़त करने का अधिकार था। भारतीय प्रशासन में भारत मंत्री के भाग को प्रोफेसर के. टी. शाह ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है: 'उसकी शक्तियां देखने में शायद इतनी रौबीली न हों जितनी कि गवर्नर-जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों की। पर यह उसी की सृष्टि थे जो ह्वाइट हाल (ब्रिटिश सरकार का दफ्तर) के देवता के आदेश तथा चार्ल्स स्ट्रीट के जादूगर के इशारे पर नाचते थे। उसकी शक्तियाँ सिर्फ मौलिक नीतियों, ब्रिटेन के निहित स्वार्थों की रक्षा, तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी आधिपत्य की सुरक्षा तक ही सीमित नहीं थीं अपितु उसमें प्रशासन के दैनिक मामले, भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं के महत्त्वपूर्ण कार्य तथा भारत की विभिन्न नौकरियों की नियुक्तियाँ व वेतन तथा पेंशन इत्यादि भी सम्मिलित थे। भारत के शासन के सम्बन्ध में जब कि प्रत्येक शक्ति व अधिकार उसके हाथ में था इसके उत्तरदायित्व का भार उस पर न था।'*

भारत मन्त्री के सलाहकार :— इंडिया कौंसिल जो १८५८ में भारत मंत्री के साथ ही स्थापित की गई थी और जिसका देश में सख्त विरोध था, आखिरकार १९३५ के अधिनियम द्वारा समाप्त कर दी गई। पहली अप्रैल १९३७ को, जिस दिन नये विधान ने कार्य करना प्रारम्भ किया, इसने कार्य करना बन्द कर दिया। पर संयुक्त संसदीय समिति ने, जिसने इण्डिया कौंसिल के भंग किये जाने की सिफारिश की थी, यह भी अनुभव किया कि भारत मन्त्री को भारतीय प्रश्नों पर सलाह देने के लिये कोई दूसरा आयोजन अवश्य होना चाहिये। इसलिये अधिनियम ने भारत मंत्री के लिये कई नये सलाहकार नियुक्त किये जाने का आयोजन किया। इनकी संख्या कम से कम ३ तथा अधिक से अधिक ६ होनी थी जिनकी नियुक्ति भारत मंत्री द्वारा की जानी थी। इनमें से आधों के लिये यह आवश्यक था कि वे भारत में सम्राट् के मातहत १० वर्ष तक

* 'फेडरल स्ट्रक्चर', पृष्ठ ३८९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौकरी कर चुके हों और अपनी नियुक्ति से दो वर्ष पूर्व तक अपने पदों पर रहते रहे हों। उनका सेवा काल ५ वर्ष का था जिसके बाद वे फिर दुबारा इस पद पर नियुक्त नहीं किये जा सकते थे। वे यदि चाहते तो अपनी अवधि के समाप्त होने से पूर्व भी पदत्याग कर सकते थे और शारीरिक एवं मानसिक असमर्थता के आधार पर भारतमंत्री द्वारा भी अपने पद से हटाये जा सकते थे। इण्डिया कौंसिल के सदस्य भी सलाहकार के पद पर नियुक्त किये जा सकते थे। सलाहकार लोग ब्रिटिश संसद के सदस्य भी हो सकते थे। उन्हें १३५० पौंड प्रति वर्ष वेतन मिलना था। उनमें से जो लोग नियुक्ति के समय भारत में रह रहे होते उन्हें ६०० पौंड वार्षिक भत्ता और मिलना था। कोई भी सलाहकार संसद में न बैठ सकता था और न मत दे सकता था।

भारत मंत्री अपने सलाहकारों से किसी विषय पर परामर्श लेने या न लेने अथवा व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से सलाह लेने में पूर्ण स्वतंत्र था; सलाह लेने के बाद वह उसे मानने या न मानने में भी पूर्ण स्वतंत्र था। तथापि 'सर्विसेज़' से सम्बन्धित मामलों में उसके लिये उनसे परामर्श लेना तथा उस पर अमल करना आवश्यक था।

उन्नतिशील भारतीय लोकमत सलाहकारों को 'इण्डिया कौंसिल' का ही रूपान्तर समझता था और इनके सख्त विरुद्ध था। उनकी योग्यताओं को दृष्टि में रखते हुए उनसे यही आशा की जा सकती थी कि वे भारत मंत्री पर प्रतिक्रियात्मक एवं अनुदार प्रभाव छोड़ेंगे। इस सम्बन्ध में सर रेजीनाल्ड मैक्सवैल की, जो राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिये की गई ज्यादतियों तथा भारतीय आकांक्षाओं को बुरी तरह कुचलने के कारण भारतीय जनता की आँखों में काँटे की तरह चुभता था, भारत में सरकारी नौकरी को छोड़ने के एकदम बाद भारत मंत्री के सलाहकार के पद पर नियुक्ति पर्याप्त महत्त्वपूर्ण थी।

१९३५ के अधिनियम के कार्यान्वित होने से पूर्व 'इण्डिया आफिस' के खर्चे भारतीय राजस्व में से पूरे किये जाते थे। ब्रिटिश सरकार को इसके लिये प्रति वर्ष १ लाख ५० हज़ार पौंड की राशि स्वीकृत करनी पड़ती थी। नये अधिनियम के मातहत इस व्यवस्था को परिवर्तित कर दिया गया। इसके बाद भी इससे सम्बन्धित व्यय संसद द्वारा स्वीकृत की गई राशि में से ही पूरे किये जाते थे पर इन खर्चों के लिये भारत सरकार के लिये भी चन्दा देना आवश्यक था।

भारत का हाई कमिश्नर :— भारतीय हाई कमिश्नर का कार्यालय १९१९ के अधिनियम के द्वारा स्थापित हुआ था। उस समय भारत मंत्री का आढ़त सम्बन्धी कृत्य (agency function) हाई कमिश्नर को हस्तान्तरित कर दिया गया। १९३५ के अधिनियम ने हाई कमिश्नर के कार्यालय को पूर्ववत् कायम रहने दिया। हाई कमिश्नर की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार की जानी थी। इसका कार्यकाल ५ वर्ष रक्खा गया था। इसका मुख्य कर्तव्य संघीय एवं प्रान्तीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकारों तथा संघ में सम्मिलित होने वाली देसी रियासतों के लिये ऐसी वस्तुओं का संचय करना था जिनकी उन्हें आवश्यकता हो। उससे यह आशा की जाती थी कि भारत के हितों को ध्यान में रखते हुये वह मन्दे से मन्दे बाज़ार में वस्तुएं खरीदेगा। इङ्गलैंड में भारतीय विद्यार्थियों के हितों की देखभाल करना भी उसका काम था। १९३५ के अधिनियम ने हाई कमिश्नर की स्थिति एवं उसके कृत्यों में कोई परिवर्तन नहीं किया।

ब्रिटिश संसद का नियंत्रण :— ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में भी ब्रिटिश संसद भारत के ब्रिटिश प्रदेशों पर अपनी प्रभुत्व शक्ति का दावा तथा प्रयोग करती थी। जब कम्पनी का शासन समाप्त हुआ और भारत के शासन का उत्तरदायित्व सम्राट् को हस्तान्तरित कर दिया गया तब तो बादशाह सहित संसद की प्रभुता नियमित एवं कानूनी तौर पर घोषित कर दी गई।

भारत के ऊपर ब्रिटिश संसद की यह प्रभुता अनेक प्रकार से प्रयोग में लाई जाती थी। उसके प्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण तरीका था भारत के संविधान तथा वैधानिक विकास की प्रगति का संसद द्वारा निर्धारण। १९१९ के अधिनियम की भूमिका में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति निश्चित शब्दों में की गई थी। हम अनेक बार कह चुके हैं कि भारतीय धारासभाएँ प्रभुताविहीन संस्थायें थीं। यहाँ यह स्मरण कराने की फिर आवश्यकता है कि ब्रिटिश संसद को भारतीय धारासभाओं द्वारा पास किये गये कानूनों को बदलने व रद्द करने तथा ब्रिटिश भारत के लिये वाञ्छित कानून बनाने का पूर्ण अधिकार था। भारतीय धारासभा द्वारा बनाये गये कानूनों को अस्वीकृत करने की सम्राट् की शक्ति का स्पष्ट अर्थ यह था कि सम्राट् का भारत पर पूर्ण प्रभुत्व था। संसद सहित बादशाह (King-in-Parliament) की प्रभुता पर कोई परिसीमाएँ व प्रतिबन्ध नहीं थे।

६००० मील दूर होने तथा अपने सदस्यों के भारतीय अवस्थाओं से अनभिज्ञ होने के कारण ब्रिटिश संसद के लिये भारतीय प्रशासन का स्वयं चलाना व नियंत्रित करना सम्भव न था। अतः यह कार्य इसने भारत मन्त्री पर, जो इसका अभिकर्ता (agent) था, छोड़ दिया था। यह हम पहिले देख चुके हैं कि इसका भारतीय प्रशासन पर कितना नियंत्रण था। १९१९ के अधिनियम में भी इसके नियंत्रण को शिथिल करने की आवश्यकता अनुभव की गई थी और इसके लिये नियम भी बनाये गये थे। स्थिति यह थी कि प्रान्तों में हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के लिये, जो लोकप्रिय मंत्रियों के सुपुर्द थे, भारत मंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी न था। केन्द्रीय शासन में भी एक अभिसमय प्रचलित किया गया था कि यदि केन्द्रीय सरकार तथा शेन्द्रीय धारासभाएँ किसी आर्थिक मामले पर सहमत हो जायंगी तो भारत मन्त्री इस मामले में दखल न देगा।

क्योंकि १९३५ के अधिनियम ने जनता को और अधिक मात्रा में शक्ति हस्तान्तरित की, भारत मंत्री का संसद के प्रति उत्तरदायित्व भी उसी अनुपात में कम हो गया। एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार दो विभिन्न अधिकारियों के प्रति जवाबदेह नहीं हो सकती। भारत सरकार या तो देश की जनता के प्रति उत्तरदायी हो सकती थी और या फिर ब्रिटिश संसद के प्रति; यह एक ही समय में एक ही बात के लिये दोनों के प्रति जवाबदेह नहीं हो सकती थी। जिस अंश तक प्रान्तीय सरकारें प्रान्तीय धारासभाओं के प्रति ज़िम्मेदार थीं उस अंश तक भारत मंत्री का उन पर नियंत्रण भी समाप्त होना था। यही बात संघीय सरकार के विषय में भी कही जा सकती है। परन्तु क्योंकि शक्ति जनता को पूर्णतया हस्तान्तरित नहीं की गई थी— प्रान्तीय उत्तरदायित्व पर अनेक परिसीमाएँ थीं और केन्द्र में संरक्षित विषय थे— भारत मंत्री का नियंत्रण पूर्णतया समाप्त नहीं होना था। जिस हद तक गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करते थे उस हद तक वे अब भी भारत मंत्री और उसके द्वारा संसद के प्रति ज़िम्मेदार थे।

१९४७ में औपनिवेशिक स्वराज्य मिलने के बाद भी जब आन्तरिक मामलों में जनता को पूर्ण रूप से शक्ति हस्तान्तरित कर दी गई, सम्राट् के हाथ में सर्वोच्च सत्ता रही और भारत ब्रिटिश बादशाह के प्रति वफादार बना रहा। पर ब्रिटिश संसद को भारतीय प्रशासन पर कोई अधिकार न रहा। और जब २६ जनवरी १९५० को भारत ने अपने को सर्वप्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य घोषित किया, उसका ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद हो गया और उसी के साथ सम्राट् की प्रभुता का भी अन्त हो गया।

संविधान में संशोधन :— कुछ शब्द संविधान में संशोधन किये जाने के सम्बन्ध में भी कहने आवश्यक हैं। संविधान अत्यन्त कठोर था; इसमें विकास की सम्भावना तथा परिवर्तन की गुंजाइश नहीं थी। भारतीय जनता तथा विभिन्न धारासभाओं में उनके निर्वाचित प्रतिनिधियों को बहुत मामूली सी बातों के अतिरिक्त संविधान में संशोधन करने की शक्ति नहीं दी गई थी। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है संघीय धारासभा को संघीय न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को विस्तृत करने की शक्ति अवश्य थी। अन्य सब मामलों में संविधान में संशोधन का अधिकार संसद ने अपने लिये सुरक्षित रख लिया था।

कुछ मामूली सी बातों में अधिनियम में संघीय अथवा प्रान्तीय धारासभाओं की प्रार्थना पर तथा संसद की स्वीकृति से परिषद्-आदेश द्वारा भी संशोधन हो सकते थे। ये निम्न हैं: (i) संघीय धारासभा के सदनों का आकार तथा संगठन, उनके निर्वाचन के ढंग तथा उनके सदस्यों की योग्यताएँ— पर इनमें संशोधन इस प्रकार किये जाने थे कि असेम्बली और कौंसिल में तथा देसी रियासतों और ब्रिटिश भारत में सापेक्ष अनुपात न बिगड़े; (ii) प्रान्तीय धारासभाओं में सदनों की संख्या, उनका आकार तथा सदस्यता; (iii) सदस्यों की योग्यताओं के बारे में कोई संशोधन; (iv) महिलाओं के लिये शिक्षा सम्बन्धी उच्च योग्यताओं के स्थान में साक्षरता अथवा बग़ैर अर्ज़ी के उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामों का प्रवेश। अन्तिम मद को छोड़कर संघ शासन अथवा प्रान्तीय स्व-शासन की स्थापना के १० वर्ष तक अन्य किसी मद में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। संशोधन की प्रक्रिया बहुत लम्बी थी जिसके विस्तार में जाने की यहां कोई आवश्यकता नहीं।

इस सम्बन्ध में एक बात का ज़िक्र करना और ज़रूरी है। द्वितीय अनुसूची में परिगणित कुछ विषयों को छोड़कर अन्य सब विषयों में संशोधन करने के लिये संघ में सम्मिलित होने वाली रियासतों की स्वीकृति भी आवश्यक थी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक रियासतें राज़ी न हों संघीय क्षेत्र में पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं दिया जा सकता था। इस प्रकार उत्तरदायी शासन की प्रगति रियासतों की सदिच्छाओं पर निर्भर थी। यह एक अत्यन्त प्रतिगामी क़दम था।

क्योंकि १९३५ के अधिनियम ने प्रान्तीय न्यायालयों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया, उनका यहाँ ज़िक्र करना अनावश्यक सा जान पड़ता है। इन पर अन्त में कुछ प्रकाश डाला जायेगा।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४

प्रान्तीय स्वशासन का कार्यान्वित रूप

विषय प्रवेश :— गत दो अध्यायों में हमने १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के उन उपबन्धों का वर्णन किया है जिनका भारतीय संघ की स्थापना तथा संघीय एवं प्रान्तीय सरकारों की बनावट, गठन, शक्तियों व कृत्यों से सम्बन्ध था। निस्सन्देह यह अधिनियम १९१९ के अपने पूर्ववर्ती अधिनियम से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इसने केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व देने का प्रस्ताव किया तथा प्रान्त में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की। फिर भी देश के प्रगतिशील लोकमत ने, जैसा कि फैजपुर के कांग्रेस अधिवेशन में पास हुए प्रस्तावों तथा कांग्रेस के विश्वस्त नेताओं के भाषणों से मालूम पड़ता है, इसकी कड़ी आलोचना एवं निन्दा की। इसकी आलोचना का मुख्य कारण इसके संरक्षण एवं अभिरक्षण थे जिन्हें यदि शाब्दिक रूप में समझा और कार्यान्वित किया जाता तो वे उत्तरदायी शासन की आत्मा का ही हनन कर देते। गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की शक्ति थी; वे धारासभाओं के क़ानून को सिर्फ मेट ही नहीं सकते थे अपितु अपने आप भी कानून बना सकते तथा लोक-प्रिय मंत्रियों की इच्छा के विरुद्ध जो चाहते सो कर सकते थे। बड़े सरकारी नौकरों तथा पुलिस को संरक्षण प्राप्त था और मंत्री लोगों को उन्हें छूने का भी अधिकार न था; वे पथ-प्रदर्शन के लिये मंत्रियों की तरफ नहीं प्रत्युत गवर्नर की तरफ देखते थे। संक्षेप में गवर्नर से लेकर सब से छोटे सरकारी कर्मचारी तक सरकार का ढर्रा व बनावट पहिले की तरह ही था; इसके बीच में सिर्फ लोकप्रिय मंत्रियों को बिठा दिया गया था जिनसे इसे अच्छी से अच्छी तरह चलाने की उम्मीद की जाती थी।

१९३७ के आम चुनाव :— जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है भारतीय रियासतों के प्रस्तावित भारतीय संघ में प्रविष्ट होने में विलम्ब करने के कारण ब्रिटिश सरकार ने १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के सिर्फ उस भाग को कार्यान्वित करने का निश्चय किया जिसका प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित करने से सम्बन्ध था। अतः प्रान्तों में आम चुनाव की तैयारियाँ शुरू कर दी गईं जो १९३७ के प्रारम्भ में होने थे। अधिनियम के निराशाजनक स्वरूप के बावजूद कांग्रेस ने प्रान्तों के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया। कांग्रेस के तत्कालीन प्रधान पंडित जवाहरलाल नेहरू ने देश का तूफानी दौरा किया और कांग्रेस के संदेश को देश के कोने कोने में पहुँचाया। चुनाव संग्राम के समय यह स्पष्ट हो गया कि लार्ड विलिंगडन की सरकार के कठोर दमन के बाद भी कांग्रेस का संगठन समाप्त नहीं हुआ था और उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान थी; प्रत्येक गाँव में कांग्रेस का दफ्तर या कुछ कांग्रेसी सदस्य अब भी थे। चुनाव के परिणाम भी इतने ही आश्चर्यजनक साबित हुये। कांग्रेस को आशातीत सफलता मिली। संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, मद्रास और बम्बई ६ प्रान्तों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। ये वे प्रान्त थे जिनमें हिन्दू बहुमत में थे। आसाम, बंगाल और उत्तर पश्चिमीय प्रान्त में यद्यपि कांग्रेस दल सब से बड़ा दल था, कुल सदस्यों की दृष्टि से वह अल्पमत में था। उत्तर पश्चिमीय सीमाप्रान्त में उसकी सफलता बहुत महत्त्वपूर्ण थी। शेष दो मुस्लिम-बहुमत प्रान्तों में अर्थात् पंजाब और सिन्ध में इसकी स्थिति अच्छी नहीं थी। इन चुनावों की एक बहुत बड़ी दिलचस्प बात यह थी कि मुस्लिम लीग को इनमें विशेष कामयाबी हासिल नहीं हुई; ४८२ स्थानों में से जो ब्रिटिश भारत के मुसलमानों को दिये गये थे, कुल ५१ स्थान मुस्लिम लीग के हाथ लगे। कांग्रेसी मुसलमानों ने ५८ स्थानों के लिये चुनाव लड़ा जिनमें से २६ में वे विजयी रहे। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी ने जो हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख ज़मींदारों का एक सम्मिलित दल था, १७५ में से १०६ स्थान प्राप्त किये। इस पार्टी में यद्यपि मुसलमानों की प्रधानता थी, यह मुस्लिम लीग के नियन्त्रण एवं आधिपत्य में न थी। बंगाल में ३ मुस्लिम दल थे— मुस्लिम लीग जिसे ४० स्थान हाथ लगे थे, स्वतन्त्र सदस्य जिनकी संख्या ४१ थी और प्रजा पार्टी जिसकी सदस्य-संख्या ३५ थी। इन अंकों से मालूम पड़ता है कि मुस्लिम लीग मुसलमानों में अभी उतनी लोकप्रिय नहीं हुई थी जितनी कि कांग्रेस हिन्दुओं में हो चुकी थी और जितनी कि वह बाद में मुसलमानों में हुई। उस समय लीग मुस्लिम बहुमत प्रान्तों की अपेक्षा हिन्दू बहुमत प्रान्तों में अधिक ताक़तवर थी। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जबकि विभिन्न प्रान्तीय धारासभाओं में कांग्रेस के टिकट पर चुने गये सदस्यों का एक नियमित संगठन था जिसे कांग्रेस हाई कमाण्ड के नियंत्रण में काम करना था, मुस्लिम सदस्यों में इस प्रकार का कोई संगठन अथवा अनुशासन न था। मुस्लिम लीग कुछ वर्ष बाद ही इस प्रकार का अनुशासन व नियंत्रण कायम करने की स्थिति में आ सकी।

चुनाव के सम्बन्ध में दो और बातें भी ध्यान देने योग्य हैं। पहिली तो यह कि उदारवादी इसमें करीब करीब बिल्कुल उखड़ गये। मद्रास में जस्टिस पार्टी को, जिसका प्रान्तीय धारासभा पर १९२२ से आधिपत्य चला आ रहा था, कड़ी शिकस्त मिली। इसे निम्न आगार में केवल २१ स्थान प्राप्त हुए जब कि कांग्रेस को १५९ स्थान मिले। दूसरी बात यह कि कांग्रेस ने अधिनियम को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से नहीं अपितु उसे तोड़ने के लिये चुनाव लड़े थे। यह अधिनियम को अस्वीकृत कर चुकी थी, अतः ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करके इसे अमल में लाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। मुस्लिम लीग तथा अन्य दलों का रुख दूसरा था, ये इसे तोड़ना नहीं चाहते थे पर इसके द्वारा दिये गये अवसरों का अधिक से अधिक फायदा उठाना चाहते थे। इस भिन्न दृष्टि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोण का एक विशेष परिणाम हुआ जो शीघ्र ही स्पष्ट हो जायेगा।

पद-ग्रहण पर विवाद :— चुनाव में आशातीत सफलता प्राप्त करने के बाद कांग्रेस के सामने समस्या उपस्थित हुई कि प्रान्तीय धारा सभाओं में उपस्थित कांग्रेसी बहुमत का किस प्रकार अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। कांग्रेस में उस समय दो विचारों के नेता थे। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, सरदार पटेल और बाबू राजेन्द्र प्रसाद का विचार था कि स्वतंत्रता संग्राम में कांग्रेस की स्थिति को मज़बूत बनाने के लिये नवीन संविधान के मातहत कांग्रेस को पद ग्रहण कर लेना चाहिये। दूसरी ओर पण्डित जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस आदि नवयुवक कांग्रेसी नेता थे जो पद-ग्रहण के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि पदग्रहण से कांग्रेस में से क्रान्तिकारी उत्साह जाता रहेगा और वह अपने उद्देश्य से गिर जायगी। उनकी राय में प्रान्तीय धारासभाओं में उपस्थित कांग्रेसी बहुमत का सब से अच्छा प्रयोग यह था कि उस के सहारे दूसरे दलों के मंत्रिमण्डल न बनने दिये जायें। दोनों पक्षों में विवाद बहुत तेज़ हो चला। महात्मा गांधी ने इस समय बीच में पड़कर दोनों पक्षों के सामने एक समझौते का प्रस्ताव रक्खा जिस पर दोनों राजी हो गये और इसी के आधार पर १३ मार्च १९३७ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया। इसने उन प्रान्तों में जिनकी धारासभाओं में कांग्रेस बहुमत में थी, पदग्रहण की स्वीकृति देदी बशर्ते कि धारासभाओं के कांग्रेसी दलों के नेता सन्तुष्ट हों और सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर सकें कि गवर्नर अपनी हस्तक्षेप की विशेष शक्तियों का प्रयोग न करेंगे और वैधानिक प्रश्नों पर मंत्रियों द्वारा दिये गये परामर्श को न ठुकरायेंगे। संक्षेप में कांग्रेस की यह मांग थी कि गवर्नर लोकप्रिय मंत्रियों के साथ वैधानिक प्रमुख का सा व्यवहार करें और उन मामलों में भी मंत्रियों के परामर्श के अनुसार चलें जिनमें उन्हें अपने विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय को प्रयोग करने का अधिकार था। 9076

बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रान्त में मंत्रिमंडल निर्माण के लिये बुलाये जाने पर कांग्रेसी दलों के नेताओं ने जब गवर्नरों से इस प्रकार का आश्वासन मांगा तो गवर्नरों ने इसे देने से इन्कार कर दिया। उनकी राय थी कि अधिनियम द्वारा दी गई शक्तियों का परित्याग करने की शक्ति उन्हें नहीं थी, संविधान में संशोधन करके ही यह किया जा सकता था। महात्मा जी उनके इस विचार से असहमत थे; उनकी राय थी कि गवर्नर आसानी से अपनी शक्तियों को न प्रयोग करने की प्रथा डाल सकते थे। ग्रेट ब्रिटेन का वैधानिक विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी भी सरकारी पदाधिकारी की शक्ति उसके अप्रयोग के कारण मर जाती है।

पंजाब, बंगाल, सिन्ध, आसाम और उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त के गैरकांग्रेसी बहुमत दलों के नेताओं ने इस प्रकार के आश्वासनों की मांग नहीं की, परिणामतः वहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकप्रिय मंत्रिमंडलों ने पहली अप्रैल १९३७ से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। जिन प्रान्तों की धारासभाओं में कांग्रेस बहुमत में थी उनमें गवर्नरों ने अल्पसंख्यक दलों में से, जो संविधान को कार्यान्वित करने के पक्ष में थे, मंत्री चुन लिये। क्योंकि ये मंत्री अस्थायी रूप से चुने गये थे, इन प्रान्तों में अस्थायी मंत्रिमंडलों ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। ये प्रान्तीय धारासभाओं के निम्न आगार का, जिनका अधिवेशन ६ महीने के भीतर बुलाया जाना था, कभी भी विश्वास प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते थे और इसीलिये इनका जीवन ६ महीने से अधिक न था।

कांग्रेस का पदग्रहण का निश्चय :— अस्थायी मंत्रिमंडलों की नियुक्ति एक 'कामचलाऊ' व्यवस्था थी। लेजिस्लेटिव असेम्बलियों के अधिवेशन को कुछ समय के लिये टाल कर इन मंत्रिमंडलों को काम करने के लिये जो समय दिया गया उसमें कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार दोनों को अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने का अवसर मिल गया। आखिर में २१ जून को गवर्नर-जनरल लॉर्ड लिनलिथगो ने अपने ब्राडकास्ट भाषण में यह घोषणा की कि प्रान्तीय स्व-शासन में गवर्नर, मंत्रियों के क्षेत्र से सम्बन्धित सब विषयों में, जिनमें अल्पसंख्यकों की स्थिति तथा सर्विसेज़ भी सम्मिलित हैं, सामान्यतया मंत्रियों के परामर्श के अनुसार ही कार्य करेंगे और वे ब्रिटिश संसद के प्रति नहीं अपितु प्रान्तीय धारासभाओं के प्रति उत्तरदायी होंगे। इस प्रकार इस विवादग्रस्त प्रश्न का अन्त हुआ। लॉर्ड लिनलिथगो ने यह भी कहा कि अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कार्यपालिका के समस्त विषयों पर जिनमें गवर्नर के उत्तरदायित्व सम्बन्धी विषय भी सम्मिलित हैं, मंत्री लोग गवर्नर को परामर्श दे सकेंगे और उन मामलों को छोड़कर जिनमें गवर्नरों को विशेष रूप से अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना होगा, गवर्नरों के लिये उनके परामर्श को मानना अनिवार्य होगा। उन्होंने भारत में संसदीय शासन के सिद्धान्तों को लागू और प्रचलित करने के लिये अथक परिश्रम करने का भी विश्वास दिलाया। यद्यपि वायसराय का भाषण सांविधानिक दृष्टि से कांग्रेस के प्रति किसी प्रकार के आत्मसमर्पण का द्योतक न था, इसमें समझौते की इच्छा की पूरी झलक थी और कांग्रेस कार्य समिति ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया। ७ जौलाई १९३७ को कार्य समिति ने अपनी वर्धा बैठक में इसके सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया जिसका निम्न अंश उद्धरणीय है: 'तथापि कार्य समिति अनुभव करती है कि उसके बाद से हुई घटनाओं के परिणामस्वरूप पैदा हुई स्थिति इस बात का विश्वास दिलाती है कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे। समिति ..... निश्चय करती है कि कांग्रेसजनों को उन प्रान्तों में जहाँ उन्हें मंत्रिमंडल बनाने के लिये आमंत्रित किया जाय पद ग्रहण करने की अनुमति दे दी जाय पर वह साथ ही यह बात भी स्पष्ट कर देना चाहती है कि पदग्रहण कांग्रेस चुनाव घोषणापत्र में निर्दिष्ट बातों के अनुसार तथा कांग्रेस की नये अधिनियम को तोड़ने की और अपने रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने की नीति पर अमल करने के उद्देश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही किये जाने चाहियें।'

यह प्रस्ताव क्रान्तिकारी था; कांग्रेस के इतिहास में इसने एक नये अध्याय का प्रारम्भ किया। अब तक कांग्रेस एक लड़ने वाली संस्था रही थी जिसकी सम्पूर्ण शक्ति देश को एक विदेशी शासन के पंजे से छुड़ाने में व्यय हुई थी; अब पहिली बार इसने ६ प्रांतों में प्रशासन के संभालने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। पर इसका अर्थ यह न था कि कांग्रेस ने स्वातन्त्र्य संग्राम समाप्त कर दिया था; कार्य समिति के प्रस्ताव से स्पष्ट है कि पदग्रहण कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने और अधिनियम से लड़ने के दोहरे उद्देश्य से किये गये थे। यह प्रस्ताव महात्मा गाँधी की राजनीतिक दूरदर्शिता, योग्यता तथा अन्तर्दृष्टि का परिचायक है जो इसकी 'आश्वासन सम्बन्धी' धारा के प्रस्तावक एवं रचयिता थे। यद्यपि गवर्नरों ने नियमित रूप से कोई आश्वासन नहीं दिया था, विवाद के परिणामस्वरूप संविधान की सीमाएं पहिले से बहुत विस्तृत हो गईं। उत्तरदायी शासन की परछाईं जो १९३५ के अधिनियम ने हमें दी थी, वास्तविक लोकप्रिय स्व-शासन में परिवर्तित हो गई।

लीग के साथ गठबन्धन नहीं :— कांग्रेसजनों को पदग्रहण की स्वीकृति देने के निश्चय ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा कर दिया; प्रश्न था, क्या बंगाल, आसाम और पंजाब में कांग्रेस दूसरे दलों के साथ मिलकर संयुक्त मंत्रिमंडल बना सकती है? इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न जो इस समय पैदा हुआ वह यह था कि क्या कांग्रेस को संयुक्त प्रान्त और बिहार आदि प्रान्तों में जहाँ उसका बहुमत था 'मुस्लिम लीग' के सदस्यों को भी अपने मंत्रिमंडलों में स्थान देना चाहिये? पर्याप्त विचार के बाद प्रशासन के कार्य के साथ अधिकाधिक दलों का संयोग वाञ्छनीय समझा गया और सिद्धान्ततः संयुक्त मंत्रिमंडलों को आपत्तिजनक नहीं माना गया। तथापि कांग्रेस ने संयुक्त मंत्रिमंडलों के विरुद्ध ही निश्चय किया। कारण यह था कि कांग्रेस ने दो उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए पद ग्रहण किये थे; एक तो वह धारासभाओं का अपने रचनात्मक कार्यक्रम को चरितार्थ करने के लिये प्रयोग करना चाहती थी और दूसरा स्वतन्त्रता संग्राम को भी जारी रखना चाहती थी। इस दोहरे उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्नों में उसकी गवर्नरों, बड़े सरकारी पदाधिकारियों, तथा कृषि एवं श्रम सम्बन्धी प्रश्नों पर भूमि और व्यवसाय के निहित स्वार्थों से, जो एक प्रकार से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि थे, टक्कर होनी अवश्यम्भावी थी। यदि इस अवस्था में कांग्रेस मंत्रिमंडलों में ग़ैर-कांग्रेसियों को सम्मिलित कर लिया जाता तो इस बात का पूरा भय था कि ये लोग कहीं कांग्रेस के सामाजिक क़ानूनों के कार्यक्रम को धीमा अथवा निरर्थक न कर दें तथा उसे रोकने या स्थगित करने की कोशिश न करें। लीग के साथ कांग्रेस का गठबन्धन उसे शक्तिशाली बनाने के स्थान पर और शक्तिहीन ही बनाता। 'यह भी सम्भव था कि लीगी मंत्री अन्य मंत्रियों के विरुद्ध गवर्नर के साथ मिलकर साजिश करते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता थी। इस मोर्चे में कोई फटाव हमारे लिये अत्यन्त हानिकर था। उस समय सब मंत्रियों को परस्पर जोड़ने वाली कोई चीज़ न होती, उनके सामने एक सामान्य उद्देश्य और वफादारी की सामान्य भावना भी न होती और वे भिन्न भिन्न दिशाओं में चलते।'* संक्षेप में, यह अनुभव किया गया कि यदि कांग्रेस इकली रहेगी तो वह अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगी। तथापि कांग्रेस ने लीगियों से कांग्रेस का सदस्य होने तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति और जन-साधारण के भाग्य को बेहतर बनाने के लिये कांग्रेस के साथ मिल कर कार्य करने का अनुरोध किया।

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में ग़ैर-कांग्रेसियों को सम्मिलित न करने का निश्चय तर्क-सम्मत एवं ठीक होते हुए भी परिणामों की दृष्टि से बहुत भयंकर साबित हुआ। इससे मुस्लिम लीग के उन सदस्यों को घोर निराशा हुई जो कांग्रेस मंत्रिमंडलों में मंत्री होने की आशा कर रहे थे। परिणामतः इसने उनमें कांग्रेस से पृथक् रहने की भावना को पैदा किया और वे कांग्रेस की आलोचना करने लगे। श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने बताया कि कांग्रेसी सरकारों से मुसलमानों को न तो न्याय की आशा करनी चाहिये और न ईमानदारी की। इस प्रकार लीग प्रतिदिन कांग्रेस से दूर हटती चली गई और हिन्दू-मुस्लिम समस्या घनीभूत होती गई। इस प्रकार आगामी वर्षों में हिन्दू मुसलमानों में जो तनातनी और वैमनस्य बढ़ा और जिसकी वजह से अन्त में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की, वह कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में मुसलमानों को स्थान न देने का ही सीधा परिणाम था।

प्रान्तीय स्व-शासन का कार्यान्वित रूप :— कांग्रेस के पदग्रहण के निश्चय के एकदम बाद ही कांग्रेस-बहुमत में प्रान्तों अस्थायी मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिये और कांग्रेस ने जुलाई में अपने मंत्रिमंडल बना लिये। कुछ मास बाद उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी कांग्रेस मंत्रिमंडल स्थापित हो गया। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के निर्माण के बाद ही इन प्रान्तों में संविधान ने वस्तुतः कार्य करना प्रारम्भ किया। वे अक्तूबर १९३९ तक अपना कार्य करते रहे जब उन्होंने युद्ध के प्रश्न पर ८ प्रान्तों में त्यागपत्र दे दिये। इन २८ महीनों में प्रान्तीय कार्यपालिकाओं ने आशातीत सफलता से कार्य किया। गवर्नरों ने मंत्रियों के कार्य में कम से कम हस्तक्षेप किया; बहुत ही कम अवसरों पर गवर्नरों ने अपने विशेष उत्तरदायित्वों का प्रयोग किया। अधिकांश कांग्रेसजन इसका श्रेय उस 'भद्र पुरुष के समझौते' को देते हैं जो ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस में गवर्नरों की शक्तियों के न प्रयोग किये जाने के विषय में हुआ था। महात्मा गाँधी के शब्दों में गवर्नरों ने अपना कार्य अच्छी तरह निभाया। भारतीय सिविल सर्विस ने भी मंत्रियों की योजनाओं को कार्यान्वित करने में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। यह भविष्यवाणी कि प्रान्तीय स्व-शासन को कार्यान्वित करने में नौकरशाही सहयोग न देगी, झूठी साबित हुई। दूसरी तरफ मंत्रियों ने भी बहुत संयत रूप से कार्य किया और 'अवरोध' (deadlock) पैदा करने

* जवाहरलाल नेहरू: 'दि डिस्कवरी आफ इण्डिया', पृष्ठ ३१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उद्देश्य से कोई समस्याएँ उपस्थित नहीं कीं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिये कि गवर्नरों की रुकावटों के डर से कांग्रेस मंत्रियों ने अपनी नीतियों का अनुसरण नहीं किया। कई अवसरों पर गवर्नरों और मंत्रियों में मतभेद भी पैदा हुए; संयुक्त प्रान्त और बिहार में राजनीतिक बन्दियों के प्रश्न पर दोनों में बहुत तनातनी बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप मंत्रियों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया। पर शीघ्र ही मतभेद दूर हो गया और मंत्री लोग फिर अपने पदों पर वापिस आ गये। उड़ीसा में भी इसी प्रकार का संकट पैदा हुआ पर वह भी शीघ्र दूर हो गया। क़ानून के क्षेत्र में प्रान्तीय धारा-सभाओं द्वारा पास किये गये अधिकांश विधेयकों पर गवर्नरों ने अपनी स्वीकृति दी। सिर्फ चार विधेयक थे जिन पर उन्होंने अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने प्रान्तों में अमन, चैन क़ायम रखने तथा कानून व व्यवस्था की समस्या को, जो साम्प्रदायिक झगड़ों तथा किसानों व मज़दूरों के असन्तोष के कारण बहुत संगीन हो गई थी, किस प्रकार हल किया और उसने शिक्षा, शराबबन्दी, तथा कृषि-सुधार के क्षेत्रों में क्या सफलता प्राप्त की इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना आवश्यक जान पड़ता है। हम यहाँ कूपलैंड को उद्धृत करना ही पर्याप्त समझते हैं। वह लिखता है: 'अधिकांश में यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस के मंत्रिमंडलों का कार्य ऐसा था कि कांग्रेस उस पर गर्व कर सकती थी। उसके नेताओं ने दिखा दिया कि जहाँ वे बात करना जानते थे वहाँ वे काम भी कर सकते थे, जहाँ वे आन्दोलन करना जानते थे वहाँ वे प्रशासन में भी किसी से कम न थे और उनमें तथा उनके सहयोगियों में सामाजिक सुधारों के लिये उत्साह की कमी न थी।'*

जनसाधारण पर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना के प्रभाव के बारे में भी कुछ शब्द कहना यहाँ ज़रूरी है। पंडित जवाहरलाल नेहरू इसके विषय में लिखते हैं: 'परन्तु मनोवैज्ञानिक परिवर्तन बहुत बड़ा था, देहातों में मानों बिजली सी दौड़ गई थी। शहरों की अपेक्षा देहाती इलाकों में यह परिवर्तन अधिक स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता था, यद्यपि शहरों में कारखानों के मज़दूर भी यही अनुभव कर रहे थे। जनता को ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसकी गर्दन पर रक्खा हुआ भारी बोझ किसी ने हटा दिया था; एक लम्बे अरसे से दबी हुई जनशक्ति सर्वत्र प्रवाहित हो रही थी। कुछ समय के लिये सामान्य एवं खुफिया पुलिस का भय जाता रहा और ग़रीब से ग़रीब किसान में भी आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता के गुण प्रादुर्भूत हो गये। प्रथम बार उसने अनुभव किया कि उसका भी कोई अस्तित्व है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।'†

पर बंगाल और पंजाब में जहाँ पर 'सामान्य एवं खुफिया पुलिस के राज' में कोई शिथिलता नहीं आई थी और राजनीतिक बन्दी रिहा नहीं हुए थे, नवजीवन के चिह्न

* कूपलैंड: 'इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट', पृष्ठ १६०--१६२

† जवाहरलाल नेहरू: 'डिस्कवरी आफ इण्डिया', पृष्ठ ३१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिगोचर नहीं होते थे। पंजाब में सब बातें पहिले की तरह चलती रहीं और बंगाल में हज़ारों आदमी बग़ैर मुक़दमों के नज़रबन्द कर लिये गये। कांग्रेसी और ग़ैरकांग्रेसी प्रान्तों में नये अधिनियम के कार्यान्वित रूप में बहुत अन्तर था।

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का त्यागपत्र :— देश के प्रशासन कार्य से कांग्रेस का संयोग, जिसके अनेक भले परिणाम हुए, अक्तूबर १९३९ को समाप्त हुआ जब कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने युद्ध के प्रश्न पर अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये। इसके कारणों तथा प्रभावों पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि इनके त्यागपत्रों के साथ देश में ८ प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का अन्त हो गया और गवर्नरों ने अधिनियम की धारा ९३ के मातहत शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ अपने हाथों में ले लीं। दो प्रान्तों में बाद में ग़ैरकांग्रेसी मंत्रिमंडल स्थापित हो गये— एक तो १९४१ के अन्त में उड़ीसा में और दूसरा १९४३ की बसंत में उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त में। शेष ६ प्रान्तों में १९४६ तक गवर्नरों का शासन कायम रहा जबकि नये चुनावों के परिणामस्वरूप फिर लोकप्रिय सरकारें स्थापित हो गईं। १९३९ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र और १९४६ में फिर से पदग्रहण करने के बीच में जो घटनाक्रम रहा उसका ज़िक्र अगले अध्याय में किया जायगा।

कूपलैंड की समालोचना :— यह बहुत स्पष्ट है कि भारतीयों की दृष्टि से १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का सबसे बड़ा दोष प्रान्तीय क्षेत्र में गवर्नरों की विशेष शक्तियाँ तथा उत्तरदायित्व थे जिन्होंने शक्ति को जनता के हाथ में जाने से रोका। कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच में हुए 'भद्र पुरुषों के समझौते' के परिणामस्वरूप इस दोष को पर्याप्त अंश में दूर कर दिया गया। गवर्नरों ने प्रशासन में हस्तक्षेप करने की अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं किया और सामान्यतया जनप्रिय मन्त्रियों के परामर्श पर कार्य किया। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि प्रान्तों में पर्याप्त अंश में उत्तरदायी अथवा लोकप्रिय शासन ने कार्य किया। पर प्रोफेसर कूपलैंड का कथन है कि 'केन्द्रीय काँग्रेस की एकात्मक नीति' के कारण प्रान्तीय स्व-शासन व उत्तरदायी संसदीय सरकार दोनों के ही सिद्धान्तों का पूर्णरूप से हनन हुआ।* यह सत्य है कि कांग्रेस हाई कमाण्ड का प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों पर पूर्ण नियन्त्रण था; १९३७ में कांग्रेसी दलों के नेताओं का प्रान्तों में आश्वासन दिये जाने तक मंत्रिमंडल बनाने से इन्कार करना, तीन महीने बाद मन्त्रिमण्डल बनाने की इच्छा प्रकट करना, और १९३९ में ऐसे प्रश्न पर अपने पदों से त्यागपत्र दे देना जिसका उनकी शक्तियों के गवर्नर द्वारा प्रयुक्त किये जाने से कोई सम्बन्ध नहीं था, ये सब बातें 'केन्द्रीय कांग्रेस की एकात्मक नीति' का प्रमाण हैं। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि ब्रिटेन में केन्द्रीय मज़दूर पार्टी की राष्ट्रीय कार्य समिति संसद स्थित मज़दूर दल पर जितना नियंत्रण करती है, उससे यह नियंत्रण कहीं अधिक था। पर

*कूपलैंड : 'इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट', पृष्ठ १६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह नियन्त्रण तत्कालीन अवस्थाओं में आवश्यक था; कांग्रेस में आन्तरिक अनुशासन और उसकी पूर्णता को बनाये रखने के लिये और साथ ही संकीर्ण प्रान्तीयता को रोकने के लिये यह अत्यन्त ज़रूरी था। पर यह प्रान्तीय स्व-शासन अथवा संसदीय सरकार का निषेध न था। यद्यपि कांग्रेस हाई कमाण्ड ने प्रान्तों के कांग्रेसी मन्त्रिमन्डलों की सामान्य नीतियों को निर्धारित किया, उनके आन्तरिक प्रशासन के मामलों में उसने दख़ल नहीं दिया। कांग्रेस द्वारा शासित प्रान्तों में कुछ सामान्य एवं एकसम नीतियों के विकास के आधार पर यह कहना एक बड़ी भूल होगी कि वहाँ प्रान्तीय स्व-शासन एवं संसदीय शासन दोनों के सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे दी गई।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग ४

स्वराज प्राप्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५

द्वितीय विश्व युद्ध तथा गतिरोध

विषय परिचय :— प्रथम विश्व युद्ध की भांति द्वितीय विश्व युद्ध ने भी, जोकि सितम्बर १९३९ में आरम्भ हुआ था, भारत की राजनीतिक स्थिति पर ज़बर्दस्त प्रभाव डाला। इसका तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि आठ प्रान्तों में कांग्रेस मंत्री-मण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये और उत्तरदायी शासन के स्थान में गवर्नरों का निरंकुश शासन स्थापित हो गया। कांग्रेस मंत्री-मण्डलों ने त्यागपत्र क्यों दिया, इस विषय में दो शब्द यहाँ कह देना आवश्यक होगा।

युद्ध के प्रति कांग्रेस का रुख :— सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व भी संसार के विभिन्न भागों में साम्राज्यवादी आक्रमण हो चुके थे। स्पेन के गृहयुद्ध में नाज़ी और फासिस्ट लोग सक्रिय हस्तक्षेप कर रहे थे। भारत ने स्पेन की रिपब्लिकन पार्टी के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की और नाज़ी और फासिस्टों द्वारा गृहयुद्ध में भाग लिये जाने की घोर निन्दा की। उसने चीन में जापान के सैनिक आक्रमण की भी निन्दा की और चीन में चिकित्सा सम्बन्धी सहायता के लिये एक शिष्टमंडल भेजकर उसके साथ अपनी सहानुभूति का परिचय दिया। इन बातों से स्पष्ट है कि कांग्रेस नाज़ीवाद, फासिस्टवाद तथा जापानी सेनावाद के सख्त विरुद्ध थी। यहाँ इस बात का ज़िक्र करना भी ज़रूरी है कि कांग्रेस ने हिटलर और मुसोलिनी को प्रसन्न करने की ब्रिटिश नीति का भी प्रारम्भ से विरोध किया था। दूसरी तरफ कांग्रेस ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि वह भारत के किसी साम्राज्यवादी युद्ध में शरीक किये जाने के विरुद्ध है और चाहती है कि उसे उसकी जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों की राय के बग़ैर किसी युद्ध में न सम्मिलित किया जाय और न उसकी राय के बिना भारतीय सेना को विदेशों में लड़ने के लिये ही भेजा जाय। इस स्पष्ट वक्तव्य के बावजूद जैसे ही महायुद्ध का धक्का इग्लैंड पहुँचा, 'चैम्बरलेन की सरकार ने भारत के साथ वैसा ही बर्ताव किया जैसा ब्रिटिश सरकार ने उसके साथ अतीत में अनेक बार किया था। अगस्त में भारतीय फौजें मिश्र, अदन तथा सिंगापुर भेज दी गईं। बातों को गुप्त रखने की आवश्यकता थी, इसलिये मत, वाद-विवाद तथा भारतीय जनता के किसी भी प्रतिनिधि की राय लिये बिना अधिकारियों ने अपनी इच्छानुसार कार्य किया। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सिपाहियों को संसार में उसी प्रकार घुमाया जिस प्रकार शतरंज के खेल में प्यादों को इधर उधर घुमाया जाता है, हालांकि इस लड़ाई से भारतीयों का विशेष सम्बन्ध न था।'* युद्ध-

* ब्रेलसफोर्ड : 'पराधीन भारत', पृष्ठ ४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालीन संकट के समय समस्त शक्तियों को केन्द्रीय सरकार को देने के उद्देश्य से १९३५ के अधिनियम में संशोधन करने के प्रयत्न भी किये जा रहे थे। यह सब प्रान्तीय धारा-सभाओं और मंत्रिमंडलों से पूछे बगैर ही हो रहा था यद्यपि यह प्रान्तीय स्व-शासन के क्षेत्र पर हमला था और उनकी शक्तियों को कमज़ोर करने वाला था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसे बहुत बुरा माना और ब्रिटिश सरकार के व्यवहार के विरोध स्वरूप इसने कांग्रेसी सदस्यों को केन्द्रीय असेम्बली के आगामी अधिवेशन में उपस्थित न होने का आदेश दिया। इस भय से कि कहीं पहिले की तरह भारत को उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों की राय के बिना युद्ध में न घसीट लिया जाय कांग्रेस कार्य समिति ने यूरोप में युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अगस्त १९३९ में एक प्रस्ताव पास किया। इसमें, जहाँ एक तरफ, इसने नाज़ी एवं फासिस्ट आक्रमणों की निन्दा की तथा स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र व्यवस्था के लिये लड़ने वाली जातियों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की, दूसरी तरफ इसने युद्ध में ब्रिटिश सरकार के साथ किसी प्रकार का भी सहयोग न देने की घोषणा की। प्रस्ताव के शब्द थे: 'भारत ऐसी सरकार के साथ न सहयोग कर सकता है और न उसे लोकतन्त्रात्मक स्वाधीनता के लिये, जिससे उसे वञ्चित रक्खा जा रहा है, जन व धन आदि से सहायता करने को कहा जा सकता है।'

१९१४ में भी ब्रिटिश सम्राट् द्वारा भारत से की गई अपील का भारत ने उत्तर दिया था पर उस हार्दिक एवं स्वाभाविक उत्तर में और कांग्रेस के इस रुख में ज़मीन आसमान का अन्तर था। लार्ड रीडिंग और लार्ड विलिंगडन की सरकारों ने जिस निर्दयता से भारत के स्वाधीनता संग्राम को कुचलने की कोशिश की थी और जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने दूसरे गोल मेज़ सम्मेलन के दौरान में और उसके बाद भारत के मामलों को सुलझाने का प्रयत्न किया था, यह उसी सब का परिणाम था। क्योंकि वह स्वयं स्वतन्त्र न था अतः राष्ट्रीय भारत अपने मालिकों के कहने पर दूसरों की स्वतन्त्रता के लिये लड़ने को तय्यार न था। इसी लिये लार्ड लिनलिथगो ने कांग्रेस के नेताओं अथवा विभिन्न धारासभाओं में उपस्थित निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियों से परामर्श किये बगैर युद्ध में ब्रिटेन तथा उसके साथियों की तरफ भारत के शरीक होने की घोषणा की तो कांग्रेस कार्यसमिति ने १४ सितम्बर १९३९ को अपनी एक बैठक की और उसमें इसके विरुद्ध एक बहुत लम्बा प्रस्ताव पास किया। इसमें समिति ने पोलैण्ड में नाज़ी आक्रमण की निन्दा की और इसके पीड़ितों के साथ हमदर्दी ज़ाहिर की। इसमें इसने युद्ध को सफलतापूर्वक चलाने के लिये सहयोग देने की उत्सुकता भी प्रकट की बशर्ते कि समिति को यह विश्वास करा दिया जाय कि युद्ध लोकतन्त्र तथा इस पर आधारित व्यवस्था की रक्षा के लिये लड़ा जा रहा है। साथ ही समिति ने यह भी बताया कि यदि युद्ध साम्राज्यवादी उद्देश्यों व प्रयोजनों की रक्षार्थ लड़ा जा रहा है तो उसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं और वह सरकार द्वारा देश पर थोपे गये किसी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चय का पूर्ण विरोध करेगी। यह घोषित करके कि यदि ग्रेट ब्रिटेन लोकतन्त्र व्यवस्था की रक्षा व प्रसार के लिये लड़ रहा है तो उसे सबसे पहिले अपने अधीनस्थ देशों में साम्राज्यवाद का अन्त करना चाहिये ..... और स्वतन्त्र भारत आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक रक्षा तथा आर्थिक मामलों में अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों को पूर्ण सहयोग देगा, प्रस्ताव ने भारत को सारी समस्याओं का केन्द्रबिन्दु बना दिया। समिति ने ब्रिटिश सरकार से स्पष्ट शब्दों में लोकतन्त्र व्यवस्था, साम्राज्यवाद तथा संसद की भावी राजनीतिक व्यवस्था के विषय में युद्ध के उद्देश्यों और विशेषकर इस बात पर प्रकाश डालने का अनुरोध किया कि भारत में इन्हें किस प्रकार लागू किया जायगा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि कांग्रेस ने बिटिश सरकार से भारत के स्वतन्त्र कर देने की घोषणा करने और उस पर तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप अमल करने को कहा। उसने साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि भविष्य के लिये की गई सिर्फ प्रतिज्ञाएँ ही उसे सन्तुष्ट न कर पायेंगी, यह विश्वास दिलाने के लिये कि इन्हें वह समय आने पर पूरा करेगी उसे तत्काल भी भारत को कुछ देने की ज़रूरत है। केन्द्र में राष्ट्रीय अथवा लोकप्रिय सरकार की स्थापना ही एकमात्र ऐसी चीज़ थी जिससे भारतीयों को ब्रिटिश सरकार की नेकनीयती पर विश्वास आ सकता था।

कांग्रेस कार्य समिति ने यह प्रस्ताव पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरान्त इस आशा में पास किया था कि घटना-चक्र का दबाव ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को भारत की समस्या को दूरदर्शिता के साथ हल करने और भारत और इंग्लैण्ड के झगड़ों को समाप्त करने के लिये मजबूर करेगा और इस प्रकार भारतीयों को युद्ध में उत्साहपूर्वक सहयोग देने का अवसर मिलेगा। पर होनी दूसरी ही बात थी। ब्रिटिश सरकार ने अपने युद्ध-उद्देश्यों को स्पष्ट शब्दों में संसार के सामने रखने में टालमटोल करनी शुरू की। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने बताया कि ब्रिटेन के युद्ध का तात्कालिक उद्देश्य आत्म-रक्षा है। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य ने कहा कि ब्रिटेन का वर्तमान उद्देश्य सिर्फ युद्ध जीतना है। भारत की केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की मांग के उत्तर में वायसराय ने सिर्फ ५० भारतीय नेताओं को वाद-विवाद के लिये आमंत्रित किया और देश का लोकमत जानने की कोशिश की। इस वादविवाद के बाद उसने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की इस घोषणा को दोहराया गया कि इंग्लैड का लड़ाई में पड़ने का उद्देश्य अपने लिये कोई व्यक्तिगत लाभ उठाना नहीं पर विश्व में एक बेहतर राजनीतिक व्यवस्था तथा चिरस्थायी शांति स्थापित करना है। स्वाधीनता की मांग के उत्तर में वायसराय ने लार्ड इरविन के शब्दों को दोहराते हुए बताया कि भारत में ब्रिटिश नीति का उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना है। भारत को इस उद्देश्य तक पहुँचाने के लिये ब्रिटिश सरकार १९३५ के अधिनियम में आवश्यक परिवर्तन करने और उन परिवर्तनों के सम्बन्ध में भारत के अनेक सम्प्रदायों, दलों व हितों तथा भारतीय नरेशों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रतिनिधियों से परामर्श लेने को तय्यार है। इस दिशा में तत्काल कार्यवाही करने के लिये उसने भारत की एक 'सलाहकार परिषद' स्थापित करने का सुझाव रक्खा जो भारतीय लोकमत को युद्ध के साथ रख सके। यह वक्तव्य १७ अक्तूबर को प्रकाशित किया गया था। यह कहना अनावश्यक है कि इसने कांग्रेस को बिल्कुल भी संतुष्ट नहीं किया। महात्मा जी का यह कथन कि 'अगर ब्रिटेन का बस चला तो भारत में लोकतंत्र कभी भी स्थापित नहीं हो सकेगा' कांग्रेस की प्रतिक्रिया का ही द्योतक है। २२ अक्तूबर १९३९ को कार्य समिति ने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग न करने का निश्चय किया और उसके अनुसार कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को त्यागपत्र दे देने का आदेश दिया। जिन कारणों से प्रेरित होकर कार्य समिति ने यह महत्त्वपूर्ण निश्चय किया उनके विषय में भी कुछ शब्द कहना आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि यह भी इससे पहिले १४ सितम्बर को पास किये गये प्रस्ताव की तरह ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत के लिये एक इशारा था।

लीग का रुख :— अगले घटना चक्र का वर्णन करने से पूर्व यहाँ दो शब्द हम इस विषय में कहेंगे कि युद्ध के प्रति लीग का क्या रुख रहा और उसने क्या क्या पेचीदगियां उत्पन्न कीं। उसकी कार्यसमिति ने १८ सितम्बर को युद्ध के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया। उसने मित्र राष्ट्रों (Allies) के प्रति अपनी गहरी सहानुभूति प्रकट की और उन्हें युद्ध में पूर्ण सहायता का विश्वास दिलाया। किन्तु इसके लिये उसकी मांग यह थी कि कांग्रेस द्वारा शासित प्रान्तों में मुसलमानों के साथ पूरा न्याय किया जाय और उन्हें यह आश्वासन दिलाया जाय कि मुस्लिम लीग की रज़ामन्दी के बिना भारत के लिये कोई नवीन संविधान नहीं बनाया जायेगा।

लीग की कार्य समिति ने वायसराय के १७ अक्तूबर के वक्तव्य को ठुकराया नहीं, बल्कि 'प्रतीक्षा करो और देखो' की नीति उसने अपनाई। उसने भारत के मुसलमानों की ओर से पूर्ण सहायता और सहयोग का आश्वासन फिर दोहराया बशर्ते कि उसके १८ सितम्बर वाले प्रस्ताव में कही गई दोनों बातों पर उसे संतोषजनक आश्वासन दे दिया जाय।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र तथा तदुपरान्त :— १७ अक्तूबर के वायसराय के वक्तव्य से कांग्रेस को यह पूर्णतया विदित हो चुका था कि बिटिश सरकार केन्द्र में किसी भी सूरत में भारतीयों को शक्ति हस्तान्तरित करने को तैयार न थी और वह भारत से जिस प्रकार के सहयोग की आशा कर रही थी वह दो समकक्ष अथवा समान स्थिति के मित्रों का सहयोग न होकर मालिक और नौकर का सहयोग था जिसमें नौकर को मालिक के इशारे पर नाचना था। कांग्रेस अपने अतीत इतिहास का गला घोटे बगैर तो इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह थी कि १९३५ के अधिनियम में किये गये संशोधन ने सारी शक्ति को गवर्नर-जनरल के हाथ में केन्द्रित करके प्रान्तीय मंत्रिमंडलों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति को बहुत विषम बना दिया था। या तो अब वह कदम कदम पर गवर्नर के हस्तक्षेप को बर्दाश्त करते या फिर उससे हर क्षण लड़ते और झगड़ते। कुछ व्यक्तियों का मत था कि कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को स्वयं पद-त्याग नहीं करने चाहियें और शासन को पहिले की तरह चलाने की कोशिश करनी चाहिये; गवर्नर चाहे तो उन्हें बेशक उनके पदों से बर्खास्त करदे। पर जब यह स्पष्ट हो गया कि प्रान्तीय मंत्रिमंडल जनता की इच्छाओं के अनुसार नहीं चल सकते तो कांग्रेस कार्य समिति ने त्यागपत्र देने के सीधे रास्ते का अनुसरण करना ही अच्छा समझा। इसके अनुसार ८ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये। गवर्नरों ने इन त्यागपत्रों को स्वीकार कर लिया और अल्पसंख्यक दलों के मंत्रिमंडल बनाने का प्रयत्न नहीं किया। लोकतन्त्रात्मक पद्धति का तो यह तकाज़ा था कि उन्हें इस समय धारासभाओं को विघटित करके नये चुनावों की घोषणा कर देनी चाहिये थी। परन्तु क्योंकि उन्हें मालूम था कि नये चुनावों में कांग्रेस की और भी भारी जीत होगी अतः उन्होंने ऐसा नहीं किया और १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की धारा ९३ के मातहत उच्च न्यायालयों के सिवाय प्रान्तीय शासन की सब शाखाओं की शक्तियाँ अपने हाथों में ले लीं। इस प्रकार प्रान्तों में एक-तन्त्र शासन कायम हो गया। उत्तरदायी शासन के स्थान पर गवर्नरों के निरंकुश शासन की स्थापना इतना बड़ा परिवर्तन था कि इसने 'राज्य के सम्पूर्ण संगठन की भावना, नीति और ढंग को आमूल बदल डाला।'*

इस प्रकार कांग्रेस मंत्रिमंडलों की योजनाएँ बीच ही में स्थगित हो गईं, उनका समाज के पुनर्निर्माण का महान् कार्य समाप्तप्राय हो गया और पुराने दिनों का निरंकुश शासन नग्न-रूप में वापिस लौट आया। इस सब का अर्थ था जनता के दुखों में वृद्धि। 'पुलिस अपनी पुरानी आदतों को आज़ादी से दोहराने लगी क्योंकि उन्हें मालूम था कि यदि उनका आचरण गलत भी होगा तो भी ऊपर से उन्हें बचाया ही जायगा और उनका समर्थन ही किया जायगा।'† लोगों की माँग थी कि कांग्रेस को जनता की मुसीबतों को चुप रहकर बर्दाश्त नहीं करना चाहिये अपितु धारासभाओं और सार्वजनिक हलचलों के दबाये जाने के विरुद्ध कुछ निश्चित कार्यवाही करनी चाहिये। ज्यों ज्यों समय बीतता गया और अवस्था खराब होती गई यह मांग भी अधिक आवश्यक होती गई और रामगढ़ अधिवेशन में कांग्रेस को मजबूर होकर यह निश्चय करना पड़ा कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आश्रय लेने के सिवाय कांग्रेस के पास अब और कोई चारा नहीं रह गया है। तथापि कांग्रेस ने अभी कोई आन्दोलन प्रारम्भ नहीं किया। इसने जनता से इसके लिये तय्यार रहने का ही आग्रह किया।

पूना का सशर्त युद्ध-सहायता सम्बन्धी प्रस्ताव :— इस बीच में युरोप में युद्ध की

* जवाहरलाल नेहरू : 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ३७०

† जवाहरलाल नेहरू : 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ३७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति एकदम बहुत विषम हो गई। जर्मनी ने नारवे पर हमला करके उस के सम्पूर्ण पश्चिमीय समुद्रतट पर अपना कब्ज़ा कर लिया। इसके उपरान्त उसने डेनमार्क, हालैण्ड और बेलजियम पर कब्ज़ा किया और फ्रांस पर भी जबर्दस्त हमला कर डाला। फ्रांस ने शीघ्र घुटने टेक दिये और जर्मनी से एक पृथक् संधि कर ली। इंगलैण्ड की स्थिति स्वयं खतरे में थी। इस स्थिति पर विचार करने के लिये कांग्रेस कार्य समिति की एक बैठक पूना में हुई जिसमें इसने इन यूरोपियन देशों के भाग्य और इंगलैण्ड के खतरे से आन्दोलित होकर ७ जुलाई १९४० को एक प्रस्ताव पास किया जिसमें इसने युद्ध में ब्रिटिश सरकार को सहायता देने का वचन दिया बशर्ते कि वह युद्ध के बाद भारत के पूर्ण स्वाधीनता के अधिकार को स्वीकार करे और इस बीच में यहां एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना पर सहमत हो जिसमें देश के समस्त राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों और जो सरकारी और नामज़द ग़ैर-सरकारी सदस्यों के अतिरिक्त सम्पूर्ण केन्द्रीय असेम्बली के प्रति ज़िम्मेदार हो। यह एक बहुत साधारण सी मांग थी जिसे पूरा करने के लिये सांविधानिक मशीनरी में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता न थी। गवर्नर-जनरल, कमाण्डर-इन-चीफ, और साधारण तथा सैनिक प्रशासन की सम्पूर्ण रचना पूर्ववत् ही रहनी थी, माँग सिर्फ़ यह थी कि शासन के साथ जनता के चन्द प्रतिनिधियों को संयुक्त कर दिया जाये ताकि जन-साधारण में एक नई भावना और नया दृष्टिकोण पैदा हो जाये जिससे सरकार युद्ध के दौरान में जनता की शक्ति एवं उत्साह पूर्णतया प्राप्त कर सके। क्योंकि कांग्रेस का शान्त उपायों एवं अहिंसात्मक नीति में अगाध विश्वास था, यह प्रस्ताव उसकी तरफ से ब्रिटिश सरकार के प्रति एक रियायत थी और इसे पास करते हुए वह महात्मा गाँधी से भी जुदा हो गई थी। गोरे पत्र 'स्टेट्समैन' ने भी इस प्रस्ताव में कोई अव्यवहारिक एवं खतरनाक बात नहीं पाई और लिखा कि यदि ब्रिटिश सरकार इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देगी तो 'यह उसकी डरपोक तथा विनाशक राजनीतिज्ञता का परिचायक होगा जो मौजूदा समय के अनुकूल नहीं कहा जा सकता।' इस सहयोग के प्रस्ताव के उत्तर में ८ अगस्त १९४० को वायसराय ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसे 'अगस्त-योजना' के नाम से कहा जाता है।

अगस्त-योजना :— वायसराय का उपर्युक्त वक्तव्य जो चर्चिल की सरकार की अनुमति से प्रकाशित किया गया था कई दृष्टियों से पहिली घोषणाओं की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ा हुआ था। सबसे प्रथम इसने ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक स्वराज्य सम्बन्धी प्रतिज्ञा को महत्वपूर्ण शब्दों में दोहराते हुए बताया कि 'सम्राट् की सरकार की यह उत्कट इच्छा है कि युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीय जीवन के प्रधान तत्त्वों के प्रतिनिधियों की एक परिषद बिठाई जाय जो नये संविधान की रूपरेखा का निर्माण करे। सरकार का जहाँ तक प्रश्न है वह अपनी शक्ति के अनुसार सभी संगत विषयों पर शीघ्रातिशीघ्र निर्णय करने का प्रयत्न करेगी।' इस प्रकार इसने यूरोप में युद्ध समाप्त होते ही औप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवेशिक आधार पर भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने की घोषणा की। १७ अक्तूबर १९३९ को दिये गये सरकारी वक्तव्य की अपेक्षा, जिसने औपनिवेशिक स्वराज्य को भारत में ब्रिटिश नीति का उद्देश्य घोषित किया था, यह वक्तव्य बहुत आगे बढ़ा हुआ था। दूसरी बात यह कि इसने पहिली बार यह स्वीकार किया कि भारत का संविधान तैयार करने का उत्तरदायित्व भारतीयों पर है; यह राष्ट्रीय जीवन के प्रधान तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले भारतीयों द्वारा बनाया जाना था। अधिकांश में यह संविधान निर्मात्री परिषद बिठाने की उस भारतीय मांग की स्वीकृति थी जो कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के सामने पेश कर चुकी थी। निस्सन्देह इसका अर्थ यह भी लगाया जा सकता था कि सरकार शीघ्र ही दूसरा गोल मेज़ सम्मेलन बुलायेगी; पर कांग्रेस इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकती थी। तथापि इसका वाञ्छित अर्थ लगाना ही बेहतर है। इसके अनुसार ब्रिटिश संसद ने भारत की वैधानिक प्रगति के निर्धारित एवं नियमित करने का दावा छोड़ दिया (पर योजना में दो शर्तें भी थीं। ब्रिटेन ने रक्षा, भारतीय नरेशों के साथ की गई संधियों तथा सरकारी नौकरों से सम्बन्धित विषयों में अपने कर्तव्यों को पूरा करने का अधिकार अपने लिये सुरक्षित रख लिया था। दूसरी बात यह थी कि अल्पसंख्यक दलों के हितों की रक्षा का भार अब भी उसी पर था। पर वक्तव्य का सब से बड़ा दोष निम्नलिखित शब्दों में छिपा कटु व्यंग था : 'यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत की सुख शान्ति के लिये वह (ब्रिटिश सरकार) अपने उत्तरदायित्वों को किसी ऐसी सरकार के हाथ में नहीं देना चाहती जिसे भारत के राष्ट्रीय जीवन के बड़े तथा शक्तिशाली तत्त्व स्वीकार न करते हों और न वह किसी तत्त्व को ऐसी सरकार की सत्ता मानने के लिये विवश करने को तैयार है।'

सीधी तथा सरल भाषा में इन वाक्यों का अर्थ यह है कि मुसलमान तथा दलित वर्ग जैसे अल्पसंख्यकों को निषेधाधिकार (Veto power) दे दिया गया। जब हम कांग्रेस के साथ मुस्लिम लीग की बढ़ती दुश्मनी को, जिसकी अभिव्यक्ति १९३९ में कांग्रेस के मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र देने पर मुस्लिम लीग द्वारा मनाये गये 'मुक्ति दिवस' (Deliverance Day) तथा उसकी पाकिस्तान की मांग में हुई, याद करते हैं तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिये कि किस प्रकार १९३१ में इङ्गलैंड में इन अल्पसंख्यक दलों तथा ग्रेट ब्रिटेन के कट्टर मत वालों के बीच हुये गठबन्धन के परिणामस्वरूप गोल मेज़ सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन में सांविधानिक प्रश्न को टालकर साम्प्रदायिक प्रश्न को ही मुख्य प्रश्न बना दिया गया।

कांग्रेस की इस मांग के उत्तर में कि देश में शीघ्र ही एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित की जाय जो धारासभा के प्रति उत्तरदायी हो वायसराय ने घोषणा की कि वह अपनी कार्यकारिणी परिषद में अनेक भारतीय प्रतिनिधियों को शरीक करेंगे और एक युद्ध-सलाहकार परिषद (War Advisory Council) स्थापित करेंगे जिसमें भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रियासतों तथा देश के राष्ट्रीय जीवन के अन्य तत्त्वों के प्रतिनिधि रहेंगे और जिसकी बैठकें नियमित रूप से होंगी। वायसराय ने आशा प्रकट की कि सब दल तथा सम्प्रदाय परिवर्धित कार्यकारिणी परिषद तथा युद्ध-सलाहकार परिषद में शरीक होंगे, युद्ध के चलाने के प्रयत्नों में सहयोग देंगे और इस प्रकार भारत को ब्रिटिश साम्राज्य में स्वतन्त्र एवं समान साझीदार की स्थिति पाने का अवसर प्रदान करेंगे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वायसराय ने पहिली बार ब्रिटिश साम्राज्य में भारत के स्वतन्त्र एवं समान भागीदार होने का जिक्र किया। ब्रिटिश सरकार के भारत के प्रति पहिले रुख और विचारों से यह बहुत आगे बढ़ा हुआ था।

कांग्रेस कार्यसमिति ने वर्धा में १८ से २३ अगस्त तक अपनी बैठक में वायसराय के इस वक्तव्य पर विचार किया और बावजूद इसके कि इसमें युद्ध के बाद भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का वचन दिया गया था और अपने विधान को स्वयं बनाने के उसके अधिकार को भी स्वीकार कर लिया गया था, कार्यसमिति ने इसे इसलिये अस्वीकृत करने का निश्चय किया क्योंकि यह तत्काल शक्ति हस्तान्तरित करने की माँग को पूरा न करता था। कुछ भारतीयों को शरीक करके कार्यकारिणी परिषद् को परिवर्धित करने और युद्ध-सलाहकार परिषद को स्थापित करने का प्रस्ताव असेम्बली के प्रति उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने की कांग्रेस की मांग के समीप भी नहीं पहुँचता था। अल्पसंख्यकों की चिन्ता की ओट में सरकार अपना शिकार खेल रही थी और जनता को शक्ति हस्तान्तरित होने से रोक रही थी। ब्रिटिश सरकार ने यह कहकर कि वह भारत की सुख शान्ति के लिये अपने उत्तरदायित्वों को किसी ऐसी सरकार के हाथ में नहीं देना चाहती जिसे भारत के राष्ट्रीय जीवन के बड़े तथा शक्तिशाली तत्व न स्वीकार करते हों, देश की वैधानिक प्रगति को रोकने की शक्ति मुस्लिम लीग और देसी राजाओं के हाथ में दे दी थी। यह तो अल्पसंख्यकों को कांग्रेस के प्रति हठधर्मी का रुख अपनाने के लिये एक प्रकार से भड़काना था। वक्तव्य और वक्तव्य पर दिये गये भाषणों ने इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के समाप्त होने पर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिये जाने की बात के पीछे ब्रिटिश सरकार का भारत पर ज्यादा से ज्यादा समय तक नियंत्रण कायम रखने का दृढ़ निश्चय छिपा हुआ था। श्री चर्चिल के इस कथन ने कि 'अतलान्तिक घोषणा भारत पर लागू न होगी और वह सम्राट् के प्रधान मन्त्री इसलिये नहीं बने थे कि साम्राज्य का खात्मा कर डालें', इस सम्बन्ध में संदेह की गुंजाइश ही नहीं छोड़ी। इसने ब्रिटिश सरकार तथा कांग्रेस के बीच की खाई को और भी विस्तृत कर दिया। कांग्रेस को यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि देश की वैधानिक प्रगति के मार्ग में साम्प्रदायिक समस्या को दुर्गम रुकावट बना दिया गया है।

व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा :— कांग्रेस के सहायता-प्रस्ताव का ब्रिटिश सरकार ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस रूखेपन से स्वागत किया उसे और इसके भारत में अधिक से अधिक समय तक जमे रहने के निश्चय को देखते हुये कांग्रेस के लिये देश में बढ़ते हुए संकट में शांत दर्शक बने रहना असम्भव हो गया। जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार भारतीयों की स्वाधीनता को कुचल रही थी उसके प्रति विरोध प्रदर्शनार्थ कांग्रेस के पास सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आश्रय लेने के सिवाय कोई चारा ही नहीं रह गया। इसलिये कांग्रेस ने इस आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिये गांधी जी को आमंत्रित किया। क्योंकि महात्मा जी ब्रिटिश सरकार पर उस समय प्रहार करना उचित नहीं समझते थे जबकि वह जीवन-मरण की लड़ाई में जुटी हुई थी और सिर्फ उसके रुख के प्रति अपना नैतिक विरोध प्रदर्शित करना तथा संसार का ध्यान भारतीय जनता के स्वाधीनता-अधिकार तथा इसे प्राप्त करने के उसके निश्चय की ओर आकर्षित करना चाहते थे, उन्होंने आन्दोलन को इसी के अनुरूप चलाना चाहा। इसी लिये इसमें भारी उथल पुथल के कार्य-क्रम को कोई स्थान नहीं दिया गया और इसे कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही, जिन्हें इसके योग्य पाया गया, सीमित रक्खा गया। महात्मा जी ने स्वयं ही सत्याग्रहियों तथा उस विषय का चुनाव किया जिस पर सत्याग्रह किया जाना था। जिस प्रश्न को लेकर सत्याग्रह किया जाना था वह था प्रत्येक व्यक्ति का भाषण की स्वाधीनता का अधिकार। सत्याग्रह को प्रारम्भ करने का सम्मान आचार्य विनोबा भावे को दिया गया। उन्होंने सरकारी अधिकारियों को सूचना दी कि वे एक भाषण दे रहे हैं जिसमें वे जनता को युद्ध में ब्रिटिश सरकार को किसी प्रकार की सहायता न देने को कहेंगे। दो एक दफा भाषण देने के बाद उन्हें गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। पर दूसरे सत्याग्रहियों को भाषण का अवसर भी नहीं दिया गया और उन्हें अपने घरों से विदा होने के बाद ही गिरफ्तार कर लिया गया। जिन व्यक्तियों को सत्याग्रह के लिये चुना गया उनमें सबसे प्रथम थे कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य जो देश के सर्वमान्य नेता भी थे। इसके अनन्तर केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के कांग्रेसी सदस्यों को और उसके बाद प्रान्तीय, ज़िला तथा नगर कांग्रेस कमेटियों के सदस्यों को इस कार्य के लिये चुना गया। लगभग पच्चीस और तीस हज़ार व्यक्ति अपनी भाषण-स्वाधीनता के समर्थन में उस युद्ध के बीच जेल भेज दिये गये जो स्वाधीनता के लिये लड़ा जा रहा था। बहुत से व्यक्ति कदाचित् इस आन्दोलन को, जिसमें जान बूझकर सरकार को परेशानी से बचाने का प्रयत्न किया गया, न समझ सकें। महात्मा जी का लड़ाई के बीच में अपने विरोधी से निबटने का यही तरीका था। वे मित्र राष्ट्रों के उद्देश्यों को हानि पहुँचाना नहीं चाहते थे; वे इंग्लैण्ड और सारे संसार को यह अनुभव कराना चाहते थे कि भारत की स्वाधीनता न सिर्फ उसके लिये प्रत्युत स्वयं उनके लिये भी श्रेयस्कर है। वे आन्दोलन का पथ प्रदर्शन करने के लिये स्वयं इससे बाहर ही रहे।

जब व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल ही रहा था तो वायसराय ने अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यकारिणी परिषद् में पाँच भारतीयों की नियुक्ति की और इस प्रकार उसका विस्तार किया। इस प्रकार इसके कुल १३ सदस्यों में से ८ सदस्य भारतीय हो गये। पर रक्षा, गृह तथा वैदेशिक विभाग जैसे महत्त्वपूर्ण विभाग अब भी अंग्रेज़ सदस्यों के हाथ ही में रहे। ८ अगस्त की घोषणा के अनुसार वायसराय ने एक युद्ध सलाहकार परिषद् की भी नियुक्ति की। इन सब का कांग्रेस पर कोई प्रभाव न पड़ा और कांग्रेस और सरकार के बीच अवरोध (Deadlock) कायम ही रहा। तथापि इस समय एक बहुत महत्वपूर्ण बात हुई। किन्हीं अज्ञात कारणों से प्रेरित होकर सरकार ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान में गिरफ्तार किये गये राजनीतिक बन्दियों को रिहा करने का निश्चय किया। शुरू दिसम्बर में उन्हें छोड़ दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका मुख्य कारण वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के भारतीय सदस्यों का दबाव था।

राजनीतिक बन्दियों की रिहाई का गांधी जी पर कोई असर नहीं हुआ। उन्हें इसमें कोई भी अच्छी बात नज़र नहीं आई। उन्होंने सरकार की स्वयं जेल जाने वाले व्यक्तियों को रिहा करने तथा बगैर मुक़दमे के नज़रबन्द किये गये व्यक्तियों को छोड़ने से इन्कार करने के लिये कड़ी आलोचना की। इसलिये उन्होंने आन्दोलन को स्थगित नहीं किया; उनका विचार था कि इस नाज़ुक समय में आन्दोलन को स्थगित करना मानो कांग्रेस नीति का ही निषेध करना था। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी इससे सहमत न थे, वे नीति के रूप में आन्दोलन को स्थगित करने के पक्ष में थे। महात्मा जी ने अन्त में यह निश्चय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पर छोड़ दिया। इस निश्चय के होने से पूर्व उन्होंने रिहाशुदा बन्दियों को तत्काल फिर सत्याग्रह न करने की सलाह दी।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित :— राजनीतिक बन्दियों की रिहाई के कुछ दिन बाद तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक से बहुत दिन पहले युद्ध के दौरान में कुछ ऐसी घटनाएं हुईं जिन्होंने स्थिति को मौलिक रूप से बदल दिया। ७ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर पर आक्रमण के साथ जापान ने युद्ध में प्रवेश किया। जापानी फौजों ने फिलिपाइन द्वीपसमूह, इन्डोनेशिया, इन्डोचाइना और मलाया पर कब्ज़ा कर लिया। फरवरी के अन्त में बर्मा का पतन अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा और भारत पर जापानी हमले के आसार भी नज़र आने लगे। सिंगापुर, बर्मा और मलाया में जापानी हमले को रोकने में असमर्थ होने के कारण भारतीयों का ब्रिटिश सरकार की सामर्थ्य में विश्वास जाता रहा और उन्होंने निश्चय किया कि अपने देश की रक्षा के लिये उन्हें ब्रिटिश सरकार पर नहीं निर्भर रहना चाहिये। अतः कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करके कांग्रेस जनों को अपने स्थान पर डटे रहने का आदेश दिया और उन्हें जनता में से डर निकालने तथा उसे सब प्रकार की सहायता पहुँचाने को कहा।

क्रिप्स मिशन और उसके बाद :— फासिटीवाद, नाज़ीवाद तथा जापानी सेनावाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विरुद्ध होते हुए भी कांग्रेस के युद्ध में मित्र राष्ट्रों की सहायता देने से इन्कार करने तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में राष्ट्रीय सरकार स्थापित न किये जाने पर नैतिक विरोध प्रदर्शित करने का इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा अन्य देशों के लोकमत पर बहुत असर हुआ। ब्रिटिश संसद में भी भारतीय समस्या की चर्चा हुई; कुछ सदस्यों ने सरकार से इसे अत्यावश्यक मानकर सुलझाने का अनुरोध किया और कहा कि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देकर तथा इंग्लैंड के युद्ध मंत्रिमंडल में एक भारतीय प्रतिनिधि को सम्मिलित करके उसे युद्ध में भारत की पूरी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। फरवरी १९४२ में जब मार्शल चांग काई शेक सपत्नीक भारत आये तो उन्होंने भी अपने बिदाई सन्देश में भारत सरकार को जापान के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई में भारत की पूर्ण सहायता पाने की सलाह दी। अमेरिका के प्रेज़ीडेंट रूज़वेल्ट ने भी भारतीय स्थिति को आसान करने के लिये श्री चर्चिल पर दबाव डाला। उनका मत था कि अतलान्तिक घोषणा समस्त विश्व पर लागू होती है। आस्ट्रेलिया के परराष्ट्रमंत्री डाक्टर ईवट ने भी युद्ध में भारत की पूरी मदद प्राप्त करने के लिये उसे स्वराज्य दिये जाने पर ज़ोर दिया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान को मिली आश्चर्यजनक सफलता, सिंगापुर के अकस्मात् पतन तथा बर्मा की बिगड़ती स्थिति ने इन अपीलों में और भी जान डाल दी। भारत पर भी इस समय हमले का खतरा था। इन सब बातों ने ब्रिटिश सरकार को यह अनुभव करने के लिये मजबूर किया कि उसे भारतीय अवरोध को शीघ्र दूर करना चाहिये और जापानी हमले को रोकने के लिये ज्यादा से ज्यादा भारतीय सहायता प्राप्त करनी चाहिये। अतः ११ मार्च १९४२ को श्री चर्चिल ने ऐलान किया कि युद्ध मन्त्रिमंडल ने भारतीय समस्या को सुलझाने के लिये अपने एक सदस्य को भारत भेजने का निश्चय किया है। कांग्रेस के साथ समझौते की बातचीत चलाने के लिये सर स्टैफर्ड क्रिप्स को चुना गया। वे मास्को में अपना कार्य सफलता से सम्पन्न करने के पश्चात् इंग्लैण्ड लौटे थे जहाँ उन्हें लार्ड प्रिवी सील बनाकर मन्त्रिमंडल में सम्मिलित कर लिया गया था। वे समाजवादी विचारों के समर्थक थे और इससे पूर्व दो बार भारत आ चुके थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं के वे व्यक्तिगत मित्र भी थे। उनकी नियुक्ति का भारत में भारी स्वागत किया गया। वे २२ मार्च को दिल्ली पहुँचे और वायसराय तथा उनकी कार्य-कारिणी परिषद् के सदस्यों से मिलने के बाद भारतीय राजनीतिक दलों के नेताओं से मुलाकात करने लगे।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स सम्राट् की सरकार की तरफ से जो प्रस्ताव अपने साथ लाये थे वे एक घोषणा के मसविदे के रूप में लिखे हुये थे जिन्हें ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत किया जाता है। मसविदा इस प्रकार था :—

'भारत के साथ की गई प्रतिज्ञाओं की पूर्ति के सम्बन्ध में यहाँ और भारत में प्रकट की गई चिन्ताओं को दृष्टि में रखते हुए सम्राट् की सरकार ने भारत में शीघ्राति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीघ्र स्व-शासन के विकास के लिये निश्चित कदम उठाने का निश्चय किया है। वह एक नये भारतीय संघ का निर्माण करना चाहती है जो एक ऐसा उपनिवेश होगा जो सम्राट् के प्रति सामान्य राजभक्ति प्रदर्शित करने के कारण संयुक्त राज्य तथा अन्य उपनिवेशों से जुड़ा हुआ होगा पर प्रत्येक दृष्टि से उनके समान होगा और आन्तरिक तथा बाह्य मामलों में किसी के अधीन न होगा।

सम्राट् की सरकार इसीलिये निम्न घोषणा करती है :—

(क) युद्ध के समाप्त होने के एकदम बाद भारत में बाद में बताये गये ढंग के अनुसार एक निर्वाचित परिषद् बिठाने का उपक्रम किया जायगा जो भारत के लिये नवीन संविधान बनाने का कार्य करेगी।

(ख) संविधान निर्मात्री परिषद् में भारतीय रियासतों के सम्मिलित होने का भी आयोजन किया जायगा।

(ग) सम्राट् की सरकार इस प्रकार बनाये गये संविधान को स्वीकार तथा कार्यान्वित करने का ज़िम्मा लेती है पर दो शर्तों के मातहत।

(i) पहिली शर्त तो यह है कि ब्रिटिश भारत के जिन प्रान्तों को यह नवीन संविधान पसन्द न होगा वे अपनी मौजूदा सांविधानिक स्थिति को कायम रख सकेंगे और बाद में यदि चाहेंगे तो इसके मातहत भारतीय संघ में प्रविष्ट भी हो सकेंगे।

जो प्रान्त नवीन संविधान के मातहत भारतीय संघ में प्रविष्ट न होंगे सम्राट् की सरकार भारतीय संव की भांति ही उन्हें भी एक नया संविधान देने को तैयार होगी; इन प्रान्तों को भारतीय संघ की ही स्थिति पूर्ण रूप से प्रदान की जायगी और इनका संविधान भी भारतीय संघ के संविधान की तरह बनाया जायगा।

(ii) दूसरी शर्त यह है कि सम्राट् की सरकार तथा संविधान निर्मात्री परिषद् में एक संधि होगी जिसमें भारतीयों को शक्ति हस्तान्तरित करने के परिणाम-स्वरूप पैदा होने वाले प्रश्नों का जिक्र होगा; इसमें सम्राट् की सरकार के उत्तर-दायित्वों के अनुसार जातिगत एवं धार्मिक अल्पसंख्यक दलों की रक्षा का आयोजन होगा; पर इसमें भारतीय संघ पर भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य के किसी भी सदस्य के साथ अपने सम्बन्धों को निधारित करने पर कोई पाबन्दी नहीं लगाई जायगी।

(घ) युद्ध की समाप्ति से पूर्व मुख्य सम्प्रदायों में भारतीय लोकमत के नेता यदि दूसरी ही व्यवस्था पर राजी न हो जायें तो संविधान निर्मात्री परिषद का निर्माण इस प्रकार होगा :

युद्ध के समाप्त होते ही प्रान्तीय धारासभाओं के निर्वाचन होंगे। निर्वाचन के परिणाम के प्रकाशित होने पर प्रान्तीय धारासभाओं के लोक-प्रिय सदन के समस्त सदस्य निर्वाचक मण्डल की हैसियत से अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान निर्मात्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिषद् का चुनाव करेंगे। संविधान निर्मात्री परिषद् संख्या की दृष्टि से निर्वाचक मंडल का दसवां हिस्सा होगी।

अपनी कुल आबादी के साथ ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का जो अनुपात होगा उसी अनुपात में भारतीय रियासतों को भी अपने प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार होगा और उन्हें वही अधिकार होंगे जो ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों को।

(ङ) इस नाजुक समय में और नये संविधान के बनने तक विश्व युद्ध के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों के अंश के रूप में भारत की सुरक्षा का संचालन और नियंत्रण सम्राट् की सरकार का उत्तरदायित्व रहेगा, पर भारत के सैनिक, नैतिक तथा भौतिक शक्ति-स्रोतों के संगठन का कार्य भारत सरकार का ही उत्तरदायित्व रहेगा जो उसे भारतीय जनता की सहायता व सहयोग से सम्पन्न करेगी। सम्राट् की सरकार भारतीय जनता के प्रमुख हिस्सों के नेताओं का अपने देश, साम्राज्य तथा संयुक्त राष्ट्रों के परामर्श में, सक्रिय एवं तात्कालिक सहयोग चाहती है और इसके लिये उन्हें आमंत्रित करती है। इस प्रकार उन्हें उस कार्य के सम्पादन में सक्रिय एवं रचनात्मक सहयोग प्रदान करने का अवसर मिलेगा जो भारत के भविष्य के लिये बहुत आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।'

सर स्टैफर्ड क्रिप्स द्वारा लाये गये प्रस्तावों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : पहिला भाग भविष्य से सम्बन्धित था तथा दूसरा वर्तमान से। भविष्य से सम्बन्ध रखने वाली योजनाएं पर्याप्त लम्बी तथा स्पष्ट थीं। इन्होंने राष्ट्रीय भारत को वह सब कुछ दिया जो वह एक लम्बे अरसे से कांग्रेस के द्वारा मांग रहा था। पर सन्निकट वर्तमान से सम्बन्ध रखने वाला इसका दूसरा भाग अस्पष्ट था और कांग्रेस की मांग को पूरा न कर पाया था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि क्रिप्स के प्रस्तावों ने मुस्लिम लीग को पाकिस्तान का सार दे दिया। उनके अनुसार ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को प्रस्तावित संघ से पृथक् रहने और यदि वे चाहते तो अपना संविधान बनाने का भी अधिकार था। उनमें भारतीय नरेशों को सन्तुष्ट रखने की भी कोशिश की गई थी ; उन्हें संघ में सम्मिलित होने और न होने की स्वतन्त्रता थी और वे अपनी जनता की इच्छा जाने बग़ैर अपने प्रतिनिधियों को नियुक्त कर सकते थे। इस प्रकार घोषणा के मसविदे में विभिन्न हितों को सन्तुष्ट रखने के लिये पर्याप्त सामग्री थी। इसका विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

सबसे प्रथम तो घोषणा के मसविदे में सम्राट् की सरकार ने युद्ध की समाप्ति पर भारत का संविधान बनाने के लिये एक निर्वाचित परिषद बिठाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। इस प्रकार कांग्रेस की संविधान निर्मात्री परिषद की मांग पहिली बार पूर्णतया स्वीकार कर ली गई। इस दृष्टि से क्रिप्स के प्रस्ताव ८ अगस्त की योजना से बहुत आगे बढ़े हुए थे क्योंकि उनकी भाषा के दोहरे अर्थ नहीं लगाये जा सकते थे। पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह स्वीकार करना ही होगा कि इसके निर्माण के ढंग में काफी कमियाँ थीं ; कांग्रेस यह कभी भी सहन नहीं कर सकती थी कि रियासतों के प्रतिनिधियों का चुनाव उनके शासकों के हाथ में छोड़ दिया जाय। दूसरा, घोषणा के मसविदे में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि नवीन संविधान का आधार औपनिवेशिक और संघीय होगा। इस प्रकार नवीन भारतीय संघ सम्राट् के प्रति भक्ति के द्वारा संयुक्त राज्य तथा अन्य उपनिवेशों के साथ जुड़ा रहना था, लेकिन वह हर प्रकार से उनके बराबर रहता और बाहरी या भीतरी किसी भी विषय में उनमें से किसी के भी अधीन नहीं रहता। क्योंकि औपनिवेशिक स्वराज्य में साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद का अधिकार भी निहित है, इसने भारत को सार रूप में स्वतन्त्रता ही प्रदान करदी और इस प्रकार कांग्रेस को पर्याप्त अंश में सन्तुष्ट कर दिया। यद्यपि इसमें 'स्वतन्त्रता' शब्द विद्यमान न था, इसका भाव अवश्य मौजूद था। इस दृष्टि से भी घोषणा का मसविदा अगस्त योजना से बहुत आगे बढ़ा चढ़ा था। तीसरे, सम्राट् की सरकार ने यह भी स्वीकार कर लिया कि उसके तथा संविधान परिषद् के बीच हुए समझौते के अनुसार ही उन सब प्रश्नों का फैसला होगा जो जनता को शक्ति हस्तान्तरित करने के परिणामस्वरूप पैदा होंगे।

ये सब क्रिप्स योजना के लाभ थे जिन्हें कोई भी ज़िम्मेदार संस्था ठुकरा नहीं सकती थी। अतः कांग्रेस द्वारा उसकी अस्वीकृति के कुछ विशेष कारण होने चाहियें जिन्हें जान लेना आवश्यक है। सबसे पहिले कांग्रेस इस सुझाव को नहीं मान सकती थी कि संविधान परिषद् में भारतीय नरेश स्वयं रियासतों के प्रतिनिधियों को नियुक्त करें। इन प्रतिनिधियों के रियासतों की प्रजा द्वारा चुने जाने का कोई विधान न था। इसका अर्थ यह था कि संविधान परिषद् की एक तिहाई संख्या का अपना एक शक्तिशाली गुट होता जो संविधान को ब्रिटेन के निहित स्वार्थों के अनुसार बनाने पर ज़ोर देता। सम्राट् की सरकार से अन्य आवश्यक मामलों के सम्बन्ध में सुलह व समझौता करते समय अंगरेज़ों का पिट्ठू यह गुट्ट अवश्य राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान परिषद् में रियासतों के प्रतिनिधियों की नियुक्ति का अधिकार भारतीय नरेशों के हाथ में दे देना इस योजना का एक बड़ा दोष था; इसने हमारे संविधान के संविधान परिषद् द्वारा बनाये जाने के महत्त्व को बहुत कम कर दिया। दूसरे इसने प्रान्तों को भारतीय संघ से पृथक् रहने की स्वतन्त्रता देकर नवीन संविधान की सफलता के अवसरों को भी बहुत कम कर दिया। पाकिस्तान की माँग को पहिले से स्वीकार कर लेना बहुत बुरा था; इसका अर्थ होता साम्प्रदायिक समस्या को इतना मुश्किल बना देना कि फिर कभी उसका हल ही न हो सके। रियासतों को संघ में न प्रविष्ट होने का अधिकार दिया गया था। 'रियासतें और प्रान्त दोनों ही मिलकर संविधान बनाने का कार्य करेंगे, उस पर अपना प्रभाव डालेंगे और फिर उससे बाहर भी चले आयेंगे। प्रतिक्रियावादी तत्त्व, जो एक दूसरे से अनेक दृष्टियों से भिन्न थे, एक शक्तिशाली, प्रगतिशील एवं संगठित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय राज्य के विकास को मिलकर रोकने का प्रयत्न करेंगे।'* कांग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तों को पृथक् रहने के लिये प्रोत्साहन दिये जाने पर अफसोस ज़ाहिर किया यद्यपि स्वयं उसने इस बात की साफ साफ बता दिया कि किसी भी प्रादेशिक क्षेत्र के लोगों को वह उनकी घोषित इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में रहने के लिये विवश नहीं करेगी।

ऊपर बताये हुए कारण तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, लेकिन उनकी वजह से कांग्रेस ने क्रिप्स-योजना को अस्वीकृत नहीं किया। यदि कांग्रेस कार्य समिति और सर स्टैफर्ड क्रिप्स में समझौता हो गया होता तो उसने उनकी योजना को स्वीकार कर लिया होता और सिर पर लटके जापानी खतरे को दूर करने के लिये उसने ब्रिटिश सरकार के साथ पूरा सहयोग किया होता। क्रिप्स योजना में निम्नलिखित शब्द भी सम्मिलित थे: 'भारत के सामने जो विषम परिस्थिति आ पड़ी है उसके निवारण के लिये तथा जब तक नये संविधान का निर्माण नहीं हो जाता तब तक भारत की रक्षा तथा उसके युद्ध-सम्बन्धी प्रयत्नों पर सम्राट् की सरकार का ही नियन्त्रण रहेगा।' विश्वयुद्ध की घोषणा के तुरन्त बाद कांग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किया था उसमें उसने यह निश्चित किया था कि ब्रिटिश घोषणाओं की उपयुक्तता का सबसे बड़ा मापदण्ड उनका वर्तमान पर लागू होना है। इस मापदण्ड के अनुसार ब्रिटिश योजना एकदम अनुपयुक्त तथा अस्वीकरणीय थी। कांग्रेस की स्थिति उसके निम्नलिखित प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से तथा प्रभावशाली शब्दों के साथ समझाई गई है:

'भारत के भविष्य के सम्बन्ध में किसी भी योजना की अच्छी प्रकार छानबीन होनी चाहिये, लेकिन आज की विषम परिस्थितियों में वर्तमान पर ही ज़ोर देना चाहिये और भविष्य सम्बन्धी योजनाओं की उपयुक्तता भी वर्तमान को दृष्टि में रखकर जांचनी चाहिये। इसीलिये कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रश्न के इस पहलू पर सबसे अधिक ज़ोर दिया है और इसी पर दृष्टि रखकर ही वह उन लोगों को कोई सलाह दे सकती है जो उसकी ओर पथ-प्रदर्शन के लिये देखते हैं। इस दृष्टि से ब्रिटिश युद्ध मंत्रिमंडल की योजनाएँ गोलमटोल तथा एकदम अपूर्ण हैं और उनमें भारत के वर्तमान शासन की रूपरेखा में किसी भी परिवर्तन की कल्पना नहीं है। ब्रिटिश सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की रक्षा प्रत्येक दशा में ब्रिटिश नियंत्रण के अन्दर रहेगी। देश की रक्षा तो किसी भी समय एक महत्त्वपूर्ण चीज़ है, युद्धकाल में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है और शासन तथा जीवन का प्रत्येक क्षेत्र इसके प्रभाव में आ जाता है। आज की स्थिति में रक्षा को उत्तरदायित्व के क्षेत्र से हटा लेना उस उत्तरदायित्व को एकदम निरर्थक कर देना है तथा यह स्पष्ट कर देना है कि भारत किसी भी प्रकार स्वतन्त्र होने नहीं जा रहा है और न युद्धकाल में उसकी सरकार के स्वतन्त्र रूप में कार्य करने की ही आशा है।'

* जवाहरलाल नेहरू: 'डिस्कवरी आफ इण्डिया', पृष्ठ ३९०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'समिति इस बात को फिर से दोहराना चाहेगी कि उत्तरदायित्व का भार ग्रहण करने से पहिले भारतीयों को इस बात का ज्ञान हो जाना चाहिये कि वे स्वतन्त्र हैं और अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने तथा उसकी रक्षा करने का उन्हें पूरा अधिकार है। जिस चीज़ की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह है जनता का उत्साहपूर्ण सहयोग जो उनमें पूर्ण विश्वास तथा उन पर रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व डाले बिना प्राप्त नहीं हो सकता। केवल इसी प्रकार आज की विषम घड़ी में भी भारत के लोगों को समय की मांग का उत्तर देने के लिये प्रस्तुत किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि अपनी प्रान्तीय शाखाओं के साथ भारत की वर्तमान सरकार भारत की रक्षा करने में एकदम अयोग्य है। अपने जनप्रिय प्रतिनिधियों के द्वारा भारत की जनता ही रक्षा का पूरा भार ले सकती है। लेकिन यह तभी हो सकता है जब उन्हें पूरी स्वतन्त्रता हो और उन्हें उत्तरदायित्व का पूरा भार सौंप दिया जाय। ये बातें हैं जिनके कारण समिति ब्रिटिश युद्ध-परिषद् की योजनाओं को स्वीकार करने में असमर्थ है।'

कांग्रेस का ऐसा रुख धारण करना न्यायपूर्ण ही था। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो उस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये कांग्रेस भारतवासियों से रक्त बहाने की मांग उत्साहपूर्ण उत्तर की आशा के साथ कर सकती थी लेकिन दूसरों की स्वतन्त्रता के लिये प्राण गँवाने की मांग पर कोई ध्यान कैसे देता? दूसरों की स्वाधीनता के लिये केवल किराये के टट्टू ही लड़ाई लड़ सकते हैं। लोक युद्ध में भाग लेने के लिये तो केवल स्वतन्त्र देश के नागरिक ही प्रेरित किये जा सकते हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य को सम्भवतः समझने की चेष्टा ही नहीं की। इस प्रकार दिल्ली वार्ता असफल रही। असफलता का कारण साम्प्रदायिक प्रश्न नहीं था जैसा कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने बाद में बताया अपितु रक्षा का सवाल था। कांग्रेस ने रक्षा पर अधिकार की माँग इस तर्क पर की थी कि केवल जनता के सहयोग से ही कोई लड़ाई लड़ी और जीती जा सकती है। फिर भी ब्रिटिश सरकार ने लोगों पर विश्वास न किया; घोर आवश्यकता के समय में भी इसने उन लोगों को हथियारबन्द करना स्वीकृत नहीं किया जिनको इसने अनेक पीढ़ियों से निहत्था कर रक्खा था।

रक्षा के अतिरिक्त दूसरा प्रश्न जिस पर कांग्रेस और स्टैफर्ड क्रिप्स के बीच दिल्ली-वार्ता भंग हुई, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में सम्मिलित होने वाले भारतीय नेताओं का पद था। प्रश्न यह था कि क्या सदस्य के रूप में वे पूर्ववत् वायसराय या भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी होंगे अथवा धारासभा के निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति? कांग्रेस की माँग यह थी कि गवर्नर-जनरल राज्य का वैधानिक प्रधान बन जाय जो अपनी कार्यकारिणी परिषद् की राय मानने के लिये बाध्य हो तथा जो इसके निर्णयों को किसी भी प्रकार रद्द न कर सके। संक्षेप में, कांग्रेस यह चाहती थी कि कार्यकारिणी परिषद् को मंत्रिमंडल मान लिया जाय। सरकार इस सुझाव से सहमत न थी; इंग्लैण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा भारत के अधिकारी किसी भी राष्ट्रीय सरकार को शक्ति हस्तान्तरित करने के लिये प्रस्तुत न थे। इसलिये वार्ता भंग हो गई और सम्राट् की सरकार ने अपनी योजना वापिस ले ली। यहाँ इस बात का भी जिक्र किया जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार का यह कथन कि क्रिप्स-योजना में संशोधन की कोई गुंजाइश नहीं और उसे या तो समूचा स्वीकृत किया जा सकता है या समूचा रद्द, अवांञ्छनीय और गलत था। यह भी आंशिक रूप से दिल्ली बातचीत की असफलता के लिये ज़िम्मेदार था।

क्रिप्स-योजना को सिर्फ कांग्रेस ने ही नहीं अपितु देश के अन्य राजनीतिक दलों ने भी अस्वीकृत किया। उनकी अस्वीकृति के आधार भी लगभग यही थे। मुस्लिम-लीग ने इसे इसलिये रद्द किया क्योंकि उसकी राय में प्रान्तों को प्रस्तावित संघ से पृथक् रहने की स्वाधीनता न तो स्पष्ट थी और न पूर्ण। कांग्रेस द्वारा योजना के अस्वीकृत किये जाने का वास्तविक कारण यह बताया जाता है कि गांधी जी इस आधार पर ब्रिटिश सरकार से कोई भी समझौता करने को तैयार न थे। उनके शब्दों में यह 'बाद की तारीख का चैक' था जो, एक दूसरे नेता के अनुसार, 'दिवालिया बैंक' के नाम जारी किया गया था। इसमें तो लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि यह बाद की तारीख का चैक था और यही इसका सबसे बड़ा दोष था। पर गांधी जी बाद की बातचीत में शरीक नहीं थे और कांग्रेस कार्यसमिति ने स्वतन्त्र रूप से ही इसे अस्वीकृत करने का निश्चय किया।

सर स्टैफर्ड और कांग्रेस के बीच समझौते की बातचीत के भंग होने के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात भी याद रखने योग्य है। बातचीत अकस्मात् ही भंग हुई और ऐसे समय जबकि सम्पूर्ण वातावरण आशा से भरा हुआ था और किसी को भी उम्मीद नहीं थी कि बातचीत भंग होने वाली है। जबकि भारत में कांग्रेस कार्यसमिति अमेरिका के कर्नल जॉनसन के सुझाव पर विचार करने में व्यस्त थी, अमेरिका स्थित ब्रिटिश राजदूत लार्ड हैलीफैक्स ने जो भारत के गवर्नर-जनरल भी रह चुके थे, इसी समय अमेरिका में एक भाषण दिया जिसमें कांग्रेस की कड़ी आलोचना की। उन्होंने कहा: 'यदि हमारे यह सब प्रयत्न असफल रहते हैं तो ब्रिटिश सरकार को भारत के बड़े एवं व्यवस्थित दलों के सहयोग और सहायता के बगैर ही अपना कर्त्तव्य करने के लिये मजबूर होना पड़ेगा। हमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जो देश का सबसे बड़ा एवं सुव्यवस्थित राजनीतिक दल है, कोई सहयोग प्राप्त नहीं हुआ है।' उन्होंने यह भी कहा कि भारत के अन्य दलों ने कांग्रेस के समस्त देश का प्रतिनिधित्व करने के दावे का सख्त विरोध किया है। इस प्रकार जिस समय भारत में आशा की लहर फैल रही थी लार्ड हैलीफैक्स अमेरिका में क्रिप्स के प्रयत्नों की असफलता की बात कह रहे थे। लार्ड हैलीफैक्स के भाषण के तीन दिन बाद ही सर स्टैफर्ड क्रिप्स के रुख में भी अकस्मात् एक भारी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। उन्होंने १० अप्रैल को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस के प्रधान को एक तीखा पत्र लिखा जिसमें कांग्रेस पर अल्पसंख्यकों पर आधिपत्य जमाने की इच्छा का दोषारोपण किया। इसमें लेशमात्र भी सत्य नहीं था। यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि कांग्रेस के प्रधान मौलाना आज़ाद से पहिली भेंट में सर स्ट्रफर्ड क्रिप्स ने कहा था कि वायसराय और नई राष्ट्रीय सरकार में वही सम्बन्ध रहेगा जो ब्रिटिश बादशाह तथा ब्रिटिश मंत्रिमंडल में है, अन्तिम दिन, कदाचित् लन्दन से दबाव पड़ने पर वे इस बात से फिर गये। 'दिल्ली में यह बात सबको अच्छी तरह विदित थी कि वायसराय लार्ड लिनलिथगो तथा सिविल सर्विस के कर्मचारी समझौते तथा अपनी शक्तियों को कम करने के सख्त विरुद्ध थे। बहुत सी बातें तो जो इस समय हुई, पूरी तरह मालूम भी नहीं पड़ सकीं।'* ऐसा प्रतीत होता है कि चर्चिल की सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत की समस्या को हल करने के सच्चे इरादे से नहीं भेजा था; 'असली विचार भारत को स्वाधीनता देना नहीं अपितु मित्र राष्ट्रों की आँखों में धूल झोंकना था जो अमेरिका और फिलीपाइन द्वीप-समूहों के सम्बन्धों तथा ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों में ज़मीन आसमान का अन्तर पाते थे।'† पंडित जवाहरलाल नेहरू का भी यही विचार था कि क्रिप्स-योजना का प्रचार से अधिक कोई मूल्य नहीं था जो अमेरिका को बेवकूफ़ बनाने के लिये तय्यार की गई थी। लार्ड हैलीफैक्स द्वारा ७ अप्रैल को दिया गया भाषण भी इसी बात की पुष्टि करता है।

बाद की घटनाएं :— सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने जिस तरह यकायक बातचीत भंग होने की घोषणा की, लन्दन वापिस जाकर जो भाषण दिये और अपनी असफलता का स्पष्टीकरण करते हुये जो झूठी और आधी झूठी बातें कहीं उनसे जहाँ उन्हें व्यक्तिगत अपयश मिला वहाँ इन्होंने देश की राजनीतिक स्थिति भी पहिले की अपेक्षा और नाजुक बना दी। भारतीयों को पहिले से भी अधिक विश्वास हो गया कि ब्रिटेन उन्हें शक्ति हस्तान्तरित नहीं करना चाहता और उसके साथ किसी प्रकार के शान्तिमय समझौते की सम्भावना नहीं। फिर निराशा के बादल भारतीय क्षितिज पर मंडराने लगे। इस बीच में, भारत पर जापानी हमले का खतरा उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था और हज़ारों भूखे भारतीय शरणार्थी अपने दुःखों और मुसीबतों की कहानियों के साथ बर्मा छोड़कर भारत आ रहे थे। पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज था और सरकार ने हज़ारों देसी नावों को नष्ट करके, जिनसे हज़ारों परिवार अपनी जीविका कमाते थे और जो प्रान्त में यातायात की मुख्य साधन थीं, जनता के दुखों को और भी बढ़ा दिया। कांग्रेस जनता को आने वाले जापानी हमले के विरुद्ध संगठित करना चाहती थी पर उसे ऐसा करने के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। सरकार जनता के साथ गुलामों का सा बरताव करना

* 'डिस्कवरी आफ इण्डिया', पृष्ठ ३६९

† 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास', ग्रन्थ २ के पृष्ठ ३३१ पर हैरोल्ड लास्की का उद्धरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहती थी जिन्हें वह कुछ भी करने की शक्ति नहीं देना चाहती थी और जिनसे वह सिर्फ सरकारी अधिकारियों के आदेशों को पालन करने की ही आशा करती थी। इस समय सरकार की नीति देश में समस्त राजनीतिक प्रगतियों को दबाने और देश पर सरकारी कब्ज़े को कसने की थी। अनेक प्रमुख कांग्रेसी नेता जेल भेज दिये गये। अतः कांग्रेस के सामने सबसे बड़ी समस्या यह पैदा हुई कि वह स्थिति को काबू करने के लिये क्या करे। अप्रैल के अन्त में इलाहाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें सरकार के कार्यों पर क्षोभ प्रकट किया गया और कहा गया कि भारत ऐसी स्थिति हरगिज़ भी स्वीकार न करेगा जिसमें इसे किसी विदेशी सरकार का दास बनकर कार्य करना पड़े। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने इसी समय ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करने के लिये मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग को स्वीकार करने का प्रस्ताव रक्खा। कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और कुछ समय पश्चात् श्री राजगोपालाचारी को इसी के परिणामस्वरूप कांग्रेस छोड़नी पड़ी।

इस समय जब कि देश घोर निराशा में डूबा हुआ था गाँधी जी ने 'हरिजन' में कई लेख लिखे जिनके द्वारा उन्होंने 'जनता के विचारों को नई दिशा दिखलाई या जैसा कि आमतौर पर होता है उसके अस्पष्ट विचारों को स्पष्ट रूप दिया। इस नाजुक समय में उनके लिये निष्क्रिय बना रहना तथा घटनाचक्र के सामने सिर झुका देना असम्भव सा हो गया था। इस स्थिति को सम्हालने का सबसे अच्छा उपाय था भारत की स्वाधीनता को स्वीकार कर लेना जो स्वतन्त्र होकर मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर जापानी हमले का सामना करता। यदि भारत की स्वाधीनता को न स्वीकार किया जाता तो मौजूदा हुकूमत को चुनौती देने और जनता को लम्बी नींद से जगाने के लिये, जो उनको शक्तिहीन बनाने के अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के हमले का शिकार भी बना रही थी, कुछ न कुछ करने की सख्त आवश्यकता थी।'* गांधी जी ने अनुभव किया कि निष्क्रियता और सरकार के सामने घुटने टेक देने की नीति राष्ट्रीय स्वाधीनता को बहुत देर तक रोके रहेगी। अतः वह इस अवरोध को हल करने के लिये कोई न कोई तजवीज़ निकालना चाहते थे। इसी उधेड़ बुन में उन्होंने 'भारत छोड़ो' के विचार को जन्म दिया। उनका विश्वास था कि भारत का ब्रिटेन की अधीनता में रहना ही जापानी हमले का बायस था अतः उन्होंने अंग्रेज़ों को भारत से केवल भारत के हित के लिये ही नहीं बल्कि अपने तथा समस्त संसार के हित के लिये भी हट जाने का आदेश दिया। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि स्वतन्त्र भारत अपने सम्पूर्ण उद्गम स्रोत युद्ध के लिये सहर्ष दे देगा और अपनी समस्त सैनिक शक्ति के साथ भारत की रक्षा में मित्र राष्ट्रों का सहयोग देगा। उन्हें देश की रक्षा के लिये ब्रिटेन और अमेरिका की फौजों के देश में उपस्थित रहने पर भी कोई आपत्ति न थी। उनका विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ समझौता मुमकिन है

* जवाहरलाल नेहरू : 'डिस्कवरी आफ इण्डिया', पृष्ठ ५०५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इसी लिये उन्होंने इस सम्बन्ध में वायसराय से भी मिलना चाहा। यह भी सत्य है कि उन्होंने खुले शब्दों में यह भी कहा कि यदि ब्रिटेन ने स्वेच्छा से भारत को शक्ति हस्तान्तरित नहीं की तो देश में इसके विरुद्ध विद्रोह हो जायगा। पर उन्होंने इसके बारे में कुछ नहीं कहा कि वे इसके लिये क्या करने वाले हैं। इस वक्त कांग्रेस के सामने कुछ भी कार्यवाही करने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि एक तरफ तो वह जन-साधारण के पैमाने पर कोई उथल पुथल करके सरकार को परेशान नहीं करना चाहती थी और दूसरी तरफ लाक्षणिक (Symbolic) सविनय अवज्ञा आन्दोलन को बेकार समझती थी। पर महात्मा जी का विश्वास था कि सरकार के सामने घुटने टेकने का अर्थ था जनसाधारण का पूर्ण पतन और उनकी उस सब शक्ति का ह्रास जो उन्होंने पिछले २० या ३० वर्षों में सञ्चित की थी। अतः वह जनता की ओर से 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के पक्ष में थे चाहे इसका युद्ध पर कितना ही बुरा असर क्यों न हो। लगभग चार महीने तक वे अपने विचारों को भाषणों, 'हरिजन' में प्रकाशित होने वाले लेखों तथा पत्र-सम्वाददाताओं से होने वाली मुलाकातों में व्यक्त करते रहे। पर सरकार टस से मस नहीं हुई और कुछ न करने की नीति पर अड़ी रही और इस बीच में कांग्रेस द्वारा प्रत्यक्ष कार्य वाही किये जाने पर उसे कुचलने के लिये अपनी मशीनरी को पूर्ण बनाने में लगी रही।

मध्य जुलाई में अपनी वर्धा बैठक में कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा तय्यार किये गये 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पर बहस व विचार करने के लिये अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक ७ और ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में हुई। कमेटी ने पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद इस प्रस्ताव को पास कर दिया। यह प्रस्ताव भारत की स्वाधीनता को तत्काल स्वीकार करने तथा देश में ब्रिटिश शासन के अन्त के लिये, जिसकी इसके अनुसार न सिर्फ भारत के प्रत्युत संयुक्त रष्ट्रों के उद्देश्यों की सफलता के लिये बहुत जबरदस्त आवश्यकता थी, एक लम्बी और तर्कसम्मत दलील था। इसमें बताया गया था कि ब्रिटिश शासन के जारी रहने के कारण देश पतित और कमज़ोर होता जा रहा है और वह उत्तरोत्तर अपनी रक्षा करनें और विश्व-स्वाधीनता के उद्देश्य को कायम रखने के अयोग्य होता जा रहा है। पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिह्न है और साम्राज्यवाद के दाग का युद्ध के भाग्य-निर्णय पर असर पड़ना आवश्यक है। प्रस्ताव में बताया गया कि 'आज के संकट का यह तकाज़ा है कि भारत को स्वाधीन कर दिया जाय और यहाँ ब्रिटिश राज्य का अन्त कर दिया जाय। अब प्रतिज्ञाएँ स्थिति को सम्हाल नहीं सकतीं और न संकट को टाल सकती हैं। वे जनता के दिमागों पर आवश्यक मनोवैज्ञानिक असर नहीं डाल सकतीं। सिर्फ स्वाधीनता के चमकीले प्रकाश में ही लाखों भारतीयों में वह शक्ति और उत्साह पैदा करने की ताकत है जो युद्ध के स्वरूप को एकदम परिवर्तित कर सकती है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्ताव में आगे यह भी बताया गया था कि कांग्रेस चीन और रूस की रक्षा को, जिनकी स्वाधीनता अमूल्य है और जो हर अवस्था में सुरक्षित रक्खी जानी चाहिये, तथा संयुक्त राष्ट्रों की रक्षा-सामर्थ्य को खतरे में डालना नहीं चाहती। पर भारत और इन राष्ट्रों दोनों के लिये ही संकट बढ़ता जा रहा है और इस समय निष्क्रियता तथा विदेशी हकूमत के सामने घुटने टेकना न सिर्फ भारत को पतन की ओर ले जाना तथा हमले के विरुद्ध उसकी रक्षा-शक्ति को कम ही करना है अपितु बढ़ते हुये संकट का मुकाबला करने तथा संयुक्त राष्ट्रों की जनता की सेवा करने के लिये भी कोई उत्तर नहीं है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अनुभव किया कि देश को साम्राज्यवादी एवं लोकतंत्र विरोधी सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छाएं प्रकट न करने देना बहुत गलत होगा। अतः उसने बहुत बड़े पैमाने पर अहिंसात्मक आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद महात्मा जी ७० मिनट तक कमेटी के सामने बोले। वे 'उस पैगम्बर की तरह बोले जो दैवी शक्ति से प्रेरित होकर बोलता है, उनकी ज़बान से मानों आग बरस रही थी जो अपनी ज्वालाओं से सबको पवित्र करती जा रही थी ..... वे दैवी शक्ति से परिपूर्ण थे' और उन्होंने राष्ट्र का 'करो या करो' संग्राम के लिये आह्वान किया।

१९४२ का विप्लव :— यह ध्यान में रखना चाहिये कि कांग्रेस ने वास्तव में सविनय अवज्ञा प्रारम्भ नहीं की; इसने केवल एक प्रस्ताव पास करके लोगों को यह आदेश दिया कि ब्रिटिश सरकार द्वारा राष्ट्रीय मांगों के अस्वीकृत किये जाने पर वे सविनय अवज्ञा प्रारम्भ कर दें और इसकी बागडोर गांधी जी के हाथ में सौंप दी। एक मुलाक़ात में गांधी जी ने बताया कि प्रस्ताव के पास होने और संग्राम के प्रारम्भ होने के बीच में पर्याप्त समय निकल जायगा। इस बीच में सुलह के लिये वायसराय को एक पत्र लिखा जाना था। यह भी विचार था कि संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख सदस्यों के प्रधानों को इस समस्या के हल में सहायता पहुँचाने के लिये लिखा जाय। पर सरकार कुछ और ही चाहती थी; वह नहीं चाहती थी कि संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस के फासिस्ट विरोधी रुख को जाने; शायद इसे कांग्रेस की नेकनीयती में विश्वास न था। यह सोचकर कि कांग्रेस सरकार के विरुद्ध एक देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ करना चाहती है, इसने शीघ्रता और दृढ़ता से इसके विरुद्ध कार्य करने का निश्चय किया और भारतीय राष्ट्रीयता को कुचलने के लिये घोर दमनचक्र प्रारम्भ कर दिया। ९ अगस्त की प्रातःकाल महात्मा गांधी और कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को गिरफ्तार करके अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया। इसके बाद प्रान्तीय एवं स्थानीय नेताओं की धर पकड़ शुरू हुई। जनता को नहीं मालूम था कि उसे क्या करना है; आन्दोलन के चलाये जाने के बारे में उसे नेताओं की कोई हिदायतें न थीं। प्रदर्शन किये गये, सभायें आयोजित की गईं, हड़तालें मनाई गईं तथा जलूस निकाले गये, पर सरकार ने उन्हें कठोरता से दबा दिया। सभाएं भंग कर दी गईं और यहां तक कि उन पर गोलियाँ भी चलाई गईं। क्योंकि वे सब सामान्य रास्ते जिनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा जनता अपने भावों का इज़हार कर सकती थी बन्द कर दिये गये थे, जनता के दबे हुये भाव यकायक हिंसात्मक रूप में फूट पड़े। लोगों ने रेल की पटरियां उखाड़नी शुरू कीं, टेलीफोन और टेलीग्राफ की तारें तोड़नी प्रारम्भ कीं तथा सरकारी इमारतों को आग लगानी प्रारम्भ कर दी। देश के अनेक भागों में रेलें चलनी बन्द हो गईं और वे देश के शेष हिस्सों से दूर हो गये। जमशेदपुर, अहमदाबाद और बम्बई में मज़दूरों ने हड़तालें कीं। भारतीय साम्यवादियों ने इस संग्राम में देश को बहुत धोखा दिया, हड़तालों को प्रोत्साहन देने के स्थान पर उन्होंने मज़दूरों को उनसे दूर रहकर राष्ट्रीय आन्दोलन को समाप्त करने और इस प्रकार ब्रिटिश सरकार को सहायता पहुँचाने की कोशिश की। उन्होंने कांग्रेस से 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव को वापिस लेने का अनुरोध किया और श्री जिन्ना की पाकिस्तान की मांग का समर्थन किया। देश के कुछ भागों में विप्लव अधिक हिंसात्मक और तेज़ था; कई स्थानों से ब्रिटिश शासन बिल्कुल उठ गया और वहाँ समानान्तर सरकारें स्थापित हो गई। संयुक्त प्रान्त में बलिया और बस्ती में, बम्बई प्रेज़ीडेंसी में सतारा में तथा बंगाल में मिदनापुर में यही हुआ। इन सब स्थानों को फौज की मदद से फिर से जीतना पड़ा और यहाँ के निवासियों पर अवर्णनीय एवं नृशंसतापूर्ण अत्याचार किये गये। शान्तिप्रिय नेताओं की अकस्मात् गिरफ्तारियों की इस स्वाभाविक प्रक्रिया ने यह सिद्ध कर दिया कि लोगों में स्वतन्त्रता के लिये एक अन्दरूनी जोश उमड़ रहा था और वे परतन्त्रता का अन्त कर देने के लिये आकुल हो उठे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि देश विदेशी सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर उठा है। पर निहत्थी और नेतारहित जनता भला किस प्रकार एक शक्तिशाली तथा सुसंगठित सरकार से जिसके पास असीमित सैनिक बल था, मुक़ाबला कर सकती थी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया इस भावना का बाह्य प्रदर्शन धीमा पड़ता गया और आन्दोलन श्री जयप्रकाश नारायण जैसे समाजवादी नेताओं की अध्यक्षता में गुप्त रूप से चलने लगा। श्री जयप्रकाश नारायण हज़ारीबाग़ जेल से भाग आने के बाद नाटकीय परिस्थितियों में लाहौर के पास फिर गिरफ्तार कर लिये गये। विप्लव को दमन करने के लिये कितने कठोर उपाय बरते गये थे इसका कुछ अन्दाज़ इस बात से लग सकता है कि सरकारी सूचना के अनुसार ५३८ अवसरों पर फौज को गोलियाँ चलानी पड़ीं और अनेक स्थानों पर वायुयानों ने नीचे उड़कर जनता पर मशीनगनों से गोलियों की बौछार की। उपद्रवकारी गांवों पर सामूहिक जुर्माने लगाये गये और उन्हें हर उपाय से वसूल किया गया। अन्दाज़ लगाया जाता है कि क़रीब १००० आदमी पुलिस और फौज की गोलियों के शिकार हुये और ९० लाख रुपये जुर्मानों से वसूल किये गये। जनता की देशभक्ति व वीरता के कामों तथा दुखों व तकलीफों का विस्तृत वर्णन यहाँ अनावश्यक प्रतीत होता है।

महात्मा जी का उपवास :— ब्रिटिश सरकार द्वारा कांग्रेस के सशर्त सहयोग के प्रस्ताव के अस्वीकृत कर दिये जाने से यह स्पष्ट था कि वह भारतीय प्रश्न पर कांग्रेस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कोई समझौता करने को तैयार न थी। उसे मालूम था कि यदि एक दफा भारतीय नेताओं को फासिस्ट आक्रमकों के विरुद्ध जनता में प्रतिरोध की भावना जगाने का अवसर मिल गया तो इसका अर्थ होगा भारत में ब्रिटिश आधिपत्य की समाप्ति की शुरुआत। अतः उसने भारत में राष्ट्रीय सरकार स्थापित किये जाने का कभी समर्थन नहीं किया और इसके विपरीत वह इसके निर्माण को रोकने का ही प्रयत्न करती रही। पर उसने मित्र राष्ट्रों के सम्मुख अपने कार्यों को, विशेषतया १९४२ के विप्लव को दमन करने के लिये बरते गये उपायों को, न्यायसम्मत ठहराना आवश्यक समझा। यह वह गाँधी जी तथा कांग्रेस को धुरी राष्ट्रों का मित्र बताकर तथा उन पर हिंसा का उत्तरदायित्व थोपकर ही कर सकती थी। उन्होंने भारतीय समाचारों को तोड़ना और मोड़ना शुरू किया और १९४२ के विप्लव की पूरी ज़िम्मेदारी गाँधी जी व कांग्रेस पर डालकर कांग्रेस के विरुद्ध घोर प्रचार करना शुरू किया। उसने बताया कि उसके पास ऐसे प्रमाण मौजूद हैं जिनसे साबित होता है कि यद्यपि कांग्रेस शान्तिमय समझौते की बात कर रही थी वास्तव में वह ऐसा कोई समझौता न चाहती थी ; कांग्रेसजनों की ज़बान पर अहिंसा का शब्द ज़रूर मौजूद था पर वे राष्ट्रव्यापी पैमाने पर गुप्त रूप से हिंसात्मक आन्दोलन चलाने का उपक्रम कर रहे थे। दूसरे शब्दों में सरकार ने गाँधी जी तथा कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों को सिर्फ जनहिंसा तथा उसे दबाने के लिये अपनाये गये उपायों के लिये ही ज़िम्मेदार नहीं ठहराया अपितु उन पर बेईमानी, अनैतिकता तथा दुतरफी नीति अपनाने का भी दोष लगाया। महात्मा जी ने इन आधार-रहित आरोपों का विरोध किया और इन्हें खण्डित करने का अवसर चाहा। उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि उन पर तथा कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों पर हिंसा पैदा करने तथा उसे फैलाने में मदद करने के अभियोग में खुली अदालत में मुक़दमा चलाया जाय जिससे उन्हें अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का अवसर मिले। उन्होंने कार्यसमिति के सदस्यों के साथ मिलकर अपने मामले को तय्यार करने के लिये पूर्ण सुविधाएं भी मांगीं। उनकी स्थिति उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार बयान की जा सकती है: (i) 'यदि आप चाहते हैं कि मैं स्वयं इकला कुछ करूं तो आप मुझे विश्वास दिला दें कि मैं ग़लत था और मैं पर्याप्त सुधार करने को तय्यार हूँ। (ii) और यदि आप चाहते हैं कि मैं कांग्रेस की तरफ से कोई प्रस्ताव आपके सम्मुख रक्खूं तो आपको मुझे कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों के बीच में रखना चाहिये। मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस अवरोध को समाप्त करने का निश्चय करें।

पर सरकार ने गांधी जी की एक बात भी नहीं सुनी। न तो उसने उन गवाहियों को सब के सामने पेश किया जिनके आधार पर इसने कांग्रेस पर दुतरफी नीति बरतने आदि का आरोप लगाया था और न महात्मा जी को उनके तथा कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों के विरुद्ध लगाये गये अभियोगों को ग़लत साबित करने का ही अवसर दिया। और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न सरकार ने अभियोग वापिस ही लिये। गांधी जी के पत्रों के उत्तर बहुत गोलमोल थे। महात्मा जी का धैर्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और उन्होंने सरकार की 'सिंह-हिंसा' के विरोध स्वरूप तथा प्रभु के समक्ष अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिये २१ दिन का उपवास करने का निश्चय किया।

व्रत १९ फरवरी १९४३ को प्रारम्भ हुआ। सारे देश में एक घबराहट सी फैल गई और जनता में जो भी रही सही हिंसा की भावना थी वह दब गई। उपवास के दिनों में उनकी हालत कई बार चिन्ताजनक हुई और मृत्यु का भी अन्देशा लगने लगा। उनकी रिहाई के लिये एक देशव्यापी आन्दोलन शुरू हुआ। दिल्ली में एक विदल-सम्मेलन (Non-party Conference) हुआ जिसने सरकार से महात्मा जी को रिहा करने की अपील की। श्री जिन्ना और मुस्लिम लीग इस अपील में शरीक नहीं हुये। पर लार्ड लिनलिथगो तथा श्री चर्चिल पर इसका कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने गांधी जी को तब तक छोड़ने से इन्कार कर दिया जब तक वे अपना 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव वापिस न ले लें और अपने आचरण के लिये पश्चात्ताप न करें। इस निर्दयता के विरोधस्वरूप वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के तीन सदस्यों— सर्वश्री होमी मोदी, एम. एस. अणे. और एन. आर. सरकार— ने अपने स्थानों से त्यागपत्र दे दिये। इसका भी सरकार पर कोई असर नहीं हुआ।

पर वृद्धावस्था, शारीरिक दुर्बलता तथा इस बात के बावजूद कि उनके डाक्टर उनकी मृत्यु को चन्द घन्टों का ही प्रश्न समझ रहे थे, गांधी जी इस अग्नि-परीक्षा में से सफल निकले और इस प्रकार उन्होंने चिकित्सा विज्ञान को आश्चर्य-चकित कर दिया। उपवास ने देश की राजनीतिक स्थिति में किसी प्रकार का भी सुधार नहीं किया। यहाँ यह भी बता देना ज़रूरी है कि महात्मा जी जब जेल ही में थे उनके दो सर्वप्रिय सह-योगियों— श्री महादेव भाई देसाई, जो उनके प्राइवेट सेक्रेटरी थे, तथा उनकी धर्मपत्नी, श्रीमती कस्तूरबा गांधी— का स्वर्गवास हो गया।

महात्मा जी की रिहाई और उसके बाद :— महात्मा गांधी अप्रैल १९४४ में बीमार पड़े और उनकी अवस्था चिन्ताजनक होती गई। लार्ड वेवल ने, जो अक्तूबर १९४३ में लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर भारत के गवर्नर-जनरल बनकर आये थे, इस समय गांधी जी को बतौर बन्दी के जेलखाने में मरने देने की अपेक्षा रिहा कर देना ही उचित समझा; अतः मई १९४४ में उन्हें रिहा कर दिया गया। यह भी सम्भव है कि नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा मलाया में भारतीय राष्ट्रीय फौज के निर्माण और अप्रैल १९४४ में उसके द्वारा भारत पर किये गये हमले का भी महात्मा जी की रिहाई पर असर पड़ा हो। श्री सुभाष चन्द्र बोस जनवरी १९४१ में अपने घर से, जहां वे नज़रबन्द थे, भाग निकले थे और अफगानिस्तान, इटली और जर्मनी में कुछ समय रहने के उपरान्त जापान पहुंच गये थे। वहाँ उन्होंने जापानियों की सहायता से अंग्रेज़ों से लड़ने और अपने देश को विदेशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुकूमत के पंजों से छुड़ाने के लिये एक भारतीय राष्ट्रीय फौज का निर्माण किया। भारत की इस राष्ट्रीय फौज को प्रारम्भ में कुछ सफलता मिली पर बाद में इसे आत्म-समर्पण करना पड़ा। नेताजी के बारे में कहा जाता है कि वायुयान-दुर्घटना के परिणामस्वरूप उनका जीवन समाप्त हो गया।

अपनी रिहाई के बाद महात्मा जी सरकार से समझौता करने तथा राजनीतिक ज़िच को हल करने के प्रयत्न में लगे रहे। लार्ड वेवल के नाम, जो लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर भारत के वायसराय हुए थे, अपने एक पत्र में उन्होंने यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि वे तथा उनके साथी ब्रिटिश सरकार तथा उसके शासन की कितनी भी कड़ी आलोचना क्यों न करें; वे अंग्रेज़ों के अभिन्न मित्र हैं। उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि यदि सरकार उन पर तथा उनके सहयोगियों पर विश्वास करे तो वे जर्मनों और जापानियों के विरुद्ध लड़ाई में बड़ी सहायता कर सकेंगे। पत्र के उत्तर में गवर्नर-जनरल लार्ड वेवल ने कहा कि यदि कांग्रेस समझौते की बातचीत प्रारम्भ करना चाहती है तो उसे पहिले 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव वापिस लेना और असहयोग की नीति को छोड़ना होगा। कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य अहमदनगर के क़िले में बन्द थे और उनसे मिलने की मनाही थी; इसलिये गांधी जी के लिये इन मांगों को स्वीकार करना असम्भव था। परिणामतः राजनीतिक ज़िच बनी ही रही।

राजगोपालाचारी की योजना :— जिस समय गांधी जी ने अपनी रिहाई के बाद राजनीतिक स्थिति को सुधारने के लिये लार्ड वेवल से बातचीत करनी शुरू की उसी समय श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने मुस्लिम लीग से पाकिस्तान के प्रश्न पर समझौता करने का प्रयास किया। उन्होंने एक योजना प्रस्तुत की जिससे गांधी जी सहमत थे। इसके अनुसार नीचे लिखी शर्तों के मातहत मुस्लिम लीग को भारत की स्वाधीनता की मांग का समर्थन करना था और संक्रमण काल (transitional period) के लिये अस्थायी राष्ट्रीय सरकार के निर्माण में कांग्रेस को योग देना था। शर्त यह थी :

'युद्ध की समाप्ति पर एक कमीशन नियुक्त किया जायगा जो भारत के उत्तर पश्चिम तथा पूर्व में स्थित उन निकटवर्ती ज़िलों की सीमा का निर्धारण करेगा जिनमें मुसलमान बहुमत में हैं। इस प्रकार निर्धारित किये गये क्षेत्रों में वयस्क मताधिकार अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य क्रियात्मक मताधिकार के आधार पर वहाँ के सब बाशिन्दों का जनमत (plebiscite) लिया जायगा जो इनके हिन्दुस्तान से पृथक् होने के प्रश्न का अन्तिम रूप से निश्चय करेगा। यदि बहुमत हिन्दुस्तान से पृथक् एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का निश्चय करता है तो इस निश्चय को कार्यान्वित कर दिया जायगा पर इसकी सीमा पर स्थित ज़िलों को हिन्दुस्तान और इस प्रकार बने पाकिस्तान में से किसी के भी साथ रहने की स्वतन्त्रता होगी। इन क्षेत्रों के एक स्वतन्त्र राज्य बन जाने की अवस्था में रक्षा व यातायात को सुरक्षित रखने और अन्य आवश्यक प्रयोजनों के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक पारस्परिक समझौता किया जायगा। आबादी का तबादला दोनों की इच्छा से होगा। ये शर्तें ब्रिटेन द्वारा भारत को उसके शासन के सम्बन्ध में पूर्ण शक्ति तथा उत्तरदायित्व हस्तान्तरित कर दिये जाने की सूरत में ही लागू होंगी।'*

इसका अर्थ यह है कि भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने और मुस्लिम-बहुमत क्षेत्रों में पूरी आबादी का 'जनमत' जानने के बाद गांधी जी पाकिस्तान की स्थापना करने के लिये राजी थे। श्री जिन्ना को यह योजना मान्य न थी। वे उत्तर पश्चिमीय सीमाप्रान्त, सिन्ध और बिलोचिस्तान के साथ सारा पंजाब, सारा बंगाल और समूचा आसाम जनमत के बिना लेना चाहते थे। महात्मा जी ने हिन्दु-मुस्लिम प्रश्न का हल निकालने के लिये श्री जिन्ना से उनके निवास-स्थान पर अनेक बार भेंट की पर उन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

फिलिप्स घटना :— यहां फिलिप्स की घटना का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि इससे जहाँ देश की ज़िच को दूर करने के प्रश्न के प्रति श्री चर्चिल और भारत सरकार के रुख का पता चलता है वहाँ यह क्रिप्स और वेवल योजनाओं की असफलता पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। श्री फिलिप्स भारत में प्रेज़ीडेन्ट रूज़वेल्ट के व्यक्तिगत प्रतिनिधि थे; उन्हें भारत में सब जगह जाने और सब व्यक्तियों से मुलाकात करने का पूर्ण अधिकार था। उन्होंने फरवरी १९४३ में महात्मा जी तथा कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों से भेंट करनी चाही। उन्होंने भारतीय प्रश्न के हल के लिये एक योजना तैयार की थी जिसे ब्रिटिश सरकार से मनवाने से पूर्व वे गांधी जी को दिखाना और उस पर उनकी स्वीकृति लेना चाहते थे। भारत सरकार ने उन्हें गांधी जी या कार्य समिति के सदस्यों से मुलाकात करने की अनुमति नहीं दी थी। जब वे बाद में श्री चर्चिल से वाशिंगटन में मिले तो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री उनके साथ बहुत अशिष्टता से पेश आये और उन्होंने कहा कि भारत का मामला इंग्लैण्ड का काम है और अमेरिका को उसमें दखल देने की कोई ज़रूरत नहीं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि न तो श्री चर्चिल और न भारत के वायसराय ही भारतीय ज़िच को दूर करने के लिये उत्सुक थे; इसके विपरीत वे इसे तब तक बनाये रखना चाहते थे जब तक उनके लिये ऐसा करना सम्भव था। श्री चर्चिल 'ब्रिटिश साम्राज्य का खात्मा' करने के लिये ब्रिटेन के प्रधान मंत्री नहीं बने थे।

वेवल-योजना व शिमला सम्मेलन :— यद्यपि अक्तूबर १९४३ में भारत पहुँचने के बाद लॉर्ड वेवल ने बताया था कि वे लन्दन से बहुत सी रहस्यमयी चीज़ें अपने साथ लाये थे और जनता उनसे बहुत जल्द किसी हल की आशा करती थी, उन्होंने अपने भावी कार्य-क्रम के बारे में कुछ भी नहीं कहा और मई १९४४ में महात्मा गांधी को रिहा करने के सिवाय और कोई कदम नहीं उठाया। लन्दन से वापिस आने के बाद ही, जहां उन्हें

* कांग्रेस का इतिहास— ग्रन्थ २, पृष्ठ ६३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय प्रश्न पर परामर्श देने के लिये श्री चर्चिल ने बुलाया था, उन्होंने इस दिशा में कार्य करना प्रारम्भ किया। उनकी लन्दन यात्रा के विषय में चन्द शब्द कहना आवश्यक है।

१९४५ में यूरोप में महायुद्ध पूर्णतया समाप्त हो चुका था और मित्र राष्ट्र उसमें विजयी हुए थे; ब्रिटेन में आम चुनावों का समय आ चुका था। ब्रिटिश संसद में मज़दूर दल के कुछ सदस्य चर्चिल की भारत-नीति की कड़ी आलोचना कर रहे थे और लॉर्ड सभा के एक मज़दूर सदस्य ने 'वेस्टमिन्स्टर कानून' (Statute of Westminster) को भारत पर लागू करने के लिये संसद में एक विधेयक पेश करना चाहा। पर लॉर्ड सभा ने उसे इस बात की अनुमति नहीं प्रदान की। इसके अतिरिक्त मज़दूर दल अपने चुनाव संग्राम में इस बात का प्रचार करता फिर रहा था कि वह साम्राज्य को स्वाधीनता और साथियों की भावना के आधार पर फिर से संगठित करना चाहता है। इन सब बातों ने श्री चर्चिल को कुछ बेचैन कर डाला। उन्हें भय था कि कहीं जनता मज़दूर दल की तरफ न झुक जाय। इसलिये उन्होंने मज़दूर दल की स्थिति को कमज़ोर करने और निर्वाचकों को यह जताने के लिये कि वे भारतीय समस्या का हल निकालने के लिये वास्तव में बहुत उत्सुक हैं, कुछ करने का निश्चय किया। इसी के अनुसार उन्होंने लॉर्ड वेवल को परामर्श के लिये लन्दन बुलाया। लॉर्ड वेवल ने २१ मार्च १९४५ को लन्दन के लिये प्रस्थान किया और ४ जून १९४५ को वे भारत वापिस लौट आये। १४ जून को उन्होंने एक भाषण ब्राडकास्ट किया जिसमें उन्होंने राजनीतिक ज़िच को समाप्त करने और देश को स्व-शासन के मार्ग पर आगे ले जाने के लिये तैयार किये गये सरकारी प्रस्तावों पर रोशनी डाली। श्री एमरी ने इसी आशय का एक वक्तव्य ब्रिटिश लोकसभा में दिया।

देश की राजनीतिक ज़िच को हल करने और उसे स्वराज्य की ओर ले जाने का दोहरा उद्देश्य वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् को पुनः संगठित करके पूरा किया जाना था। परिषद् रचना व गठन की दृष्टि से, वायसराय और कमाण्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त जो क्रमशः इसके प्रधान व युद्ध सदस्य होने थे, पूर्णतया भारतीय होनी थी। इसमें विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त सवर्ण हिन्दू तथा मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या बराबर रहनी थी। विभिन्न दलों के नेताओं से ऐसे व्यक्तियों की एक संयुक्त अथवा पृथक्-पृथक् सूची लेने के उद्देश्य से जो युद्ध संचालन के अतिरिक्त, जो कमाण्डर-इन-चीफ का कार्य था, सरकार के समस्त विभागों के प्रशासन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने को तैयार हों, वायसराय को देश के विभिन्न दलों के नेताओं का एक सम्मेलन बुलाना था। वायसराय ने यह भी बताया कि उसका विशेषाधिकार (Veto power) अक्षुण्ण रहेगा पर साथ ही उसने यह भी आश्वासन दिया कि वह उसे गलत तरीके से इस्तेमाल न करेगा। भारत मंत्री को सिर्फ भारत के हितों में ही हस्तक्षेप करने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार था। इसका अर्थ था कि वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् को स्थायी राष्ट्रीय सरकार की तरह कार्य करना था। कार्यकारिणी परिषद् के संगठन की प्रस्तावित योजना में भारत के भावी संविधान के स्वरूप के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया था। कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों को विचार-विमर्श में सम्मिलित होने का अवसर प्रदान करने के लिये सरकार ने उन्हें १६ जनवरी को जेल से रिहा कर दिया। वक्तव्य और कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यों की रिहाई देश की राजनीतिक ज़िच को दूर करने के लिये उठाया गया पहिला क़दम था। सब को बहुत बड़ी बड़ी आशाएँ थीं।

कांग्रेस ने शिमला सम्मेलन में सम्मिलित होने का निमंत्रण स्वीकार कर लिया; मुस्लिम लीग, सिक्खों, दलित वर्गों तथा केन्द्रीय विधान सभा के युरोपियन दल ने भी निमंत्रण स्वीकार कर लिया। सम्राट् की सरकार की योजनाओं पर विचार विनिमय करने के लिये शिमला सम्मेलन २५ जून १९४५ को लार्ड वेवल के सभापतित्व में प्रारम्भ हुआ। पहिले दो दिन कार्य करने के पश्चात् सम्मेलन दो दिन के लिये स्थगित हो गया और उसके बाद एक पखवारे से भी अधिक दिनों के लिये स्थगित हुआ। जब सम्मेलन १४ जुलाई को फिर प्रारम्भ हुआ तो लार्ड वेवल ने यह घोषित कर दिया कि नई कार्य-कारिणी परिषद् के निर्माण के प्रश्न पर कोई समझौता न होने के कारण सम्मेलन भंग हो गया। सम्मेलन के समक्ष अन्तिम दिन भाषण देते हुए उन्होंने कहा: 'मेरा सर्वप्रथम लक्ष्य था कि सम्मेलन नई बनने वाली कार्यकारिणी परिषद की संख्या तथा उसके निर्माण का ढंग निश्चित करे और इसके बाद विभिन्न राजनीतिक दल अपने नामों की सूची हमारे पास भेजें। इन सूचियों में यदि आवश्यकता होती तो मैं भी अपनी इच्छानुसार कुछ नाम जोड़ देता और इस प्रकार काग़ज़ पर एक ऐसी कार्यकारिणी परिषद् का निर्माण हो जाता जो सम्राट् की सरकार को, मुझे तथा सम्मेलन की स्वीकृत होती। मैंने अपने द्वारा चुने नामों की सूची को नेताओं के सामने विचार विमर्श करने और अन्त में उसे सम्मेलन के समक्ष रखने की इच्छा की थी। अभाग्यवश कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की संख्या और उसके निर्माण के ढंग पर सम्मेलन एकमत न हो सका। इसलिये २९ जून को सम्मेलन की अनुमति से मैंने समस्या का एक ऐसा हल सामने रखने का प्रयास किया जो पहिले से ही मान लिये गये किसी 'फारमूले' पर आधारित न हो। मैंने दलों से नामों की सूची माँगी और उनसे यह भी कहा कि यथाशक्ति मैं एक ऐसा हल रखने का प्रयत्न करूँगा जो नेताओं तथा सम्मेलन दोनों को ही मान्य हो। युरोपियनों या मुस्लिम लीग को छोड़कर यहाँ सम्मिलित होने वाले सभी दलों ने सूचियाँ भेज दीं। मैंने यह पूरा निश्चय कर लिया था कि सम्मेलन असफल न होने पायेगा और इसीलिये मैंने कुछ नाम भी चुने थे जिनमें मुस्लिम लीग के भी कुछ नाम सम्मिलित थे।

'किसी भी दल के अधिकारी की माँग को पूर्ण रूप से स्वीकृत करना मेरे लिये असम्भव था। जब मैंने समस्या का हल श्री जिन्ना के सामने रक्खा तो उन्होंने मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बताया कि वह मुस्लिम लीग को स्वीकृत न था। उनके निश्चय से मुझे यह अनुभव हो गया कि इस विषय पर और बातचीत व्यर्थ है।'

शिमला सम्मेलन की असफलता के कारण :— इस प्रकार शिमला सम्मेलन असफल रहा। इसकी असफलता के कारणों पर दृष्टिपात करना यहाँ असंगत न होगा। पहिली बात तो हमें इस सम्बन्ध में हमें यह समझनी है कि सम्मेलन इसलिये असफल नहीं रहा क्योंकि सम्राट् की सरकार के प्रस्तावों में जनता के प्रतिनिधियों को पर्याप्त शक्ति हस्तान्तरित नहीं की गई थी अथवा वे जनता की न्यूनतम मांगों को पूरा नहीं करते थे। गाँधी जी वेवल योजना में निहित भावना से पूर्णतया सन्तुष्ट थे और उनका विचार था कि इसमें स्वाधीनता बीज रूप में विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि इसकी असफलता का पूरा उत्तरदायित्व कांग्रेस पर नहीं थोपा जा सकता। यह इसलिये असफल हुआ क्योंकि श्री जिन्ना की माँगें कांग्रेस, जमय्यत-उल-उलेमा, राष्ट्रीय मुसलमानों और मलिक खिज़र हयात खाँ को मान्य न थीं। गवर्नर-जनरल मुस्लिम लीग की स्वीकृति एवं सहयोग के बिना अस्थायी समझौता करने को तैयार न था। वायसराय की इस मनोवृत्ति ने देश की राजनीतिक प्रगति के क्षेत्र में मुस्लिम लीग के हाथों में पूर्ण निषेधाधिकार अथवा 'वीटो' दे दिया और श्री जिन्ना ने इस शक्ति का अधिकतम प्रयोग किया।

अनेक व्यक्तियों का उस समय यह विश्वास था कि वेवल-योजना चर्चिल का चुनाव जीतने का ढोंग था और सरकार श्री जिन्ना की आड़ में अपनी शक्ति बनाये रखना चाहती थी, नहीं तो कोई कारण नहीं था कि क्यों उसने उनकी और मुस्लिम लीग की अनुपयुक्त माँगों को नहीं ठुकराया। द्वितीय गोल मेज़ सम्मेलन के समय युरोपियनों तथा मुस्लिम लीग के बीच की मैत्री अब तक जारी थी। और न श्री चर्चिल से यह आशा की जा सकती थी कि वे भारत के प्रति इतनी जल्दी अपना रुख बदल लेंगे और भारतीयों को शक्ति हस्तान्तरित करने को तय्यार हो जायँगे। इस सम्बन्ध में 'भारतीय राष्ट्रीय महासभा के इतिहास' से डाक्टर पट्टाभि सीतारामय्या का निम्न अवतरण उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं— "तीन वर्ष पूर्व अप्रैल १९४२ में कांग्रेस ने क्रिप्स-बातचीत को भंग किया था। शिमला में वेवल-योजना को लीग ने तोड़ा यद्यपि इसका सारा दोष लार्ड वेवल ने अपने ऊपर ले लिया। दिल्ली में जो क्रिप्स के साथ हुआ ठीक वही शिमला में वेवल के साथ हुआ। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के अनुसार 'वायसराय ने उन्हें पहली मुलाकात में विश्वास दिलाया था कि सम्मेलन में किसी भी दल को समझौते को रोकने का अधिकार न दिया जायगा। प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि श्री जिन्ना क्या करेंगे और उसे यह भी विश्वास था कि वायसराय ने इस सम्भावना के विरुद्ध श्री जिन्ना से उचित रूप से निबटने के लिये पूरी शक्ति अपने हाथ में रक्खी हुई है।' फिर भी अन्तिम समय में जिस प्रकार क्रिप्स का हाथ रोका गया था उसी प्रकार वेवल का हाथ भी रोक लिया गया।" यह भी बहुत दिलचस्प बात है कि इंगलैण्ड में चुनाव के समाप्त होते ही वेवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मेलन भी समाप्त हो गया।

श्री जिन्ना की माँगों को स्वीकार न करने का कारण कांग्रेस प्रेज़ीडेंट मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने कांग्रेस के सम्मुख दिये अपने वक्तव्य में स्पष्ट किया। उन्होंने यह बताया कि मुस्लिम लीग नई कार्यकारिणी परिषद् के सभी मुसलमान सदस्यों की नियुक्ति केवल अपना ही अधिकार समझती थी और इस मामले में किसी दूसरे का हिस्सा नहीं चाहती थी। मुस्लिम लीग का यह दावा निरर्थक तथा तर्कहीन था; कांग्रेस यह स्थिति स्वीकार नहीं कर सकती थी। कांग्रेस कोई हिन्दुओं की संस्था नहीं थी। वह अपने पचास वर्षों का इतिहास कैसे भुला सकती थी। एक मुसलमान की हैसियत से मौलाना आज़ाद कांग्रेस को केवल हिन्दू संगठन मानने के लिये प्रस्तुत न थे। कांग्रेस को मुसलमानों की भलाई तथा उनके उत्तरदायित्वों में भाग लेने का पूरा अधिकार था। पंजाब के प्रमुख मन्त्री मलिक खिज़्र हयात खाँ तिवाना मौलाना साहब के विचारों से सहमत थे और उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि कार्यकारिणी परिषद् के सभी मुसलमान सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार मुस्लिम लीग को कदापि नहीं मिल सकता। लीग की माँग को स्वीकार करने का अर्थ होता ग़ैर-लीगी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व ही न हो पाना। इस सम्बन्ध में इस तथ्य पर भी ध्यान रखना चाहिये कि हिन्दू मुस्लिम समस्या के निराकरण का कांग्रेस ने पहिले जितना भी प्रयत्न किया उसकी असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि मुस्लिम लीग को ही भारत के मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था मानने की श्री जिन्ना की माँग को वह स्वीकार न कर सकी। इस मांग को स्वीकार करने का अर्थ था कांग्रेस द्वारा अपने अखण्ड भारत के उद्देश्य की तिलाञ्जलि तथा अपने राष्ट्रीय स्वरूप का विनाश। लेकिन मुस्लिम लीग भी झुकने को तय्यार न थी क्योंकि यही माँग तो पाकिस्तान का आधार थी। शिमला सम्मेलन की असफलता का तात्कालिक कारण मुस्लिम लीग की पाकिस्तान तथा कांग्रेस की अखण्ड भारत की मांग में गहरे और न मिटने वाले विरोध का द्योतक था। इसकी असफलता का दोष अन्त में ब्रिटिश सरकार पर ही डाला जाना चाहिये। इसके प्रतिनिधियों ने न ईमानदारी से कार्य किया और न दृढ़ता से। कुछ व्यक्तियों का विचार था कि जिस प्रकार क्रिप्स-योजना अमेरिकन दबाव का परिणाम थी, शिमला सम्मेलन रूसी दबाव का परिणाम था। अगर यह बात सच मान ली जाय तो भी इसकी असफलता से हमें आश्चर्य न होना चाहिये।

यद्यपि शिमला-सम्मेलन असफल रहा फिर भी उसका कुछ न कुछ परिणाम तो हुआ ही। एक ओर तो इसने यह स्पष्ट कर दिया कि शक्ति का वास्तविक परिवर्तन होने पर कांग्रेस शासन में भाग लेने के लिये प्रस्तुत थी और दूसरी ओर यह कि भारतीय समस्या के हल के लिये सरकार तैयार थी, तैयारी चाहे दिखावटी ही क्यों न रही हो। सम्मेलन में भाग लेने के लिये सरकार ने कांग्रेस कार्य समिति के सभी सदस्यों को कैद से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिहा कर दिया था। देश की राजनीतिक ज़िच के सुलझाव के लिये यह अनिवार्य था भी। इस सम्मेलन का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम भी हुआ जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है। १९४२ का आन्दोलन कुचल दिये जाने के कारण देश में बड़ी निराशा फैली हुई थी और देशवासियों की हिम्मत पस्त हो गई थी। शिमला-सम्मेलन के बाद पण्डित जवाहर लाल नेहरू तथा सरदार पटेल के भाषणों तथा कांग्रेस पर प्रतिबन्ध उठा लिये जाने से देश में फैली निराशा में काफी कमी हुई।* इन नेताओं ने लोगों को बताया कि क्रोध के क्षणों में पथ-हीन जनता ने जो कुछ भी किया उसके लिये शर्मिन्दा होने की कोई बात नहीं है। हालांकि अहिंसा के पूर्ण पालन में कभी कभी भूल अवश्य हुई, फिर भी स्वतन्त्रता की भावना से प्रेरित होकर लोगों ने जो वीरता प्रदर्शित की वह प्रशंसनीय है। लेकिन इसका ग़लत अर्थ लगाकर लोग कहीं यह न समझने लगें कि कांग्रेस अहिंसा के उस सिद्धान्त से हट गई है जो १९२० से ही उसकी आधार-शिला रही थी, कांग्रेस कार्यसमिति ने १९४५ के दिसम्बर में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें निम्नलिखित शब्द भी थे: 'देशवासियों ने वीरता तथा त्याग के अनेक कार्य किये फिर भी कुछ ऐसे कार्य हुए जिन्हें अहिंसा में स्थान नहीं मिल सकता।' लोगों के पथ-प्रदर्शन के लिये कांग्रेस की कार्यसमिति ने यह निश्चित कर दिया कि अहिंसा में सम्पत्ति जलाने, तार काटने, रेल की पटरियां उखाड़ने तथा लोगों पर आतंक जमाने को स्थान नहीं है।

शिमला-सम्मेलन के बाद :— देश की स्थिति समझने तथा ज़िच हटाकर देश में साधारण राजनीतिक जीवन की स्थापना के लिये पहली तथा दूसरी अगस्त १९४५ को लार्ड वेवल ने प्रान्तीय गवर्नरों का एक सम्मेलन बुलाया। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उस सम्मेलन में धारा ९३ के अनुसार शासित प्रान्तों में स्व-शासन को फिर से जारी करने तथा आम चुनावों के प्रश्नों पर बहस हुई। वाइसराय ने आम चुनाव करने का निश्चय किया। इस बीच में ग्रेट ब्रिटेन में परिस्थितियां बदल गईं। जर्मनी के बिना शर्त आत्म-समर्पण के बाद हुए साधारण चुनाव में मज़दूर दल विजयी हुआ। सर्वश्री चर्चिल तथा एमरी, भारतीय स्वतंत्रता के इन चिर विरोधियों, के स्थान पर मेजर एटली तथा लार्ड पैथिक लारेंस क्रमशः ब्रिटेन के प्रधान मंत्री और भारत-मंत्री बने। नयी मज़दूर सरकार ने नये सिरे से तथा भारत सम्बन्धी सभी समस्याओं पर सम्यक् दृष्टिपात करने के लिये लार्ड वेवल को इंग्लैण्ड आमन्त्रित किया। लन्दन से लौटने के बाद लार्ड वेवल ने एक सन्देश ब्रॉडकास्ट किया जिसमें उन्होंने कहा: 'भारतीय जनमत के नेताओं की राय से सम्राट् की सरकार स्वराज्य की शीघ्र से शीघ्र स्थापना के लिये प्रस्तुत है। अपनी लन्दन यात्रा के सिलसिले में हमने उन सभी चीज़ों पर विचार विनिमय किया है जो देश में लागू की जायँगी। इस विषय में घोषणा की जा चुकी है

* नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा संगठित आज़ाद हिंद फौज और उसके कुछ अफसरो के लाल किला, दिल्ली में मुकदमे ने देश में एक नया जोश उत्पन्न कर दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि लड़ाई के कारण अब तक बन्द रहने वाले केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-सभाओं के चुनाव आगामी सर्दियों में किये जायेंगे। इसलिये सम्राट् की सरकार की यह उत्कट इच्छा है कि सभी प्रान्तों के राजनीतिक नेता मंत्रित्व का भार स्वीकार करें। सम्राट् की सरकार की यह भी इच्छा है कि जितनी शीघ्र सम्भव हो एक संविधान परिषद् बिठाई जाय और इसी लिये प्रारम्भिक क़दम उठाने के सम्बन्ध में उसने मुझे चुनाव के तुरन्त बाद प्रान्तों के विधानमंडलों के प्रतिनिधियों से बातचीत करने का अधिकार दिया है ताकि यह निश्चित हो जाय कि १९४२ की घोषणा की योजना उन्हें स्वीकार है या इसके बदले में किसी परिवर्धित योजना की आवश्यकता है। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों से भी यह निश्चय करने के लिये विचार विनिमय होगा कि संविधान परिषद् में वे अपना पार्ट किस प्रकार अदा कर सकते हैं।' ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री एटली ने भी इसी आशय की एक घोषणा इसी तारीख को लन्दन से ब्रॉडकास्ट की।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक सितम्बर के अन्त में हुई और उसने गवर्नर-जनरल द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्तावों पर अच्छी प्रकार विचार किया। ये प्रस्ताव उसे 'गोलमटोल, अनिश्चित तथा असन्तोषप्रद' प्रतीत हुए और उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि 'कांग्रेस तथा देश को स्वतन्त्रता से कम कोई भी चीज़ स्वीकृत न होगी।' मताधिकार के संकुचित तथा अन्य अड़चनों के होते हुए भी इसने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानमंडलों के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया।

कांग्रेस चुनाव-घोषणा-पत्र :— कांग्रेस ने एक लम्बा चुनाव-घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जिसमें उसने अपने पुराने इतिहास, अपनी सफलताओं तथा भविष्य के कार्यक्रम की संक्षिप्त चर्चा की और देश के सभी मतदाताओं से आने वाले चुनाव में हर प्रकार से संभव सहायता की मांग की। इन चुनावों में जीवन की छोटी छोटी चीज़ों, व्यक्तिगत स्वार्थों तथा वर्गगत लाभों को स्थान न था। महत्त्व केवल एक चीज़ का था: 'मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता, जिससे सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएं अपने आप मिल जाती हैं।' ८ अगस्त १९४२ का प्रसिद्ध प्रस्ताव घोषणा-पत्र का केन्द्र-बिन्दु बनाया गया। इसमें कहा गया कि 'अपनी ८ अगस्त १९४२ की मांग और चुनौती पर कांग्रेस आज भी स्थिर है। इसी प्रस्ताव के आधार पर तथा इसी को युद्ध का नारा बनाकर कांग्रेस चुनाव का सामना कर रही है।'

लीग ने भी यह घोषणा की कि वह पाकिस्तान तथा भारत के समस्त मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने के अपने दावे के प्रश्नों पर चुनाव लड़ेगी।

निर्वाचन परिणाम :— जैसी कि आशा थी कांग्रेस ने साधारण निर्वाचन क्षेत्रों में पूरी विजय पाई। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में भी इसके अनेक उम्मीदवारों का कोई विरोध नहीं हुआ और जहाँ कहीं भी हिन्दू महासभा के तथा लिबरल या स्वतन्त्र उम्मीदवारों ने विरोध करने की हिम्मत की वहीं उन्हें मुंह की खानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी ; अनेक जगहों में तो उनकी जमानत भी ज़ब्त हो गई। हालांकि पंजाब के सिक्ख निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस को कुल मतों की संख्या के आधे मत मिले, फिर भी वह सिक्ख सीटों की केवल एक तिहाई सीटें पा सकीं। लेकिन मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में दूसरी ही दशा रही। संयुक्त प्रांत तथा आंशिक रूप से आसाम को छोड़कर हिन्दुओं की अधिक संख्या वाले सभी प्रांतों में कांग्रेस द्वारा खड़े किये सभी मुसलमान-उम्मीदवार हार गये। मुसलमानों की अधिक संख्या वाले चार प्रान्तों में से दो प्रान्तों— पंजाब तथा बंगाल— में मुस्लिम लीग को महत्त्वपूर्ण विजय मिली। सिन्ध में लीग को मुसलमानी सीटों में अधिकतर सीटें मिलीं और कांग्रेस का पक्ष लेने वाले दलों का वहाँ अल्पमत रहा। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेस को बहुसंख्यक सीटें मिलीं हालांकि १९३७ के चुनाव के मुक़ाबिले में लीग को इस बार अधिक सफलता मिली। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि चुनाव में कांग्रेस तथा लीग दोनों ही देश के मज़बूत राजनीतिक दल साबित हुए। कांग्रेस इस बात का दावा कर सकती थी कि उसके १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त था क्योंकि उसे एक करोड़ नब्बे लाख वोट मिले। उसी तरह मुस्लिम लीग भी यह कह सकती थी कि भारतीय मुसलमानों के बहुसंख्यक भाग का उसमें विश्वास था क्योंकि उसे १५ लाख वोट मिले जो वोटों की पूरी संख्या के ७५% थे। राष्ट्रीय तथा अन्य ग़ैर-लीगी मुसलमानों को ५ लाख, या कुल वोटों के २५% से कुछ अधिक वोट मिले, फिर भी उन्हें मुसलमान सीटों की आनुपातिक संख्या न मिली। अप्रैल १९४६ में जब मंत्रिमंडल बने तो हिन्दुओं के बहु-संख्या वाले सभी प्रान्तों तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेस को शक्ति मिली और मुस्लिम लीग ने बंगाल तथा सिन्ध में सरकार बनाई। पंजाब में कांग्रेस, अकालियों तथा 'यूनियनिस्टों' ने संयुक्त मंत्रिमंडल बना लिया और इस प्रकार अकेले सबसे बड़ी पार्टी वाली मुस्लिम लीग से इनकी सम्मिलित संख्या बहुत बढ़ गई।

एटली की घोषणा :— कांग्रेस स्थिति में परिवर्तन की प्रतीक्षा में थी; सम्राट् की सरकार से उसे यह आशा थी कि वह १९४५ की वायसराय की सितम्बर-घोषणा के अनुसार कोई निश्चित कदम उठायेगी। इसी बीच १५ मार्च को बिटिश प्रधान मंत्री श्री एटली ने हाउस आफ कॉमन्स में एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की जिसमें उन्होंने भारत के स्वातन्त्र्य अधिकार को स्वीकृत किया और अपनी सरकार का यह निश्चय भी स्पष्ट किया कि वह भारतीयों की स्वतन्त्रता-प्राप्ति में पूर्ण सहायक होगी और बहुसंख्यक लोगों की उन्नति का ध्यान रखकर वह अल्पसंख्यक लोगों को 'वीटो पावर' न देगी; उन्हें तथा उनकी सरकार को अल्पसंख्यकों का पूरा ध्यान है। इन शब्दों ने भारतीयों के हृदय में बड़ी बड़ी आशाएं उत्पन्न कर दीं और वे यह सोचने लगे कि चर्चिल-सरकार ने मुसलमानों के हाथ में जो 'वीटो' रख छोड़ा था वह अब लौटा लिया गया है। परन्तु ये आशाएँ अपूर्ण ही रहीं। पाकिस्तान की मांग स्वीकृत हुए बिना लीग भारतीय समस्या के हल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब भी अड़ंगा लगा सकती थी।

केबिनेट-मिशन :— प्रधान मंत्री ने यह भी घोषणा की कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन उच्च पदासीन सदस्यों— भारतमंत्री लार्ड पैथिक लारेंस, व्यापार बोर्ड के प्रेसीडेंट सर स्टैफर्ड क्रिप्स तथा फर्स्ट लार्ड आफ दि एडमिरेलिटी श्री ए. वी. एलेग्ज़ांडर— का एक दल भारतीय जनमत के नेताओं से भारत के विधान के निर्माण के विषय में विचार विमर्श करने हिन्दुस्तान जा रहा है। प्रधान मंत्री ने आगे कहा: 'मेरे सहयोगी भारत इस उद्देश्य से जा रहे हैं कि वे वहाँ के देशवासियों की शीघ्र से शीघ्र स्वतन्त्रता-प्राप्ति में सहायता करें। वर्तमान सरकार के बदले भारत में कौनसी सरकार रहेगी, यह निश्चित करना भारतीयों का कार्य है, लेकिन हम उसे इस प्रकार की एक मशीनरी स्थापित करने में अवश्य सहायता देना चाहते हैं जो यह निश्चय करे।'

केबिनेट मिशन करांची में ३० मार्च १९४६ को हवाई जहाज़ से उतरा और दूसरे ही दिन दिल्ली पहुँच गया। करांची में एक वक्तव्य के अवसर पर लार्ड पैथिक लारेंस ने कहा, 'ब्रिटिश जनता तथा सरकार की ओर से हम यहाँ के देशवासियों के लिये मित्रता तथा सौहार्द का एक सन्देश लाये हैं। हमें विश्वास है कि भारत महान भविष्य के द्वार पर खड़ा है।'

केबिनेट मिशन ने देश की समस्या किस रूप में हल करनी चाही उसका यहाँ विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं है। हाँ, इतना ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि वैसे तो केबिनेट मिशन के सदस्यों ने यह घोषणा करदी थी कि वे इस देश में खुले दिमाग तथा निष्पक्ष हृदय के साथ आ रहे हैं किन्तु ऐसा करना बहुत कठिन था। ब्रिटिश सरकार के पिछले वायदों से वे कुछ न कुछ अवश्य बंधे थे। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उनका उद्देश्य एक नई वैधानिक रूपरेखा तैयार करना तथा केन्द्र में एक अस्थायी प्रतिनिधि सरकार की स्थापना था, विधान का निर्माण नहीं। इस कार्य के लिये देश की विभिन्न राजनैतिक पार्टियों, वर्गों तथा हितों का दृष्टिकोण समझना इन सदस्यों के लिये अत्यावश्यक था। इसलिये उन्होंने भारतीय नेताओं से विचार-विनिमय करना तथा उनकी सलाह लेना प्रारम्भ किया। सबसे पहिले उन्होंने एक सम्मेलन किया जिसमें गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर सम्मिलित थे। बाद में उन्होंने कांग्रेस, लीग तथा अन्य दलों के प्रतिनिधियों को जिसमें कुछ राजे तथा बड़ी रियासतों के प्रधान मंत्री भी सम्मिलित थे, आमंत्रित किया। कुल मिलाकर १८२ बैठकें हुईं जिनमें ४७२ नेताओं से विचार विनिमय हुआ। इस संख्या से यह ज्ञात होता है कि विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले दलों की संख्या देश में कितनी अधिक थी। लेकिन केबिनेट मिशन के सदस्यों का प्रमुख सम्बन्ध तो कांग्रेस तथा लीग के नेताओं से था और इनसे विचार विनिमय के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि वैधानिक मशीन (Constitutional machinery), संविधान परिषद् तथा आन्तरिक सरकार के सम्बन्ध में इन लोगों का मत एकदम भिन्न था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिशन ने इन प्रमुख दलों में समझौता करने का सच्चा प्रयत्न किया। उसने शिमला में तीन प्रमुख दलों का एक सम्मेलन भी किया जिसमें तीन कांग्रेस के प्रतिनिधि, तीन लीग के प्रतिनिधि, वायसराय तथा मिशन के तीनों सदस्य सम्मिलित थे। समझौते के लिये मिशन के सदस्यों ने एक योजना प्रस्तुत की जो नीचे दिये हुए सिद्धान्तों पर आधारित थी: भारत में संघ-शासन की स्थापना हो जो विदेशी मामलों, रक्षा तथा यातायात की व्यवस्था करे; प्रान्तों को दो भागों में श्रेणीबद्ध किया जाय; पहिली श्रेणी में हिन्दुओं की बहुसंख्या वाले तथा दूसरी में मुसलमानों की बहुसंख्या वाले प्रान्त रहें। प्रत्येक भाग शेष बचे ऐसे विषयों की देख भाल करे जिन्हें उसमें रहने वाले प्रान्त सम्मिलित रूप से चाहें। प्रान्तीय सरकारों को अन्य सभी विषयों की देखभाल करने का अधिकार हो और उन्हें अवशिष्ट शक्तियाँ मिलें।

त्रिदल-सम्मेलन की बैठक एक सप्ताह— ५ से ११ मई तक— हुई। खूब अच्छी प्रकार विचार-विनिमय हुआ; कांग्रेस तथा लीग दोनों ही एक दूसरे के साथ रियायत के लिये प्रस्तुत थे लेकिन अन्त में दोनों के बीच खाई न भर सकी और इसलिये समझौता न हो सका। कांग्रेस सूबे के वर्गीकरण के सिद्धान्त के पक्ष में न थी। सम्मेलन की असफलता १२ मई को घोषित कर दी गई। केबिनेट मिशन तथा वायसराय दिल्ली चले आये और १६ मई को उन्होंने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें समझौते के लिये कुछ योजनाएँ दी गई थीं। सम्राट् की सरकार ने इन योजनाओं को अपनी पूरी स्वीकृति दी थी।

मुसलमानों की इस व्यग्रता से कि कहीं ऐसा न हो कि उन्हें बहुसंख्यक हिन्दुओं के कठोर शासन में रहना पड़े, केबिनेट मिशन के सदस्य बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने मुसलमानों की पाकिस्तान के स्वतन्त्र सर्वप्रभुत्वसम्पन्न राज्य की माँग को अच्छी तरह सोचा समझा। अन्त में वे इस निश्चय पर पहुँचे कि मुसलमानों द्वारा निर्धारित की हुई रूपरेखा के अनुसार पाकिस्तान के निर्माण से साम्प्रदायिक समस्या का निराकरण न होगा; और न उन्हें इसमें ही कोई संगत तर्क दिखाई पड़ा कि पंजाब, बंगाल तथा आसाम के अधिकांशतः गैर-मुस्लिम जनसंख्या वाले ज़िलों को पाकिस्तान के अन्दर सम्मिलित कर लिया जाय। उनकी दृष्टि से पाकिस्तान के पक्ष में जो तर्क प्रयुक्त हो सकते थे वही गैर-मुस्लिम ज़िलों के उसमें न सम्मिलित किये जाने के पक्ष में भी लागू हो सकते थे। पश्चिमोत्तर भाग में, जिसमें पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, सिन्ध तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान सम्मिलित थे, गैर मुसलमानों की संख्या कुल जनसंख्या की ३८% थी तथा बंगाल तथा आसाम वाले उत्तर-पूर्वी भाग में कुल जनसंख्या की ४८%। उन्होंने इस पर भी विचार किया कि मुसलमानों की अधिक संख्या वाले क्षेत्रों तक सीमित पाकिस्तान समझौते का आधार हो सकता है या नहीं, लेकिन यह विचार अव्यवहार्य निकला। इस विचार को व्यवहार रूप में परिणत किये जाने पर पंजाब तथा बंगाल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीघ्र विभाजन हो जाता और यह उन प्रान्तों की एक बड़ी संख्या की इच्छाओं तथा हितों के विरुद्ध पड़ता। मुस्लिम लीग को भी यह योजना पसन्द न थी क्योंकि इसके अनुसार मूल्यवान क्षेत्र पाकिस्तान से निकल जाते थे जिनके बिना पाकिस्तान अधूरा रह जाता।

इसके अतिरिक्त शासन सम्बन्धी, आर्थिक तथा फौजी कुछ और भी महत्त्वपूर्ण कारण थे जो देश के विभाजन के प्रतिकूल पड़ते थे। पाकिस्तान के निर्माण से अखण्ड भारत के आधार पर स्थापित यातायात तथा डाक तार का सारा प्रबन्ध छिन्न-भिन्न हो जाता, देश की सेना का भी विभाजन आवश्यक हो जाता जिससे फौज की प्रतिष्ठा तथा उसकी परम्परा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता। इन कारणों तथा अन्य कई बातों को ध्यान में रखकर मिशन ने ब्रिटिश सरकार को दो स्वतन्त्र राज्यों को सत्ता हस्तान्तरित करने की सलाह देने में अपने को असमर्थ पाया।

इसी प्रकार संघ-राज्य की कांग्रेसी योजना पर भी मिशन ने विचार किया। इस योजना के अनुसार विदेशी मामलों, रक्षा तथा यातायात— इन केन्दीय विषयों को छोड़कर प्रान्त अपने पूरे शासन में स्वतन्त्र रहते। शासन सम्बन्धी तथा आर्थिक योजनाओं में ऊँचे परिणाम पर भाग लेने की इच्छा होने पर प्रान्तों को इन तीन आवश्यक विषयों के अतिरिक्त कुछ और वैकल्पिक विषय भी देने पड़ते। मिशन के सदस्यों के अनुसार यह योजना ऐसी कुछ महत्त्वपूर्ण परिस्थितियां उत्पन्न करती जो वैधानिक रूप से असंगत पड़तीं। इसलिये मिशन ने इस योजना को भी अस्वीकृत कर दिया।

केबिनेट मिशन ने ब्रिटिश भारत तथा भारतीय रियासतों के सम्बन्ध पर भी विचार किया और यह मत प्रकट किया कि नयी परिस्थितियों में ब्रिटिश सम्राट् के लिये सर्वोपरि सत्ता (Paramountcy) अपने हाथ में रखना या उसे ब्रिटिश भारत की सरकार को दे देना असम्भव होगा। यह अच्छा हुआ कि भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों ने भारत के नये विकास में पूरे सहयोग की इच्छा प्रकट की। वैधानिक ढांचे के निर्माण के समय उनके इस सहयोग का क्या रूप होता इसे निश्चित करना ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के प्रतिनिधियों का काम था।

केबिनेट मिशन योजना :— मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग को अव्यवहार्य तथा कांग्रेस की संघ राज्य की योजना को वैधानिक रूप से अनुपयुक्त बताकर केबिनेट मिशन ने एक ऐसी योजना रखने का प्रयत्न किया जो सभी दलों की संगत मांगों की पूर्ति तथा समूचे भारत के लिये एक स्थायी तथा व्यवहार्य विधान का निर्माण करती। विधान का रूप निम्नलिखित होता :—

(i) ब्रिटिश भारत तथा रियासतों को मिलाकर एक भारतीय संघ बनता जो विदेशी मामलों, रक्षा तथा यातायात की देखभाल करता और जो इन विषयों के लिये आवश्यक वित्त (Finance) एकत्रित करने की शक्ति भी रखता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ii) संघ की एक कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका होती जिसमें ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के प्रतिनिधि रहते। व्यवस्थापिका सभा में उत्पन्न होने वाले किसी बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न के हल के लिये दोनों बड़े दलों के अलग अलग प्रतिनिधियों के बहुमत और साथ ही साथ सदस्यों की पूरी संख्या का बहुमत आवश्यक था।

(iii) संघीय विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषय तथा सभी अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों को मिलतीं।

(iv) संघ को दी हुई शक्तियों तथा विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषय तथा शक्तियां रियासतों के पास रहतीं।

(v) प्रान्तों को इस बात का अधिकार था कि वे अलग अलग ग्रुप बनायें और प्रत्येक ग्रुप की अलग अलग कार्यपालिका तथा विधानमंडल होता।

(vi) संघ तथा इन समुदायों के संविधान में एक धारा रहती जिसके अनुसार अपने विधानमंडल के बहुसंख्यक वोट द्वारा किसी भी प्रान्त को संविधान की धाराओं पर पुनर्विचार कराने का अधिकार रहता। यह अधिकार पहिले पहल दस वर्षों बाद और फिर प्रत्येक दस वर्ष बाद लागू हो सकता।

केबिनेट मिशन को देश के लिये भविष्य में बनने वाले विधान के सम्बन्ध में उपरोक्त धाराएँ बनानी पड़ीं क्योंकि समझौते की बातचीत के दौरान में उन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि इस प्रकार की योजनाओं के बिना इस बात की कोई आशा नहीं की जा सकती थी कि दोनों प्रमुख दल विधान बनाने वाली मशीन को अपना सहयोग देते।

इसके बाद मिशन ने संविधान बनाने वाली संस्था का प्रश्न हाथ में लिया। देश में बालिग मताधिकार न होने, विभिन्न प्रान्तों के विधानमंडल के सदस्यों की संख्या उन प्रान्तों की सम्पूर्ण जन-संख्या के अनुसार आनुपातिक न होने तथा प्रत्येक प्रान्त के विधानमंडल की सदस्यता का वहां के विभिन्न वर्गों की सम्पूर्ण संख्या से मेल न बैठने के कारण विधान परिषद् की स्थापना एक कठिन कार्य बन गई। विभिन्न तरीकों से सतर्कतापूर्वक निरीक्षण के बाद केबिनेट मिशन ने यह निश्चित किया कि सबसे अधिक उपयुक्त योजना यह होगी कि (अ) अपनी जन-संख्या के अनुसार प्रत्येक प्रान्त की सीटें निश्चित कर दी जायं जो प्रत्येक दस लाख व्यक्तियों के लिये एक सीट के अनुपात में हों; बालिग मताधिकार के स्थान पर यही सब से उपयुक्त चीज़ थी; (ब) प्रत्येक प्रान्त की सीटें उस प्रान्त के बड़े सम्प्रदायों में उनकी जन-संख्या के अनुसार विभाजित कर दी जायें; और (स) यह निश्चित कर दिया जाय कि प्रान्त के प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधियों का चुनाव विधान-सभा में उसके सदस्यों द्वारा होगा। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर मिशन ने साधारण, मुस्लिम तथा सिक्ख— केवल इन तीनों को ही प्रमुख सम्प्रदाय माना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर दिये हुए आधार के अनुसार संविधान परिषद् की कुल संख्या ३८५+४= ३८९ रक्खी गई। ब्रिटिश भारत में २९२ सदस्य गवर्नरों के प्रान्तों से तथा ४ सदस्य चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों से होते। भारतीय रियासतों के अधिक से अधिक ९३ प्रतिनिधि रहते। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का विभिन्न प्रान्तों तथा सम्प्रदायों में विभाजन निम्नलिखित रूप से करने का प्रस्ताव था :

भाग (अ)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	कुल योग
मद्रास	४५	४	४९
बम्बई	१९	२	२१
उत्तर प्रदेश	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्य प्रान्त	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
कुल संख्या	१६७	२०	१८७

भाग (ब)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिक्ख	कुल योग
पंजाब	८	१६	४	२८
पश्चिमोत्तर प्रान्त	०	३	०	३
सिन्ध	१	३	०	४
कुल योग	९	२२	४	३५

भाग (स)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	कुल योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
कुल योग	३४	३६	७०

चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करने के लिये भाग (अ) में तीन सदस्य— दिल्ली, अजमेर, मेरवाड़ा और कुर्ग, इन तीनों से एक एक— जोड़ दिये जाते। ब्रिटिश बिलोचिस्तान को प्रतिनिधित्व देने के लिये एक सदस्य भाग (ब) में जोड़ा जाता। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों की संख्या ९३ से अधिक न होती। इनके चुनाव की निश्चित प्रणाली विचार विनिमय के पश्चात् तय होती। प्रारम्भिक दशा में रियासतों का प्रतिनिधित्व एक समझौता कमेटी (Negotiating Committee) करती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६ मई की घोषणा ने संविधान परिषद् की पहिली बैठक का कार्य भी निश्चित किया। इस कार्य में अध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारियों का चुनाव, नागरिकों, अल्पसंख्यकों, क़बायली तथा अपवर्जित क्षेत्रों (Excluded areas) के अधिकारों के अनुसार परामर्श-समिति (Advisory Committee) का चुनाव तथा ऊपर दिये हुये नक्शे के अनुसार प्रान्तीय प्रतिनिधियों का तीन भागों— अ, ब, स— में विभाजन सम्मिलित था। ये भाग अपने में सम्मिलित प्रान्तों का विधान निश्चित करते और यह भी तय करते कि कोई वर्गीय विधान (Group Constitution) बनता या नहीं; यदि हाँ तो सम्मिलित विधान के जिम्मे कौन कौन से प्रान्तीय विषय रहते। प्रान्तों को अपने वर्ग से निकल जाने का अधिकार भी दिया गया।

घोषणा में आयी हुई अन्य चीज़ों में से केवल दो और का हमारे लिये यहाँ संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। सत्ता हस्तान्तरण के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई कुछ परिस्थितियों से निबटने के लिये घोषणा में संघीय विधान परिषद् तथा ब्रिटेन में एक संधि कराने की व्यवस्था थी। प्रमुख राजनीतिक दलों के सहयोग से एक अंतरिम सरकार की शीघ्र स्थापना पर सबसे अधिक ज़ोर दिया गया। अन्तरिम सरकार में युद्ध विभाग तथा सभी विभाग 'उन राजनीतिक नेताओं के हाथ में रक्खे जाते जिन पर जनता का पूरा विश्वास रहता। इस प्रकार बनी सरकार को ब्रिटिश सरकार का पूरा सहयोग रहता; शीघ्र से शीघ्र अपने ऊपर सारा उत्तरदायित्व ले लेने की शक्ति प्राप्त करने के लिये वह हर प्रकार की सहायता देती।'

कैबिनेट-मिशन-योजना का मूल्यांकन:— कैबिनेट-मिशन-योजना के ठीक ठीक मूल्यांकन के लिये हमें उन परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिये जिनमें इसकी कल्पना तथा घोषणा हुई थी। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि देश में उत्पन्न हुई राजनीतिक ज़िच के हल के लिये ब्रिटिश सरकार पूर्ण रूप से उत्सुक थी क्योंकि युरोप में महायुद्ध की समाप्ति हो गई थी और विजय मित्र-राष्ट्रों के हाथ लगी थी। भारत के एक नये संविधान के निर्माण के उद्देश्य से सम्राट की सरकार तो एक संविधान-परिषद् की स्थापना के लिये भी प्रस्तुत थी। लेकिन नये संविधान के निर्माण के तरीके पर कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच मतभेद ने एक विषम स्थिति उत्पन्न कर दी थी। ये दोनों प्रमुख दल आपस में समझौता नहीं कर सके क्योंकि उनके उद्देश्य तथा लक्ष्य ही भिन्न थे। मुस्लिम लीग की मांग थी भारत का दो स्वतन्त्र राज्यों में विभाजन और जब तक यह मांग स्वीकृत न होती वह संविधान के निर्माण में भाग लेने के लिये तैयार न थी। कांग्रेस अखण्ड तथा अविभाजित भारत के पक्ष में तथा पाकिस्तान बनाये जाने के विरुद्ध थी लेकिन साथ ही साथ वह प्रान्तों को अधिक से अधिक सत्ता प्रदान करने के लिये भी प्रस्तुत थी ताकि अपनी अधिक संख्या वाले प्रान्तों में मुसलमान अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा जीवन-प्रणाली की रक्षा कर सकें। मिशन ने इन दोनों प्रमुख दलों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझौते का बड़ा प्रयत्न किया लेकिन वह असफल रहा। दोनों दलों के हितों को ध्यान में रखकर एक संविधान बनाने वाली संस्था के शीघ्र से शीघ्र निर्माण के अतिरिक्त अब और कोई चारा न था। सबकी बातें सुनकर तथा खूब सोच-विचार के बाद ही उसने अपनी योजनाएं लोगों के सामने रक्खीं। योजनाओं की प्रकृति समझौता कराने वाली थी इसलिये उनसे किसी भी दल को पूरा सन्तोष नहीं मिला। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कांग्रेस तथा लीग में समझौता कराने के लिये इस योजना द्वारा सच्चा और अच्छा प्रयत्न किया गया।

प्रान्तों तथा भारतीय रियासतों को मिलाकर एक भारतीय संघ का निर्माण तथा विदेशी नीति, रक्षा, यातायात और इन विभागों के लिये आवश्यक वित्त का प्रबन्ध कार्यपालिका तथा विधानमंडल के हाथ में देकर और पाकिस्तान की मांग अस्वीकृत करके मिशन-योजना ने कांग्रेस की मांगों को कुछ सीमा तक स्वीकार कर लिया।

वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा तथा यातायात, इन तीन विषयों के अतिरिक्त, शेष सभी विषयों में प्रान्तों को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करके, प्रान्तों को अनेक गुटों में संगठित होने का अधिकार देकर तथा उन गुटों की अपनी स्वयं की कार्यपालिका तथा विधान-मंडल की व्यवस्था करके कैबिनेट मिशन ने, देश के विभाजन से उत्पन्न खतरों को बिना आमंत्रित किये हुये, मुसलमानों को पाकिस्तान के सभी लाभों को देने का प्रयत्न किया। बंगाल तथा आसाम का एक वर्ग (Group) बनता; पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त, सिन्ध तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान का दूसरा। इन वर्गों का क्षेत्र ठीक उतना ही होता जितना लीग पाकिस्तान में रखना चाहती थी। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, योजना ने यह व्यवस्था की थी कि संविधान परिषद् में उत्पन्न हुए किसी बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न के हल के लिये प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधियों तथा विधान परिषद् के सभी सदस्यों में से अधिकांश के निर्णय की आवश्यकता पड़ती। यह व्यवस्था लीग की विचारधारा के अनुकूल बनाई गई थी। लीग की स्वीकृति तथा सहयोग को प्राप्त करने के लिये ही उसे यह छूटें दी गईं वरना इनके बगैर वह आगे बढ़ने के लिये प्रस्तुत न थी। कैबिनेट-मिशन की योजनाओं में लीग को अपनी माँगों का तत्त्व दिखाई पड़ा; इसका प्रमाण यह है कि प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग अस्वीकार करने के कारण योजनाओं की आलोचना करते हुये भी लीग ने ६ जून १९४५ को एक प्रस्ताव पास किया जिसमें उसने योजनाओं को अपनी पूरी स्वीकृति दी।

कैबिनेट-मिशन-योजना की और भी अच्छाइयाँ थीं। संविधान-परिषद् का निर्माण लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर होता; प्रतिनिधियों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में रक्खी जाती। अल्पसंख्यकों को जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान देने का पुराना सिद्धान्त एकदम समाप्त कर दिया गया। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व केवल मुसलमानों तथा सिक्खों के लिये सुरक्षित रक्खा गया; १९३५ के अधिनियम के अनुसार आंग्ल-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीयों, भारतीय-ईसाइयों तथा अन्य छोटे छोटे वर्गों के लिये ऐसी जो सुविधा मिली थी वह समाप्त कर दी गई। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त पूर्ण रूप से समाप्त तो नहीं हुआ, हाँ उसका क्षेत्र सीमित अवश्य कर दिया गया और यह कोई मामूली लाभ न था। इस सम्बन्ध में यह बता देना उपयुक्त होगा कि आंग्ल-भारतीयों, भारतीय-ईसाइयों तथा गैर-कांग्रेसी हिन्दुओं को संविधान सभा में कुछ 'साधारण' सीटें देकर कांग्रेस ने बड़ी बुद्धिमत्ता तथा विशालहृदयता का परिचय दिया।

कैबिनेट-मिशन-योजना का यह भी एक बड़ा गुण था कि संविधान-परिषद् के सारे सदस्य भारतीय ही रहते। कैबिनेट-मिशन का ध्यान इस ओर आकर्षित किये जाने पर कि उनकी योजना के अनुसार बंगाल तथा कुछ अन्य प्रांतों के विधानमंडलों के युरोपियन सदस्य संविधान-परिषद् में कुछ युरोपियन सदस्यों को निर्वाचन द्वारा भेज सकते थे, उसने तथा गवर्नर-जनरल ने इस बात का पूरा ध्यान रक्खा कि संविधान-परिषद् के सदस्यों के चुनाव में युरोपियन सदस्य भाग न लें। संयुक्त प्रान्त के विधान-मंडल के युरोपियन सदस्य ही इस नियम के अपवाद रहे। मिशन ने यह भी व्यवस्था की कि संविधान-परिषद् के कार्य में ब्रिटिश सरकार तथा सरकारी अफसर किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सकें। योजना के ढाँचे के भीतर संविधान-परिषद् को पूर्ण सत्ता प्राप्त थी।

१७ मई को लार्ड वेवल ने अपने एक रेडियो भाषण में कैबिनेट-मिशन-योजना की अच्छाइयाँ बड़े अच्छे ढंग से प्रदर्शित की थीं। भाषण के कुछ उपयुक्त अंश नीचे दिये जा रहे हैं:

'मैं आपको इस बात का विश्वास दिला सकता हूँ कि इन सुधारों के निर्माण में हम लोगों की शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक अध्ययन, सोच-विचार, नेकनीयती तथा सच्चाई का उपयोग हुआ है। हम लोग तो यही अच्छा समझते थे कि भारतीय नेता आपस में ही समझौता कर लेते, और इसके लिये हमने पूरा प्रयत्न भी किया; लेकिन यह चीज़ सम्भव न हुई हालांकि दोनों ओर के नेता एक दूसरे के प्रति पर्याप्त रियायत के लिये प्रस्तुत थे।

'आपके सामने जो प्रस्ताव रखे गये हैं वे ऐसे नहीं हैं जिन्हें कोई अकेली पार्टी पसन्द करती। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि इन प्रस्तावों को ही आधार बना कर भारत के सुव्यवस्थित एवं संगठित संविधान का निर्माण सम्भव है। इनसे भारत की उस मूलभूत एकता की रक्षा सम्भव है जिसे दो सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य से बराबर खतरा बना हुआ है; और ये विशेष रूप से भारतीय सैनिक-शक्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचा लेंगे और इसी शक्ति के संगठन पर भारत की भविष्य-रक्षा सम्भव है।

'मुसलमानों को अपने धर्म, अपनी शिक्षा, संस्कृति, अपने आर्थिक तथा अन्य हितों की रक्षा का पूरा अधिकार मिलेगा ····· सिक्खों के लिये उनका पंजाब अविभाजित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझौते का बड़ा प्रयत्न किया लेकिन वह असफल रहा। दोनों दलों के हितों को ध्यान में रखकर एक संविधान बनाने वाली संस्था के शीघ्र से शीघ्र निर्माण के अतिरिक्त अब और कोई चारा न था। सबकी बातें सुनकर तथा खूब सोच-विचार के बाद ही उसने अपनी योजनाएं लोगों के सामने रक्खीं। योजनाओं की प्रकृति समझौता कराने वाली थी इसलिये उनसे किसी भी दल को पूरा सन्तोष नहीं मिला। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कांग्रेस तथा लीग में समझौता कराने के लिये इस योजना द्वारा सच्चा और अच्छा प्रयत्न किया गया।

प्रान्तों तथा भारतीय रियासतों को मिलाकर एक भारतीय संघ का निर्माण तथा विदेशी नीति, रक्षा, यातायात और इन विभागों के लिये आवश्यक वित्त का प्रबन्ध कार्यपालिका तथा विधानमंडल के हाथ में देकर और पाकिस्तान की मांग अस्वीकृत करके मिशन-योजना ने कांग्रेस की मांगों को कुछ सीमा तक स्वीकार कर लिया।

वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा तथा यातायात, इन तीन विषयों के अतिरिक्त, शेष सभी विषयों में प्रान्तों को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करके, प्रान्तों को अनेक गुटों में संगठित होने का अधिकार देकर तथा उन गुटों की अपनी स्वयं की कार्यपालिका तथा विधान-मंडल की व्यवस्था करके कैबिनेट मिशन ने, देश के विभाजन से उत्पन्न खतरों को बिना आमंत्रित किये हुये, मुसलमानों को पाकिस्तान के सभी लाभों को देने का प्रयत्न किया। बंगाल तथा आसाम का एक वर्ग (Group) बनता; पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त, सिन्ध तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान का दूसरा। इन वर्गों का क्षेत्र ठीक उतना ही होता जितना लीग पाकिस्तान में रखना चाहती थी। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, योजना ने यह व्यवस्था की थी कि संविधान परिषद् में उत्पन्न हुए किसी बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न के हल के लिये प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधियों तथा विधान परिषद् के सभी सदस्यों में से अधिकांश के निर्णय की आवश्यकता पड़ती। यह व्यवस्था लीग की विचारधारा के अनुकूल बनाई गई थी। लीग की स्वीकृति तथा सहयोग को प्राप्त करने के लिये ही उसे यह छूटें दी गईं वरना इनके बगैर वह आगे बढ़ने के लिये प्रस्तुत न थी। कैबिनेट-मिशन की योजनाओं में लीग को अपनी माँगों का तत्त्व दिखाई पड़ा; इसका प्रमाण यह है कि प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग अस्वीकार करने के कारण योजनाओं की आलोचना करते हुये भी लीग ने ६ जून १९४५ को एक प्रस्ताव पास किया जिसमें उसने योजनाओं को अपनी पूरी स्वीकृति दी।

कैबिनेट-मिशन-योजना की और भी अच्छाइयाँ थीं। संविधान-परिषद् का निर्माण लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर होता; प्रतिनिधियों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में रक्खी जाती। अल्पसंख्यकों को जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान देने का पुराना सिद्धान्त एकदम समाप्त कर दिया गया। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व केवल मुसलमानों तथा सिक्खों के लिये सुरक्षित रक्खा गया; १९३५ के अधिनियम के अनुसार आंग्ल-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीयों, भारतीय-ईसाइयों तथा अन्य छोटे छोटे वर्गों के लिये ऐसी जो सुविधा मिली थी वह समाप्त कर दी गई। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त पूर्ण रूप से समाप्त तो नहीं हुआ, हाँ उसका क्षेत्र सीमित अवश्य कर दिया गया और यह कोई मामूली लाभ न था। इस सम्बन्ध में यह बता देना उपयुक्त होगा कि आंग्ल-भारतीयों, भारतीय-ईसाइयों तथा गैर-कांग्रेसी हिन्दुओं को संविधान सभा में कुछ 'साधारण' सीटें देकर कांग्रेस ने बड़ी बुद्धिमत्ता तथा विशालहृदयता का परिचय दिया।

कैबिनेट-मिशन-योजना का यह भी एक बड़ा गुण था कि संविधान-परिषद् के सारे सदस्य भारतीय ही रहते। कैबिनेट-मिशन का ध्यान इस ओर आकर्षित किये जाने पर कि उनकी योजना के अनुसार बंगाल तथा कुछ अन्य प्रांतों के विधानमंडलों के युरोपियन सदस्य संविधान-परिषद् में कुछ युरोपियन सदस्यों को निर्वाचन द्वारा भेज सकते थे, उसने तथा गवर्नर-जनरल ने इस बात का पूरा ध्यान रक्खा कि संविधान-परिषद् के सदस्यों के चुनाव में युरोपियन सदस्य भाग न लें। संयुक्त प्रान्त के विधान-मंडल के युरोपियन सदस्य ही इस नियम के अपवाद रहे। मिशन ने यह भी व्यवस्था की कि संविधान-परिषद् के कार्य में ब्रिटिश सरकार तथा सरकारी अफसर किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सकें। योजना के ढाँचे के भीतर संविधान-परिषद् को पूर्ण सत्ता प्राप्त थी।

१७ मई को लार्ड वेवल ने अपने एक रेडियो भाषण में कैबिनेट-मिशन-योजना की अच्छाइयाँ बड़े अच्छे ढंग से प्रदर्शित की थीं। भाषण के कुछ उपयुक्त अंश नीचे दिये जा रहे हैं:

'मैं आपको इस बात का विश्वास दिला सकता हूँ कि इन सुधारों के निर्माण में हम लोगों की शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक अध्ययन, सोच-विचार, नेकनीयती तथा सच्चाई का उपयोग हुआ है। हम लोग तो यही अच्छा समझते थे कि भारतीय नेता आपस में ही समझौता कर लेते, और इसके लिये हमने पूरा प्रयत्न भी किया; लेकिन यह चीज़ सम्भव न हुई हालांकि दोनों ओर के नेता एक दूसरे के प्रति पर्याप्त रियायत के लिये प्रस्तुत थे।

'आपके सामने जो प्रस्ताव रखे गये हैं वे ऐसे नहीं हैं जिन्हें कोई अकेली पार्टी पसन्द करती। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि इन प्रस्तावों को ही आधार बना कर भारत के सुव्यवस्थित एवं संगठित संविधान का निर्माण सम्भव है। इनसे भारत की उस मूलभूत एकता की रक्षा सम्भव है जिसे दो सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य से बराबर खतरा बना हुआ है; और ये विशेष रूप से भारतीय सैनिक-शक्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचा लेंगे और इसी शक्ति के संगठन पर भारत की भविष्य-रक्षा सम्भव है।

'मुसलमानों को अपने धर्म, अपनी शिक्षा, संस्कृति, अपने आर्थिक तथा अन्य हितों की रक्षा का पूरा अधिकार मिलेगा ····· सिक्खों के लिये उनका पंजाब अविभाजित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्खा जायगा; संविधान निर्मात्री परिषद् की विशेष-समिति के कारण अपेक्षाकृत छोटे अल्पसंख्यक सम्प्रदायों को अपनी आवश्यकताओं को बताने तथा अपने हितों की रक्षा का पूरा अवसर मिलेगा ····· इन प्रस्तावों से भारत में पूर्ण शांति स्थापित होने की आशा है जिसमें दलबन्दी का कोई स्थान न रहेगा।'

योजना के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण :— योजना पर विचार-विनिमय करने के लिये कांग्रेस प्रेसीडेंट ने १७ मई को कार्य समिति की एक बैठक बुलाई। समिति ने कुछ बातों को और स्पष्ट रूप से समझना चाहा क्योंकि या तो वे कांग्रेस-दृष्टिकोण के विरुद्ध पड़ती थीं या उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाती थीं। वे बातें निम्नलिखित थीं: (१) प्रान्तों को अलग अलग समूहों में श्रेणीबद्ध करने का सिद्धान्त, (२) संविधान परिषद् का सर्वप्रभुत्वसंपन्न स्वरूप, और (३) संभावित अंतरिम सरकार की रूपरेखा तथा उसका आधार। प्रान्तों को अनेक समूहों में श्रेणीबद्ध करने का प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था और कार्य समिति ने कैबिनेट-मिशन का ध्यान योजनाओं में दो अलग अलग जगहों पर कही गई दो भिन्न बातों की ओर दिलाया। १५वें पैराग्राफ के पाँचवें भाग के अनुसार 'प्रान्तों को कार्यपालिका तथा विधानमंडल के साथ वर्ग बनाने या न बनाने की स्वतंत्रता थी, और १९वें पैराग्राफ की पाँचवीं धारा के अनुसार प्रान्तों के लिये वर्ग में सम्मिलित होना अनिवार्य था।' यदि सम्मिलित होना या न होना प्रान्तों की इच्छा पर छोड़ दिया जाता तो कांग्रेस को वर्ग बनाये जाने पर कोई आपत्ति न थी लेकिन वर्ग बनाये जाने के अनिवार्य सिद्धान्त पर उसे आक्षेप अवश्य था। कांग्रेस की कार्य समिति ने घोषणा का अपने निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए मूल्यांकन किया: '(१) भारत के लिये स्वतन्त्रता; (२) शक्तिपूर्ण किन्तु केन्द्रीय सरकार; (३) प्रान्तों के लिये स्वायत्त-शासन (autonomy); (४) केन्द्र तथा इकाइयों में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना; (५) प्रत्येक व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों की रक्षा जिससे वह अपना पूरा विकास कर सके; और (६) एक वृहत्तर ढांचे के भीतर प्रत्येक वर्ग को अपनी इच्छानुसार जीवन बिताने का अवसर तथा अधिकार।' चूँकि मिशन ने अपनी घोषणा में भविष्य का कोई पूरा चित्र नहीं खींचा, विशेषतया केन्द्र में स्थापित होने वाली राष्ट्रीय सरकार के सम्बन्ध में, इसलिये कार्य समिति ने घोषणा पर उस समय कोई निश्चित मत प्रकट करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

लीग का दृष्टिकोण :— मुस्लिम लीग की कौंसिल की बैठक २२ मई को हुई। इस बैठक में योजनाओं पर अनेक आक्षेप किये गये और उनके अनेक अंगों के स्पष्टीकरण की माँग की गई। लीग ने भी इसे स्वीकार या अस्वीकार करने के सम्बन्ध में कोई विचार प्रकट नहीं किये।

कैबिनेट-मिशन का स्पष्टीकरण :— २५ मई को कैबिनेट-मिशन ने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया कि योजना एक अविभाज्य इकाई है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आपस में सहयोग के साथ कार्यान्वित करने से ही वह पूर्ण रूप से सफल हो सकती है। घोषणा में यह भी स्पष्ट किया गया कि संविधान परिषद् के एक बार संगठित होने और कार्य प्रारम्भ करने पर उसके निर्णयों में कोई हस्तक्षेप न होगा। कांग्रेस द्वारा उठाये गये 'वर्ग बनने' के प्रश्न पर मिशन ने यह विचार प्रकट किया कि कांग्रेस का यह अर्थ कि प्रान्त वर्ग बनाने या न बनाने में स्वतन्त्र है, मिशन के विचारों से मेल नहीं खाता।

अन्तरिम सरकार के विषय में वाद-विवाद :— देश की प्रमुख पार्टियों के सहयोग से एक अन्तरिम सरकार की स्थापना कैबिनेट-मिशन-योजना का प्रमुख अंश था। यह कार्य वायसराय के ऊपर छोड़ा गया और उन्होंने इस सम्बन्ध में भारतीय नेताओं से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ किया। अन्तरिम सरकार स्थापित करने की व्यवस्था को तात्कालिक योजना कहा गया क्योंकि यह संविधान बनाने की व्यवस्था से, जिसे लम्बी योजना कहा गया, भिन्न थी। लॉर्ड वेवल और कांग्रेस तथा लीग के प्रेज़ीडेन्टों में इस विषय पर काफी पत्र-व्यवहार हुआ। कांग्रेस यह चाहती थी कि अन्तरिम-सरकार औपनिवेशिक मंत्रिमंडल के रूप में कार्य करने के साथ साथ केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी रहती और गवर्नर-जनरल केवल सांविधानिक प्रधान होता। इसके उत्तर में गवर्नर-जनरल ने कहा कि सम्राट् की सरकार की यह इच्छा कि देश के दिन प्रतिदिन के शासन में भारतीय सरकार को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती और उनकी अपनी यह इच्छा थी कि सम्राट् की सरकार के इस वायदे को पूरा किया जाय। मुस्लिम लीग यह चाहती थी कि नयी सरकार में उसके तथा कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या समान हो लेकिन कांग्रेस इस व्यवस्था के एकदम विरुद्ध थी। कांग्रेस प्रेज़ीडेन्ट के पास वायसराय ने जो सुझाव भेजे उसमें बराबरी के इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया। कांग्रेस प्रेज़ीडेंट ने इस सम्बन्ध में वायसराय को एक लम्बा पत्र लिखा जिसका उपयुक्त अंश निम्न है: 'कैबिनेट के निर्माण में आपने जो सुझाव रक्खे हैं उसमें मुस्लिम लीग के सदस्यों की संख्या दलित वर्गों तथा हिन्दुओं की सम्मिलित संख्या के बराबर है; सवर्ण हिन्दुओं की संख्या तो सचमुच लीगियों से कम है। १९४५ के जून में शिमला में जो स्थिति थी आज वह उससे भी असन्तोषजनक है क्योंकि आपकी उस समय की घोषणा के अनुसार सवर्ण हिन्दुओं तथा लीगियों की संख्याएँ समान रहतीं और दलित वर्ग के हिन्दुओं को अलग सीटें मिलतीं। मुस्लिम सीटें केवल मुस्लिम लीग के लिये सुरक्षित न थीं, उसमें गैर लीगियों को भी स्थान मिल सकता था। आज की स्थिति तो हिन्दुओं के प्रति न्यायपूर्ण नहीं है और उसमें गैर लीगियों को कोई स्थान नहीं दिया जा रहा है। मेरी कार्य-समिति ऐसा कोई भी सुझाव स्वीकार नहीं कर सकती ..... हम लोग इस समानता को किसी भी रूप में स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं।' और भी कई ऐसे दृष्टिकोण थे जिन्होंने कांग्रेस को गवर्नर-जनरल के सुझाव अस्वीकृत करने के लिये बाध्य कर दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६ जून की घोषणा :— कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिये वायसराय ने समय समय पर जो सुझाव रक्खे उन्हें कांग्रेस कार्य समिति न स्वीकार कर सकी। कारण स्पष्ट था: वे कांग्रेस तथा छोटे छोटे अन्य वर्गों के प्रति अनुचित तथा अन्यायपूर्ण थे। इसलिये कैबिनेट मिशन तथा वायसराय को अन्तरिम सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में अपने सुझाव रखने पड़े। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर १९४६ की १६ जून को एक सरकारी वक्तव्य प्रकाशित किया गया जिसका उपयुक्त अंश नीचे है:

'वायसराय तथा कैबिनेट-मिशन के सदस्यों की कुछ समय से यह इच्छा रही है कि देश की दो प्रमुख तथा अल्पसंख्यक पार्टियों के सहयोग से एक सम्मिलित सरकार बनाई जाये। विचार-विनिमय से यह स्पष्ट हो चुका है कि ऐसा कोई सर्वसम्मत आधार नहीं है जिसे मानकर दोनों पार्टियां कोई ऐसी सरकार बना सकें।

'वायसराय तथा कैबिनट-मिशन के सदस्य कांग्रेस तथा लीग की कठिनाइयों से भली भांति परिचित हैं ..... इसलिये वाद-विवाद को और अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है। इस प्रकार अब केवल एक मार्ग शेष है और वह है सभी वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक अन्तरिम सरकार की स्थापना .....

'इसलिये वायसराय कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों को इस बात का निमंत्रण दे रहे हैं कि वे अन्तरिम सरकार में रह कर सेवा कार्य करें और साथ ही साथ १६ मई की घोषणा के अनुसार संविधान बनाने में सहायक बनें। ये व्यक्ति हैं: सरदार बलदेवसिंह, सर एन. पी. इंजीनियर, श्री जगजीवनराम, पंडित जवाहरलाल नेहरू, श्री मुहम्मदअली जिन्ना, नवाबज़ादा लियाकतअली खाँ, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री एच. के. महताब, डाक्टर जान मथाई, नवाब मुहम्मद इस्माइल खां, ख्वाजा सर नाजिमुद्दीन, सरदार अब्दुर्रब निश्तर, सरदार वल्लभभाई पटेल और डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद। इन आमन्त्रित व्यक्तियों में से यदि कोई किसी व्यक्तिगत कारण से नहीं आ सकता तो विचार के बाद वायसराय उनकी जगह पर किसी अन्य व्यक्ति को आमन्त्रित करेंगे।

'विभागों का विभाजन वायसराय दोनों प्रमुख दलों के नेताओं की सलाह से करेंगे।

'अन्तरिम सरकार में देश के दोनों प्रमुख दलों का रहना आवश्यक है। यदि वे दोनों या उनमें से कोई एक सम्मिलित रहने में अपनी असमर्थता प्रकट करेगा तो वायसराय एक ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना करेंगे जो १६ मई की घोषणा स्वीकार करने वालों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व कर सके।'

वायसराय ने इस घोषणा की एक एक प्रति कांग्रेस तथा लीग के प्रेज़ीडेण्टों के पास भेज दी और यह आशा प्रकट की कि देश के शासन में दोनों प्रमुख दलों का भाग रहे। उन्होंने दोनों दलों से योजना को समझौते की दृष्टि से देखने तथा देश की बड़ी समस्याओं व अनिवार्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखने की अपील की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस को १६ जून की योजना अस्वीकृत :— कांग्रेस कार्य समिति की बैठक दिल्ली में १८ जून से २५ जून तक हुई और पर्याप्त विचार-विनिमय के बाद उसने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने में अपनी असमर्थता प्रकट की। २५ जून को उसने वायसराय के नाम एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें उसने अपनी इस असमर्थता के कारण स्पष्ट किये। इन सभी कारणों को यहाँ व्यक्त करना आवश्यक नहीं; हाँ, कुछ महत्त्वपूर्ण कारण स्पष्ट किये जा सकते हैं। कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था थी जिसमें मुसलमान सदस्य भी थे, इसलिये वह अन्तरिम सरकार के कांग्रेस सदस्यों में एक राष्ट्रीय मुसलमान भी सम्मिलित करना चाहती थी और इसे वह अपना अधिकार भी समझती थी। वायसराय तथा कैबिनेट-मिशन के सदस्यों को कांग्रेस की यह मांग स्वीकृत न हो सकी क्योंकि श्री मुहम्मद अली जिन्ना इसका सख्त विरोध करते थे। श्री जिन्ना के नाम एक पत्र में लार्ड वेवल ने दलित वर्गों को अल्पसंख्यकों की श्रेणी में रखना स्वीकार कर लिया और उन्होंने उन्हें यह आश्वासन भी दिया कि इन वर्गों के लिये निश्चित सीटों को भरने के लिये किसी सदस्य की भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर वे मुस्लिम लीग के नेता की राय लेते। वायसराय ने श्री जिन्ना को कुछ ऐसे और भी आश्वासन दिये थे जिनके कारण अन्तरिम सरकार सुचारु रूप से न चल पाती और राजनीतिक ज़िच अनिवार्य रूप से पैदा हो जाती। यदि १६ जून की घोषणा के अनुसार सरकार-निर्माण में कांग्रेस कार्य समिति वायसराय की सहायता न कर सकी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। फिर भी उसने कैबिनेट-मिशन की १६ मई की योजना स्वीकार कर ली और संविधान सभा में सम्मिलित होना भी निश्चित किया। हां, घोषणा के कुछ अंशों का उसने अपने अनुकूल अर्थ अवश्य किया। जून २६, १९४६ को पास किये हुये कांग्रेस प्रस्ताव के निम्नलिखित उद्धरण से लम्बी तथा तात्कालिक योजनाओं के सम्बन्ध में कांग्रेस की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है: "एक स्थायी या किसी अन्य सरकार के निर्माण में कांग्रेसजन कांग्रेस के राष्ट्रीय रूप का त्याग नहीं कर सकते; वे किसी प्रकार का अन्यायपूर्ण समझौता नहीं स्वीकार कर सकते और किसी साम्प्रदायिक वर्ग को 'वीटो' की शक्ति प्रदान करने के सिद्धान्त से भी वे सहमत नहीं हैं। जून १६ की घोषणा के अनुसार एक अन्तरिम सरकार की स्थापना का कांग्रेस पूरा विरोध करती है। लेकिन सम्भावित संविधान-परिषद् में सम्मिलित होने का उसने निश्चय किया है ताकि स्वतन्त्र, संगठित एवं लोकतन्त्रात्मक भारत के लिये एक संविधान का निर्माण हो सके।"

जैसा कि पहिले स्पष्ट किया जा चुका है, मुस्लिम लीग ने जून ६, १९४६ को एक प्रस्ताव पास करके योजनाओं को अपनी स्वीकृति दे दी और संविधान-परिषद् में भी सम्मिलित होने की अपनी इच्छा प्रकट की हालांकि उसकी दृष्टि प्रान्तीय वर्ग के संघ से अलग हो जाने के उस अधिकार पर बराबर बनी रही जो कैबिनेट-मिशन की योजना में निहित है। अन्तरिम सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में प्रेज़ीडेंट ने वायसराय से खूब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र-व्यवहार किया और वह अन्तरिम सरकार बनने की प्रतीक्षा ही में थे। चूंकि कांग्रेस ने १६ मई की योजना को तो स्वीकार किया था और १६ जून की घोषणा को अस्वीकार, इसलिये लार्ड वेवल कुछ उलझन में पड़ गये और उन्होंने अन्तरिम सरकार बनाने का निश्चय कुछ दिनों के लिये स्थगित रक्खा। अन्तरिम सरकार की स्थापना स्थगित हो जाने से श्री मुहम्मद अली जिन्ना को बड़ी निराशा हुई। कैबिनेट-मिशन के सदस्यों ने जून २६ को एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें उन लोगों ने कांग्रेस तथा लीग के वक्तव्यों का स्वागत किया किन्तु इस बात पर खेद प्रकट किया कि इन वक्तव्यों में अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिये कोई निश्चित तथा संभव आधार नहीं रक्खा गया था। उन्होंने यह इच्छा भी प्रकट की कि उनकी १६ जून की घोषणा के पैरा ८ की शर्तों के अनुसार प्रयत्नों को फिर से प्रारम्भ किया जाता। इस बीच शासन तथा संविधान परिषद् के चुनाव का कार्य चलाने के लिये एक 'काम चलाऊ' सरकार बना ली गई। २९ जून को कैबिनेट-मिशन के सदस्य इंग्लैण्ड के लिये रवाना हुये और उसी दिन काम चलाऊ सरकार के ७ सदस्यों के नाम प्रकाशित किये गये।

सिक्ख तथा अन्य वर्गों का मिशन के प्रति दृष्टिकोण:— कैबिनेट-मिशन तथा उसकी योजनाओं के ऊपर दिये वर्णन में सिक्खों, हिन्दु महासभा, भारतीय रियासतों, उनकी जनता तथा देश के अन्य लोगों के दृष्टिकोण का जिक्र नहीं हुआ; सारा ध्यान कांग्रेस और मुस्लिम लीग पर ही रहा। इन सभी दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में कुछ शब्द जोड़ देना अनुपयुक्त न होगा।

सिक्ख प्रतिनिधियों ने पाकिस्तान का बड़ा ज़ोरदार विरोध किया और कैबिनेट मिशन के सदस्यों को उन्होंने यह बता भी दिया कि पाकिस्तान की मांग से वे किसी भी प्रकार सहमत न थे। यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध पाकिस्तान की स्थापना हो जाती तो वे अपने लिये 'सिक्खिस्तान' की मांग करते। सिक्ख लीग ने १६ मई की योजना को अस्वीकार किया और आगे आने वाली लड़ाई के लिये सिक्खों का आह्वान किया। इसमें कोई शंका नहीं कि १६ मई की योजना सिक्खों के प्रति अनेक दृष्टियों से अन्यायपूर्ण थी। यद्यपि उन्हें महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यकों की श्रेणी में रक्खा गया— इस दृष्टि से देश में उनका तीसरा नम्बर रहा— और संविधान-परिषद् में उन्हें अलग प्रतिनिधित्व भी दिया गया, लेकिन कोई ऐसा संरक्षण न मिला जैसा मुसलमानों को मिला था। सिक्खों का प्रमुख विरोध इस बात पर था कि योजना ने उन्हें पूर्ण रूप से मुसलमानों की दया पर छोड़ दिया। उनकी एक शिकायत यह भी थी कि उन्हें वे अधिकार न दिये गये जो मुसलमानों तथा हिन्दुओं को योजना के भाग १५ (२) तथा १९ (७) के अन्दर मिले थे। फिर भी संविधान-परिषद् में प्रतिनिधि भेजने के लिये कांग्रेस ने उन्हें राजी कर लिया लेकिन इस शर्त पर कि वह उनके अधिकारों तथा हितों की रक्षा करेगी।

हिन्दू महासभा की कार्यसमिति ने भी योजनाओं— विशेषतः पाकिस्तान, प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निधित्व की समानता, बंगाल-आसाम की संविधान-सभा यानी संविधान-परिषद के भाग 'स' में युरोपीय हस्तक्षेप— का पूर्ण विरोध किया। इस संस्था की अखिल भारतीय समिति ने यह आक्षेप भी किया कि महासभा के आधारभूत सिद्धान्त अर्थात् भारत की एकता को कैबिनेट-मिशन ने केवल सिद्धान्त रूप में माना था, व्यवहार में नहीं। उसके अनुसार कैबिनेट-मिशन का प्रमुख दोष अन्य अल्पसंख्यकों का ध्यान न रखते हुये केवल मुस्लिम-लीग को प्रसन्न करना था। वह 'तीन धरातल वाले संविधान' (Three-decker Constitution) का विरोध करती रही ····· क्योंकि उसके अनुसार पंजाब, बंगाल, आसाम, सिन्ध, पश्चिमोत्तर-प्रदेश तथा पूरी सिक्ख जाति पाकिस्तानियों की दया पर आश्रित हो जाती। प्रान्तों के गुट्टों में विभाजित करने तथा अर्धसमूहीकरण के सिद्धान्त का भी उसने विरोध किया।

मिशन योजनाओं के प्रति देशी राजाओं का दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिये इतना बता देना पर्याप्त है कि ७ जून १९४६ को नवाब भूपाल की अध्यक्षता में "चेम्बर आफ प्रिंसेज़" की बम्बई में हुई एक सभा में योजनाओं को पूरी स्वीकृति प्रदान की गई।

अखिल भारतीय रियासती-जनता सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें इस बात पर आश्चर्य तथा दुःख प्रकट किया गया कि केबिनेट-मिशन की योजनाओं में देशी रियासतों के जन-प्रतिनिधियों का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया था। संविधान-परिषद् के लिये रियासतों के प्रतिनिधियों के चुनाव में वहाँ की जनता का हाथ होने तथा मई १६ की घोषणा के अनुसार परामर्श-समिति में अपने प्रतिनिधियों को रखने की भी उन्होंने मांग की।

मिशन-योजना के सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार :— कांग्रेस, मुस्लिम लीग, सिक्ख लीग, हिन्दू महासभा तथा लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाली देश की अन्य संस्थाओं ने कैबिनेट-मिशन-योजना पर विभिन्न दृष्टिकोणों से आक्षेप किये। महात्मा गाँधी ने इन योजनाओं को एक दूसरी ही दृष्टि से देखा और वे इस बात से अच्छी तरह सन्तुष्ट भी हो गये कि वर्तमान परिस्थितियों के बीच ब्रिटिश सरकार अच्छी से अच्छी यही योजना दे सकती थी। महात्मा जी के अनुसार योजना ने हमारी अपूर्णताओं को स्पष्ट कर दिया। कांग्रेस तथा लीग एकमत न हो सकीं; वे एकमत नहीं हो सकती थीं— योजना के विधाताओं को यह अच्छी प्रकार ज्ञात हो गया। उन्होंने उन कम से कम शर्तों को लोगों के सामने रक्खा जिन पर दोनों प्रमुख पार्टियों के बीच भारत की स्वतन्त्रता का विधान (Charter of Freedom) बनाने के सम्बन्ध में समझौता हो जाता। केबिनेट-मिशन-योजना के निर्माताओं का प्रमुख मंतव्य था भारत में ब्रिटिश राज का शीघ्र से शीघ्र अन्त। यदि सम्भव होता तो केबिनेट-मिशन के सदस्यों की इच्छा भारत को ऐसी संगठित दशा में छोड़ जाने की थी जिसमें भीतरी झगड़े, विरोध, तथा मनमुटाव गृह-युद्ध का रूप न ले सकते। योजनाओं में कुछ ऐसी बातें भी हैं जो यह भूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने वाले जल्दबाज़ पाठक को परेशानी में डाल देंगी कि योजना राष्ट्र के प्रति एक अपील थी तथा उसे नेक सलाह के रूप में दी गई थी जिससे यह प्रदर्शित होता था कि थोड़े से थोड़े समय में भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति कैसे संभव थी। यह बात नहीं है कि महात्मा जी योजना के प्रमुख दोषों से अपरिचित थे; जून २, १९४६ के 'हरिजन' में उन्होंने इन दोषों की ओर संकेत किया था। इन दोषों का विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है; हमारा उद्देश्य तो केवल यह प्रदर्शित करना था कि योजना के बहिष्कार तथा उसकी आलोचना के बीच भी गाँधी जी उसके पक्ष में कहाँ तक थे।

राष्ट्रीय सरकार की स्थापना:— जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, लगभग ४ महीने के प्रयत्न के पश्चात् केबिनेट-मिशन २९ जून को इंग्लैण्ड के लिये रवाना हो गया। केबिनेट-मिशन को अपने प्रयत्नों में सफलता न मिल सकी। कांग्रेस ने मई १६ की योजना स्वीकार की लेकिन जून १६ की तात्कालिक योजना अस्वीकार कर दी; संविधान परिषद् में सम्मिलित होने के लिये वह प्रस्तुत हुई किन्तु अंतरिम संयुक्त सरकार में सम्मिलित होना उसे स्वीकार न हुआ क्योंकि लार्ड वेवल की शर्तें इसकी राय के अनुसार हिन्दुओं तथा अल्पसंख्यकों के प्रति अन्यायपूर्ण थीं। मुस्लिम लीग ने इस बात का बड़ा प्रयत्न किया कि कांग्रेस की अनुपस्थिति ही में सरकार की स्थापना हो जाती किन्तु गवर्नर-जनरल ने इसकी अनुमति न दी। लार्ड वेवल संयुक्त अथवा सम्मिलित सरकार बनाने के प्रयत्न में बराबर लगे रहे। और २२ जुलाई को उन्होंने कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के प्रेज़ीडेण्टों के पास निम्नलिखित योजनाएं भेजीं और उन पर उनकी राय मांगी:— '(i) अन्तरिम सरकार में १४ सदस्य रहते जिसमें ६ सदस्य कांग्रेस नियुक्त करती (दलित वर्ग का एक सदस्य मिलाकर), पांच सदस्य मुस्लिम लीग नियुक्त करती और अन्य अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधि के रूप में तीन सदस्य वायसराय स्वयं नियुक्त करते। इन अन्तिम तीन सदस्यों में एक सदस्य सिक्ख होता। (ii) कांग्रेस तथा लीग को एक दूसरे के दिये नामों पर आक्षेप करने का अधिकार न रहता बशर्ते कि वे नाम वायसराय को स्वीकृत होते। (iii) इन दो प्रमुख दलों के सम्मिलित सरकार में भाग लेने का निश्चय कर लेने तथा आवश्यक नाम पेश कर देने पर ही विभागों का विभाजन होता। महत्त्वपूर्ण विभागों का विभाजन कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच बराबर बराबर हो जाता। (iv) यदि कांग्रेस स्वीकार करे तो मैं इस नियम का स्वागत करूंगा कि बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न केवल दोनों बड़े दलों की राय से ही निबटाये जा सकते हैं। कोई सम्मिलित सरकार इसके अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर कार्य नहीं कर सकती।'

मुस्लिम लीग ने दो कारणों से सम्मिलित सरकार में भाग लेना अस्वीकार कर दिया। योजनाएं कांग्रेस-लीग समानता के सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ती थीं और इसी समानता पर जुलाई १९४५ में हुए शिमला-सम्मेलन के समय से ही लीग ज़ोर देती चली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ रही थी। इसके अतिरिक्त अपने सदस्यों में कांग्रेस को एक ग़ैर-लीगी मुस्लिम भी सम्मिलित करने का अधिकार मिल गया था। दूसरी ओर कांग्रेस ने योजनाएं स्वीकार कर लीं और अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने का निश्चय किया। अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिये वायसराय ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को आमंत्रित किया। अगस्त २४, १९४६ को वायसराय ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया: "सम्राट् ने गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के वर्तमान सदस्यों के त्यागपत्र स्वीकार कर लिये हैं और निम्नलिखित व्यक्तियों को उनके स्थान पर सहर्ष नियुक्त किया है। ये हैं: पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, श्री आसफ अली, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, श्री शरतचन्द्र बोस, डाक्टर जान मथाई, सरदार बलदेव सिंह, सर शफात अहमद खां, श्री जगजीवनराम, सैयद अली ज़हीर और श्री सी. एच. भाभा। दो अन्य मुस्लिम सदस्यों की भी नियुक्ति होगी। अन्तरिम सरकार दो सितम्बर को कार्यभार ग्रहण करेगी।"

इस प्रकार अन्तरिम सरकार की स्थापना का कार्य सम्पन्न हुआ। हां, इस कार्य को मुस्लिम लीग का सहयोग न मिल सका और इसलिये वह नवनिर्मित सरकार से बाहर रही। अन्तरिम सरकार के रूप पर कोई निर्णय देने के पहिले उसकी स्थापना के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भली भाँति समझ लेना चाहिये। प्रमुख कठिनाई यह थी कि कांग्रेस तथा लीग के उद्देश्य भिन्न थे, दृष्टिकोण भिन्न थे। ब्रिटिश भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या का २५ % होते हुए भी वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के निर्माण में मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ समानता चाहती थी। कांग्रेस इस निरर्थक मांग को स्वीकार भी कैसे करती? दूसरे, मुस्लिम लीग ग़ैर-लीगी मुसलमान की नियुक्ति कैसे सहन करती? इसी बात पर शिमला-सम्मेलन असफल रहा और कांग्रेस ने कैबिनेट-मिशन की १६ जून वाली तात्कालिक योजना को अस्वीकृत कर दिया। अन्त में वायसराय तथा ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस दृष्टिकोण को तर्कपूर्ण समझा और अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिये २२ जुलाई की योजना को सबसे अधिक उपयुक्त समझा।

लीग की प्रतिक्रिया: सीधी कार्यवाही:— लेकिन वायसराय के इस निश्चय से मुस्लिम लीग ने मिशन के प्रति असहयोग की नीति अपना ली। जुलाई २९ के अपने प्रस्ताव द्वारा लीग ने कैबिनेट-मिशन की लम्बी तथा तात्कालिक योजनाओं के प्रति अपने सहयोग की समाप्ति कर दी और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये प्रत्यक्ष कार्यवाही का निश्चय किया। श्री जिन्ना ने कैबिनेट-मिशन पर वायदे को तोड़ने का आक्षेप लगाया। उनके क्रोधपूर्ण उद्गारों का वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

मुस्लिम लीग ने अगस्त १६ को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' मनाना निश्चित किया। उसकी प्रत्यक्ष कार्यवाही कांग्रेस के आन्दोलन की तरह विदेशी सरकार के विरुद्ध नहीं थी; उसका उद्देश्य एक विरोधी सरकार के हाथों से पाकिस्तान छीन लेना भी नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह प्रत्यक्ष कार्यवाही हिन्दुओं के विरुद्ध की गई थी। उसने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच खुल्लमखुल्ला लड़ाई प्रारम्भ कर दी। अगस्त, १९४६, में कलकत्ते में चार दिन तक होने वाले भयंकर रक्तपात, उसी वर्ष के अक्तूबर में नोआखाली के हिन्दुओं पर हुए असाधारण अमानुषिक जुल्मों, बिहार के हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों से भयंकर बदला लेने तथा पंजाब में देश के विभाजन के पहिले और बाद में होने वाले अत्याचारों के लिये यही प्रत्यक्ष कार्यवाही उत्तरदायी हैं। इस भयावह अतीत की गाथा दोहराने से कोई लाभ न होगा, इसलिये १६ अगस्त १९४६ के बाद देश में पूरे एक वर्ष तक होने वाली भयंकर घटनाओं का यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है। फिर भी इतना तो बतला ही देना चाहिये कि जब कलकत्ते में हिन्दू जन-धन की भयंकर क्षति हो रही थी तो शांति तथा न्याय के संरक्षक निष्क्रिय तथा निश्चिन्त पड़े थे। पहिले दो या तीन दिनों तक सरकार कलकत्ते के हाहाकार व विनाश को रोकने में एकदम असफल रही। १९४२ के आन्दोलन को दबाने के लिये ब्रिटिश सरकार ने जो कुछ किया उससे यह अवस्था एकदम विपरीत रही। इस अन्तर का कारण स्पष्ट था। बंगाल में लीगी मंत्रिमंडल का आधिपत्य था; मंत्रिमंडल के प्रधान श्री एच. एस. सुहरावर्दी हिन्दुओं तथा कांग्रेस पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। केन्द्रीय सरकार के किसी भी बड़े अधिकारी ने कलकत्ते तथा नोआखाली का दौरा नहीं किया और न लीगी नेताओं ने अपने अनुयायियों के अमानुषिक कार्यों की निन्दा ही की।

अन्तरिम सरकार में लीग का प्रवेश:— कैबिनेट-मिशन की लम्बी तथा तात्कालिक योजनाओं को अस्वीकृत करने के लीगी प्रस्ताव तथा उसकी प्रत्यक्ष कार्यवाही के निश्चय ने लार्ड वेवल को निराश नहीं किया। उसके विपरीत उन्होंने लीग को उसका प्रस्ताव लौटा लेने, अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने तथा संविधान-परिषद् के कार्यों में पूरा भाग लेने के लिये प्रयत्न जारी रक्खा। उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। लीग ने कार्यपालिका में सम्मिलित होने का निश्चय तो किया लेकिन अपने उस प्रस्ताव को न लौटाया जिसमें मिशन की लम्बी योजना अस्वीकृत की गई थी। दूसरे शब्दों में, वायसराय ने अपनी कार्यकारिणी परिषद् में मुस्लिम लीग को पांच सीटें दीं किन्तु उससे वह संविधान-निर्माण में सहयोग देने का वायदा न करवा सके। यह एक बड़ी भूल थी जैसा कि बाद की घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया। दूसरे, यह ध्यान में रखना चाहिये कि मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार में दूसरे दलों से सहयोग करके स्वतन्त्रता को निकट लाने के उद्देश्य से सम्मिलित नहीं हुई थी; न यह उसे एक औपनिवेशिक मंत्रिमंडल का रूप ही देना चाहती थी। अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने का इसका उद्देश्य पाकिस्तान को प्राप्त करने के लिये अपनी स्थिति को मज़बूत करना तथा 'मुस्लिम हितों के लिये सन्तरी की तरह कार्य करना था।'* ऐसी दशा में सम्मिलित

* श्री जिन्ना ने विदेशी सम्वाददाताओं के एक दल को अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि नवनिर्मित केन्दीय सरकार को न तो वे मंत्रिमंडल मानते हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरदायित्व रह ही कैसे सकता था; कार्यकारिणी परिषद् का केबिनेट के रूप में कार्य करना असम्भव था। लोगों का पहिले यह विचार था कि घटनाओं के दबाव से कार्यकारिणी का काम सम्मिलित रूप से चलने लगता किन्तु यह विचार कार्य रूप में परिणत न हुआ। केवल एक सप्ताह के अनुभव से ही पंडित नेहरू ने यह विचार प्रकट किया कि २६ अक्तूबर को लीग-प्रतिनिधियों के आने से लेकर आगे तक लार्ड वेवल 'केबिनेट की गाड़ी के पहियों को एक एक करके' हटाने का बराबर प्रयत्न करते रहे; उनकी यह इच्छा होने लगी थी कि सब कार्य ठप हो जाये और देश की प्रगति उस रास्ते पर न हो जिस पर कांग्रेसी नेता चाहते थे। कांग्रेस के मेरठ अधिवेशन में पंडित नेहरू ने यह स्पष्ट कर दिया कि मुस्लिम लीग 'सम्राट् की पार्टी' के रूप में कार्य कर रही थी। भारतीय सरकार प्रशासी (Administrative) विभागों का एक समूह बन गई थी; यह स्वयं एक पूर्ण इकाई न थी जैसा कि कांग्रेस इसे बनाना चाहती थी। यह कहना मुश्किल है कि अन्तरिम सरकार में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना के प्रभाव का उत्तरदायित्व किस अंश तक कार्यकारिणी परिषद् की बेमेल रचना, किस अंश तक मुस्लिम लीग की हठधर्मी तथा किस अंश तक बाहरी दबाव पर था।

अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के पाँच सदस्यों के आ जाने से उसके पुनर्निर्माण की आवश्यकता पड़ी। नई अन्तरिम सरकार में, जो २६ अक्तूबर १९४६ को बनी, १४ सदस्य थे जिनमें ६ कांग्रेसी, ५ मुस्लिम लीगी, और ३ अन्य अल्पसंख्यकों के थे। इस प्रकार यह साम्प्रदायिक दृष्टि तथा महत्त्वर्ण विभागों के विभाजन की दृष्टि से पर्याप्त सन्तुलित थी।

लीग तथा संविधान-परिषद् :— यह पहिले ही कहा जा चुका है कि लीग ने एक प्रस्ताव पास करके केबिनेट-मिशन की १६ मई की योजना अस्वीकृत कर दी। जब लार्ड वेवल लीगी सदस्यों को अन्तरिम सरकार में लाने के लिए प्रस्तुत हुए तो पंडित नेहरू लीग से यह आश्वासन चाहते थे कि वह सरकार तथा संविधान-परिषद् के कार्यों में पूरा सहयोग देगी। इसके उत्तर में वायसराय ने पंडित नेहरू के पास निम्नलिखित आशय का पत्र भेजा : 'श्री जिन्ना ने मुझे यह आश्वासन दिया है कि मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार तथा संविधान-परिषद् में सहयोग के उद्देश्य से ही सम्मिलित होना चाहती है।' लेकिन केबिनेट-मिशन की योजना को कार्यान्वित करने के लिये जब संविधान-परिषद् के सदस्यों को नई दिल्ली में ९ दिसम्बर को एकत्रित होने की सूचना दी गई तो श्री जिन्ना ने यह घोषणा की : 'इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि मुस्लिम लीग का कोई भी सदस्य

न संयुक्त सरकार; उनकी राय में तो यह १९१९ के एक्ट के मातहत बनी गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद थी। निष्कर्ष यह है कि न तो वे उत्तरदायी शासन चाहते थे और न औपनिवेशिक स्वराज, वे तो सिर्फ लार्ड वेवल को भारतीय नियंत्रण से मुक्त करना चाहते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संविधान-परिषद् में भाग नहीं लेगा और २९ जुलाई को लीग का बम्बई में पास किया हुआ प्रस्ताव ही उसे मान्य है।'

९ दिसम्बर को जब संविधान-परिषद् की नयी दिल्ली में बैठक हुई तो मुस्लिम लीग के सदस्य अपने पूर्व निश्चय के अनुसार उससे अलग रहे) यह स्पष्ट करना कठिन है कि इन परिस्थितियों के बीच भी लीग-सदस्यों को अन्तरिम सरकार में रहने कैसे दिया गया। यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक है कि एक पत्रकार-सम्मेलन में श्री जिन्ना से यह पूछने पर कि उन्होंने लार्ड वेवल को लीग की बैठक बुलाकर २९ जुलाई के प्रस्ताव पर विचार करने तथा उसे अपनाने का वायदा किया था, उन्होंने यह साफ कह दिया कि उन्होंने इस प्रकार का कोई वायदा नहीं किया था।

उपसंहार :— जुलाई १९४६ में केबिनेट-मिशन के विदा होने के पश्चात् देश की राजनीतिक प्रगति का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। कांग्रेस ने मिशन की लम्बी योजना स्वीकृत कर ली और वह अन्तरिम सरकार में भी सम्मिलित हो गयी। लीग ने पहिले तो लम्बी तथा तात्कालिक दोनों योजनाएं स्वीकृत कीं किन्तु बाद में दोनों को अस्वीकृत कर दिया। इस अस्वीकृति के बावजूद भी लार्ड वेवल ने लीग से पांच सदस्य लिये और उन्होंने लीग के २९ जुलाई वाले प्रस्ताव को भी लौटवा लेने की चेष्टा नहीं की। अन्तरिम सरकार में यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि लीग का उद्देश्य सम्मिलित उत्तरदायित्व के साथ कार्य करने का नहीं था, वह केवल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में लगी थी। अन्तरिम सरकार इस प्रकार ढीली पड़ती जा रही थी। वायसराय ने संविधान-परिषद् के सदस्यों को नई दिल्ली में ९ दिसम्बर को एकत्रित होने का निमंत्रण दिया। मुस्लिम लीग ने इसमें सम्मिलित होना अस्वीकार कर दिया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि केबिनेट-मिशन-योजनाओं का कोई परिणाम न निकला; कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग— देश के दो बड़े राजनीतिक दल— १९४६ के अन्त में भी एक दूसरे से उतने ही दूर रहे जितने कि वे उस वर्ष के प्रारम्भ में थे।

लन्दन-सम्मेलन :— इन परिस्थितियों में लार्ड वेवल ने ब्रिटिश-कैबिनेट से विचार-विमर्श प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने वायसराय, पंडित नेहरू, सरदार पटेल, श्री जिन्ना तथा श्री लियाक़त अली खां को लन्दन में एक सम्मेलन में आमंत्रित किया। कांग्रेस नेता लन्दन जाने के लिये प्रस्तुत न थे क्योंकि वे यह जानते थे कि सम्मेलन में उन्हीं बातों पर फिर विचार होगा जिन पर कैबिनेट-मिशन के आने से लेकर अब तक हुआ था और इन बातों में कोई भी परिवर्तन करने का अर्थ होता लीग की कट्टरता, उसकी हठधर्मी तथा हिंसात्मक प्रवृत्ति के समक्ष सिर झुकाना। श्री एटली ने पंडित नेहरू के पास यह सामुद्रिक तार भेजा कि संविधान-परिषद् की बैठक का दिन टालने और कैबिनेट-मिशन-योजनाओं में संशोधन या उन्हें रद कर देने का उनका उद्देश्य न था; सम्राट् की सरकार की यह इच्छा थी कि योजनाओं को पूर्ण रूप से कार्यान्वित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाय। इसलिये पंडित नेहरू तथा सरदार बलदेवसिंह सम्मेलन में भाग लेने के लिये लन्दन रवाना हुए। यह अनुमान किया जाता है कि प्रान्तों को समूहों में श्रेणीबद्ध करने का प्रश्न ही लन्दन-सम्मेलन का प्रमुख विषय रहा। कांग्रेस की बराबर यह राय रही कि किसी समूह में सम्मिलित होना प्रान्तों की इच्छा पर निर्भर था; प्रांतों के स्वायत्त-शासन का यही प्रमुख अर्थ था जिस पर कैबिनेट-योजना ने ज़ोर दिया था। लीग का कहना यह था कि प्रत्येक विभाग के लिये निश्चित किये हुए सदस्यों के बहुसंख्यक वोटों से ही इस प्रश्न का निबटारा होता; इस मामले में अपनी इच्छा पर निर्भर रहने का प्रान्तों को अधिकार न था। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आसाम तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त ने प्रारम्भ से उस वर्ग में रहना अस्वीकार किया था जिसमें कैबिनेट-मिशन-योजना ने उन्हें डाल रक्खा था। लन्दन का यह सम्मेलन अपने उद्देश्य में असफल रहा, इसलिये संविधान-परिषद् में सभी दल सम्मिलित न हो सके। सम्मेलन के सम्बन्ध में सम्राट् की सरकार द्वारा प्रकाशित वक्तव्य में प्रमुख समस्याओं के सम्बन्ध में कैबिनेट-मिशन के विचारों को प्रकट किया गया था। इस वक्तव्य को पूरा उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा :

'सबसे बड़ी कठिनाई वर्गों के बनाने के सम्बन्ध में कैबिनेट-मिशन की १६ मई की घोषणा के पैराग्राफ १९ (५) तथा (८) के अर्थ लगाने में हुई है .....

'कैबिनेट-मिशन ने प्रारम्भ से ही इस बात पर ज़ोर दिया है कि वर्गों के बनाने के सम्बन्ध में दोनों वर्गों के प्रतिनिधियों के बहुसंख्यक वोट द्वारा निश्चय किया जायगा। यह विचार मुस्लिम लीग को मान्य है किन्तु कांग्रेस का विचार उसके विपरीत है। उसके अनुसार प्रान्तों को अपने विधान तथा वर्ग बनाने का पूरा अधिकार है।

'सम्राट् की सरकार ने जो क़ानूनी सलाह ली है उससे यही निश्चित हुआ है कि १६ मई की घोषणा का वही अर्थ है जिस पर कैबिनेट-मिशन ने बराबर ज़ोर दिया है। घोषणा के इस भाग को १६ मई की योजना का अनिवार्य अंग समझना चाहिये ताकि भारतीय जनता को संविधान-निर्माण में सहायता मिल सके। सम्राट् की सरकार इस संविधान को ब्रिटिश संसद के सामने रखने के लिये प्रस्तुत होगी। अतः यह आवश्यक है कि संविधान-परिषद् के सभी सदस्य इसे स्वीकार करें।

....

'संविधान-परिषद् की सफलता की तब तक कोई आशा नहीं है जब तक उसकी कार्यप्रणाली पर समझौता न हो जाय। यदि कोई ऐसा संविधान तैयार होता है जिसमें भारतीय जनसंख्या के किसी बड़े भाग का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो सम्राट् की सरकार उसे देश के किसी अनिच्छुक भाग पर लाद नहीं सकती।'

लन्दन-सम्मेलन कांग्रेस तथा लीग में समझौता न करा सका, फिर भी उसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री जिन्ना का पर्याप्त पक्ष किया। प्रान्तों के वर्ग-निर्माण के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार का रुख लीग के अनुकूल हो गया। इसके अतिरिक्त मुस्लिम लीग को यह आश्वासन भी मिला कि मुस्लिम जाति पर कोई ऐसा संविधान नहीं लादा जायगा जिसका निर्माण करने वाली संविधान-परिषद् में लीग का प्रतिनिधित्व न हो। ब्रिटिश सरकार के इस वक्तव्य तथा श्री एटली की उस घोषणा में बड़ा अन्तर था जिसमें उन्होंने यह कहा था कि बहु-संख्यकों की राजनीतिक प्रगति में अड़चन डालने का अल्पसंख्यकों को कोई अधिकार नहीं है। इन सबके अतिरिक्त १६ मई की घोषणा अस्वीकृत कर देने के बावजूद भी अन्तरिम सरकार में अपने सदस्य बनाये रखने के लीगी कार्य को प्रश्रय दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने यह तर्क भी रक्खा कि १६ मई की योजना कांग्रेस को भी तब तक स्वीकृत नहीं मानी जा सकती जब तक वह वर्ग-निर्माण के सिद्धान्त का वही अर्थ नहीं लगाती जो मिशन ने लगाया था।

लन्दन-सम्मेलन पर कांग्रेस की प्रतिक्रिया :— कांग्रेस कार्य समिति तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने ६ दिसम्बर की घोषणा पर विचार किया और यह निश्चय किया कि '..... विभिन्न अर्थ लगाने के कारण जो कठिनाई उत्पन्न हो गई है उसे दूर करने के उद्देश्य से कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के वर्गों के सम्बन्ध में लगाये गये अर्थ के अनुसार कार्य करने की राय देती है। लेकिन यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि किसी प्रान्त के साथ ज़बर्दस्ती न होगी और न पंजाब में सिक्ख हितों की ही उपेक्षा की जायगी।'

संविधान-परिषद् :— जैसा कि पहिले निश्चित हुआ था, संविधान-परिषद् की पहिली बैठक ९ दिसम्बर १९४६ को हुई। कांग्रेस-नेताओं ने श्री जिन्ना की बैठक टाल देने की दलील स्वीकार नहीं की क्योंकि अपना मतलब साधने के लिये लीग का यह बहाना मात्र था।

पहिले दिन ब्रिटिश भारत के २८३ सदस्यों में से केवल २०७ ने अधिवेशन में भाग लिया। लीग के समस्त सदस्य जिनकी संख्या ७४ थी अनुपस्थित थे। केवल ४ राष्ट्रीय मुसलमान उपस्थित थे। स्थायी प्रेज़ीडेंट का चुनाव होने तक डाक्टर सच्चिदा-नन्द सिन्हा परिषद् के चेयरमैन चुने गये। अपने सर्वप्रथम सन्देश में डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने विधान-परिषद् के इस अधिकार पर ज़ोर दिया कि वह 'एक स्वतंत्र सत्ता है जिसकी प्रगति में कोई बाहरी शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती और जिसका निर्णय बदलने, सुधारने, तथा फेरफार करने का किसी भी बाहरी व्यक्ति को अधिकार नहीं है।' चार दिन बाद पंडित नेहरू ने एक प्रस्ताव रक्खा जिसमें संविधान-परिषद् का उद्देश्य एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का निर्माण बताया गया। परिषद् की कार्यवाही तथा उसके द्वारा निर्मित संविधान का संक्षिप्त से संक्षिप्त वर्णन भी इस अध्याय के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं है; यहाँ हम केवल इतना कहेंगे कि मुस्लिम लीग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का दृष्टिकोण अनिश्चित रहने के कारण पहिले दो अधिवेशनों का वातावरण निराशा एवं अन्यमनस्कता से परिपूर्ण रहा। यहाँ यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि देश का पिछले ५० वर्षों से मार्ग प्रदर्शन करने वाले नेता— पंडित नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आज़ाद, श्री राजगोपालाचारी, आचार्य कृपलानी तथा पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त— भी संविधान-निर्माण के कार्य में संलग्न थे; राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो संविधान-परिषद् के सदस्य नहीं थे। शान्ति का यह अग्रदूत उस समय नोआखाली तथा बिहार में साम्प्रदायिक एकता तथा मानवता के प्रसार में संलग्न था।

ब्रिटेन का भारत छोड़ने का निश्चय :— १९४२ का खुला विप्लव भारतीयों के 'धैर्य, साहस एवं वीरता' का ही प्रमाण न था अपितु उनके स्वतंत्र होने के दृढ़ निश्चय एवं सद्य: संगठन में अन्तर्निहित शक्तियों का भी परिचायक था। १९४५ के अन्तिम दो मासों तथा १९४६ के प्रथम छ: मासों में हुई घटनाओं से भी विदेशी शासन के प्रति उनकी घृणा और स्वतन्त्र होने के निश्चय का परिचय मिलता है। आज़ाद हिन्द फौज के तीन अफसरों— सर्वश्री सहगल, ढ़िल्लन, व शाहनवाज़— की रिहाई के लिये, जिन्हें दिल्ली के लाल क़िले में मुकदमा चलाये जाने के बाद लम्बी कारावास की सज़ाएं दी गई थीं, देश-व्यापी प्रदर्शन हुए जिनमें हर प्रकार के राजनीतिक विचारों के व्यक्तियों ने भाग लिया। १९ नवम्बर १९४५ को कलकत्ता के विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किया और डलहौज़ी स्क्वायर की ओर जाना चाहा। पुलिस ने उन्हें उस तरफ जाने से रोका और वापिस लौटने को कहा। उन्होंने वापिस जाने से मना कर दिया और सड़क पर ही चौकड़ी लगाकर बैठ गये। पुलिस ने बग़ैर किसी उकसावे के उन पर गोलियां चलाईं। यह बड़े पैमाने पर उपद्रव होने का सिगनल था। अनेक व्यक्ति गोलीकाण्ड में मारे गये। सरकार को पाबंदी हटानी पड़ी और विद्यार्थियों को डलहौज़ी स्क्वायर की ओर मार्च करने तथा उसमें प्रवेश करने की इजाज़त देनी पड़ी। सरकार ने इन सब प्रदर्शनों से काफी कुछ सबक लिया।

फरवरी १९४६ में आज़ाद हिन्द फौज के एक और बन्दी श्री अब्दुल रशीद की रिहाई के सम्बन्ध में फिर प्रदर्शन हुआ जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों एक थे। बम्बई में भारतीय जल सेना ने भी अपने व्यवहार में जातिगत भेदभाव को मिटाने के लिये भयंकर बग़ावत कर दी। बग़ावत करने वालों से सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये शहर में मुकम्मल हड़ताल रही। करांची और मद्रास में भी जल सेना ने इसी प्रकार के विप्लव किये तथा पुलिस और वायु सेना में भी सहानुभूतिसूचक हड़तालें हुईं। जल सेना ने बहादुरी के साथ लड़ने के बाद उस समय आत्म-समर्पण किया जब कांग्रेसी नेताओं ने उन्हें आश्वासन दिलाया कि उनकी मांगों पर अच्छी तरह ग़ौर किया जायेगा और बग़ावत के लिये उन पर सख्तियां न की जायंगी। कुछ ही समय बाद जबलपुर स्थित 'इण्डियन सिगनल कोर्स' ने हड़ताल की और उसके बाद दिल्ली तथा बिहार की पुलिस ने भी हड़तालें कीं। इन सब घटनाओं ने अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों को विश्वास दिला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया कि पुराने आधार पर भारत में अपना शासन कायम रखने की वे बहुत लम्बे अरसे तक आशा न कर सकते थे।

इसके उपरान्त कलकत्ता में महान् हत्याकांड हुआ, पूर्वी बंगाल के नोआखाली तथा टिपरा ज़िलों में साम्प्रदायिक विद्वेष की विषम ज्वाला भड़क उठी, और इन घटनाओं की प्रतिक्रिया के स्वरूप बिहार तथा उत्तर प्रदेश में भयंकर मारकाट मची तथा लाहौर, रावलपिंडी व मुलतान में पाशविकता का ताण्डव नृत्य होने लगा। इन सब घटनाओं से स्पष्ट था कि भारत का शासन शिथिल होता जा रहा था। अन्तरिम सरकार की दशा भी कुछ अच्छी न थी। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इतिहास में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के समान दो विरोधी दलों का उदाहरण नहीं मिलता। कांग्रेस की इच्छा थी कि मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार से निकल जाय क्योंकि संविधान-परिषद् के कार्य में वह कोई सहयोग नहीं दे रही थी; लीग चाहती थी कि कांग्रेस अन्तरिम सरकार से निकल जाय क्योंकि १६ मई की योजना उसे पूर्ण रूप से स्वीकृत न थी। परिस्थितियां प्रति क्षण विषमतर होती जा रही थीं। देश की इस अव्यवस्थित दशा के साथ एक यह सत्य भी सामने आया कि द्वितीय महायुद्ध ने ब्रिटेन को विश्वशक्ति के स्तर से बहुत नीचे गिरा दिया था। वहां के राजनीतिज्ञों ने यह स्पष्ट अनुभव कर लिया कि वे पूरे ब्रिटिश साम्राज्य का भार संभालने में समर्थ नहीं थे। इन सब बातों से विवश होकर ब्रिटिश मज़दूर सरकार ने निश्चय किया कि उसे एक निश्चित समय तक भारत छोड़ देना चाहिये चाहे फिर कांग्रेस और लीग में कोई समझौता हो या न हो। यह सत्य है कि भारत पर कुछ और वर्षों तक अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिये ब्रिटिश सरकार शक्ति का प्रयोग कर सकती थी। श्री चर्चिल सरीखे भारतीय आकांक्षाओं के दुश्मन की अध्यक्षता में कोई भी अनुदार सरकार यही करती। मज़दूर सरकार ने यह सोचकर बड़ी ही बुद्धिमत्ता का परिचय दिया कि सम्मान एवं सौजन्य के साथ आधिपत्य हटा लेने में उसकी भलाई थी; इस प्रकार वह अपने आर्थिक हितों की बहुत समय तक रक्षा कर सकती थी। इसी के अनुसार ब्रिटेन की मज़दूर सरकार के प्रधान मंत्री श्री क्लीमेन्ट एटली ने २० फरवरी १९४७ को हाउस आफ कामन्स में एक घोषणा की जिसमें भारतीय जनता को शक्ति हस्तान्तरित करने का निश्चय प्रकट किया गया। इस घोषणा का कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है:—

'सम्राट की सरकार की यह इच्छा है कि उत्तरदायित्व का भार उन लोगों के हाथ में दे दिया जाय जिन्हें भारत के सभी दलों द्वारा बनाया गया संविधान स्वीकृत हो। सत्ता हस्तान्तरित करने का यह कार्य कैबिनेट-मिशन-योजना के अनुसार हो रहा है; उसी के अनुसार होना भी चाहिये। लेकिन अभाग्यवश अभी ऐसी कोई संभावना दृष्टिगत नहीं हो रही है कि भारत में ऐसा कोई संविधान बनेगा। भारत की वर्तमान अव्यवस्था से अनेक ख़तरे उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये उसे अधिक समय तक नहीं बने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने दिया जा सकता। सम्राट् की सरकार इसे स्पष्ट कर देना चाहती है कि वह उत्तरदायित्वपूर्ण हाथों में सत्ता हस्तान्तरित करने के लिये प्रस्तुत है और सत्ता हस्तान्तरण का अन्तिम समय जून १९४८ ही है।'

इस घोषणा में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण आयोजन भी था: 'यदि यह प्रतीत होगा कि पैराग्राफ ७ में दिये गये समय से पहिले भारत के सभी प्रमुख दलों की स्वीकृति प्राप्त करने वाले संविधान का निर्माण न हो सकेगा तो सम्राट् की सरकार को यह निश्चित करना पड़ेगा कि निश्चित समय पर सत्ता किसे हस्तान्तरित की जाय— ब्रिटिश भारत की किसी केन्द्रीय सरकार को, वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को, अथवा किसी अन्य रीति से, जो भारतीयों के हित में सबसे उपयुक्त हो।'

घोषणा के पहिले भाग का पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह कह कर स्वागत किया कि 'यह भारत की मौजूदा परिस्थितियों में वास्तविकता तथा प्रगतिशीलता' का समावेश करेगा और 'ग़लतफहमी और अविश्वास' को दूर करेगा। घोषणा के दूसरे भाग को श्री जिन्ना ने पाकिस्तान का सन्देशवाहक बताया। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि घोषणा ने मुस्लिम लीग की अलगाव की भावना को कुछ न कुछ बल अवश्य दिया। कांग्रेस कार्यसमिति ने २० फरवरी की घोषणा पर विचार किया और सम्राट् की सरकार के उस निश्चित उद्देश्य का स्वागत किया जिसमें भारतीय लोगों को सत्ता हस्तान्तरित करने का आश्वासन दिया गया था। इसने १६ मई १९४६ की योजना की स्वीकृति को फिर से दोहराया और ६ सितम्बर की अपनी घोषणा में योजना का ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाया अर्थ भी स्वीकार कर लिया और मुस्लिम लीग को यह निमंत्रण दिया कि वह अपने कुछ प्रतिनिधि भेजे जो कांग्रेस के प्रतिनिधियों से मिलकर देश की अवस्था के बारे में विचार-विमर्श करें। किन्तु लीग ने इस निमंत्रण की ओर ध्यान न दिया।

लार्ड वेवल वापिस बुलाये गये: जून ३ की घोषणा :— यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री एटली की घोषणा से मुस्लिम लीग को बड़ा उत्साह मिला। घोषणा यह थी कि भारतीय लोगों को सत्ता हस्तान्तरित करने का समय आने पर सम्राट् की सरकार यह निश्चय करती कि सत्ता किसी केन्द्रीय सरकार को दी जाती या देश के कुछ भागों में प्रान्तीय सरकारों को ही। इस घोषणा से मुस्लिम लीग को अपने तरीक़े पर दृढ़ रहने का और भी उत्साह मिला; वह सोचने लगी कि सत्ता हस्तान्तरण के समय जिनके हाथ में शक्ति होगी वही शक्ति-प्राप्ति के सच्चे अधिकारी बनेंगे। इसी भावना से प्रेरित होकर मुस्लिम लीग पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा आसाम में शक्ति-प्राप्ति के लिये अन्धाधुन्ध रीति से प्रयत्न करने लगी। इन प्रान्तों में लीग ने किन किन हथकंडों का प्रयोग किया इसके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश के अनेक भागों में साम्प्रदायिक विद्वेष की भयंकर ज्वाला धधक उठी और आसाम में एक ऐसा संघर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत हो गया जिसे 'नागरिक-अधिकार आन्दोलन' का नाम दिया जाता है। लोगों का यह विश्वास था कि पंजाब का गवर्नर लीग के पक्ष में था; फिर भी, वहाँ लीग-मंत्रिमंडल स्थापित न किया जा सका। सम्मिलित सरकार के पदत्याग के कारण यहाँ धारा ९३ लागू करनी पड़ी।

परिस्थितियों के इसी अव्यवस्थित विकास ने कदाचित् ब्रिटिश सरकार को लॉर्ड वेवल को हटाकर उनके स्थान पर लॉर्ड लुई माउन्टबेटन को पदासीन करने के लिये प्रेरित किया। श्री एटली ने इस सम्बन्ध में २० फरवरी १९४७ को एक घोषणा की। लॉर्ड लुई माउन्टबेटन ने २३ मार्च को वायसराय के पद की शपथ ली।

भारत में पदार्पण के तुरन्त बाद लॉर्ड माउन्टबेटन ने अपने को उस कार्य में जी जान से लगा दिया जिसके लिये उनकी नियुक्ति हुई थी। यह महत्त्वपूर्ण कार्य था भारत के उत्तरदायी नेताओं के हाथ में बड़ी ही शीघ्रता व सरलतापूर्वक सत्ता दे देना। लॉर्ड माउन्टबेटन ने भारतीय समस्याओं पर ताज़े मस्तिष्क तथा नवीन दृष्टिकोण से विचार प्रारम्भ किया। उन्होंने अधिक से अधिक वर्गों तथा हितों के नेताओं तथा प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श प्रारम्भ किया। महात्मा गाँधी और श्री जिन्ना से उनकी अनेक बार बातें हुईं। इन नेताओं के साथ बातचीत में उन्होंने अपने को उनके विचारों तथा दृष्टि-कोणों से अवगत करने का प्रयत्न किया और उन लोगों से कैबिनेट-मिशन की १६ मई की योजना स्वीकार कर लेने की मांग की। किन्तु यह उन्हें शीघ्र ही विदित हो गया कि उन लोगों में न तो कैबिनेट-मिशन-योजना पर ही समझौता हो सकता था और न भारत की एकता, अखण्डता तथा सुदृढ़ता की रक्षा करने वाली किसी अन्य योजना पर। बहुसंख्यक हिन्दुओं के शासन में रहने के लिये मुसलमानों को विवश करने का चूँकि प्रश्न ही नहीं उठ सकता था इसलिये देश के विभाजन को छोड़कर अन्य कोई मार्ग ही न था। लेकिन कैबिनेट-मिशन योजना के अनुसार यह बात भी स्पष्ट हो गई कि पाकिस्तान के स्वतन्त्र राज्य में पंजाब, बंगाल तथा आसाम के वे प्रदेश सम्मिलित होते जहाँ ग़ैर-मुस्लिम जनसंख्या का बाहुल्य था। कांग्रेस तथा सिक्खों की पंजाब को विभाजित करने की मांग और बंगाल के विभाजन की हिन्दू महासभा की तथा कांग्रेस की मांग की उपेक्षा भी असम्भव थी। पाकिस्तान की मांग के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये जा सकते थे वही पंजाब तथा बंगाल के ग़ैर-मुस्लिम क्षेत्रों को पाकिसतान से अलग रखने के लिये भी रक्खे जा सकते थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह विचार भी प्रकट किया था कि मुस्लिम लीग को पाकिस्तान दिया जाय पर इस शर्त पर कि उन्हें ऐसे कोई प्रदेश न मिलें जिनमें मुसलमानों का बहुमत न हो। संविधान परिषद् के प्रेज़ीडेंट डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने एक मुलाक़ात में इस बात की घोषणा की थी कि यदि भारत का विभाजन अनिवार्य हो तो उसे अधिक से अधिक पूर्ण तथा तर्कसंगत होना चाहिये ताकि भविष्य में फिर किसी झगड़े की गुंजायश न रह जाय और यदि इस कार्य के लिये सेना के विभाजन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता पड़ती तो वह भी हो सकता था और यह जितना शीघ्र होता उतना ही अच्छा था।

लॉर्ड लुई माउन्टबेटन को यह विचारधारा तर्कसंगत व अकाट्य लगी। श्री जिन्ना को अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी; उन्हें अपनी भावना के अनुकूल पूर्ण पाकिस्तान न मिल सका और उन्होंने बंगाल तथा पंजाब के विभाजन का बड़ा विरोध किया। ऐसा प्रतीत होता है कि माउन्टबेटन की मध्यस्थता में ही लीग तथा कांग्रेस ने पाकिस्तान के विषय में अन्य बातों का भी निबटारा किया। १८ मई को लॉर्ड माउन्टबेटन सम्राट् की सरकार से विचार-विमर्श करने के लिये इङ्गलैंड रवाना हो गये। वे २ जून को इङ्गलैंड से लौटे और ३ जून को उन्होंने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें एक या दो सरकारों को सत्ता हस्तान्तरित करने का निश्चय प्रकट किया गया।

जून ३, १९४७ की घोषणा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण थी, इसीलिये उसका थोड़ा विस्तृत विवेचन आवश्यक है। हम यहाँ उसके महत्त्वपूर्ण अंशों पर ही प्रकाश डालेंगे।

घोषणा में इस बात की चर्चा की गई कि सम्राट् की सरकार को यह आशा थी कि भारत के दोनों प्रमुख दल कैबिनेट-मिशन की १६ मई १९४६ की योजना कार्यान्वित करने में पूरा सहयोग देते। यह आशा पूरी न हो सकी क्योंकि पंजाब, बंगाल, सिंध इत्यादि से चुने मुस्लिम लीगी सदस्यों ने संविधान-परिषद् की कार्यवाही में कोई भाग नहीं लिया था। सम्राट् की सरकार की इच्छा संविधान-परिषद् के कार्यों में बाधा डालने की न थी किन्तु यह संविधान-परिषद् द्वारा निर्मित संविधान को देश के उन भागों पर लागू भी नहीं कर सकती थी जो उसके स्वागत के लिये प्रस्तुत न थे। देश के ऐसे भागों की इच्छा जानने के लिये घोषणा ने एक कार्यप्रणाली (Procedure) की भी व्यवस्था की। घोषणा के ५ से लेकर १३ पैराग्राफों में इस कार्यप्रणाली का उल्लेख है। संक्षेप में यह निम्न प्रकार है:—

बंगाल तथा पंजाब की विधान सभाओं को (युरोपियन सदस्यों को छोड़कर) दो भागों में बैठना था। एक भाग मुसलमानों की अधिक संख्या वाले ज़िलों का प्रतिनिधित्व करता और दूसरा शेष प्रान्त का। दोनों प्रान्तों के मुसलमानों की अधिक संख्या वाले ज़िले घोषणा में ही गिना दिये गये थे। प्रत्येक भाग बहुसंख्यक वोटों द्वारा यह निश्चित करता कि प्रान्त का विभाजन हो या नहीं। दोनों भागों में से यदि कोई विभाजन के पक्ष में होता तो उसी के अनुसार विभाजन कर दिया जाता। प्रान्त के विभाजन का निश्चय हो जाने पर व्यवस्थापिका के प्रत्येक भाग को यह निश्चित करना पड़ता कि दिल्ली में काम करने वाली संविधान-परिषद् में भाग लेने के लिये वह प्रस्तुत था या नहीं; या वह उस संविधान-परिषद् में भाग लेने का इच्छुक था जो उन भागों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित होती जो वर्तमान परिषद् में भाग लेना नहीं चाहते थे। इस सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक है कि बंगाल व्यवस्थापिका सभा के हिन्दू सदस्यों ने २० जून को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्त के विभाजन के पक्ष में वोट दिया और तीन दिन पश्चात् पंजाब व्यवस्थापिका सभा के हिन्दू सदस्यों ने भी उसी प्रकार वोट दिया। यह कहा जा सकता है कि देश के प्रमुख अल्पसंख्यकों ने यदि देश के विभाजन का निश्चय किया तो प्रान्तीय अल्पसंख्यकों ने प्रान्तों के विभाजन का।

सिन्ध की व्यवस्थापिका सभा अपनी एक विशेष बैठक करके यह निश्चित करती कि पूरा सिन्ध दिल्ली की संविधान-परिषद् में भाग लेने का इच्छुक था या इस परिषद् में भाग न लेने वाले देश के अन्य भागों की संविधान-परिषद् में। जून २६ को इसने पाकिस्तान के पक्ष में वोट दिया।

आसाम ग़ैर-मुस्लिम प्रान्त है किन्तु इसका एक ज़िला— सिलहट— पूर्वी बंगाल से मिला हुआ है और वहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक है। लोगों ने यह मांग की कि यदि बंगाल का विभाजन हो तो सिलहट के लोगों से राय ली जाय कि आया वह आसाम का एक भाग बना रहेगा या पूर्वी बंगाल के रूप में बनने वाले नये प्रान्त में मिल जाना चाहेगा। सिलहट के लोगों ने पूर्वी बंगाल नाम के नये प्रान्त में सम्मिलित होने का निश्चय किया।

पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के लिये घोषणा ने एक अलग प्रबन्ध किया। प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के बीच यह जानने के लिये वोट लिया जाता कि वह पाकिस्तान में सम्मिलित रहना चाहते थे या भारतीय संघ में। यह वोट प्रान्तीय सरकार की सलाह तथा ववर्नर-जनरल के निरीक्षण में होता। पंजाब, बंगाल तथा सिन्ध की भाँति इस प्रान्त की विधानसभा को अन्तिम निर्णय का अधिकार नहीं दिया गया। ६ और १७ जुलाई के बीच वोट का कार्य सम्पन्न हुआ। कांग्रेस ने वोट का बहिष्कार किया। वोटरों ने पाकिस्तान के पक्ष में वोट किया। २९ जून को ब्रिटिश बिलोचिस्तान ने भी पाकिस्तान के पक्ष में निश्चय किया।

जून ३ की घोषणा की एक विशेषता यह भी थी कि इसने २० फरवरी की घोषणा द्वारा निश्चित की हुई सत्ता-हस्तान्तरण की तारीख को और भी निकट ला दिया। पैराग्राफ २० का निम्नलिखित अंश महत्त्वपूर्ण हैं: 'देश के प्रमुख राजनीतिक दलों ने अपनी इस इच्छा पर बार बार ज़ोर दिया है कि सत्ता हस्तान्तरण शीघ्र से शीघ्र हो। सम्राट् की सरकार को इस इच्छा से पूरी सहानुभूति है ..... इस इच्छा की सबसे अच्छी तरह तथा व्यावहारिक रूप से पूर्ति के लिये सम्राट् की सरकार औपनिवेशिक आधार पर एक या दो सरकारों को सत्ता-हस्तान्तरण के लिये इसी प्रचलित वर्ष में क़ानून बनाना चाहती है .....।'

भारतीय स्वातन्त्र्य-बिल ब्रिटिश संसद ने सर्वसम्मति तथा बड़ी ही शीघ्रता से पास कर दिया। यह शीघ्रता सारे अंग्रेजी इतिहास में बेमिसाल है। इसी एक्ट के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५ अगस्त १९४७ की रात को १२ बजे भारत तथा पाकिस्तान— दो स्वतन्त्र उपनिवेशों का निर्माण हुआ।

३ जून की योजना पर विचार-विमर्श करने के लिये अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की १४ तथा १५ जून को दिल्ली में बैठक हुई। कांग्रेस ने सदैव से अखण्ड भारत का पक्ष लिया था, फिर भी उसे विवश होकर घोषणा में दी हुई योजनाएँ स्वीकृत करनी पड़ीं। जिन कारणों से कांग्रेस को देश का विभाजन स्वीकृत करना पड़ा उनका विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

देश का विभाजन अनिवार्य :— भारत का दो टुकड़ों में विभाजन अनिवार्य बन गया। भारतीय शासन में अंग्रेज़ों ने हमेशा से विभाजन द्वारा शासन करने की नीति से काम लिया है। १८५७ में भारतीय स्वतन्त्रता के असफल प्रयास से निरन्तर चलने वाले इस क्रम की इस प्रकार आकर इतिश्री हुई। इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से मुस्लिम लीग द्वारा मुसलमानों में निरन्तर भरी जाने वाली साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना भी विभाजन के लिये उत्तरदायी है। कांग्रेस की यह घोषणा भी कि देश के किसी भी भाग के लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में रहने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता, विभाजन के लिये कुछ हद तक उत्तरदायी है। ब्रिटिश सरकार ने अपनी अनेक प्रतिज्ञाओं तथा वक्तव्यों द्वारा इस घोषणा का समर्थन किया। २० फरवरी की घोषणा लीग के प्रति की हुई पाकिस्तान देने की प्रतिज्ञा थी। अनिवार्य को स्वीकृत करने के अतिरिक्त कांग्रेस के लिये अन्य कोई मार्ग न रहा गया। लेकिन कांग्रेस-नेताओं द्वारा विभाजन स्वीकार कर लेने का वास्तविक कारण यह था कि अन्तरिम सरकार के कांग्रेस सदस्यों को यह भली भाँति ज्ञात हो गया कि आंग्ल-मुस्लिम गठबन्धन अनेक प्रकार से हानिकारक बन रहा था और राज्य के प्रत्येक विभाग में ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों द्वारा भारतीय हितों के प्रति विश्वासघात हो रहा था। राजनीतिक विभाग (Political Department) की कार्यप्रणाली पर सरदार वल्लभभाई पटेल ने निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्रकाश डाला: 'मैंने तब यह जाना कि राजनीतिक विभाग की चालबाज़ियों द्वारा हमारे हितों की हर प्रकार से कितनी अवहेलना हो रही थी और मैं इसी निश्चय पर पहुँचा कि जितना ही शीघ्र इनसे हमारा पीछा छूटे उतना ही अच्छा, चाहे फिर इसके लिये हमें अपने देश का विभाजन ही क्यों न स्वीकार करना पड़े। और तभी मैंने यह भी अनुभव किया कि देश को शक्तिशाली तथा सुरक्षित बनाने का एक ही तरीक़ा था और वह था शेष भारत का संगठन।' काशी विश्वविद्यालय के विशेष दीक्षान्त समारोह के अवसर पर उन्होंने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द कहे: 'मैंने यह अनुभव किया कि देश का विभाजन स्वीकार न करने पर देश अनेक टुकड़ों में बंटकर पूर्ण रूप से बरबाद हो जाता। एक वर्ष तक सरकारी पद पर आसीन रहने से हमें यह विश्वास हो गया कि हमारे आगे बढ़ने का ढंग हमें विनाश की ओर लिये जा रहा था। इस प्रकार एक नहीं अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाकिस्तान बन जाने की आशंका थी। एक एक दफ्तर में पाकिस्तानी कीटाणु घर कर जाते।'*

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि अन्तरिम सरकार के लीगी सदस्य अपने विभाग के प्रमुख पदों से हिन्दुओं तथा सिक्खों को निकाल कर उनके स्थान पर मुसलमानों को रखते जा रहे थे ताकि पाकिस्तानी हितों की रक्षा के लिये उनसे सहायता मिल सकती। मई १९४७ के दूसरे सप्ताह में 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के पत्रप्रतिनिधि ने अपने पत्र को यह समाचार भेजा कि उसे प्राप्त भीतरी सूचना से यह प्रतीत होता था कि पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की भांति दिल्ली भी शीघ्र ही प्रत्यक्ष कार्यवाही का अखाड़ा बन जायगी। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच कांग्रस नेताओं के समक्ष देश का विभाजन स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता न था; विदेशियों को देश से बाहर करने और आगे आने वाले विनाश से बचने के लिये यह आवश्यक था। जो देश के विभाजन का रोना रोते हैं वे भावना के प्रवाह में बहकर 'अखण्ड भारत' की बात करते हैं, कांग्रेस निर्णय का विरोध करने के पहिले उन्हें सरदार पटेल जैसे व्यक्तियों के प्रमाणों पर विचार कर लेना चाहिये। प्रारम्भ से विरोध करने पर भी परिस्थितियों के प्रभाव ने महात्मा गांधी तक को विभाजन स्वीकार कर लेने के लिये विवश कर दिया।

विभाजन के कारण देश के लाखों नर-नारियों को अपने पैतृक घरबार से अलग होकर कष्ट तथा दुःखों की असीम ज्वाला में से गुज़रना पड़ा; फिर भी यह विभाजन एक प्रकार से आवरण में छिपा वरदान सिद्ध हुआ। देश से वह सभी कूड़ा-कचरा साफ हो गया जो हमारी राजनीतिक प्रगति में बाधक बन रहा था। जिस प्रकार कोई समझदार व्यक्ति शरीर के किसी निकृष्ट तथा सड़ते भाग के काट दिये जाने पर दुःखी नहीं होता, उसी प्रकार अपने कुछ देशवासियों से अलग हो जाने पर हमें अफसोस न होना चाहिये; देश के विभाजन को एक प्रकार का डाक्टरी आपरेशन समझना चाहिये जो देश को आगे आने वाले रक्तपात तथा अव्यवस्था से बचाने के लिये आवश्यक था।

संविधान-परिषद् ने अब साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों को बिल्कुल हटा दिया है; दस वर्षों के लिये दलित वर्गों की सीटें सुरक्षित छोड़कर इसने सीटें सुरक्षित रखने की प्रथा को भी अन्तिम नमस्कार कर दिया है; देवनागरी लिपि में इसने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकृत किया है और केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाने के लिये इसने अन्य प्रबन्ध भी किये हैं। संविधान-परिषद् में भाग लेकर यदि मुस्लिम लीग ने संविधान-निर्माण में सहयोग दिया होता तो क्या ये निर्णय कभी हो सकते थे? केबिनेट-मिशन की १६ मई की योजना का हमें यह अंश नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक वर्ग के बहुसंख्यक वोट के बिना किसी भी साम्प्रदायिक समस्या का निर्णय नहीं किया जा सकता।

* इण्डियन एनुअल रजिस्टर से उदधृत: जनवरी-जून, १९४७, पृष्ठ ११२ (इ)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योजना का यह विधान हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों के तोड़ने के मार्ग में बाधक बनता। हमें यह किसी भी प्रकार भूलना न चाहिये कि किसी बाहरी शक्ति द्वारा विभाजन हम पर लादा नहीं गया; लोगों की भलाई तथा शीघ्र स्वतन्त्रता-प्राप्ति की इच्छा से हमारे मान्य नेताओं ने इसे स्वयं स्वीकार कर लिया। स्वतन्त्रता का इतना मूल्य चुकाना अनिवार्य था। सरदार पटेल के ऊपर उद्धृत शब्दों को सदैव ध्यान में रखना चाहिये।

ब्रिटिश संसद में १९४७ की जुलाई में भारतीय-स्वातन्त्र्य अधिनियम (Indian Independence Act) पास होने और १५ अगस्त को भारत तथा पाकिस्तान के स्वतन्त्र राज्य-निर्माण से राष्ट्रीय आन्दोलन की हमारी कहानी अपने आप समाप्त हो जाती है। भारत को दासता के बन्धन से मुक्त करने में कांग्रेस को सफलता प्राप्त हुई यद्यपि उसे स्वतन्त्र, संगठित एवं अखण्ड भारत की प्राप्ति न हो सकी। देश की जनता को दरिद्रता एवं निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करने के लिये यह अब भी प्रयत्नशील है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से अब तक इस क्षेत्र में प्राप्त सफलता बहुत कम है; इस थोड़ी सफलता के कारणों तथा राष्ट्रीय सरकार के मार्ग में आई बाधाओं के विवेचन का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। हम अपना विवेचन भारतीय-स्वातन्त्र्य अधिनियम के संक्षिप्त विवरण के साथ समाप्त करेंगे।

१९४७ का भारतीय स्वातन्त्र्य अधिनियम:— यह बहुत ही सरल तथा संक्षिप्त अधिनियम है। इसमें २० अनुच्छेद (Sections) और ३ अनुसूचियां हैं। यह इसलिये सरल है क्योंकि यह भारत के प्रति ब्रिटेन की नीति एवं इरादों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नहीं बनाया गया था, इसका एकमात्र उद्देश्य था शक्ति देना। इसके मुख्य उपबन्ध निम्न हैं:—

इसने १५ अगस्त १९४७ को भारत तथा पाकिस्तान दो स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण किया और उनकी सीमायें भी निश्चित कीं। बंगाल और पंजाब का विभाजन एक 'सीमा निर्धारक कमीशन' की सिफारिशों के अनुसार, जो इसी प्रयोजन के लिये बिठाया जाना था, किया जाना था। क्योंकि कमीशन किसी सर्वसम्मत परिणाम पर नहीं पहुँच सका, इन दोनों प्रान्तों का विभाजन इसके चेयरमैन द्वारा दिये गये निर्णय के अनुसार किया गया। प्रत्येक उपनिवेश का एक गवर्नर-जनरल होना था, जो इसके शासन में सम्राट् का प्रतिनिधित्व करता, पर उसे वैधानिक प्रमुख के रूप में मंत्रियों के परामर्श पर शासन का संचालन करना था। उसकी नियुक्ति सम्राट् द्वारा होनी थी। क्योंकि भारत और पाकिस्तान के बारे में उपनिवेश की सरकार की सिफारिश पर उसके गवर्नर-जनरल की नियुक्ति का सामान्य तरीका नहीं बरता जा सकता था, वायसराय ने भारत के गवर्नर-जनरल की नियुक्ति के विषय में कांग्रेसी नेताओं से तथा पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियुक्ति के विषय में मुस्लिम लीग के नेताओं से सलाह मशविरा लिया। इस प्रकार इन दोनों दलों की सिफारिश पर दोनों नये उपनिवेशों के गवर्नर-जनरलों की नियुक्तियाँ हुईं।

प्रत्येक उपनिवेश की एक पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न व्यवस्थापिका सभा होनी थी। इसे राज्य के विषय में कानून बनाने की पूरी शक्ति थी। १५ अगस्त १९४७ के बाद ब्रिटिश संसद के द्वारा पास किया गया कोई भी एक्ट किसी भी उपनिवेश पर तब तक लागू नहीं हो सकता था जब तक कि उसकी अपनी धारासभा ही उसे अपने कानून द्वारा प्रसारित न कर दे। सम्राट् ने उपनिवेशों की धारासभाओं द्वारा पास किये गये विधेयकों को रद करने का अधिकार छोड़ दिया था और गवर्नर-जनरल को सम्राट् के नाम से इस प्रकार के विधेयकों को स्वीकृति देने का पूर्ण अधिकार था। प्रत्येक उपनिवेश में धारासभा की शक्तियाँ उसकी संविधान-परिषद द्वारा प्रयुक्त की जानी थीं। इस प्रकार एक्ट ने दोनों उपनिवेशों की संविधान-परिषदों को पूर्णप्रभुत्व-सम्पन्न बना दिया; कैबिनेट-मिशन-योजना के अनुसार वे प्रभुतासम्पन्न न थीं। जब तक संविधान-परिषद द्वारा निर्मित संविधान कार्यान्वित नहीं होता प्रत्येक उपनिवेश का शासन १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार चलता जिसमें गवर्नर-जनरल को कमी, वृद्धि, संशोधन एवं अन्य प्रकार के परिवर्तन आदि करने का अधिकार था।

क्योंकि प्रत्येक उपनिवेश को संसदीय प्रणाली के अनुसार पूर्ण उत्तरदायी शासन दे दिया गया था, १५ अगस्त के बाद भारत और पाकिस्तान की सरकारों पर सम्राट् की सरकार का नियंत्रण समाप्त हो गया। भारतीय प्रशासन के लिये ब्रिटिश सरकार का उत्तरदायित्व इस प्रकार सदा के लिये खत्म हो गया। इसी तारीख से भारतीय रियासतों पर सम्राट् की सर्वोपरि सत्ता (paramountcy) का भी अन्त हो जाना था; और इसी के साथ ब्रिटिश सम्राट् तथा भारतीय रियासतों के बीच हुई समस्त संधियाँ तथा भारतीय नरेशों के प्रति सम्राट् के सब कर्तव्य भी समाप्त हो गये। पर सर्वोपरि सत्ता उपनिवेशों की नई सरकारों को नहीं हस्तान्तरित की गई। संक्षेप में भारतीय रियासतें आज़ाद हो गईं। पर उनसे यह आशा नहीं की जाती थी कि वे भारत से कटी हुई रहेंगी और न ही वे ऐसा कर सकती थीं। उनसे आशा की जाती थी कि वे शीघ्र ही दोनों में से किसी एक उपनिवेश में अपनी शर्तों पर प्रविष्ट हो जायंगी।

भारतीय राष्ट्रीयता का स्वरूप :— भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इस लम्बे वर्णन को समाप्त करने से पूर्व हम भारतीय राष्ट्रीयता के स्वरूप के विषय में कुछ शब्द और कहना चाहते हैं।

एक दृष्टि से हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन संसार के इतिहास में बेमिसाल है। इतिहास में हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जो यह बताता हो कि किसी गुलाम जाति ने अपने शासकों के विरुद्ध खून बहाये बगैर विदेशी शासन से छुटकारा पाया है; संसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के राजनीतिक इतिहास में महान् परिवर्तनों का सदैव हिंसा से ही सम्बन्ध रहा है। भारत ने पहिली बार संसार को बताया कि अहिंसात्मक एवं शान्तिमय उपायों के द्वारा भी महान् क्रान्ति की जा सकती है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में सिर्फ हमें ही विशेष दिलचस्पी नहीं थी अपितु सारा संसार इसकी ओर टकटकी लगाये देख रहा था। मनुष्य जाति ने राजनीतिक क्रान्ति की नई कला के आविष्कार तथा पूर्णता को आश्चर्य से देखा जिसने संसार में एक प्रकार का चमत्कार सा कर दिखाया। भारत और इंग्लैण्ड मित्र की तरह एक दूसरे से विदा हुए। गांधी जी न सिर्फ नव-भारत के निर्माता ही थे उन्होंने इंग्लैण्ड और भारत के बीच नवीन सम्बन्ध भी स्थापित किये। किसी जाति से स्वतन्त्रता हासिल करना बड़ी बात है पर उससे भी बड़ी बात इस दौरान में उस जाति को प्रेम से जीतना है। भारतीय राष्ट्रीयता ने यह भी हासिल किया।

भारतीय राष्ट्रीयता की इस विशेषता का इसके आध्यात्मिक आधार के साथ अटूट सम्बन्ध है। इस पुस्तक के छटे अध्याय में हम बता आये हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन तथा विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन, जो हमारे देश में गत शताब्दी में प्रारम्भ हुए, भारत की महान् आध्यात्मिक पुनर्जागृति के ही अंग थे। इसे आध्यात्मिक स्वरूप दिया राजा राममोहन राय ने, स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द ने और इन सबसे बढ़कर महात्मा गांधी ने, जिन्होंने १९१९ के बाद से इसका स्वरूप निश्चित किया, अपने विचारों के अनुसार इसे ढाला और इसका पथ-प्रदर्शन किया। उन्हीं के नेतृत्व में कांग्रेस ने सत्याग्रह अथवा अहिंसा को साधन के रूप में अपनाया।

राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति में अहिंसा या सत्याग्रह पर साधन के रूप में ज़ोर तथा इस प्रकार राजनीति को आध्यात्मिक बनाने का प्रयत्न हमारे राष्ट्रीय संग्राम की अन्य कई विशेषताओं के लिये उत्तरदायी है। यह मध्यम वर्ग के आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में, जो संग्राम में भाग लेने वाले सब वर्गों तथा सम्प्रदायों में एकता स्थापित करना चाहते थे, यह जन-साधारण के आन्दोलन में परिवर्तित हो गया। दूसरे, इसने रचनात्मक कार्य-क्रम पर बहुत बल दिया जिसमें हाथ की कताई व खादी को प्रोत्साहन देना, साम्प्रदायिक प्रेम-भाव की वृद्धि, अस्पृश्यता का निवारण, और शराबबन्दी सम्मिलित थे। दूसरे शब्दों में, भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित न था अपितु सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्रों में भी यह फैला हुआ था। इस प्रकार इसका उद्देश्य था राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति। महिलाओं की मुक्ति तथा अछूतों का उद्धार इसके महत्त्वपूर्ण परिणामों में से थे। सब जगह राष्ट्रीय आन्दोलनों का परिणाम सामाजिक और आर्थिक सुधार नहीं हुआ करते।

भारत सरकार की वैदेशिक नीति भी, जिसका उद्देश्य संसार के बड़े राष्ट्रों की गुट्टबन्दी से पृथक् रहते हुए संसार में शांति, समृद्धि तथा मित्रभाव की स्थापना व उन्नति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना है, अहिंसा पर बल देने तथा उद्देश्य एवं साधन की समानता का ही, जिस पर महात्मा जी ने जीवन भर इतना ज़ोर दिया, तर्कसम्मत परिणाम है।

अन्त में, महात्मा जी के उस कथन की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है जो उन्होंने द्वितीय गोल मेज़ सम्मेलन के अवसर पर इस सम्बन्ध में कहा कि कांग्रेस जन-साधारण के कल्याण को कितना महत्त्व देती है। जन-साधारण की उन्नति तथा हरिजनों का उद्धार समस्त गांधी-युग में तथा आजादी मिलने के बाद भी कांग्रेस के मुख्य कार्य रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता

विषय-परिचय :— पिछले अध्याय में १९४५ में लार्ड वेवल द्वारा बुलाई गई शिमला कान्फरेन्स की असफलता के कारणों, अन्तरिम सरकार के निर्माण में कैबिनेट-मिशन द्वारा अनुभव की गई कठिनाइयों और देश के भारत तथा पाकिस्तान नाम के दो स्वतन्त्र राज्यों में विभाजन के विषय में जो भी कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि हमारी वैधानिक प्रगति में साम्प्रदायिकता रूपी दानव ने कितनी अड़चनें पैदा कीं। हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों की ओट ही में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को शक्ति हस्तान्तरित नहीं होने दी। द्वितीय गोल मेज़ सम्मेलन के अवसर पर जो भी कुछ हुआ और जिस प्रकार ८ अगस्त १९४० के वक्तव्य में लार्ड लिनलिथगो ने अल्पसंख्यकों के हाथ में 'वीटो' दिया, इन सब से इसी की पुष्टि होती है। अतः इसका यहां विस्तृत विवेचन आवश्यक है यद्यपि अब यह एक पुरानी कहानी हो गई है।

समस्या का स्वरूप :— साम्प्रदायिक समस्या को सामान्यतया हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न या हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख प्रश्न कहा जाता था। समस्या को यह नाम देना अत्यन्त त्रुटि-पूर्ण है। इस नाम से तो यह प्रतीत होता है कि समस्या पूर्णतया एवं मुख्यतया धार्मिक थी। इसका यह अर्थ भी होता कि केवल हिन्दू, मुस्लिम तथा सिक्ख ही इससे सम्बद्ध थे। लेकिन ये दोनों विचार गलत हैं। साम्प्रदायिक समस्या धार्मिक होने की अपेक्षा राजनीतिक अधिक थी; धर्म के बाने के बावजूद यह मुख्यतया राजनीतिक ही थी।*

* यह एक दिलचस्प बात है कि साइमन कमीशन भी इसी नतीजे पर पहुंचा कि 'साम्प्रदायिक विद्वेष भारत के राजनीतिक भविष्य के बारे में दोनों सम्प्रदायों में पैदा की गई चिन्ताओं व महत्त्वाकांक्षाओं का ही प्रकाशन है। जब तक अंग्रेज़ों के हाथ में पूरी शक्ति थी और स्वराज्य का विचार भी नहीं पैदा हुआ था हिन्दू-मुस्लिम प्रतिस्पर्धा एक संकुचित क्षेत्र तक ही सीमित थी— एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के प्राधान्य से विशेष डर न था। भारतीय रियासतों में आज साम्प्रदायिक विद्वेष के अपेक्षाकृत अभाव का भी यही स्पष्टीकरण है। ब्रिटिश भारत में एक पीढ़ी पूर्व प्रचलित अवस्थाओं से जो वाकिफ़ हैं वे इस बात की गवाही देंगे कि उस समय दोनों सम्प्रदायों में इतना प्रेम भाव पैदा कर दिया गया था कि साम्प्रदायिक तनातनी से शांति भंग होने की बहुत कम आशा थी। पर सुधारों के आगमन तथा इसके बाद होने वाली घटनाओं के ख्याल ने हिन्दू-मुस्लिम प्रतियोगिता को फिर उभार दिया है।' स्वाभाविक रूप से साइमन-कमीशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके स्वरूप निर्माण तथा विकास में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भी उतना ही हाथ रहा है जितना हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच राजनीतिक संघर्षों का। समस्या को जो केवल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का धार्मिक संघर्ष समझते थे और उसकी तह में छिपी अंग्रेज़ी चालों को नहीं देखते थे, वे उसका सर्वाङ्गीण अवलोकन नहीं कर सकते थे। वे ग़लत मन्तव्यों के साथ चले, परिणामतः इसके उपायों के सम्बन्ध में वे ग़लत परिणामों पर पहुंचे। वास्तव में समस्या यह थी कि देश में बसने वाले विभिन्न वर्गों— हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, आंग्ल-भारतीय, युरोपियन, ज़मीदार, उद्योगपति, श्रमिक तथा वाणिज्य-व्यवसाय में लगे रहने वालों— की राजनीतिक शक्ति में हिस्सा लेने की मांग को कैसे संतुलित किया जाय। अंग्रेज़ी सरकार द्वारा अपनायी नीति ने कुछ वर्गों को अपनी मांग सर्वोपरि रखने के लिये प्रोत्साहित ही नहीं किया बल्कि वर्गों के आपसी समझौते द्वारा समस्या के हल को असंभव बना दिया। भारत में चलने वाला संघर्ष कांग्रेस की राष्ट्रीयता, मुस्लिम लीग व हिन्दू महासभा की संकीर्ण साम्प्रदायिकता तथा ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों के बीच था। इस प्रकार यहाँ एक साम्प्रदायिक त्रिभुज निर्मित हो गया जिसकी ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक बहुत महत्त्वपूर्ण भुजा थी। श्री अशोक मेहता की पुस्तक 'दी कम्यूनल ट्रायंगल इन इण्डिया' में यही चीज़ बहुत स्पष्ट रूप में समझाई गई है।*

साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति:— देश की राजनीति के दो तत्त्वों— उद्दाम (insurgent) भारतीय राष्ट्रीयता का विदेशी शासन को फेंक देने का प्रयत्न तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का इस उठती शक्ति को कुचल देने का प्रयत्न— की आपसी क्रिया प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति हुई। इन दो तत्त्वों में से किसी की भी अनुपस्थिति में साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति असम्भव थी। इन दोनों तत्त्वों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद अधिक पुराना व शक्तिशाली था। भारतीय राष्ट्रीयता इसके बहुत बाद में जागी और शक्तिशाली बनी। जब इसने सिर उठाया और यह कुछ शक्तिशाली बनने लगी तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने इसे एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के विरुद्ध खड़ा करके कुचलना चाहा और इस प्रकार साम्प्रदायिकता राक्षसी को जन्म दिया जो भारतीय राजनीति पर एक महान् कलंक है। यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच पहिले से चले आते मनमुटाव को और बढ़ाकर उससे लाभ उठाया। हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष को उसने शून्य में से उत्पन्न नहीं किया। अपने दुर्भाग्य के लिये हमारा भी उत्तरदायित्व है। किस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने हमारे मतभेदों का फायदा उठाकर इस साम्प्रदायिक समस्या को पैदा

ने इस विषय में कुछ नहीं कहा कि साम्प्रदायिक विद्वेष को भड़काने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का कितना हाथ था।

* यह पुस्तक किताबिस्तान इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित की गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया इसको भी समझने की ज़रूरत है।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने बहुत पहिले यह अनुभव कर लिया था कि भारत के मुट्ठी भर अंग्रेज़ों को करोड़ों भारतवासियों से बचाने तथा ब्रिटिश शासन की रक्षा तथा स्थायित्व का एकमात्र उपाय यहाँ के विभिन्न सम्प्रदायों को सदैव एक दूसरे से पृथक् रखना तथा विदेशी शासन को फेंकने के उद्देश्य से मिलकर प्रयत्न करने से रोकना था। विभाजन द्वारा शासन करने, एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के विरुद्ध खड़ा करने और उन्हें एक राष्ट्र के रूप में संगठित न होने देने की नीति ही इस देश में भारतीय प्रशासन का आधार रही है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में बम्बई के गवर्नर माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन ने एक बार लिखा था: 'विभाजन द्वारा शासन करना रोम की पुरानी कहावत है और हमें भी उसी का अनुसरण करना चाहिये।' अंगरेज़ इस नीति में निपुण तो थे ही, 'भारत में आते ही उन्होंने इसे देश की तत्कालीन स्थिति पर लागू करना प्रारम्भ कर दिया। भारत के दो बड़े सम्प्रदायों— हिन्दू और मुसलमानों— ने सहयोग का आकर्षक उदाहरण स्थापित कर दिया था जिसमें स्वाभाविक रूप से जहाँ तहाँ विरोध का भी कुछ आभास मिलता था। बड़ी निपुणता और चतुराई के साथ, जिसने उनकी कूटनीति को संसार में अब से कुछ समय पूर्व तक बहुत सफल एवं शक्तिशालिनी बनाया हुआ था, हमारे अङ्गरेज़ शासकों ने अपने को हिन्दू और मुसलमानों के बीच में रखने और इस प्रकार एक साम्प्रदायिक त्रिभुज निर्मित करने का निश्चय किया जिसका वे स्वयं आधार रहते।'* ब्रिटिश सरकार ने एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के विरुद्ध खड़ा करने की नीति को किस प्रकार कार्यान्वित किया, यह समझना भी लाभप्रद है।

अपनी इस नीति का सबसे पहिला प्रयोग अंग्रेज़ों ने १८५७ के विद्रोह के पश्चात् भारतीय सेना के संगठन में किया। इस समय से पहिले सभी भारतीय सेना में साथ साथ रहते थे। जाति या सम्प्रदाय के आधार पर कोई विभाजन या भेद न था। हिन्दू, मुसलमान, जाट, सिक्ख तथा पूरबिये सभी भेदभाव भूलकर साथ साथ रहते थे और इसी एकता की भावना ने १८५७ के विद्रोह को सम्भव बनाया। लेकिन अंग्रेज़ों द्वारा किये गये सेना के पुनःसंगठन ने इस एकता का विनाश कर दिया। रेजीमेंटों, बटालियनों तथा कम्पनियों का निर्माण जाति, वर्ग तथा साम्प्रदायिक भेदों के आधार पर हुआ। सिक्ख रेजीमेंट, जाट रेजीमेंट तथा अन्य अनेक रेजीमेंट बन गये। इस नये आधार ने वर्ग व साम्प्रदायिक विद्वेष की नींव डाली और राष्ट्रीय भावना के विकास में इससे बड़ी अड़चन पड़ी।

सेना के बाहर इस नीति का प्रयोग एक प्रम्प्रदाय को प्रश्रय देकर दूसरे को दबाने के लिये किया गया। अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को दबाने का निश्चय किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि सन् ५७ के विद्रोह के लिये यही लोग उत्तरदायी

* अशोक मेहता व अच्युत पटवर्द्धन: 'कम्यूनल ट्रायंगल इन इंडिया', पृष्ठ ५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। सेना तथा सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को जानबूझ कर जगह न दी जाती और हिन्दुओं के प्रति खूब रियायत की जाती। १८७१ में बंगाल सरकार के २१४१ सरकारी नौकरों में केवल ७२ मुस्लिम, ७११ हिन्दू तथा १३२८ युरोपियन थे।* मुसलमानों को आर्थिक तथा शिक्षणात्मक दोनों रूपों से नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त इसी उद्देश्य से किया गया था। इसने मुसलमानों को निर्धन बनाकर हिन्दुओं को सम्पन्न बना दिया। लेकिन कुछ ऐसी शक्तियां कार्य कर रही थीं जिन्होंने अंग्रेज़ों के मुसलमानों के प्रति दृष्टिकोण को बदल दिया। सर सय्यद अहमद खाँ ने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि सरकार का अविश्वास निराधार था; उन्होंने मुसलमानों तथा सरकार के बीच सद्भाव की उत्पत्ति के लिये भी बड़ा प्रयत्न किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। देश की राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ उनके अनुकूल थी। देश में राजनीतिक चेतना का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गई थी और उसने सरकारी नीतियों की आलोचना भी प्रारम्भ कर दी थी। अल्लामा शिबली नुमानी, मौलाना रशीद अहमद गंगोही तथा अलीगढ़ के मौलवी लुतफुल्ला जैसे नेता हिन्दुओं के साथ मिलकर राजनीतिक लड़ाई लड़ते। १८८४ में गुरदासपुर की अपनी एक वक्तृता में सर सय्यद अहमद खाँ ने निम्नलिखित शब्द कहे: 'हम लोगों— हिन्दुओं तथा मुसलमानों— को एक हृदय तथा आत्मा बनकर एकता-पूर्वक कार्य करना चाहिये। एक बनकर हम एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं, लेकिन भिन्नता तथा विरोध में दोनों का विनाश है।'† एक दूसरे अवसर पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, तथा भारत में रहने वाले अन्य लोगों का एक ही राष्ट्र है और जनता को उन्होंने यह ध्यान में रखने की अपील भी की कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों में तो सिर्फ थोड़ी धार्मिक भिन्नताएँ हैं लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि देश में रहने वाले सभी लोगों का राष्ट्र एक नहीं।‡ विदेशी सरकार को ऐसी भावनाओं का विकास कैसे प्रिय लगता; उसने अपनी सुदृढ़ता के लिये मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग न लेने देना चाहा। उसने मुसलमानों के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल कर उनका पक्ष लेने तथा हिन्दुओं को दबाने का निश्चय किया। उत्तरी भारत के मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने में नये प्रारम्भ हुए एम. ए. ओ. कॉलिज के प्रिन्सिपल श्री बैक ने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। श्री बैक ने सर सय्यद अहमद खाँ को बहुत प्रभावित किया और उन्हें उनकी वृद्धावस्था में उन चीज़ों का विरोध करने के लिये तय्यार कर

---

* अशोक मेहता व अच्युत पटवर्द्धन: 'कम्यूनल ट्रायंगल इन इंडिया', पृष्ठ ८५

† 'लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कांस्टिट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेंट' में पृष्ठ ३७२–३ पर गुरमुख निहालसिंह द्वारा उद्धृत।

‡ विल्फ्रेड सी. स्मिथ: 'माडर्न इस्लाम इन इण्डिया', पृष्ठ १८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया जिनका वे जीवन भर पक्ष करते रहे थे। श्री बैक एक बहुत बड़े साम्राज्य-निर्माता थे; उन्होंने मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रख कर साम्राज्य-निर्माण में बड़ी सहायता पहुँचाई।

मुस्लिम लीग की स्थापना तथा अलग निर्वाचन क्षेत्र की माँग :— हालांकि उत्तरी भारत के मुसलमानों ने कांग्रेस में हिस्सा न लिया, फिर भी अभी तक उनका कोई अलग संगठन न था जिसका ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के विरोध के लिये उपयोग कर सकती। मुस्लिम लीग तथा अलग निर्वाचक-क्षेत्रों की स्थापना से यह पता चलता है कि एक वर्ग व सम्प्रदाय को दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने के अपने उद्देश्य में सरकार कितनी सफल हुई। अब हम इसका अध्ययन प्रारम्भ करते हैं।

लार्ड कर्जन के शासन से उत्पन्न हुए असन्तोष को दबाने के लिये उस समय के भारत-मन्त्री लार्ड मार्ले ने भारत-सरकार को यह सुझाव दिया कि जनप्रिय दिशा में सुधार करने का यही उपयुक्त समय है।* इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये प्रयत्न किया गया। यह घटना १९०६ की है। श्री मौरीसन के बाद एम. ए. ओ. कॉलिज के नये प्रिंसिपल श्री आर्कबॉल्ड ने सर सय्यद अहमद के बाद मुसलमानों के नेता तथा कॉलिज के प्रेज़ीडेन्ट नवाब मुहसिन-उल-मुल्क को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने उन्हें लार्ड मिन्टो के पास मुसलमानों का एक प्रतिनिधि-मंडल भेजने की सलाह दी। उन्होंने नवाब साहब को यह सूचना दी कि वायसराय मुसलमानों के प्रतिनिधि-मंडल से मिलने के लिये प्रस्तुत थे लेकिन इस मंडल में देश के विभिन्न भागों के प्रतिनिधियों का रहना आवश्यक था। उन्होंने इस बात का भी ज़िक्र किया कि प्रतिनिधि-मंडल का सम्राट् में प्रति स्वामिभक्ति प्रदर्शित करना तथा सरकार द्वारा किये जाने वाले सुधारों के प्रति आदर-भाव दिखाना मुसलमानों के अनुकूल पड़ता। उन्होंने प्रतिनिधि-मंडल को यह विचार प्रदर्शित करने की भी राय दी कि मुसलमानों के लिये अलग निर्वाचन-क्षेत्र के निर्माण के बिना चुनाव का सिद्धान्त मुस्लिम हितों के लिये हानिकारक साबित होता। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का विचार मुसलमानों की सृष्टि नहीं है; इसकी प्रेरणा उन्हें किसी अन्य जगह से मिली। ग्रेट ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान-मंत्री श्री रैम्ज़े मैकडानल्ड ने अपनी पुस्तक 'अवेकनिंग आफ इण्डिया' में यह विचार प्रदर्शित किया है कि अलग साम्प्रदायिक क्षेत्र की मांग तथा उसकी स्थापना का उत्तर-दायित्व ब्रिटिश नौकरशाही पर है। स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली के शब्दों में लार्ड मिन्टो से मिलने वाला प्रतिनिधि-मंडल 'निर्देशित प्रदर्शन' (Command performance) था। इसका संगठन शिमले में हुआ था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लार्ड मिन्टो को दिये जाने वाले सम्मान-पत्र को स्वयं आर्कबॉल्ड ने ही तय्यार किया था। इसका विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। इतना बतला देना पर्याप्त है कि इसने मुसलमानों के

* कुछ लेखकों की राय है कि सुधार-योजनाएँ लार्ड मिन्टो ने बनाई थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये निम्नलिखित माँगें की :— पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र, सुधार के बाद बनी व्यवस्थापिका सभाओं में अपनी आबादी के अनुपात से अधिक स्थान, सरकारी नौकरियों में और अधिक प्रतिनिधित्व, मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना में सहायता, तथा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में किसी भारतीय की नियुक्ति होने पर उनके हितों की रक्षा। इसके उत्तर में लार्ड मिन्टो ने कहा था कि प्रतिनिधि-मंडल के विचारों से वह सहमत थे और उन्होंने उसे यह आश्वासन भी दिया कि उनके शासन में मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों तथा हितों की पूरी रक्षा होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का निकृष्ट सिद्धान्त लार्ड मिन्टो ने ही प्रारम्भ किया। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र की माँग का स्वयं लार्ड मार्ले ने, जिन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिये संयुक्त निर्वाचक कालिजों की स्थापना की राय दी थी, विरोध किया था। सरकार का हमेशा पक्ष करने वाले कलकत्ते के गोरे पत्र 'स्टेट्समैन' ने भी इसका विरोध किया था। देश की राष्ट्रीय विचारधारा इसके सख्त विरुद्ध थी क्योंकि हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच की खाई इससे और बढ़ती और राष्ट्रीय भावना के विकास में इससे बड़ा धक्का पहुँचता। लेकिन भारतीय नौकरशाही तथा इंगलैंड में इसके समर्थक अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए और इस सिद्धान्त को मार्ले-मिन्टो योजना में स्थान दिया गया। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि द्विराष्ट्र-सिद्धान्त तथा पाकिस्तान के जन्मदाता श्री मुहम्मद अली जिन्ना पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र के विरुद्ध थे। १९१० में कांग्रेस के इलाहाबाद-अधिवेशन में उन्होंने इस घृणित सिद्धान्त के विरुद्ध प्रस्ताव पेश किया था। इस प्रस्ताव का बिहार के प्रसिद्ध मौलवी मज़हर-उल-हक़ ने अनुमोदन किया था।

मुस्लिम लीग :— शिमला-डेपुटेशन की सफलता से मुसलमानों का अलग संगठन बनाने वाले लोगों को बड़ी प्रेरणा मिली। १९०६ के दिसम्बर मास में ढाका में होने वाले एक सम्मेलन के लिये लोगों को आमन्त्रित किया गया और वहीं पर अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। स्थापना करने वाले ऊँचे घर के कुछ सम्भ्रान्त मुसलमान थे। उनका उद्देश्य था: मुसलमानों के पढ़े लिखे तथा मध्यम-वर्ग को उस भयंकर राजनीति में सम्मिलित होने से रोकना जिसे कांग्रेस अपना रही थी।'* मुस्लिम लीग के संविधान ने अपने उद्देश्य तथा लक्ष्य को इस प्रकार व्यक्त किया :

'(१) भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्ति उत्पन्न करना तथा सरकार द्वारा अपनायी गयी नीति के विषय में उनकी गलतफहमी दूर करना; (२) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा तथा उनकी मांगों को ब्रिटिश सरकार के समक्ष संयम तथा शिष्ट व मंजी भाषा में प्रकाशन; (३) जहाँ तक सम्भव हो सके (१) और (२) में व्यक्त किये हुए उद्देश्यों के विरुद्ध न जाते हुए

* हुमायूँ कबीर : 'मुस्लिम पालिटिक्स', पृष्ठ २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुसलमानों तथा भारत के अन्य सम्प्रदायों के बीच सद्भाव का प्रसार।'

लीग प्रारम्भ से ही एक साम्प्रदायिक संस्था रही है और यह विशेषता इसके जीवन से सदा सम्बद्ध रही। लीग ने सदैव एक विशेष सम्प्रदाय के राजनीतिक अधिकारों तथा हितों की ओर ध्यान दिया है, पूरे भारत के हित की ओर नहीं; यह अंग्रेज़ी राज्य की पिट्ठू रही है भारतीय राष्ट्रीयता की पोषक नहीं। मुस्लिम लीग की इन विशेषताओं से स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक दूसरे से पृथक् रखने के लिये अंग्रेज़-कूटनीतिज्ञ कितने प्रयत्नशील थे।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि अपना वह रूप रखते हुए भी लीग को सभी पढ़े लिखे मुसलमानों का समर्थन प्राप्त न हो सका। श्री मुहम्मद अली जिन्ना इसके साम्प्रदायिक रूप के कट्टर विरोधी थे। नवाब सय्यद मौहम्मद ने इससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखना उचित न समझा। मौलाना शिबली नोमानी इसकी नीति की बराबर आलोचना करते। मौलाना मुहम्मद अली ने दिल्ली से अंग्रेज़ी तथा उर्दू में 'कामरेड' तथा 'हमदर्द' नामक दो पत्र निकाले जिनमें लीग की साम्प्रदायिकता तथा स्वामिभक्ति पर खूब आक्रमण होता था। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने कलकत्ते से 'अलहिलाल' नामक अपना एक पत्र निकाला जिसका उद्देश्य था भारतीयों में एक नवीन भावना तथा उत्साह का विकास। इन शक्तियों के प्रभाव, तुर्किस्तान तथा अन्य मुसलमानी देशों में घटने वाली घटनाओं तथा ब्रिटेन के उनके प्रति रुख तथा अन्त में अलीगढ़ के एम. ए. ओ. कालिज के अंग्रेज़ प्रिंसिपलों के प्रभाव की समाप्ति के कारण मुस्लिम राजनीति में बड़ा परिवर्तन आ उपस्थित हुआ। मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना मज़हर-उल-हक़, सय्यद वजीर हसन, हसन इमाम, तथा मुहम्मद अली जिन्ना जैसे प्रगतिशील नेताओं ने मुस्लिम लीग को कांग्रेस के साथ लाने के लिये उसके संविधान को प्रगतिशील तथा राष्ट्रीय आधार पर बदलने की इच्छा प्रकट की। इसी इच्छा के अनुसार इसके संविधान में १९१३ में कई सुधार हुए। मुसलमानों तथा अन्य भारतीय सम्प्रदायों के बीच अधिक से अधिक सद्भाव और मैत्री तथा ब्रिटिश राज की संरक्षता में भारतीय आवश्यकताओं के अनुकूल स्वराज्य प्राप्ति को भी लीग के उद्देश्यों में सम्मिलित किया गया। इस परिवर्तन ने कांग्रेस के साथ सहयोग का मार्ग खोल दिया। बम्बई में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर लीग-अधिवेशन भी आमंत्रित करके श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। इसके पश्चात् आने वाले अनेक वर्षों तक दोनों संस्थाओं ने युद्धोत्तर सुधार योजनाएँ एक साथ मिलकर बनाईं। कांग्रेस तथा लीग ने १९१६ में लखनऊ में होने वाले अपने अधिवेशनों में कांग्रेस-लीग योजना स्वीकृत की। श्री जिन्ना द्वारा उठाये गये क़दम के परिणामस्वरूप ही महात्मा गांधी, श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे कांग्रेस नेताओं ने १९१५, १९१६ व १९१७ में होने वाले लीग-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिवेशनों में भाग लिया और कई प्रस्तावों के पक्ष में भाषण किये। लीग के कलकत्ता अधिवेशन के सभापति राजा महमूदाबाद ने अपने सभापति-पद से दिये गये भाषण में निम्नलिखित शब्द कहे: 'देश का हित ही सर्वोपरि है। हमें यह सोचने में शक्ति क्षीण नहीं करनी चाहिये कि हम पहिले मुसलमान हैं या भारतीय। वास्तविकता यह है कि हम दोनों हैं और इसलिये किसी को भी पहिले महत्त्व देने का प्रश्न ही नहीं उठता। लीग ने मुसलमानों में देश तथा धर्म के लिये त्याग की भावना भर दी है।'

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति स्वामिभक्ति से राष्ट्रीयता की ओर यह परिवर्तन बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसी के कारण पंजाब तथा खिलाफत की ग़लतियों को दूर करने के लिये कांग्रेस द्वारा १९२० में चलाये गये असहयोग आन्दोलन में लीग का भी सहयोग मिल सका। लेकिन भारतीय मुसलमानों की ओर से चलाई गई लड़ाई का संगठन खिलाफत कमेटी ने किया, लीग ने नहीं। इस अवसर पर इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है कि मुस्लिम राजनीति से लीग की मौजूदा सरकार के प्रति चापलूसी तथा स्वामिभक्ति-प्रदर्शन की नीति के कारण पृथक् रहने वाले उलमाओं ने भी आन्दोलन में पूरा सहयोग दिया। उन्होंने जमियत-उल-उलेमाए-हिन्द नामक प्रसिद्ध संस्था का संगठन किया। यह संस्था बराबर एक राष्ट्रीय संस्था रही है और विदेशी सत्ता के विरुद्ध मुस्लिम विचारों को स्पष्टतर बनाने में इसने बड़ा प्रभाव डाला है। ब्रिटेन-विरोधी कार्यों के लिये माल्टा में नज़रबन्द रहने वाले मौलाना मुहम्मद-उल-हसन इसके संस्थापक थे। उनकी मृत्यु के बाद इसके नेतृत्व का भार मुफ्ती किफायद उल्लाह के कन्धों पर आ पड़ा। जमय्यत ने सदैव हिन्दू-मुस्लिम एकता का पक्ष लिया है और कांग्रेस के ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के विरुद्ध चलने वाले युद्ध में इसने सदैव सहयोग दिया।

खिलाफत कमेटी तथा जमय्यत की प्रसिद्धि तथा मुस्लिम जनता पर उनके प्रभाव के कारण १९२० के पश्चात् मुस्लिम लीग कुछ समय तक प्रभावहीन होकर लोगों की दृष्टि से छिपी रही। इसके अनेक सदस्यों ने सरकारी कृपादृष्टि प्राप्त करके सक्रिय राजनीति से हाथ खींच लिया।

महात्मा गांधी द्वारा प्रथम असहयोग आन्दोलन उठा लिये जाने के पश्चात् देश में फैलने वाले हिन्दू-मुस्लिम दंगों, शुद्धि तथा संगठन के कार्य-क्रम के साथ हिन्दू महासभा के प्रादुर्भाव तथा कांग्रेस द्वारा वैधानिक कार्य-क्रम अपना लिये जाने से श्री जिन्ना को लीग को पुनर्जीवित करने का अवसर मिल गया। यह ध्यान में रखना चाहिये कि श्री जिन्ना एक समय कट्टर कांग्रेसी थे; उन्होंने कांग्रेस से उस समय सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जब उसने राजनीतिक भिक्षावृत्ति के रास्ते को छोड़कर सीधी कार्यवाही के मार्ग को अपनाया। लीग पुनर्जीवित तो हुई किन्तु श्री जिन्ना इसके जीवन-शून्य अधिवेशनों को अनुप्राणित न कर सके। गोरे साइमन-कमीशन की स्थापना से लीग दो भागों में विभाजित हो गई। श्री जिन्ना के नेतृत्व में एक भाग कमीशन का बहिष्कार करता किन्तु सर मुहम्मद शफी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नेतृत्व में दूसरा भाग कमीशन के साथ सहयोग करने के पक्ष में था। इन दोनों लीगों में से एक ने अपना अधिवेशन कलकत्ते में किया, दूसरी ने लाहौर में। जिन्ना के नेतृत्व में चलने वाले भाग ने प्रसिद्ध नेहरू रिपोर्ट के अनुसार एक निश्चित संविधान-निर्माण के लिये कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दलों से सहयोग किया। शफी-लीग की राय के अनुसार नेहरू-रिपोर्ट द्वारा दिये साम्प्रदायिक समस्या के हल पर विचार-विमर्श करने के लिये एक 'मुस्लिम सर्वदल सम्मेलन' का संगठन हुआ। नेहरू-रिपोर्ट ने अल्पसंख्यकों के लिये सीटें सुरक्षित रखने के साथ सम्मिलित निर्वाचन-क्षेत्रों का अनुमोदन किया था। राष्ट्रीय मुसलमानों द्वारा इसका पक्ष लिये जाने पर भी सम्मेलन ने सम्मिलत निर्वाचन क्षेत्रों का विचार त्याग दिया। इस कारण प्रभावशाली मुसलमानों में मतभेद उत्पन्न हो गया। राष्ट्रीय मुसलमानों ने अपना एक अलग दल संगठित कर लिया। हकीम अजमल खां, डा० एम० ए० अन्सारी, सर अली इमाम, सर वज़ीर हसन, डाक्टर सय्यद महमूद, श्री आसफ अली, डाक्टर आलम, डाक्टर किचलू और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद प्रसिद्ध राष्ट्रीय मुसलमान थे।

ऊपर वर्णित विकास का परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम राजनीतिज्ञ दो दलों में विभाजित हो गये। ये दोनों दल मुस्लिम वर्ग को भिन्न दिशाओं में प्रेरित करते। एक ओर था कुछ सम्पन्न लोगों का एक दल जो सरकारी नौकरियों तथा रियायतों के लिये, हमेशा की तरह, ब्रिटिश सरकार की ओर देखता। सरकार इस दल के सदस्यों की ओर अनुदार न थी; उसने उन्हें देश के शासन में प्रभावशाली जगहों पर नियुक्त कर दिया जहाँ से वे अपने मित्रों तथा सगे सम्बन्धियों का कुछ भला कर सकते थे। सर फजली हुसैन और सर मुहम्मद शफी इस दल के नेता थे। ये लोग मुस्लिम लीग को अपने कब्ज़े में रखते। दूसरा दल कांग्रेस के राष्ट्रीय मुसलमानों द्वारा बना था। इसका नेतृत्व हकीम अजमल खाँ, डाक्टर अन्सारी और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के हाथों में था। इस दल के हाथ में शक्ति नहीं थी, इसलिये पहिले दल के मुकाबले में मध्यमवर्गीय मुसलमानों पर इसका प्रभाव कम था, यद्यपि बुद्धि-वैभव-सम्पन्न तथा चरित्रपूर्ण व्यक्तियों की इसमें कमी न थी। एक तीसरे दल का भी ज़िक्र आवश्यक है। इसका निर्माण पंजाब के शक्तिपूर्ण अहरार तथा बंगाल के कृषक प्रजा दलों से हुआ था। इस तीसरे दल के सदस्य अधिकतर कांग्रेस की राजनीतिक आकांक्षाओं का पक्ष लेते, किन्तु उनकी दृष्टि में उसकी आर्थिक नीति तथा कार्यक्रम उपयुक्त न थे। इस तरह लीग को उनका सहयोग प्राप्त न था।

इस अवसर पर श्री जिन्ना अकेले पड़ गये। 'नरम दल के मुसलमानों के बीच वे फिट नहीं बैठते थे क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से वे कांग्रेस-विचारधारा से अधिक प्रभावित थे। वे प्रगतिशील मुसलमानों में भी सम्मिलित नहीं हो सकते थे क्योंकि अपने कट्टर तथा संकीर्ण आर्थिक दृष्टिकोणों के कारण वे उन्हें कोरा क्रान्तिकारी समझते थे।'* वे कांग्रेस

* हुमायूं कबीर: 'मुस्लिम पालिटिक्स', पृष्ठ ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी नहीं आ सकते थे क्योंकि इसने सीधी कार्यवाही का मार्ग ग्रहण करने का निश्चय कर लिया था और इससे उन्होंने बहुत पहिले अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने भारतीय राजनीति में हिस्सा न लेने और विलायत जाकर कानूनी प्रैक्टिस करने का निश्चय किया। किन्तु भाग्य ने उनकी सहायता की। कुछ ही वर्षों के बीच मृत्यु ने अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त कुछ प्रसिद्ध मुसलमान राजनीतिज्ञों को कार्यक्षेत्र से हटा दिया। हकीम अजमल खाँ, मौलाना मुहम्मद अली, डाक्टर अंसारी, सर फजली हुसैन तथा सर मुहम्मद शफी की मृत्यु ने श्री जिन्ना के लिये रास्ता साफ कर दिया। उन्होंने इङ्गलैंड से लौटकर लीग का नेतृत्व अपने हाथ में लिया और वह उसे शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न में जी जान से लग गये। १९३७ के चुनाव ने उन्हें बड़ा सुनहला अवसर दिया। उनके नेतृत्व में लीग ने विभिन्न प्रान्तों के विधानमंडलों के चुनाव में भाग लिया किन्तु उसे बहुत थोड़ी सफलता मिली। मुसलमानों की अधिक संख्या वाले प्रान्तों— पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बंगाल तथा सिन्ध— में लीग को प्रतिस्पर्धी मुस्लिम-पार्टियों के मुकाबले में हार खानी पड़ी। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में इसे कांग्रस ने हराया; सिन्ध में श्री अल्लाबख्श की आज़ाद मुस्लिम पार्टी विजयी रही; पंजाब में सर सिकन्दर हयात खाँ के नेतृत्व में यूनियनिस्ट पार्टी ने इसे उखाड़ दिया; बंगाल में कृषक प्रजा पार्टी सबसे अधिक ताकतवर साबित हुई। उत्तर प्रदेश तथा बिहार जैसे मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रान्तों में ही लीगी उम्मीदवारों को ग़ैर-लीगी प्रतिस्पर्धियों के मुकाबले में सफलता मिली। लीग को सभी प्रान्तों की मुस्लिम सीटों की २५% से भी कम सीटें मिलीं। कुल ४८५ (कुछ के अनुसार ४८७) मुस्लिम सीटों में से लीग को केवल ११० सीटें मिलीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुस्लिम लीग को मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त न था। इसके भाग्य का सितारा डूबता नज़र आता था।

लेकिन विधानमंडल में अपनी बहुसंख्या वाले प्रान्तों में कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण अस्वीकार करने तथा सम्मिलित मंत्रिमंडल बनाने के लिये कांग्रेस-लीग समझौता न हो सकने के कारण एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें लीग को अपना खोया पद मिल गया और उसे कुछ ऐसी सफलताएँ मिलीं जो उसे कभी न मिली थीं। इसने मुसलमानों का वास्तविक विश्वास प्राप्त कर लिया। बंगाल में प्रजा पार्टी तथा लीग श्री फज़लुल हक की अध्यक्षता में सम्मिलित हो गयीं। श्री फज़लुल हक़ ने 'लीग की खोई प्रतिष्ठा-प्राप्ति तथा उसके लिये देश की जनता का सहयोग प्राप्त करने में बहुत कुछ किया।'† पंजाब में सर सिकन्दर हयात खाँ ने लीग में सम्मिलित होकर उसकी शक्ति में बड़ा योग दिया। मुस्लिम दलों के इस जोड़-तोड़ के कारण १९४२ में लीग की प्रतिष्ठा और प्रभाव में बड़ी वृद्धि हुई। पंजाब में सर सिकन्दर हयात खाँ की मृत्यु तथा बंगाल में श्री फज़लुल हक़ के लीग से पृथक् हो जाने के बाद जो घटनायें हुईं उन्होंने लीग को पिछले दो या

† हुमायूं कबीर: 'मुस्लिम पालिटिक्स', पृष्ठ ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन सालों की अपेक्षा अधिक कमज़ोर कर दिया।

पर लीग की शक्ति का यह ह्रास अस्थायी था; १९४२ के बाद जब कांग्रेस की समस्त प्रगतियाँ लुप्तप्राय हो गईं, इसकी शक्ति फिर बढ़ी। लीग को पाँच प्रान्तों में अपना मंत्रिमंडल बनाने में कामयाबी मिली हालांकि यह कामयाबी ब्रिटिश गवर्नरों की सहायता से मिली थी। पंजाब में कर्नल खिजर हयात खाँ, जो सर सिकन्दर हयात खाँ के स्थान पर पंजाब के प्रधानमंत्री बने, अपने मुस्लिम अनुयायियों के साथ लीग में शामिल हो गये। बंगाल में गवर्नर ने श्री फज़लुल हक़ को प्रधानमंत्री के पद से हटा कर ख्वाज़ा सर नाज़िमुद्दीन को, जो मुस्लिम लीग के प्रमुख नेता थे, प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया। आसाम में सर सादुल्ला खाँ की अध्यक्षता में लीगी मंत्रिमंडल बना और इसी प्रकार का दूसरा मंत्रिमंडल श्री औरंगज़ेब खाँ की अध्यक्षता में पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में बना। श्री अल्लाबख्श के गवर्नर द्वारा बरखास्त कर दिये जाने पर सिन्ध में भी लीगी मंत्रिमंडल बना। ये मंत्रिमंडल १९३९ से पूर्व कांग्रेस मंत्रिमंडलों की तरह विशुद्ध लीग के मंत्रिमंडल न थे। तथापि इनसे लीग की प्रतिष्ठा और गोरव में बहुत वृद्धि हुई। व्यक्तिगत रूप से श्री जिन्ना की शक्ति में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई; वे क़ायदे-आज़म बन गये। १९४६ में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा-सभाओं के चुनावों से यह स्पष्ट हो गया कि निस्संदेह मुस्लिम लीग को मुस्लिम जनता के एक बड़े भाग का समर्थन प्राप्त था। इसने इसके मुस्लिम जनता के एकमात्र प्रतिनिधि होने के दावे को बहुत बल पहुँचाया।

लीग और कांग्रेस :— देश की इन दोनों प्रमुख राजनीतिक संस्थाओं के आपसी संबंधों में समय के साथ साथ परिवर्तन होते रहे हैं। यह ध्यान में रखना चाहिये कि कांग्रेस का विरोध करने तथा पढ़े लिखे मुस्लिम वर्ग को कांग्रेस के प्रभाव से पृथक् करने के उद्देश्य से ही लीग की स्थापना हुई थी। लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक न चली। १९१३ में लीग के विधान में कुछ परिवर्तन हुए जिनके कारण लीग तथा कांग्रेस में आपसी सद्भाव उत्पन्न हो गया। लेकिन प्रथम असहयोग-आन्दोलन तथा खिलाफत कमेटी के उठा लिये जाने के पश्चात् दोनों संस्थाएँ एक दूसरे से फिर अलग हो गईं। लेकिन अभी तक दोनों के बीच कोई विरोध या शत्रुता न पैदा हुई थी। कांग्रेस वैधानिक मार्ग की ओर लौट आई और लीग में बहुत थोड़ा जीवन शेष रह गया। शफी तथा जिन्ना विभागों में मतभेद पैदा हो जाने तथा राष्ट्रीय मुसलमानों के लीग से निकल जाने के कारण लीग उदारवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों के हाथ पड़ गई और उसकी स्थिति वही हो गई जो १९१० से पूर्व थी। जब इंगलैण्ड में भारतीय सांविधानिक समस्या पर विचार तथा १९३५ की सुधार योजनाओं का निर्माण हो रहा था, श्री जिन्ना के नेतृत्व में लीग सक्रिय हो उठी और उसने कांग्रेस से सहयोग की इच्छा प्रकट की। १९३४ में इसने एक प्रस्ताव पास करके भारत के अन्य सम्प्रदायों व वर्गों से सहयोग करने का निश्चय प्रकट किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताकि भारत के सभी वर्गों को मान्य एक संविधान का निर्माण हो सकता। १९३५ में इसने भारत सरकार के १९३५ के एक्ट की संघ योजना को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया कि इससे भारत की स्वराज्य की दिशा में प्रगति एकदम रुक जाती और उसकी प्राप्ति में बहुत देर लग जाती। १९३६ में इसके प्रेज़ीडेंट सर वज़ीर हसन ने भारत के सभी वर्गों व सम्प्रदायों के बीच एकता के लिये जोशीली अपील की। श्री जिन्ना स्वयं उस समय की प्रतीक्षा में थे जब लीग कांग्रेस के साथ सहयोग करती; उनके अनुसार दोनों संस्थाओं के कार्यक्रमों में कोई वास्तविक भेद न था। इस बात का यहां जिक्र किया जा सकता है कि १९३७ के प्रान्तीय धारा सभाओं के चुनाव में कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं ने ग़ैर-लीगी मुस्लिम उम्मीदवारों के मुकाबले में लीगी मुस्लिम उम्मीदवारों का जहां भी हो सका पूरा समर्थन किया। पर १९३७ के पश्चात् सब चीज़ों का खाका ही एकदम तथा दुःखद रूप से बदल गया। सहयोग की भावना के स्थान पर दोनों संस्थाओं में विरोध भाव पैदा हो गया; दोनों के बीच की खाई प्रत्येक वर्ष के गुज़रने के साथ निरन्तर बढ़ती गई। दोनों संस्थाओं के दो विरोधी दिशाओं में चलने की कहानी पर्याप्त दिलचस्प है, अतः उसका वर्णन यहाँ आवश्यक है।

'१९३७ में उत्तर प्रदेश के चुनाव के अवसर पर एक प्रसिद्ध मुस्लिम राजनीतिज्ञ ने जो तब तक कांग्रेस में सम्मिलित थे, कांग्रेस की हार की आशंका से उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और अपने अनुयायियों के साथ जाकर मुस्लिम लीग का दामन पकड़ा। लेकिन यह विचार ग़लत साबित हुआ। कांग्रेस विजयी हुई और उसने अपना मंत्रिमंडल बना लिया। इस व्यक्ति ने कांग्रेस में फिर से सम्मिलित होने तथा मंत्रिमंडल में जगह पाने की मांग की। स्वभावतः, लेकिन कदाचित् अबुद्धिमानी से, कांग्रेस ने यह मांग अस्वीकृत कर दी— जैसा कि इस दशा में कोई भी ब्रिटिश पार्टी करती। इसका परिणाम बुरा और अंग्रेज़ी मस्तिष्क के लिये तो अत्यन्त आश्चर्यकारी हुआ। लीग ने कांग्रेस का और ज़ोरों से विरोध प्रारम्भ कर दिया और इस तथा इसी प्रकार के अन्य मामलों के आधार पर कांग्रेस को शक्ति संगठित करने वाली एक तानाशाही पार्टी (Totalitarian Party) कहा गया।'*

उत्तर प्रदेश के मुस्लिम राजनीतिज्ञ की उपर्युक्त घटना एक सामान्य समस्या की द्योतक थी। एक पिछले अध्याय में हम इस बात का जिक्र कर आये हैं कि जब १९३७ के चुनाव में कांग्रेस विजयी हुई तो उसके सामने समस्या उपस्थित हुई कि प्रान्तों में अपने बहुमत का वह किस प्रकार लाभ उठाये। इसने तब तक पद-ग्रहण करने से इन्कार कर दिया जब तक प्रान्तीय गवर्नर इसे अपनी शक्तियों का प्रयोग न करने के लिये पूर्ण आश्वासन न दे दें। बाद में जब इसने आश्वासन के आधार पर प्रान्तीय प्रशासन का उत्तरदायित्व सम्हालने का निश्चय किया तो लीग ने इससे आशा की कि वह सम्मिलित

* ब्रेलसफोर्ड : 'पराधीन भारत', पृष्ठ ८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्रिमंडल बनाने के लिये उसे भी निमन्त्रण दे। पर कांग्रेस पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद इसी परिणाम पर पहुँची कि उसे ग़ैर-कांग्रेसियों के साथ मिलकर संयुक्त मंत्रिमंडल नहीं बनाने चाहियें। इस निश्चय के कारणों पर हम पृष्ठ ३३३ पर प्रकाश डाल चुके हैं। परन्तु क्योंकि यह कांग्रेस के सिद्धान्तों व नीतियों को दृष्टि में रखते हुए मंत्रिमंडलों को यथासम्भव व्यापक बनाना चाहती थी इसने मुस्लिम लीग के सदस्यों से कांग्रेस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करके इसका सदस्य बनने और इस प्रकार पद-ग्रहण के उत्तरदायित्व में इसके साथ शरीक होने का अनुरोध किया। इसने लीग को यह निमंत्रण इस आधार पर दिया कि मातृभूमि की स्वाधीनता तथा जन-साधारण की उन्नति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, अतः कोई कारण नहीं है कि वे मुसलमान जो इन दोनों सिद्धान्तों से सहमत हैं, क्यों कांग्रेस के दायरे से बाहर रहें। श्री जिन्ना को स्वयं लीग और कांग्रेस में कोई बड़ा मत-भेद नज़र नहीं आता था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने भी यह कहकर कि यह एक असाम्प्रदायिक संगठन है, गरीबों की हितचिन्तक है, तथा इसका लक्ष्य कृषि-सुधार है, मुस्लिम जनता से सम्पर्क बढ़ाने और उनसे अधिक से अधिक संख्या में इसका सदस्य बनकर इसके हाथों को मज़बूत करने की अपील करने का निश्चय किया। मुस्लिम लीग ने इन सब बातों का यह अर्थ लगाया कि उसकी सत्ता को ही मिटाने के लिये यह आन्दोलन चलाया जा रहा है, अतः उसने कांग्रेस से सहयोग करने के बजाय उसके नेताओं पर ज़बरदस्त आक्रमण करने शुरू किये और उस पर आरोप लगाया कि वह सिर्फ हिन्दुओं के हितों का ही ख्याल करती है। कांग्रेस के नेताओं को फासिस्ट और तानाशाह तथा कांग्रेस को सभी छोटे सम्प्रदायों, विशेषतः मुसलमानों, को कुचलने के लिये आमादा संस्था बताया गया। यह कहना फैशन सा हो गया कि मुसलमान कांग्रेस से न न्याय की आशा कर सकते हैं और न ईमानदारी की। कांग्रेस द्वारा शासित प्रान्तों में उन बातों का बयान करने के लिये जिन्हें वहाँ के निर्दोष मुसलमानों पर 'अत्याचार' बताया गया, रोष-पूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया। लीग ने पीरपुर के राजा की अध्यक्षता में 'मुसलमानों के साथ किये अत्याचारों व दुर्व्यवहार' की छानबीन करने के लिये एक कमेटी बिठाई। इस कमेटी की रिपोर्ट 'पीरपुर रिपोर्ट' के नाम से प्रकाशित हुई। इसी प्रकार की एक और रिपोर्ट ने जो 'शरीफ रिपोर्ट' के नाम से मशहूर थी, उन अयोग्यताओं (disabilities) की एक लम्बी सूची प्रकाशित की जिनसे मुसलमान पीड़ित थे। एक साहब ने तो यहाँ तक कह डाला कि मुसलमान 'बहुमत के अत्याचार' से बढ़कर और कोई अत्याचार नहीं मानते। कांग्रेस प्रेज़ीडेंट ने कहा कि वे तथाकथित 'अत्याचारों' के निश्चित मामलों की छानबीन कराने को तय्यार हैं पर लीग ने इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं किया। इन अभियोगों के औचित्य और अनौचित्य की विवेचना करना हमारे प्रयोजन के लिये संगत नहीं ; इतना कहना पर्याप्त है कि किसी भी प्रान्तीय गवर्नर को मुसलमानों तथा अल्प-संख्यकों के साथ कांग्रेस मंत्रिमंडलों के व्यवहार से कोई शिकायत न थी। यदि लीग के आरोपों में कोई भी सत्य होता तो प्रान्तीय गवर्नर चुप न रहे होते और उन्होंने कांग्रेस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कलई खोलने में कसर न छोड़ी होती। इसके विपरीत, उत्तर-प्रदेश के गवर्नर ने १९३९ में अपने पद से अवकाश ग्रहण करते हुए बताया कि 'साम्प्रदायिक प्रश्नों का निबटारा करने में मंत्रियों ने सामान्यतया निष्पक्षता तथा न्यायप्रियता से काम लिया।' इसके अतिरिक्त यदि इन आक्षेपों में कुछ सचाई होती तो कांग्रेस मंत्रिमंडलों के मुस्लिम सदस्यों ने भी इसका विरोध किया होता। प्रोफेसर सर कूपलैण्ड के अनुसार भी कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने साम्प्रदायिक अन्याय की नीति का अनुसरण नहीं किया और मुसलमानों व अन्य अल्पसंख्यकों पर जान बूझकर अत्याचार करने का आरोप तो उन पर और भी कम लगाया जा सकता है। यह भी बड़ी दिलचस्प बात है कि लीग ने दुनिया को यह बताने की कोशिश की कि कांग्रेस ने अपने २८ मास के शासन में मुसलमानों पर अनेक 'अत्याचार' किये, किन्तु १९वीं शताब्दी के आठवें दशक तक जब तक ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों के प्रति अपनी नीति नहीं बदली, उसने सारे भारत के मुसलमानों को जिस संगठित रूप से सताया था उसके विषय में लीग ने एक शब्द भी न कहा। और न इसने कांग्रेस द्वारा चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलनों में भारतीयों तथा विशेषतः सीमा-प्रान्त के मुसलमानों पर ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा की गई पाशविक ज्यादतियों के विरुद्ध कोई आवाज़ उठाई।

कांग्रेस के शक्ति में हिस्सा देने से इन्कार कर देने के विरुद्ध मुस्लिम लीग पर जो प्रतिक्रिया हुई वह सिर्फ जोशीले और दोषपूर्ण उद्गारों तक ही सीमित न रही ; जब कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने १९३९ में युद्ध के प्रश्न पर अपने त्याग-पत्र दे दिये तो इसने 'मुक्ति और धन्यवाद दिवस' मनाया। लीगी राजनीतिज्ञों में १९३५ के एक्ट की इस आधार पर निन्दा शुरू की कि यह मुस्लिम हितों की रक्षा करने में एकदम असमर्थ रहा है। उन्हें केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना से डर लगने लगा क्योंकि इससे मुस्लिम बहुमत प्रान्तों पर भी हिन्दुओं का स्थायी आधिपत्य क़ायम हो जाता और इसीलिये उन्होंने इसे भरसक रोकने का निश्चय किया। श्री जिन्ना ने संसदीय शासन के सिद्धान्त को ही, जिस पर १९३५ का एक्ट आधारित था, मानने से इन्कार करना शुरू कर दिया। उन्होंने कहा कि बहुमत शासन के लिये एकवर्गीय (homogeneous) सम्प्रदाय का होना आवश्यक है जो कि भारत में नहीं है। यह द्वि-राष्ट्रीय सिद्धान्त की शुरुआत थी जिसने बाद में विकसित होकर पाकिस्तान को जन्म दिया। यदि १९३७ में कांग्रेस मंत्रिमंडलों में लीग के कुछ सदस्य सम्मिलित कर लिये गये होते तो कदाचित् भारत का बाद का इतिहास कुछ और ही होता। पर इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि लीग और कांग्रेस वास्तव में आपस में सहयोग कर ही पाते। कांग्रेस की सम्मिलित मंत्रिमंडल न बनाने की युक्तियाँ भी बहुत तर्कसम्मत थीं। इससे फिर यही पता चलता है कि साम्प्रदायिक समस्या मुख्यतया राजनीतिक थी ; कुछ मतलबपरस्तों ने इसे धार्मिक बाना पहिना दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लीग और सरकार:— मुसलमानों के अतिरिक्त भारत में अन्य अल्प-संख्यक सम्प्रदाय भी थे जैसे हरिजन, सिक्ख, भारतीय ईसाई, और पारसी। पारसी संख्या में सबसे थोड़े थे किन्तु उन्होंने अपने लिये कभी भी विशेषाधिकार तथा संरक्षण नहीं मांगे; राष्ट्रीय जागृति एवं सार्वजनिक जीवन के लिये उनकी बड़ी भारी देन रही है। भारतीय ईसाइयों ने भी देश की वैधानिक प्रगति में कभी रोड़ा नहीं अटकाया। सिक्खों का पंजाब में शक्तिशाली अल्पसंख्यक सम्प्रदाय था और उनकी इस माँग ने कि उनके साथ भी वही विशेष व्यवहार होना चाहिये जो मुसलमानों के साथ हो रहा है, न्यायसम्मत होते हुए भी प्रांत की साम्प्रदायिक समस्या को जटिल और असमाधेय (insoluble) बना दिया। डाक्टर अम्बेदकर के नेतृत्व में हरिजनों ने भी पृथक् निर्वाचक समूहों की मांग की। पर १९३९ के बाद और कोई अल्पसंख्यक वर्ग इतना अड़ियल साबित नहीं हुआ और किसी ने वैधानिक विकास के प्रति इतना निषेधात्मक रुख़ नहीं अख्तियार किया जितना मुस्लिम लीग के झण्डे के नीचे मुसलमानों ने। अन्त में लीग को पाकिस्तान के रूप में अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में कामयाबी हासिल हो गई; इसका मुख्य कारण था वह सहायता और प्रोत्साहन जो लीग को भारत में साम्प्रदायिक त्रिभुज की तीसरी भुजा अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मिले थे। इस विषय पर कुछ और ग़ौर किया जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध में हम अपने पाठकों का ध्यान पिछले पृष्ठ पर लीग की उत्पत्ति के विषय में कही गई इस बात की ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि यह चन्द राजभक्त मुसलमानों की संस्था थी जिसे कांग्रेस के विरोध में जन्म दिया गया था। १९१३ में इसकी नीति में परिवर्तन हुआ और '१९१६ के लखनऊ पैक्ट' के परिणामस्वरूप कांग्रेस और लीग में एक समझौता हो गया। इसके प्रति सरकार की प्रतिक्रिया बहुत महत्त्व-पूर्ण है। सरकार ने समझौते में सुझाये गये प्रशासकीय एवं वैधानिक सुधारों को सर्व-सम्मत होते हुए भी अस्वीकृत कर दिया पर इसके साम्प्रदायिक समस्या के हल को स्वीकार कर लिया और उसे १९१९ के एक्ट का आधार बनाया। तथापि सरकार ने बंगाल के हिन्दू और मुसलमानों के बीच सीटों के बंटवारे की आलोचना की और कहा कि मुसलमानों को 'पैक्ट' के मातहत दी गई ३४ सीटों की जगह ४४ सीटें दी जानी चाहिये थीं। इसका यह अभिप्राय था कि मुसलमान व्यवस्थापिका सभाओं आदि में प्रति-निधित्व पाने के लिये कांग्रेस की अपेक्षा सरकार से अधिक उदार शर्तें पाने की आशा कर सकते थे। यह लखनऊ पैक्ट को समाप्त करने का तरीक़ा था। शीघ्र ही मुसलमानों ने पंजाब और बंगाल के अलावा अन्य प्रान्तों में अपनी आबादी के अनुपात से अधिक मिले प्रतिनिधित्व को कायम रखते हुए पंजाब और बंगाल में अधिक सीटें हासिल करने के लिये आन्दोलन शुरू कर दिया। 'लखनऊ पैक्ट' को मानने के बजाय सरकार ने मुसलमानों को अपनी मांगें बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन देना आरम्भ किया। परिणामतः रैम्ज़े मैकडानल्ड का 'निर्णय' हमारे सामने आया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९१६ में कांग्रेस और लीग में हुआ समझौता कुछ वर्षों तक चला। जब तक यह क़ायम रहा, सरकार राजनीतिक सुधारों के प्रश्न को टालती रही और आर्थिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करती रही। उसने पंजाबी मुसलमानों और पठानों को भारतीय फौज में अधिक नियुक्तियां देकर मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने का भी प्रयत्न किया। मुसलमानों को खुश करने तथा हिन्दुओं की बनिस्बत उनके साथ अच्छा व्यवहार करने की प्रवृत्ति गोल मेज़ सम्मेलन में चरम सीमा पर पहुँच गई। मुसलमानों को यह मांग रखने के लिये प्रोत्साहित किया गया कि जब तक साम्प्रदायिक प्रश्न का उनके सन्तोष के अनुसार कोई हल न निकल आयेगा वे 'संघ रचना उपसमिति' की कार्यवाही में हिस्सा न लेंगे। साम्प्रदायिक निर्णय की शर्तों की परीक्षा करने से मालूम होगा कि सरकार ने मुसलमानों की सारी मांगें स्वीकार कर लीं। इसका कारण था उसकी वह नीति जिसके अनुसार वह साम्प्रदायिकता को फैलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को रोकना चाहती थी; वह किसी भी सम्प्रदाय का महत्त्व इस बात से आँकती थी कि वह राष्ट्रीय आन्दोलन का कितना विरोधी था। यह भी ध्यान रखने की बात है कि जब भी भारत-सरकार को किसी भी प्रयोजन के लिये मुसलमानों का चुनाव करने की आवश्यकता पड़ती तो वह सदा राजभक्त मुसलमानों को ही चुनती और राष्ट्रीय मुसलमानों की उपेक्षा करती। महात्मा जी के डाक्टर अन्सारी को गोल मेज़ सम्मेलन का प्रतिनिधि नामज़द करवाने के सब प्रयत्न बेकार गये। मुस्लिम लीग ब्रिटिश सरकार के साये ही में शक्तिशाली होती चली गई।

१९३७ के निर्वाचन में कांग्रेस द्वारा प्राप्त अद्वितीय सफलता ने सरकार को चौकन्ना कर दिया और उसने कांग्रेस की बढ़ती शक्ति को कुचल देने का निश्चय कर लिया। श्री जिन्ना तथा उनकी लीग का कांग्रेस के विरुद्ध प्रयोग करने के अतिरिक्त उसके लिये और कुछ स्वाभाविक न था। चुनाव में लीग को हराकर भी सर सिकन्दर हयात खां के उसके प्रति आत्मसमर्पण को इसी आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि सरकार ने श्री जिन्ना के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल दिया और वह उन्हें अपना मित्र बनाना चाहती थी। महात्मा गांधी तथा कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों की रिहाई तथा देश की राजनीतिक ज़िच की समाप्ति के सम्बन्ध में श्री जिन्ना के दृष्टिकोण से यह शंका और पक्की हो जाती है। जिस भद्दे तरीक़े से बंगाल के गवर्नर ने लीग को मंत्रिमंडल बनाने का अवसर देने के लिये श्री फज़लुल हक़ को उनके पद से हटाया और इसी उद्देश्य से जिस प्रकार सिन्ध में श्री अल्लाबख्श को बर्ख़ास्त किया गया उससे यही पता चलता है कि लीग और सरकार में गुप्त समझौता हो गया था। इसीलिये लार्ड लिनलिथगो ने देश की समस्त वैधानिक उन्नति को रोकने के लिये लीग को 'वीटो' का अधिकार दिया और बाद में वेवल ने श्री जिन्ना की हठधर्मी का पूरा फायदा उठाकर शिमला-सम्मेलन को असफल बना दिया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सरकार ने मुस्लिम लीग की सब सम्भव उपायों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सहायता की और इसके उत्तर में लीग ने भी सब संकटों में सरकार के साथ सहयोग किया। सरकार की इस सहायता के बग़ैर लीग की यह हिम्मत नहीं थी कि वह कांग्रेस के सहयोग को ठुकरा देती और कोई भी समझौता करने से पूर्व भद्दी मांगों को स्वीकार करने पर ज़ोर देती।

अन्य कारण :— यह स्वीकार करना होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अतिरिक्त भी अनेक कारण थे जिन्होंने मुस्लिम लीग की शक्ति व गौरव को बढ़ाने में बहुत सहायता की। श्री जिन्ना राजनीति के मंजे खिलाड़ी थे; वे एक शक्तिशाली अल्पसंख्यक वर्ग के सर्वमान्य नेता थे जिसकी सहायता कांग्रेस और सरकार दोनों ही चाहते थे। उन्होंने अपनी इस स्थिति का पूरा फायदा उठाया। श्री जिन्ना से कम योग्य व्यक्ति कदाचित् इस स्थिति का लाभ न उठा पाता। पंडित जवाहरलाल नेहरू के अनुसार एक शक्तिशाली मुस्लिम मध्यम वर्ग के निर्माण में विलम्ब होने के कारण मुस्लिम लीग को भावुक रूप से उत्तेजित मुस्लिम जनता के भय-मनोविज्ञान का फायदा उठाने का मौका मिल गया। इसने 'इस्लाम खतरे में है' यह नारा लगाया और इस विचार को फैलाना शुरू किया कि कांग्रेस-राज में, जो हिन्दू-राज के अलावा कुछ नहीं है, मुसलमानों का भाग्य गुलामों के भाग्य से बेहतर नहीं होगा। मुस्लिम जनता के धार्मिक जज़बात को उभाड़ने के लिये की गई यह ग़लत अपील कारगर हो गई और वे हिन्दू-बहुमत प्रान्तों में लीग के झण्डे के नीचे एकत्रित हो गये। हिन्दू महासभा के प्रचार और प्रगतियों का, जो क़रीब १० साल पहिले सांस्कृतिक संस्था के रूप में पैदा हुई थी लेकिन जिसने अब राजनीतिक मामलों को भी हाथ में ले लिया था, लीग ने कांग्रेस के विरुद्ध अपने जिहाद में पूरा उपयोग किया। हिन्दू महासभा के प्रेज़ीडेन्ट श्री विनायक दामोदर सावरकर ने 'विशुद्ध हिन्दुओं की प्रधानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और बताया कि हिन्दु-मुस्लिम फूट से निबटने का एकमात्र उपाय यह है कि समस्त भारत को हिन्दुस्तान माना जाय और मुसलमान एक लोकतन्त्रात्मक राज्य में जो बहुमत-शासन के द्वारा राज्य में नागरिकों के जीवन को व्यवस्थित करता है, एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय की स्थिति को स्वीकार कर लें।'* मुसलमानों के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे इन घोषणाओं के बाद मुस्लिम लीग को अपनी एकमात्र संस्था और श्री जिन्ना को अपना नेता— क़ायदे आज़म— समझते और इस प्रकार हिन्दुओं से किनारा कर लेते। पर मुस्लिम लीग की शक्ति के बढ़ाने में इन कारणों का उतना हाथ न था जितना कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दूतों द्वारा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से लीग को दिये गये प्रोत्साहन का।

पाकिस्तान की मांग :— १९३७ का साल मुस्लिम लीग के इतिहास में युगपरिवर्तनकारी साल था। इसने लीग और कांग्रेस की फूट को स्पष्ट ही नहीं किया अपितु एक नई मांग और एक नये सिद्धान्त की बुनियादें भी डालीं। नई माँग थी पाकिस्तान

* कूपलैण्ड : 'इण्डिया, ए रीस्टेटमेंट', पृष्ठ १८६-७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मांग तथा नया सिद्धान्त था कि मुसलमान स्वयं हिन्दुओं से भिन्न एक राष्ट्र हैं। १९३७ और १९४० के बीच ही के काल में पाकिस्तान और द्विराष्ट्र सिद्धान्त का, जिस पर यह आश्रित है, बीज बोया गया और ये बढ़े।

भारतीय मुसलमानों के एक पृथक् राष्ट्रीय राज्य के रूप में पाकिस्तान की कल्पना सबसे प्रथम उर्दू के महान् कवि सर मुहम्मद इक़बाल ने लोगों के सामने रक्खी थी। १९३० में इलाहाबाद में हुए मुस्लिम लीग के अधिवेशन के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए डाक्टर इक़बाल ने कहा था : 'मुझे यह कहते हुए तनिक भी संकोच नहीं होता कि यदि इस सिद्धान्त को कि भारतीय मुसलमानों को अपनी भारतीय मातृभूमि में अपनी संस्कृति व परम्परा के अनुसार अपना पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास करने का अधिकार है एक स्थायी साम्प्रदायिक समझौते का आधार मान लिया जाय तो ..... मैं चाहूँगा कि पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध और बिलोचिस्तान का एक राज्य बना दिया जाय .....। एक सुसंगठित पश्चिमी भारतीय राज्य का निर्माण ही मुझे कम से कम पश्चिमोत्तर भारत के मुसलमानों का तो अन्तिम भाग्य प्रतीत होता है।' पर उन्होंने इस कल्पना में अन्तर्निहित खतरे को भी अनुभव किया। श्री एडवर्ड थाम्पसन अपनी पुस्तक 'एनलिस्ट इण्डिया फॉर फ्रीडम' में लिखते हैं कि डाक्टर इक़बाल ने एक मुलाकात में बतलाया कि पाकिस्तान की तजवीज़ अंग्रेज़ों, हिन्दुओं और मुसलमानों तीनों ही के लिये नाशक सिद्ध होगी। पर जब वे इसे सब के लिये हानिकारक समझते थे तो फिर उन्होंने लीग के सभापति भाषण में इसका समर्थन क्यों किया यह बात समझ में नहीं आती। गोल मेज़ सम्मेलन के अवसर पर चौधरी रहमत अली के नेतृत्व में कुछ मुस्लिम नवयुवकों ने पाकिस्तान के विचार का इंग्लैण्ड में खूब प्रचार किया। विश्वास किया जाता है कि इस योजना पर जो भी कुछ खर्च आया वह एक ब्रिटिश एजेंसी ने, जो भारत का विभाजन चाहती थी, किया था। गोल मेज़ सम्मेलन में मुस्लिम प्रतिनिधियों ने इसे 'कल्पित एवं अक्रियात्मक' कह कर समाप्त कर दिया और फिर कुछ वर्ष तक इसके विषय में कुछ सुनाई नहीं पड़ा।

१९३७ में कांग्रेस से निराश होने पर मुस्लिम लीग के राजनीतिज्ञों के दिमाग में इस विचार ने फिर घर करना शुरू किया। उन्होंने देखा कि पृथक् निर्वाचक समूह, कानूनी संरक्षण तथा पृथक् प्रान्त सभी बेकार साबित हुए हैं और उन्होंने अनुभव किया कि केन्द्र में संघ शासन के स्थापित हो जाने पर ये सब चीज़ें उन्हें हिन्दुओं के बहुमत-राज से बचा न सकेंगी। अतः उन्होंने मुसलमानों को एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय की जगह एक पृथक् राष्ट्र बताना शुरू किया। अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के नाते वे कभी भी हिन्दुओं के साथ समान स्थिति प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते थे; एक राष्ट्र की हैसियत से अलबत्ता उनका खयाल था कि वे एक पृथक् गृहभूमि के अधिकारी हैं जहाँ वे अपने आदर्शों एवं प्रतिभा के अनुसार, अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, एवं राजनीतिक जीवन का विकास कर सकेंगे और आत्म-निर्णय (Self-determination) के सिद्धान्त का पूरा लाभ उठा सकेंगे। भारत के पश्चिमोत्तर एवं उत्तर-पूर्व के इलाके, जहाँ वे बहुमत में थे, उनकी गृहभूमि थी और वे चाहते थे कि ये एक या दो मुस्लिम राज्यों में संगठित कर दिये जायें जिन्हें पाकिस्तान कहा जाय। आरम्भ में मुस्लिम लीग ने भारत के दो स्वतन्त्र एवं प्रभुता-सम्पन्न राज्यों में विभाजन की कल्पना नहीं की थी; वह भारतीय संघ के अन्तर्गत ही मुसलमानों का एक स्वतंत्र राज्य चाहती थी। १९४० में 'टाइम एण्ड टाइड' में प्रकाशित हुए एक लेख में श्री जिन्ना ने बताया कि 'दोनों जातियों या राष्ट्रों को अपनी सामान्य मातृभूमि के शासन में हिस्सा लेना होगा।' 'सामान्य मातृ-भूमि' तथा 'हिस्सा लेना' इन दोनों शब्दों से स्पष्ट है कि श्री जिन्ना के दिमाग़ में देश के विभाजन का विचार उस समय तक पैदा नहीं हुआ था। पर कुछ महीने बाद लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें पश्चिमोत्तर तथा उत्तर-पूर्व के इलाकों का, जहाँ मुसलमान बहुमत में थे, एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की माँग की। इस प्रकार १९४० में लाहौर में हुए लीग के अधिवेशन में सब से प्रथम स्वतन्त्र एवं प्रभुत्व-सम्पन्न पाकिस्तान की मांग रक्खी गई जिसने लीग की कार्य समिति से एक ऐसी तजवीज़ तय्यार करने का अनुरोध किया जिसके अनुसार नया राज्य रक्षा, विदेशी मामलों, यातायात एवं तट-कर इत्यादि विषयों पर अपना पूर्ण नियंत्रण क़ायम कर सके।

कांग्रेस पाकिस्तान के एकदम विरुद्ध थी; अपने लम्बे इतिहास में इसने समूचे देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न किया था और उसी के लिये कष्ट भी सहे थे। मुस्लिम लीग के क्षेत्र से बाहर रहने वाले मुसलमान भी इसके इतना ही विरुद्ध थे। खान बहादुर अल्लाबख्श ने इस योजना और द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त की जिस पर यह आश्रित थी, कठोर भाषा में आलोचना की। जमय्यत-उल-उलमाये-हिन्द, मजलिसे-अहरार, अखिल भारतीय मोमीन कान्फरेन्स, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के खुदाई खिदमतगारों, अखिल भारतीय शिया कान्फरेन्स तथा राष्ट्रीय मुसलमानों— सभी ने इसकी निन्दा की। पंजाब के सिक्खों ने भी इसका पूर्ण विरोध करने का निश्चय प्रकट किया। कैबिनेट-मिशन ने छानबीन के बाद इस योजना को अक्रियात्मक पाया। और न इसे साम्प्रदायिक समस्या का ही पर्याप्त हल समझा जा सकता था; जब तक सब मुसलमानों का पाकिस्तान में और हिन्दुओं का भारत में तबादला न हो जाता, अल्पसंख्यक सम्प्रदाय दोनों ही राज्यों में रहते; सिर्फ विभाजन हो जाने के कारण ही उनका संघर्ष किसी प्रकार कम नहीं हो सकता था; इसके विपरीत इसके अधिक बढ़ जाने की ही सम्भावना थी। द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त, जो पाकिस्तान के विचार का आधार था, निहायत भद्दा, गलत और सनक से भरा था। अधिकांश भारतीय मुसलमान उन हिन्दुओं की सन्तान हैं जिन्हें मुग़ल शासन में जबर्दस्ती मुसलमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बना लिया गया था। यदि सदियों तक हिन्दुओं के साथ रहने, साथ साथ आनन्द मनाने और साथ ही तकलीफ उठाने के बावजूद ये व्यक्ति सिर्फ कुछ पीढ़ियों में ही अपने हिन्दू भाइयों से पृथक् एक राष्ट्र बन सकते हैं तो समाज-शास्त्र के सम्पूर्ण विज्ञान को ही फिर से लिखने की आवश्यकता पड़ेगी। लीग के इस दावे की कि भारतीय मुसलमान हिन्दुओं से भिन्न एक राष्ट्र हैं संसार के इतिहास में और कोई मिसाल नहीं मिलती। धार्मिक आधार पर राष्ट्रीयता का निर्माण एकदम निरर्थक है। इस सम्बन्ध में और कुछ कहना अनावश्यक है।

तथापि बावजूद इसके कि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त विचारात्मक रूप से अपूर्ण और भद्दा था, बावजूद इसके कि कांग्रेस, देश के ग़ैर-लीगी मुसलमानों और सिक्खों ने इसका संयुक्त रूप से विरोध किया था और बावजूद इसके कि भारत भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से एक था, जिसके कारण इसका दो स्वतन्त्र राज्यों में विभाजन एक अत्यन्त मुश्किल और अस्वाभाविक काम था, पाकिस्तान का स्वप्न पूरा हो गया; हिन्दुस्तान के दो टुकड़े कर दिये गये जिसके परिणामस्वरूप दोनों तरफ के लाखों नागरिकों को अकथनीय कष्ट और तकलीफ़ें बर्दास्त करनी पड़ी। कांग्रेस को विभाजन को एक अनिवार्य बुराई के रूप में मानने के लिये क्यों मजबूर होना पड़ा इस पर हम अन्यत्र विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं, इसे यहाँ फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं। यहाँ सिर्फ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की तरफ से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रोत्साहन और सहायता मिले बग़ैर यह सम्भव न था। भारत में अंग्रेज़ों ने जो नीति अपनायी उसका रुख शुरू से ही इस ओर था ; सर स्टैफर्ड क्रिप्स, श्री एमरी, लार्ड लिनलिथगो और श्री चर्चिल जैसे अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों का भारत के विभाजन में बहुत भारी हाथ था। सिर्फ इसी देश में अंग्रेज़ों ने विभाजन को प्रोत्साहित और कार्यान्वित करने का प्रयत्न नहीं किया, ये लोग आयरलैण्ड में अल्सटर और अरब लोगों के विरोध के बावजूद फिलस्तीन में यहूदियों के 'इज़राइल' नामक राज्य को जन्म देने के लिये भी ज़िम्मेवार थे। पर यह तो सब अब बीती हुई दास्ताँ हैं, इस सम्बन्ध में सर्वोत्तम दृष्टिकोण यह है कि इसे दैवीय योजना का अंश मानकर इस पर रोष प्रकट करना बन्द कर दिया जाय। और इसे विशुद्ध बुराई भी नहीं कहा जा सकता; पाकिस्तान की स्थापना ने हमारे राष्ट्रीय शरीर से एक रोगग्रस्त अंग को पृथक् कर दिया है और इस प्रकार हमारे देश को पहिले की अपेक्षा अधिक सबल और स्वस्थ बना दिया है।

अन्य साम्प्रदायिक संस्थाएँ :— यद्यपि लीग प्रथम साम्प्रदायिक संस्था थी जो एक धार्मिक सम्प्रदाय के राजनीतिक अधिकारों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से संगठित की गई थी, वह भारत में अपने जैसी एक ही संस्था न थी। हिन्दुओं, सिक्खों, ईसाइयों तथा हरिजनों ने इसी प्रकार के प्रयोजनों के लिये समय समय पर अपनी साम्प्रदायिक संस्थायें खोलीं। इनके पारस्परिक मतभेदों का ब्रिटिश सरकार ने अपने प्रयोजन के लिये लाभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठाया। इन संस्थाओं में से कुछ के लिये चन्द शब्द कहना ज़रूरी है।

हिन्दू महासभा :— यह हिन्दुओं का प्रमुख साम्प्रदायिक संगठन है। इसकी स्थापना १९२३ में अपने हितों और संस्कृति की रक्षा और उन्नति के उद्देश्य से भारत के हिन्दुओं को एक स्थान पर एकत्रित करने के लिये हुई थी। इसके निर्माण में अनेक कारण सहायक हुए। पहला कारण तो यह था कि यह अनुभव किया गया कि मुसलमानों और ईसाइयों की हिन्दुओं को अपने धर्म में तबदील करने की प्रगतियाँ हिन्दुओं की राजनीतिक शक्ति को बहुत हानि पहुँचा रही थी, इनके विरुद्ध कुछ कदम उठाने की भारी आवश्यकता थी। दूसरी बात यह थी कि १९२२ में अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के स्थगित कर दिये जाने के बाद देश में जो साम्प्रदायिक दंगे व फसाद हुए उनमें हिन्दुओं ने सर्वत्र मुसलमानों से मार खाई। उन्हें अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा जन और धन की अधिक क्षति उठानी पड़ी। अतः हिन्दुओं को अपनी रक्षा के लिये संगठित करना ज़रूरी हो गया। इस प्रकार अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में शुद्धि और संगठन महासभा का मुख्य ध्येय बन गया। तीसरे, मुस्लिम लीग इन दिनों अपनी बड़ी बड़ी माँगें देश के सामने रख रही थी, और अंग्रेज़ अधिकारी उनका समर्थन कर रहे थे। कांग्रेस इन माँगों के विरुद्ध बहुत सख्त रुख अख़्तयार न कर सकी। अतः हिन्दुओं को विवश होकर अपने को संगठित करना पड़ा। यही कारण है कि मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने भी महासभा का समर्थन किया। कांग्रेस के उदासीन रुख की तुलना में साम्प्रदायिक निर्णयों के प्रति महासभा की तरफ से अपनाया गया सख्त और विरोधी रुख महासभा की प्रगतियों के इस पहलू पर अच्छी तरह रोशनी डालता है। संक्षेप में, महासभा की तरक्की का मुख्य कारण मुस्लिम लीग की ग़लत माँगें और उनके प्रति कांग्रेस द्वारा अपनायी गई समझौते की नीति थी। पर इसे अपने उद्देश्य में सफलता न मिली, सिर्फ इसलिये क्योंकि इसे हिन्दू जनता का उस मात्रा में समर्थन प्राप्त न था जिस मात्रा में लीग को मुस्लिम जनता का सहयोग प्राप्त हो रहा था। इसकी शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी संस्था कांग्रेस थी जिसकी नीतियों और कार्यक्रम के प्रति जनता को ज्यादा आकर्षण अनुभव होता था। ब्रिटिश सरकार ने भी इस पर कभी अपना हाथ नहीं रक्खा, इसलिये इसे कोई राजनैतिक महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ।

श्री सावरकर के नेतृत्व में इसके स्वरूप में भारी परिवर्तन हुआ। उन्होंने महासभा की बागडोर उस समय सम्हाली जब हिन्दू यह अनुभव कर रहे थे कि कांग्रेस लीग को सब तरह से खुश रखना चाहती है और यह असम्भव नहीं था कि इस प्रक्रिया में हिन्दुओं के अधिकार जोखिम में पड़ जायं। अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ श्री सावरकर ने हिन्दुओं को बताया कि इस नीति का उनके भविष्य पर कितना खतरनाक असर होगा। उन्होंने हिन्दु-प्रभुत्व के सिद्धान्त का प्रचार किया और ज़ोरदार शब्दों में बताया कि भारत की राजनीति हिन्दू राजनीति होनी चाहिए, जिसका स्वरूप और परख हिन्दू शब्दों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित होनी चाहिये। उन्होंने मुसलमानों को कहा कि उन्हें एक लोकतन्त्रात्मक राज्य में, जो बहुमत शासन के सिद्धान्त पर इसके जीवन को व्यवस्थित करता है, एक अल्प-संख्यक सम्प्रदाय की स्थिति को स्वीकार कर लेना चाहिये और उसी पर सब्र करना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महासभा भी लीग की तरह ही उग्र रूप से साम्प्रदायिक हो गई, पर इसने अपने इस 'अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण को अस्पष्ट राष्ट्रीय शब्दों का प्रयोग करके छिपाने की कोशिश की।' श्री सावरकर के महासभा से अवकाश ग्रहण कर लेने पर डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने इसका नेतृत्व सम्भाला और इसके दृष्टिकोण को और अधिक राष्ट्रीय बनाया।

महासभा कांग्रेस के भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने के आदर्श के विरुद्ध है और इसे हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहती है। इसका उद्देश्य है 'हिन्दू जाति, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता को बनाये रखना, उसकी रक्षा करना और उसे आगे बढ़ाना और हिन्दू राष्ट्र के यश को आगे ले जाना।' लीग की पाकिस्तान की माँग के विरोध में इसने अखण्ड हिन्दुस्तान का नारा लगाया। इसके सदस्य अब भी अखण्ड-हिन्दुस्तान के आदर्श में पूर्ण विश्वास रखते हैं। कांग्रेस द्वारा देश के विभाजन की योजना के स्वीकार किये जाने के विरोध में हिन्दू महासभा ने १५ अगस्त १९४७ को मनाये गये स्वतन्त्रता दिवस के समारोह में भाग लेने से इन्कार कर दिया। इसने उत्तर प्रदेश की कांग्रेस सरकार की नीति के विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्यवाही भी शुरू की। पर उसमें इसे बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। भारत सरकार ने इसे ग़ैरकानूनी घोषित कर दिया क्योंकि महात्मा गांधी की हत्या में इसके शरीक होने का भी सन्देह था।

जहाँ तक महासभा भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहती है और धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श को अस्वीकार करती है, यह निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी संगठन है जो समय की भावना के एकदम प्रतिकूल है। यद्यपि यह हिन्दू संस्कृति और सभ्यता की बात करती है इसकी नीति में सहिष्णुता का, जो हिन्दू संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोच्च गुण है, कोई स्थान नहीं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ :— कुछ शब्द हिन्दुओं की एक और साम्प्रदायिक संस्था के विषय में, जो हिन्दू महासभा से बहुत मिलती जुलती है पर जिसका उससे कोई नियमित सम्बन्ध नहीं, कहने आवश्यक हैं। यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नाम से मशहूर है। यह विशुद्ध सांस्कृतिक आन्दोलन होने का दावा करता है जिसका एकमात्र उद्देश्य हिन्दू जाति को पुनर्जीवित करना तथा शक्तिशाली बनाना है। यह छोटी आयु के बालकों को अपना सदस्य बनाता है और उनको एक विशेष विचारधारा के अनुसार ढालने का प्रयत्न करता है। हिन्दू महासभा की तरह ही यह अखण्ड हिन्दुस्तान में विश्वास करता है और भारत में हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करना चाहता है। इस प्रकार यह धर्म-निरपेक्ष राज्य के आदर्श को अस्वीकृत करता है। महासभा की तरह सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को इस पर भी गांधी जी की हत्या में शामिल होने का सन्देह था और इसीलिये उसने इसे भी गैर क़ानूनी घोषित कर दिया। इसके प्रमुख संचालक गिरफ्तार कर लिये गये। कुछ समय बाद इस पर से रोक उठा ली गई पर इसकी उन प्रगतियों पर जिनका उद्देश्य एक अर्धसैनिक संगठन की स्थापना करना था फिर भी कुछ दिन तक पाबन्दियां रहीं।

संघ ने अपने सदस्यों में एकता, सामाजिक सेवा तथा अनुशासन की भावना पैदा करके बड़ा भारी कार्य किया है; पर साथ ही यह भी कहना होगा कि इसने उनमें संकीर्ण एवं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी पैदा किया है और इस दृष्टि से यह एक प्रतिगामी आन्दोलन है। मातृ-भूमि को विशाल दृष्टिकोण और उदार विचार के नागरिकों की आवश्यकता है। संकीर्ण मस्तिष्क और बड़े विचारों का आपस में कोई मेल नहीं।

सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, आंग्ल-भारतीयों, युरोपियनों तथा दलित वर्ग आदि अल्पसंख्यक सम्प्रदायों में से प्रत्येक का अपना अपना संगठन था। प्रत्येक नये विधान के मातहत राजनीतिक शक्ति में ज्यादा से ज्यादा हिस्सा लेने के लिये उत्सुक था। सिक्खों ने लखनऊ पैक्ट के मातहत मुसलमानों को दी गई रियायतों का अनुसरण करते हुए पंजाब तथा केन्द्र में अपनी आबादी के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व माँगा। भारतीय ईसाइयों, आंग्ल-भारतीयों तथा युरोपियनों ने भी इसी प्रकार की माँगें कीं। डाक्टर अम्बेदकर के नेतृत्व में दलित वर्ग ने भी पृथक् निर्वाचक समूह की माँग की। यह माँगें हमेशा एक दूसरे से तालमेल नहीं खाती थीं। पंजाब और बंगाल में मुसलमानों की बहुमत की माँग का सिक्खों की पंजाब में अपनी आबादी के अनुपात से अधिक सीटें प्राप्त करने की माँग, तथा युरोपियनों व आंग्ल-भारतीयों की बंगाल में विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त करने व हिन्दुओं के साथ न्याय किये जाने की मांग के साथ कोई मेल नहीं था। इस प्रकार साम्प्रदायिक समस्या पैदा हुई जो द्वितीय गोल मेज़ सम्मेलन में भारी अड़चन साबित हुई और जिसने 'संघ रचना कमेटी' के कार्य को असम्भव बना दिया। महात्मा जी ने इस समस्या को हल करने की कोशिश की पर उन्हें कामयाबी नहीं मिली। अन्त में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री से इस पर अपना निर्णय देने को कहा गया। १९३५ के एक्ट को कार्य रूप में लाने के लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय महासभाओं में विभिन्न सम्प्रदायों एवं हितों के मध्य सीटों का वितरण इसी निर्णय के अनुसार, जिसे बाद में सवर्ण हिन्दुओं और दलित वर्गों में हुए 'पूना पैक्ट' द्वारा संशोधित कर दिया गया था, हुआ। १५ अगस्त १९३२ को यह निर्णय प्रकाशित किया गया।

साम्प्रदायिक निर्णय :— इसने अपने को दो आधार-भूत प्रश्नों तक ही सीमित रक्खा— एक था चुनाव का ढंग तथा दूसरा था धारासभाओं में विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों की संख्या। पृथक् निर्वाचक समूहों के द्वारा हुई हानि को देखते हुए भारत का राष्ट्रीय लोकमत संयुक्त निर्वाचक समूहों के पक्ष में था; इसके साथ वह अल्पसंख्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदायों के लिये सीटें सुरक्षित रखने और उन्हें अतिरिक्त सीटों के लिये चुनाव लड़ने का अधिकार देने को भी तय्यार था। परन्तु क्योंकि मुस्लिम प्रतिनिधि पृथक् निर्वाचक समूहों को छोड़ने को उद्यत न थे, निर्णय ने पृथक् निर्वाचक समूहों के द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को क़ायम रक्खा और इसे उन सम्प्रदायों पर भी लागू कर दिया जो १९१९ के एक्ट के मातहत बने नियमों के अनुसार ग़ैर मुस्लिम चुनाव हल्कों में सम्मिलित थे। निर्णय का सबसे बड़ा दोष, जिसने महात्मा जी को यरवदा जेल में ऐतिहासिक अनशन करने के लिये मजबूर किया, यह था कि इसने दलित वर्गों के लिये पृथक् निर्वाचित समूह बना दिये थे। सवर्ण हिन्दुओं और दलित वर्गों में बाद में हुए समझौते के अनुसार, जो पूना पैक्ट में उल्लिखित था, ये हटा दिये गये।

निर्णय ने प्रान्तीय धारासभाओं में मुसलमानों, सिक्खों, भारतीय ईसाइयों, आंग्ल-भारतीयों, युरोपियनों, मज़दूरों, वाणिज्य एवं व्यवसाय, ज़मींदारों, विश्वविद्यालयों तथा स्त्रियों के लिये सीटें निर्धारित कीं और चुनावों के लिये विशेष व्यवस्थाएँ कीं। बम्बई में मराठों के लिये तथा पिछड़े क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के लिये भी सीटें सुरक्षित की गईं। विभिन्न प्रान्तों में प्रत्येक सम्प्रदाय व हित को जितनी सीटें दी गईं उनका पूर्ण विवरण पृष्ठ ३१२ पर दी गई तालिका में दिया गया है। हम यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातों का ही जिक्र करेंगे। श्री रैम्ज़े मैकडानल्ड के अनुसार निर्णय में दी गई प्रतिनिधित्व की योजना 'विरोधी तथा प्रतिस्पर्धी अधिकारों के बीच संतुलन का सच्चा प्रयत्न था', फिर भी यह सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है कि कुछ वर्गों का तो अत्यधिक पक्ष लिया गया था और कुछ की उपेक्षा की गई थी। यह योजना युरोपियन तथा आंग्ल-भारतीयों के प्रति सबसे अधिक उदार थी। मुसलमानों की भी अधिकतर माँगें स्वीकृत कर ली गयी थीं। किन्तु हिन्दुओं के प्रति सबसे अधिक अन्याय हुआ था।

बंगाल के हिन्दुओं के प्रति सरासर अन्याय तथा उस प्रान्त के युरोपियन तथा आंग्ल-भारतीयों का अत्यधिक पक्ष इस तथ्य से प्रकट होता है कि पूरी जनसंख्या के ४४·८% हिन्दुओं को प्रान्तीय धारासभा की सीटों का ३२% दिया गया था किन्तु युरोपियनों को, जो पूरी जनसंख्या के एक प्रतिशत के एक-दसवें से भी कम अर्थात् ·०१% थे, सीटों का २५% दिया गया। आंग्ल-भारतीयों की संख्या कुल जनसंख्या की एक प्रति हज़ार थी, फिर भी उन्हें सीटों का १·६% दिया गया। दूसरे शब्दों में, हिन्दुओं को जहां जनसंख्या के अनुपात से कम सीटें दी गईं, युरोपियनों को २५०००% तथा आंग्ल-भारतीयों को ३०००% आबादी के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व (weightage) दिया गया।* यदि विभिन्न वर्गों के बीच सीटों का यह वितरण उपयुक्त तथा न्यायपूर्ण है तो समझ में नहीं आता कि अनुपयुक्त तथा अन्यायपूर्ण विभाजन क्या होगा। पंजाब में हिन्दू अल्पसंख्यक थे, फिर भी जनसंख्या के आधार पर उन्हें जितनी

* 'कम्यूनल ट्रायंगल इन इण्डिया', पृष्ठ ७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीटें मिलनी चाहिये थीं, उससे बहुत कम दी गईं। पंजाब में सिक्खों को, जो कुल जन-संख्या के लगभग १३% थे, सीटों का १८·३% दिया गया। लेकिन अन्य प्रान्तों में इसी प्रकार के मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया; उदाहरणस्वरूप उत्तर प्रदेश में, जहाँ वे कुल जनसंख्या के १५% थे, उन्हें सीटों का ३०% दिया गया। यही दशा बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, बिहार तथा आसाम की भी थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुसलमानों के मुक़ाबले में सिक्खों का ध्यान कम रक्खा गया। निर्णय द्वारा विभिन्न वर्गों व सम्प्रदायों को दी गई सीटों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि 'किसी वर्ग की स्थिति उसके राष्ट्रीयता के विरोध तथा शासकों के लिये उसके महत्त्व से जाँची गई थी।'*

यह ध्यान में रखना चाहिये कि साम्प्रदायिक निर्वाचक समूहों का निर्माण अल्प-संख्यकों के हितों की रक्षा के उद्देश्य से हुआ था। लेकिन निर्णय ने पंजाब, सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा बंगाल के बहुमतों को भी पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक समूह दिये। इन प्रान्तों के अल्पमतों ने अपने लिये अलग निर्वाचक-समूहों की कभी भी माँग न की लेकिन उनके ऊपर वे ज़बर्दस्ती लाद दिये गये। निर्णय ने कांग्रेस तथा लीग के बीच हुए 'लखनऊ पैक्ट' को अस्वीकृत कर दिया किन्तु मुसलमानों को इसमें दिये गये 'वेटेज' को सुरक्षित रक्खा। निर्णय का यह कार्य एकदम अन्यायपूर्ण तथा तर्कहीन था। लखनऊ-पैक्ट या तो पूर्ण रूप से स्वीकृत होता या एकदम से अस्वीकृत, इसके एक भाग को स्वीकृत तथा दूसरे को अस्वीकृत करने में कोई तर्क नहीं।

पिछले विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि साम्प्रदायिक समस्या का धार्मिक प्रश्नों से कोई सम्बन्ध न था। इसका सीधा सम्बन्ध था प्रतिशतों, सीटों तथा सरकारी नौकरियों से। इसके अतिरिक्त, इसका जन-साधारण से तो बिल्कुल भी कोई सम्बन्ध न था; यह विभिन्न सम्प्रदायों के कुछ शिक्षित वर्गों तक ही सीमित थी। विभिन्न साम्प्रदायिक संस्थाओं की माँग की छान-बीन करने से मालूम पड़ता है कि उनका आम जनता की समस्याओं से, जो हिन्दू, मुस्लिम, सिख तथा ईसाई जनता के लिये समान थीं, कोई सम्बन्ध न था। कांग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्र के निम्न शब्दों से इसका समर्थन होता है:

'यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसके महत्त्व के बावजूद समस्त साम्प्रदायिक समस्या का भारत की प्रमुख समस्याओं अर्थात् ग़रीबी और व्यापक बेकारी से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह धार्मिक समस्या नहीं है और यह चन्द बड़े आदमियों तक ही सीमित है। सब सम्प्रदाय के किसान, मज़दूर, छोटे व्यापारी तथा निम्न मध्यम वर्ग इससे अछूते हैं और उनके भाव जैसे के तैसे बने हुए हैं।'

* 'कम्यूनल ट्रायंगल इन इण्डिया', पृष्ठ ७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिक समस्या भारतीय परिस्थितियों में अङ्गरेज़ों द्वारा अपनायी गई नीति का परिणाम थी। हमारी राजनीति पर ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों का आधिपत्य रहने तक इसका कोई भी हल सम्भव न था। इसका एकमात्र हल था साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का त्याग। पर इस विषैले सिद्धान्त को आख़िर तक नहीं छोड़ा गया और ब्रिटेन इस बात की पूरी कोशिश करता रहा कि साम्प्रदायिक समस्या भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम को पीछे हटाती रहे।

ब्रिटिश सरकार के अनुसार यह निर्णय अस्थायी था जिसका अर्थ यह था कि वह इससे अच्छी ऐसी किसी भी योजना को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत थी जिससे सभी वर्ग सहमत हों। पर ऐसा समझौता 'सुधार बिल' के क़ानून बनने से पूर्व ही हो जाना चाहिये था।

एकता सम्मेलन :— निर्णय के प्रति देश के व्यापक असन्तोष, तथा पूना पैक्ट द्वारा दलित वर्गों की समस्या के निराकरण ने मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डाक्टर सैयद महमूद, पंडित मदन मोहन मालवीय तथा मौलाना शौकत अली को नये सिरे से प्रयत्न करने के लिये प्रेरित किया जिससे न केवल निर्णय को हटाकर एक दूसरी योजना का निर्माण होता बल्कि साम्प्रदायिक समस्या का भी हमेशा के लिये एक सम्मानित हल हो जाता। मौलाना शौकत अली ने सरकार से महात्मा गाँधी को इस कार्य में सहायता देने के लिये छोड़ देने या जेल में ही उनसे मिलने जुलने की अनुमति देने की अपील की। सरकार ने मौलाना साहब की विनय अस्वीकृत कर दी और साम्प्रदायिक समझौते का कार्य महात्मा गाँधी की सहायता या उनके पथ-प्रदर्शन के बिना ही प्रारम्भ किया गया। हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान तथा ईसाई प्रतिनिधियों की सहायता से १९३२ के नवम्बर मास में इलाहाबाद में एक एकता-सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन ने विभिन्न सम्प्रदायों में समझौता कराने के उद्देश्य से योजनाओं पर विचार-विमर्श करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की। इसके सदस्यों में सर्वश्री रामानन्द चटर्जी, अबुल कलाम आज़ाद, शौकत अली, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी तथा पंडित मालवीय भी सम्मिलित थे। इस कमेटी की बैठक ३ नवम्बर से १७ नवम्बर तक हुई और उसमें परीक्षण के रूप में कुछ निश्चय भी किये गये। इन निश्चयों को विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों ने अपने अपने वर्ग की संस्थाओं के समक्ष रक्खा। इन निश्चयों पर विभिन्न वर्गों की संस्थाओं द्वारा प्रकट किये गये विचारों तथा इनके सम्बन्ध में सुझाये गये संशोधनों पर एकता सम्मेलन ने २३ दिसम्बर १९३२ में इलाहाबाद में हुए अपने तीसरे अधिवेशन में विचार-विमर्श किया। इस सम्मेलन में सभी प्रस्तुत समस्याओं पर पूर्ण समझौता हो गया। यह समझौता काफी लम्बा है जिसमें केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं में विभिन्न सम्प्रदायों या वर्गों की सीटों तथा चुनाव के तरीके के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों— नागरिकों के मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों के धार्मिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों तथा व्यक्तिगत कानूनों की रक्षा, मंत्रिमंडलों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माण— का भी विवेचन है। आपसी सद्भाव द्वारा साम्प्रदायिक समस्या को हल करने में इसे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई।

लगभग सभी विवादास्पद विषयों पर सर्वसम्मत निश्चय करके बंगाल धारासभा में युरोपियन वर्ग के प्रतिनिधित्व की समस्या सुलझाने के लिये एकता-सम्मेलन की सहायक समिति ने कलकत्ता जाने का निश्चय किया। बंगाल में युरोपियनों की संख्या कुल जन-संख्या की ·०१ % थी, फिर भी उन्हें २५ % सीटें दी गयी थीं। उन्हें इतना अधिक 'वेटेज' सम्भवतः नहीं दिया जा सकता था। इस नाजुक मौके पर ब्रिटिश सरकार ने अप्रत्याशित रूप से इस मामले में हस्तक्षेप किया; गोल मेज़ सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन के अवसर पर भारतमन्त्री ने एक घोषणा में बताया कि एकता-सम्मेलन में मुसलमानों द्वारा स्वीकृत ३१ % सीटों के बजाय वे उन्हें केन्द्रीय धारासभा में ब्रिटिश भारत की ३३$\frac{१}{३}$ % सीटें देने के लिये प्रस्तुत हैं। उन्होंने माकूल आर्थिक सहायता के साथ सिन्ध को बम्बई से अलग करके उसे एक नया प्रान्त बना देने के अपने निश्चय की भी घोषणा की। इस नये प्रान्त में हिन्दू-अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया। एकता सम्मेलन भी सिन्ध का एक अलग प्रान्त बना देने के लिये प्रस्तुत था किन्तु वह चाहता था कि हिन्दू-अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का पूरा प्रबन्ध हो तथा केन्द्रीय सरकार से कोई सहायता न ली जाय। इन घोषणाओं ने एकता के कार्य पर पानी फेर दिया। ब्रिटिश चालबाज़ी को धन्यवाद है जिसने सम्मेलन का सारा परिश्रम व्यर्थ कर दिया और साम्प्रदायिक समस्या वहीं रह गई जहाँ 'साम्प्रदायिक निर्णय' ने उसे छोड़ा था।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की समाप्ति :— ब्रिटिश अधिकारियों के भारत से चले जाने पर साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व एवं पृथक् निर्वाचक-समूहों की समस्या भी समाप्त हो गई। सबसे प्रथम १९०९ में मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचक समूह बनाये गये और बाद में प्रत्येक आने वाले अधिनियम के साथ अन्य सम्प्रदायों व हितों के लिये भी इनका निर्माण किया गया क्योंकि यह फाड़कर शासन करने की ब्रिटिश नीति के अनुकूल था। इन्हीं की सहायता से विदेशी सरकार ने भारत में पैर जमाये रखने के लिये एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के विरुद्ध खड़ा किया। संविधान परिषद् द्वारा बनाये गये नये संविधान ने पृथक् निर्वाचक समूहों को आमूल समाप्त कर दिया है; दलित वर्गों के लिये सिर्फ १० वर्ष तक सीटें सुरक्षित रखी गई हैं। समस्त नागरिकों के लिये सामान्य निर्वाचक समूह रक्खे गये हैं। इस प्रकार पुराने रूप में हमारे देश में साम्प्रदायिक समस्या समाप्त हो गई है।

नवीन साम्प्रदायिकता :— फिर भी यह समझना ग़लत होगा कि धारासभाओं, स्थानीय संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में पृथक् निर्वाचक समूहों तथा अल्पसंख्यकों के लिये सीटें सुरक्षित रखने की प्रथा को समाप्त करके हमने साम्प्रदायिकता की बुराई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पूरी तरह हटा दिया है। सामान्य रूप से भी पुरानी मनोवृत्ति और पुराने दृष्टिकोण के नष्ट होने में, जिसे बड़ी मेहनत से पैदा किया गया था, पर्याप्त समय लग जाता। पर पाकिस्तान के बनने से पूर्व और बाद में हिन्दुओं के साथ पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और अन्यत्र जो कुछ हुआ उसने स्थिति को बहुत विषम बना दिया। दुख दर्द भरी कहानियों और घृणा और द्वेष की तीव्र भावना को लिये जो शरणार्थी यहाँ पंजाब से आये उन्होंने यहाँ के वातावरण को उत्तेजित कर दिया; कलकत्ता, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली इत्यादि स्थानों पर हिन्दू इसका बदला लेने के लिये पागल से हो उठे। महात्मा जी की आत्मा को भारत माता को खून में नहाते देखकर बहुत दुख हुआ और उन्होंने साम्प्रदायिकता के इस दानव को रोकने के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा दी। उन्हें अपने कार्य में बहुत सफलता मिली पर अन्त में अपने इसी उदात्त कार्य में उन्हें अपना जीवन दान करना पड़ा। उनकी शहादत ने लोगों को होश में लाने का काम किया और साम्प्रदायिक विद्वेष व घृणा की भावना पहिले से बहुत कम हो गई।

पर इस समय भी हिन्दुओं, सिक्खों व मुसलमानों में कुछ ऐसे लोग हैं जो साम्प्रदायिकता की भावना को बनाये रखने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भावना से ओत-प्रोत व्यक्तियों द्वारा हिन्दू राष्ट्र व हिन्दू संस्कृति की चर्चा, मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में कुछ सिक्खों का सिक्ख प्रान्त की स्थापना के लिये आन्दोलन तथा मुस्लिम लीग के पुराने कार्यकर्ताओं की लीग को पुनर्जीवित करने की इच्छा— ये सभी बातें इस बात का स्पष्ट सबूत हैं कि हमारे देश में अब भी साम्प्रदायिकता विद्यमान है; इसे नष्ट नहीं किया जा सका है। जबकि पहिले मुस्लिम साम्प्रदायिकता का ज़ोर था और हिन्दू एवं सिक्ख साम्प्रदायिकताएँ इसका पुछल्ला थीं, इस समय हिन्दू और सिक्ख साम्प्रदायिकताओं का बोलबाला है और मुस्लिम साम्प्रदायिकता बहुत पिछड़ गई है।

प्रत्येक प्रकार की साम्प्रदायिकता, चाहे फिर वह हिन्दू साम्प्रदायिकता हो या मुस्लिम या सिक्ख, एकदम अवाञ्छनीय है। यह संकीर्ण एवं तंग दृष्टिकोण को पैदा करती है और राष्ट्र के हितों की उपेक्षा करके एक तंग दायरे के हितों का ज्यादा ख्याल करती है। यदि देश को उन्नति करनी है और राष्ट्र को शक्तिशाली तथा संगठित बनना है तो यह परमावश्यक है कि समस्त नागरिक अपने साम्प्रदायिक हितों पर राष्ट्रीय हितों को तरजीह दें। साम्प्रदायिकता लोकतंत्र की सबसे खतरनाक दुश्मन है; कोई चीज लोकतंत्र का इतना जल्दी और निश्चित रूप से विनाश नहीं कर सकती जितना कि व्यापक राष्ट्रीय हितों पर संकीर्ण साम्प्रदायिक हितों को प्रधानता दे देना। भारत बहुत लम्बे अरसे से एक धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State) रहा है; अपने शासन-काल में भी हिन्दुओं ने अन्य धर्मावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया और उन्हें समान अधिकार दिये। सहिष्णुता तथा राष्ट्रवादिता हिन्दू संस्कृति का निषेध हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परागत हिन्दू-प्रतिभा के प्रतिकूल हैं। जो लोग पाकिस्तान के उत्तर में हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करना चाहते हैं वे न हिन्दू-धर्म की सेवा करेंगे और न भारत की; उनका रुख इस बात का प्रमाण है कि न उन्होंने हिन्दू-धर्म की भावना को पहिचाना है और न उसे अपने जीवनमें उतारा है। इसके अतिरिक्त, साम्प्रदायिकता का अर्थ है एकता का अभाव व फूट और फूट का अर्थ है कमज़ोरी। यह फूट हमारे समाज पर सबसे बड़ा कलंक रही है, इसी के कारण विदेशियों को हम पर हुकूमत करने का मौक़ा मिला; हमें पिछले इतिहास से पाठ सीखना चाहिये और उन सब बातों को रोकना चाहिये जो आपसी फूट को पैदा करती हैं। आज हमारी सबसे बड़ी ज़रूरत है देश की समस्त जातियों, धर्मों व सम्प्रदायों को एक शक्तिशाली एवं संगठित राष्ट्र में एकत्रित करना; हमें मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर उनके भय को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। साम्प्रदायिकता के प्रचार का अर्थ है इस उद्देश्य की पूर्ति को असम्भव बनाना।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग ५

न्याय व्यवस्था का विकास, स्थानीय स्वायत्त शासन, इत्यादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७

न्यायिक व्यवस्था का विकास

विषय प्रवेश :— राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त शीघ्र ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, मद्रास तथा बम्बई में अपने अधीनस्थ क्षेत्रों के निवासियों के दीवानी तथा फ़ौजदारी के मामलों का निर्णय करने के लिए विभिन्न प्रकार के न्यायालय स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इस प्रकार, यदि हम १८५३ के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल की परिषद् में विधि निर्माण के लिये कुछ व्यक्तियों की वृद्धि करके उसके प्रस्तरण को भारत सरकार के व्यवस्थापिका अङ्ग का मूल समझते हैं तो हमें मानना होगा कि न्यायिक व्यवस्था का प्रारंभ उससे कोई अस्सी वर्ष पूर्व हुआ।

न्यायिक व्यवस्था के विकास का वर्णन करने से पूर्व यह बता देना आवश्यक होगा कि १६०० के चार्टर ने, जिसके द्वारा कि कम्पनी स्थापित की गई थी, उसे यात्रा में रक्खे हुए अपने समस्त कर्मचारियों पर न्यायिक अधिकार का प्रयोग करने तथा क़ानून की समस्त अवहेलनाओं के लिए दण्ड देने का अधिकार प्रदान किया था। उसके बाद के चार्टरों ने कम्पनी के अधिकार क्षेत्र को और विस्तृत कर दिया, अब उसमें उसके कारख़ानों के कर्मचारी भी सम्मिलित कर दिये गये। १६६९ के चार्टर ने उसे बम्बई (जिसे कि राजा ने कम्पनी को दे दिया था) के निवासियों पर न्यायिक अधिकार प्रयोग करने का अधिकार प्रदान कर दिया। १६८३ तथा १६८६ के चार्टरों ने उसे अपनी इच्छानुसार स्थानों पर न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दे दिया। १७२६ में तीनों प्रेज़ीडेन्सी नगरों में मेयर के न्यायालय (Mayor's Court) स्थापित किये गये। कम्पनी के न्यायिक प्रशासन की इस प्रारंभिक अवस्था का विस्तारपूर्वक विवरण देना आवश्यक न होगा ; हमारा मुख्य उद्देश्य तो उस व्यवस्था का वर्णन करना है जो कि कम्पनी द्वारा बंगाल में सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त विकसित हुई।

न्यायालयों की दोहरी प्रणाली :— जब कम्पनी ने तीन ग्रामों— सुतन्ती, गोविन्दपुर, तथा कलकत्ता को ख़रीद लिया तो उसे उन पर एक ज़मींदार के अधिकार प्राप्त हो गये जिन में फ़ौजदारी के अभियोगों का निर्णय करने का एक व्यापक अधिकार सम्मिलित था। कम्पनी ने इस अधिकार का लाभ उठाया, और उसकी परिषद् के एक सदस्य ने दीवानी तथा फ़ौजदारी, दोनों प्रकार के मामलों का निर्णय करने के लिए एक ज़मींदारी न्यायालय स्थापित कर दिया। यह न्यायालय भारतवासियों के बीच और यूरोपियनों के बीच विवादों का निर्णय करता था। किन्तु १७५५-७ में मेयर के न्यायालय ने इस स्थिति की घोर आलोचना की, इसलिये कम्पनी ने दीवानी तथा फ़ौजदारी के मामलों के लिये दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग अलग न्यायालय स्थापित करने का आदेश दिया। यूरोपियनों के मामलों का निर्णय करते समय फ़ौजदारी न्यायालय को चार्टर के अधीन न्यायालय समझा जाता था, और भारतीयों के मामलों को तय करते समय वह एक ज़मींदारी न्यायालय था। इस प्रकार न्यायालयों की उस दोहरी प्रणाली का आरंभ हुआ जिसका अन्त १८६१ के *उच्च न्यायालय अधिनियम* के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों की स्थापना के साथ हुआ। एक प्रकार के न्यायालयों को *क्राउन न्यायालय* (Crown Courts) कहा जाता था, और दूसरे प्रकार के न्यायालयों को *कम्पनी के न्यायालय*।

कम्पनी के न्यायालयों की स्थापना वारन हेस्टिंग्ज़ ने १७७२ में की। क्लाइव द्वारा स्थापित दोहरे शासन की दूषित प्रणाली का अन्त करने के लिए वारन हेस्टिंग्ज़ ने न्यायिक व्यवस्था का पुनर्गठन किया। दीवानी मामलों के लिए उसने प्रत्येक ज़िले के प्रधान स्थान (Head Quarters) में एक एक मुफ़स्सिल दीवानी अदालत क़ायम की। दीवानी अदालत में ज़िले का कलक्टर तथा कम्पनी के अन्य अधिकारी बैठते थे, और उसकी एक सप्ताह में दो बार बैठक होती थी। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपील कलकत्ते में *सदर दीवानी अदालत* में की जा सकती थी। फ़ौजदारी के मामलों के लिये प्रत्येक ज़िले के लिए एक फ़ौजदारी अदालत क़ायम की गई। फ़ौजदारी मामलों का निर्णय ज़िले का मुफ़्ती तथा क़ाज़ी करते थे ; इस काम में वे दो मौलवियों की सहायता लेते थे जो कि मुस्लिम फौजदारी कानून की व्याख्या करते थे। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपील मुर्शिदाबाद में *सदर निज़ामत अदालत* में हो सकती थी। उक्त दोनों सदर अदालत बंगाल के गवर्नर तथा उसकी परिषद् (Council) के अधीन थीं।

बहुत दिनों तक कम्पनी के न्यायालयों को सम्राट के अंग्रेज़ प्रजाजन पर, दीवानी या फ़ौजदारी, किसी भी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो पाया ; वे केवल भारत-वासियों के बीच झगड़ों का ही निर्णय करते थे। अंग्रेज़ प्रजाजन के मध्य विवादों का निर्णय 'क्राउन' न्यायालय करते थे जो कि १७२६ तथा १७५३ के चार्टरों के अधीन स्थापित किये गये थे। वे न्यायालय थे : 'कोर्ट ऑफ़ क्वार्टर सैशन्स', 'मेयर्स कोर्ट' तथा 'कोर्ट ऑफ़ रिक्वैस्ट्स'। १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अन्तर्गत एक शाही परवाने द्वारा स्थापित 'सुप्रीम कोर्ट' ने उन समस्त न्यायालयों को समाप्त कर दिया ; सुप्रीम कोर्ट अस्सी वर्ष से अधिक तक काम करती रही। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, मद्रास (१८००) तथा बम्बई (१८२३) में सुप्रीम कोर्ट स्थापित की गई जिन्होंने वहां की 'रिकार्ड्स कोर्ट' का अन्त कर दिया।

कलकत्ता की सुप्रीम कोर्ट में एक प्रधान न्यायाधीश तथा तीन अन्य न्यायाधीश थे ; उन सब की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। इस कोर्ट को दीवानी, फ़ौजदारी, धर्म-सम्बन्धी तथा नौ-सेना सम्बन्धी विषयों में अधिकार प्राप्त था ; यह स्वाभाविक न्याय (Equity) का भी न्यायालय था। समस्त बिटिश प्रजाजन तथा कम्पनी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मचारी इसके अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत थे। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, इसके अधिकार क्षेत्र की अस्पष्टता के कारण इसके तथा 'गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल' के बीच विवाद खड़े हुए। १७८१ के अधिनियम ने ऐसे विवादों का निर्णय 'गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल' के पक्ष में कर दिया; उसमें यह व्यवस्था की गई कि राजस्व पर और 'गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल' के किसी भी कार्य पर आपत्ति करने का सुप्रीम कोर्ट को कोई अधिकार न होगा। उत्तराधिकार तथा संविदा सम्बन्धी मामलों में भारतवासियों पर वह अंग्रेज़ी क़ानून को लागू नहीं कर सकती थी।

इस प्रसंग में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि कम्पनी के न्यायालय तथा सुप्रीम कोर्ट साथ साथ क़ायम थे, और उनके बीच तथा उनमें प्रयोग की जाने वाली क़ानूनी प्रक्रियाओं में कोई सम्बन्ध नहीं था। सुप्रीम कोर्ट को कम्पनी के न्यायालयों पर कोई विशेष अधिकार प्राप्त न था, और वह न्याय प्रणाली पर वैसा कोई नियन्त्रण नहीं रख सकती थी जैसा कि आगे चल कर 'हाई कोर्ट' रखने लगीं। दो भिन्न प्रकार के और एक दूसरे से स्वतंत्र न्यायालयों की सत्ता ने बहुत सी असुविधायें उत्पन्न कीं; वे एक दूसरे से ईर्ष्या करने लगे। विभिन्न वर्गों पर तीन चार प्रकार के क़ानूनों को क्रियान्वित करने की आवश्यकता ने भी न्यायालयों को काफ़ी परेशानी में डाल दिया। इस विषम स्थिति का निवारण तब हुआ जब कि १८६१ के अधिनियम के अधीन हाई कोर्ट स्थापित की गईं। इस अधिनियम द्वारा किये गये परिवर्तनों का वर्णन करने से पूर्व हम दो शब्द उन न्यायिक सुधारों के विषय में कहेंगे जो कि लार्ड कार्नवालिस तथा लार्ड विलियम वेन्टिक ने किये।

लार्ड कार्नवालिस द्वारा किये गये सुधार :— वारन हेस्टिंग्स ने दीवानी, फ़ौजदारी तथा माल के न्यायालयों को एक दूसरे से अलग अलग कर दिया था। कार्नवालिस 'कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स' से यह स्पष्ट निर्देश ले कर आया था कि दीवानी, फ़ौजदारी तथा माल सम्बन्धी कार्यों को मिला कर एक व्यक्ति के हाथों में दे दिया जाय तथा प्रशासन कुछ सरल और उस के व्यय में कुछ कमी हो जाय। उसने इस निर्देश का पालन किया और दीवानी अदालत को कलक्टरों के अधीन कर दिया जिनका प्रमुख कार्य ज़िले में मालगुज़ारी वसूल करना था। न्यायरक्षक (Magistrate) के रूप में ज़िले के कलक्टर की शक्तियाँ बढ़ा दी गईं। कलक्टर के हाथों में इन शक्तियों का सम्मिश्रण अत्यधिक सिद्ध हुआ। छः वर्ष तक इस प्रणाली के क्रियान्वित रूप को देख कर लार्ड कार्नवालिस पुरानी पद्धति को ही फिर से अपनाने की आवश्यकता को महसूस करने लगा। उसने महसूस किया कि राज-कर वसूल करने वाले अधिकारी उन शक्तियों का दुरुपयोग कर सकते हैं जो कि उनके कर्त्तव्य पालन के लिये उन्हें देनी पड़ती हैं, इसलिए अन्य सरकारी कर्मचारियों की अपेक्षा उनकी निगरानी करना अधिक आवश्यक है। वह इस परिणाम पर पहुंचा कि इस प्रकार से शक्ति का दुरुपयोग करके अनुचित रूप से पैसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐंठने वाले अधिकारियों को दण्ड देने के लिये पृथक् न्यायालय होने चाहियें। राज-कर वसूल करने की तथा न्यायिक शक्तियों के एक ही अधिकारी के हाथों में आजाने के दोषों का वर्णन के (Kaye) ने अपने ग्रंथ 'एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ दी ईस्ट इण्डिया कम्पनी' में इन शब्दों में किया है :

"राज-कर (Revenue) अधिकारियों के हाथों में दीवानी न्यायालय दमन और पीडन का यन्त्र बन गये, और प्रान्तों के निवासी उन अधिकारियों द्वारा किये गये अत्याचारों की पीड़ा से कराह रहे थे, जिनमें कि राजस्व तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियों का इतनी बुद्धिहीनता के साथ सम्मिश्रण कर दिया गया था, और जो कि एक हैसियत में जो आघात पहुंचाते थे, दूसरी हैसियत से उन्हें चरम सीमा पर पहुंचा देते थे। (पृष्ठ ३३६)

इसलिये लार्ड कार्नवालिस ने १७९३ में एक अन्य परिवर्तन किया और कलक्टर से उसके न्यायिक अधिकार को छीन लिया। उसने माल न्यायालयों (Revenue Courts) को समाप्त कर दिया और उनके कार्यों को दीवानी न्यायालयों को सौंप दिया। दीवानी के मामलों की अपील के लिए उसने चार प्रान्तीय न्यायालय भी स्थापित किये जिनके निर्णयों के विरुद्ध अपील सदर दीवानी अदालत को की जा सकती थी। कार्नवालिस ने फ़ौजदारी न्याय के प्रशासन में भी कुछ सुधार किये। उसने मुर्शिदाबाद की *निज़ामत अदालत* के अध्यक्ष मौहम्मद रज़ा खाँ को हटा दिया और उस अदालत को वहाँ से हटा कर कलकते में कर दिया, और उसे सपरिषद गवर्नर जनरल (Governor General in Council) के अधीन रख दिया जिस की सहायता के लिए प्रधान क़ाज़ी तथा दो मुफ्ती थे। प्रान्तीय फ़ौजदारी न्यायालयों, जिन के मुख्य अधिकारी भारतीय होते थे, के स्थान में नये चार सर्किट न्यायालय स्थापित कर दिये जिनके प्रमुख अधिकारी कम्पनी के संविदाबद्ध (Covenanted) कर्मचारी होते थे और जिन की सहायता के लिये क़ाज़ी तथा मुफ्ती होते थे। कुछ संशोधनों के साथ इसी प्रकार के सुधार बम्बई और मद्रास में भी किये गये।

लार्ड विलियम बेन्टिक द्वारा किये गये सुधार :— यहाँ हम दो शब्द उन न्यायिक सुधारों के विषय में भी कहेंगे जो कि लार्ड विलियम बेन्टिक ने किये। उसने उन अपील के प्रान्तीय न्यायालयों का अन्त कर दिया जिन्हें कि लार्ड कार्नवालिस ने स्थापित किया था। क्योंकि 'वे उन सरकारी कर्मचारियों के लिये विश्राम-स्थल बन गये जिन्हें कि किसी उच्चतर दायित्व के अयोग्य समझा गया था।' उसने बंगाल की प्रेज़ीडेन्सी को बीस भागों में विभक्त कर दिया और प्रत्येक भाग के लिये एक 'माल तथा सर्किट कमिश्नर' नियुक्त कर दिया। १८३१ में उसने कमिश्नर के सेशन्स कार्य को सिविल जजों को हस्तान्तरित कर दिया। इस प्रकार 'डिस्ट्रिक्ट तथा सेशन्स जज' के पद का जन्म हुआ। पहिले के ज़िला जजों की न्याय-रक्षण सम्बन्धी शक्तियां ज़िला कलक्टर को हस्तान्तरित कर दी गईं। इसने 'डिस्ट्रिक्ट कलक्टर तथा मजिस्ट्रेट' के पद को जन्म दिया। जैसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पहिले ही कहा जा चुका है, लार्ड कार्नवालिस ने जो परिवर्तन किये थे उनके फलस्वरूप भारतवासी न्यायिक पदों से वंचित रह गये थे। लार्ड बेन्टिंक ने मुन्सिफ़ों तथा सदर अमीनों की शक्तियों तथा उनके वेतन में वृद्धि करके स्थिति में कुछ सुधार कर दिया।

लार्ड कार्नवालिस तथा लार्ड विलियम बेन्टिंक द्वारा किये गये सुधारों के फलस्वरूप जिस न्याय प्रणाली की स्थापना हुई, वह उस समय तक चलती रही जब तक कि १८६१ का *भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम* बना जिस में कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में उच्च न्यायालयों की स्थापना की व्यवस्था की गई। १८६२ में उनकी स्थापना हो जाने पर पुरानी *सुप्रीम कोर्टों* तथा पुरानी *सदर अदालतों* को समाप्त कर दिया गया, और उनके अधिकारों को नव-स्थापित न्यायालयों को हस्तान्तरित कर दिया गया। कम्पनी तथा 'क्राउन' द्वारा स्थापित न्यायालयों के बीच जो भेद था वह आखिरकार समाप्त हो गया। शासन सत्ता के कम्पनी के हाथों से निकल कर 'क्राउन' के हाथों में आने से जिन क़ानूनों का बनना आवश्यक हुआ, उन में १८६१ का *उच्च न्यायालय अधिनियम* अंतिम था। इस अधिनियम के द्वारा जो न्यायिक पद्धति स्थापित की गई वह भारत में ब्रिटिश राज के अन्त तक चलती रही, हाँ सांविधानिक ढांचे में कुछ परिवर्तन होने के कारण उसमें भी यदा कदा कुछ संशोधन अवश्य होते रहे। उसका बहुत कुछ आज भी शेष है। यहाँ हम उसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

उच्च न्यायालय (High Courts) :— १८६१ के *उच्च न्यायालय अधिनियम* के अधीन १८६२ में कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में उच्च न्यायालय स्थापित किये गए। इन उच्च न्यायालयों को वे समस्त अधिकार हस्तान्तरित कर दिये गए जो कि पहिले सुप्रीम कोर्टों तथा सदर दीवानी और सदर निज़ामत अदालतों के पास थे, और जिनके स्थान में इन्हें स्थापित किया गया था। पूर्वोक्त से इन्हें प्रारम्भिक और उत्तरोक्त से अपीलीय अधिकार क्षेत्र प्राप्त हुआ। दीवानी तथा फ़ौजदारी मामलों में उनका प्रारंभिक अधिकार क्षेत्र केवल प्रेज़ीडेन्सी नगरों तक सीमित था; एक सौ रुपये से अधिक राशि वाले दीवानी के मामले उनके पास जा सकते थे, और फ़ौजदारी के उन मामलों का निर्णय वे कर सकते थे जोकि प्रेज़ीडेन्सी मजिस्ट्रेट उनके पास भेज सकते थे। उन्हें नाविक (Admiralty) अधिकार क्षेत्र भी प्राप्त था। प्रेज़ीडेन्सी नगरों से बाहर किये गये अपराधों के लिये यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा जन पर उच्च न्यायालयों में अभियोग चलाया जाता था। वे उत्तराधिकारियों को उत्तराधिकार के प्रमाणपत्र भी प्रदान करते थे। अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत ईसाइयों को वे तलाक़ भी स्वीकार करते थे। अपीलीय न्यायालय होने के नाते वे अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त दीवानी तथा फ़ौजदारी न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई करते थे। वे *इक्विटी* (Equity) न्यायालय भी थे। कोई भी पीड़ित व्यक्ति आलेख्य (Writ) आवेदन पत्र पेश कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'इक्विटी' के सिद्धान्तों के अनुसार न्याय की मांग कर सकता था। वे बन्दी प्रत्यक्षीकरण आलेख्य (Writ of Habeas Corpus) भी जारी कर सकते थे।

प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीश (जिन की संख्या सपरिषद सम्राट द्वारा निर्धारित होती थी) होते थे। यह संख्या १५ से अधिक नहीं हो सकती थी। समस्त न्यायाधीशों की नियुक्ति भारतमंत्री की सिफ़ारिश पर क्राउन द्वारा होती थी। उनमें से कम से कम एक तिहाई इण्डियन सिविल सर्विस में से, एक तिहाई अंग्रेज़ी बार में से तथा एक तिहाई अन्य स्रोतों से होते थे।

उच्च न्यायालयों को अपने क्षेत्रीय अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त अधीनस्थ न्यायालयों के ऊपर प्रशासकीय निगरानी का अधिकार दिया गया। वे अपने अधीनस्थ न्यायालयों के लिये प्रक्रिया सम्बन्धी नियम बना सकते थे, उनसे विवरण मांग सकते थे, उनके लिये फ़ीस सम्बन्धी नियम बना सकते थे। वे अधीन न्यायालयों से मामलों को उठा कर अपने पास मंगा सकते थे। उनके द्वारा बनाये गये नियमों के लिये, कलकत्ता हाई कोर्ट के लिये भारत सरकार की तथा मद्रास और बम्बई हाई कोर्टों के लिये स्थानीय सरकारों की स्वीकृति आवश्यक थी।

आगे चलकर, १८६१ के अधिनियम के अधीन ही इलाहाबाद, लाहौर तथा पटना में उच्च न्यायालय स्थापित किये गये। उनका अधिकार-क्षेत्र अधिकतर अपीलीय था। माल सम्बन्धी किसी भी विषय में किसी भी उच्च न्यायालय को प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त न था। उच्च न्यायालयों की सारी कार्यवाही अंग्रेज़ी में होती थी। वे रिकार्ड के न्यायालय थे। प्रत्येक उच्च न्यायालय प्रान्त का उच्चतम अपीलीय न्यायालय था। जिस किसी दीवानी मामले में विवादग्रस्त धनराशि दस हज़ार रुपये या उससे अधिक होती थी तो उसमें उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रिवी काउन्सिल में अपील की जा सकती थी। विशेष स्थितियों में कुछ फौजदारी के मामलों में भी अपील की जा सकती थी।

कुछ और आगे चलकर एक हाई कोर्ट नागपुर में, एक चीफ़ कोर्ट लखनऊ में (अवध के लिए), तथा एक अन्य सिन्ध में स्थापित की गई। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में एक जूडीशल कमिश्नर्स कोर्ट स्थापित की गई। बहुत से मामलों में उन्हें भी हाई कोर्ट ही समझा जाता था। १८७२ तक प्रेज़ीडेन्सी नगरों के बाहर रहने वाले यूरोपियनों पर केवल एक उच्च न्यायालय (High Court) में ही मुकदमा चलाया जा सकता था। व्यवहार में इसका अर्थ होता था न्याय का निषेध। इसलिए १८७२ में बनाये गये *दण्ड विधि संग्रह* (Code of Criminal Procedure) में यह व्यवस्था की गई कि यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजन पर यूरोपीय *जस्टिस ऑव दी पीस* (Justice of the Peace) अथवा यूरोपीय सेशन्स जजों के न्यायालयों में मुकदमा चलाया जा सकता है। उस समय इससे कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि समस्त सेशन्स जज यूरोपीय थे। किन्तु जब भारतीय लोग भी सेशन्स जज बनने लगे तो यह प्रश्न उठा कि क्या वे यूरोपीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभियुक्तों पर लगाये हुए अभियोगों का निर्णय कर सकते हैं। भारत सरकार ने केन्द्रीय धारा सभा में एक विधेयक— *इल्बर्ट बिल*— पेश किया जिसका उद्देश्य भारतीय सेशन्स जजों को यूरोपियनों की सुनवाई करने का अधिकार प्रदान करना था। इसका वर्णन हम अध्याय के अन्त में करेंगे।

१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत न्यायिक गठन :— १८६१ के अधिनियम ने भारत में जो न्याय व्यवस्था स्थापित की वह कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ तब तक चलती रही जबकि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधीन प्रान्तीय स्वायत्त शासन की स्थापना की गई। इस अधिनियम ने जो एक बहुत बड़ा परिवर्तन किया वह था *संघीय न्यायालय* (Federal Court) की स्थापना, जिसकी रचना, शक्तियों तथा कार्यों का वर्णन एक पहिले अध्याय में किया जा चुका है।

उच्च न्यायालय यद्यपि प्रान्तों में सर्वोच्च न्यायालय थे, तथापि वे उच्चतम नहीं थे; ऐसे दीवानी मामलों में जिनमें कि विवादग्रस्त धनराशि दस हजार रुपये या उससे अधिक होती अथवा कोई आधारभूत कानूनी प्रश्न निहित होता, उनके निर्णयों के विरुद्ध प्रिवी काउन्सिल में अपील हो सकती थी। १९३५ के अधिनियम ने उच्च न्यायालयों को संविधान की व्याख्या सम्बन्धी मामलों का निर्णय करने का अधिकार दे दिया। उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील *संघीय न्यायालय* में हो सकती थी।

अधीनस्थ न्यायालय :— यहां पर हम दो शब्द उन विभिन्न प्रकार के न्यायालयों के विषय में कहेंगे जोकि प्रान्तों में पाई जाती थीं, यद्यपि ऐसा करना इस अध्याय के क्षेत्र से कुछ बाहर है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उच्च न्यायालय न्यायिक ढाँचे का शिखर था। उसके नीचे प्रत्येक ज़िले में विभिन्न प्रकार के दीवानी तथा फौजदारी न्यायालय थे। ज़िले में सब से ऊँचा फौजदारी न्यायालय सेशन्स जज का था। वह अपने पास मजिस्ट्रेट द्वारा भेजे हुए (Committed to Sessions Court) समस्त मुक़दमों का निर्णय कर सकता था और उसे क़ानून के अन्तर्गत कठोरतम दण्ड, अर्थात् मृत्यु दण्ड, तक देने का अधिकार था। ज़िले में दीवानी का उच्चतम न्यायालय डिस्ट्रिक्ट जज का था जो कि किसी भी माली मूल्य के समस्त दीवानी मामलों का निर्णय कर सकता था। इसके अतिरिक्त सिविल जज का न्यायालय भी था; उसे भी इसी प्रकार की शक्तियां प्राप्त थीं। इससे नीचे मुन्सिफ़ों तथा ख़फ़ीफ़ा जजों (Courts of Small Causes) के न्यायालय थे। डिस्ट्रिक्ट तथा सेशन्स जज ज़िले में न्यायपालिका का प्रधान होता था। डिस्ट्रिक्ट जज के नाते उसका अधिकार-क्षेत्र दीवानी और सेशन्स जज के नाते फ़ौजदारी था।

दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों के अतिरिक्त प्रत्येक ज़िले में माल न्यायालय भी थे जिनका अधिकार-क्षेत्र भूमि कर, लगान वसूल करने इत्यादि के मामलों में था। माल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्चतम न्यायालय डिस्ट्रिक्ट कलक्टर का था जो कि डिप्टी कलक्टरों तथा तहसीलदारों (जोकि उसके अधीन होते थे) के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई करता था। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपील डिवीज़न के कमिश्नर के यहाँ और अन्तिम अपील *बोर्ड ऑव रेवेन्यु* (Board of Revenue), जो कि प्रान्त का माल का उच्चतम न्यायालय था, के यहां होती थी। ध्यान रहे कि माल के मामलों में उच्च न्यायालयों को कोई अधिकार प्राप्त न था।

उपरोक्त न्यायालयों के अतिरिक्त छोटे मोटे फ़ौजदारी मामलों के लिये ऑनरेरी मजिस्ट्रेट तथा दीवानी मामलों के लिये मुन्सिफ़ होते थे। ऑनरेरी मजिस्ट्रेट आम तौर से एक बेन्च के रूप में बैठते थे, अकेले नहीं।

प्रायः इस सम्पूर्ण न्यायिक ढांचे को नवीन व्यवस्था में ले लिया गया है। *संघीय न्यायालय* का स्थान *उच्चतम न्यायालय* (Supreme Court) ने ले लिया है और प्रिवी काउंसिल में अपील जाने की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है। *उच्चतम न्यायालय* की रचना, शक्तियों तथा कार्यों और कुछ नवीन विशेषताओं का वर्णन भाग ६ के एक अध्याय में किया जायगा।

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत न्यायिक व्यवस्था की मुख्य विशेषतायें :— ब्रिटिश राज के अधीन भारत में न्यायिक व्यवस्था के अपने इस संक्षिप्त विवरण के अन्त में हम दो शब्द इसकी कुछ मुख्य विशेषताओं के विषय में कहेंगे।

(१) **जूरी प्रणाली** (Jury System) :— सर्वप्रथम, इसमें फ़ौजदारी मामलों की जूरी द्वारा सुनवाई की पद्धति को मान्यता दी गई। अंग्रेज़ जनता जूरी द्वारा सुनवाई को न्याय तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये आवश्यक समझती थी; उसने यह अधिकार सरकार के विरुद्ध एक कटु और लम्बे संघर्ष के पश्चात् प्राप्त किया था। इसलिये भारतीय पद्धति में इसे स्थान मिलना स्वाभाविक ही था। परन्तु यहाँ इसे एक सीमित स्तर पर ही लागू किया गया। उच्च न्यायालयों में प्रारंभिक अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत फ़ौजदारी मामलों की सुनवाई में तो यह एक निश्चित नियम था। मुफ़स्सिल न्यायालयों में योग्य तथा स्वतन्त्र जूरी का प्राप्त हो जाना सदैव सुगम नहीं होता था, इसलिये वहाँ कभी कभी असेसर प्रणाली को अपनाया गया। जूरी द्वारा सुनवाई तथा असेसरों (Assessors) की सहायता से सुनवाई में अन्तर यह है कि तथ्य विषयक प्रश्नों (Questions of fact) पर जूरी का निर्णय न्यायाधीश के लिये मान्य होता है; उसे उसको स्वीकार करना पड़ता है। हां, यदि वह यह महसूस करता है कि जूरी का निर्णय स्पष्टतः ही अन्यायपूर्ण तथा अनुचित है तो वह उसे उच्च न्यायालय के पास भेज सकता है जो कि उसे रद कर सकता है। हम कह सकते हैं कि जूरी प्रणाली में न्याय करने वाली जूरी होती है, न्यायाधीश का कार्य तो केवल साक्ष्य (Evidence) तथा सम्बन्धित कानून को समझाकर जूरी की सहायता करना होता है। निर्णय के लिये जूरी का उत्तर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दायित्व किसी भी प्रकार न्यायाधीश से कम नहीं होता। किन्तु असेसरों का मत मानने के लिए न्यायाधीश बाध्य नहीं होता; वह उसे ठुकरा सकता है और उसके सर्वथा विपरीत निर्णय दे सकता है। निर्णय का उत्तरदायित्व न्यायाधीश का होता है, असेसरों का नहीं। प्रक्रिया दोनों प्रणालियों में प्रायः एक सी ही होती है।

(२) **फ़ौजदारी के मुक़दमों में यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजन की विशिष्ट स्थिति :—** हमारी न्याय प्रणाली की दूसरी विशेषता यह थी कि उसमें फ़ौजदारी के मुक़दमों में यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजन को कुछ विशेष अधिकार मिले हुए थे। बहुत दिन तक तो भारतीय मजिस्ट्रेटों को, यहाँ तक कि सैशन्स जजों को भी, उन पर लगाये गये अभियोगों की सुनवाई करने का अधिकार ही नहीं दिया गया, जबकि उनके अधीनस्थ अधिकारियों को यह अधिकार प्राप्त था। इस अत्यन्त और स्पष्ट रूप से न्यायहीन विभेद का अन्त करने के लिए १८८३ में केन्द्रीय धारासभा में 'इल्बर्ट बिल' नामक एक विधेयक पेश किया गया। उस विधेयक के विरुद्ध ब्रिटिश भारत के यूरोपियनों ने एक बड़ा ज़बर्दस्त बवण्डर खड़ा कर दिया। उनके घोर विरोध के फलस्वरूप उसको वापिस लेना पड़ा और अगले वर्ष उसके स्थान में एक अन्य विधेयक पास किया गया जोकि इल्बर्ट बिल और यूरोपियनों के विरोध के बीच एक प्रकार का समझौता सा था। इसके द्वारा भारतीय डिस्ट्रिकट मजिस्ट्रेटों तथा सैशन्स जजों को यूरोपीय अभियुक्तों के मुकदमों की सुनवाई करने का अधिकार तो दे दिया गय, किन्तु इसके साथ यह शर्त लगादी गई कि अभियुक्त गण को, क्षुद्र से क्षुद्र मामलों में भी, जूरी द्वारा सुनवाई कराने का अधिकार होगा, और जूरी के कम से कम आधे सदस्य यूरोपीय अथवा अमरीकन होंगे। इस प्रकार इस समझौते से न्यायिक क्षेत्र में जातीय भेदभाव का अन्त नहीं हुआ; इसने यूरोपीय अपराधियों को एक विशेषाधिकार केवल इसीलिए दिया क्योंकि वे यूरोपीय थे। यह विभेद उस क्षण तक रहा जबकि भारत स्वतन्त्र हुआ। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि जहाँ एक यूरोपीय ब्रिटिश प्रजाजन ग्रस्त हो, तो एक द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट केवल उन्हीं अपराधों की सुनवाई कर सकता था जिन में कि अधिक से अधिक दण्ड पचास रुपये का जुर्माना हो। एक प्रथम श्रेणी का अथवा एक डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, अथवा एक सैशन्स जज यूरोपीय अभियुक्तों को जो दण्ड दे सकता था उसे भी विशेष रूप से सीमित रक्खा गया था। यूरोपियनों को कुछ अन्य विशेषाधिकार भी मिले हुए थे जिनकी ओर *प्रजातीय विभेद समिति* (Racial Distinction Committee) ने संकेत किया है; उनका वर्णन यहाँ किया जाना आवश्यक नहीं। वह सब कुछ अब अतीत का इतिहास बनकर रह गया है।

(३) **न्यायिक तथा कार्यपालिक कार्यों का सम्मिश्रण :—** प्रान्तों में सरकार के तीन अंगों— व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका— की रचना में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का काफी हद तक निर्वाह किया गया; किन्तु कई महत्त्वपूर्ण बातों में इस सिद्धान्त की अवहेलना भी की गई। उदाहरण के लिए, गवर्नरों को विधि निर्माण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असाधारण शक्तियाँ दी गईं, और कुछ अधिकारियों (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट तथा कलक्टर और उसके अधीनस्थ कार्यपालिक अधिकारी, डिप्टी कलक्टर तथा तहसीलदार) में न्यायिक तथा कार्यपालिक कार्यों का सम्मिश्रण कर दिया गया। इस प्रकार के सम्मिश्रण के फलस्वरूप राजनीतिक मामलों में अभियुक्तगण पूर्ण न्याय प्राप्त नहीं कर सकते थे, और न्यायपालिका का अधीनस्थ भाग उतना स्वाधीन नहीं रह गया जितना कि उसे होना चाहिये। नागरिक प्रशासन का प्रधान होने के नाते कलक्टर का कार्य भूमिकर वसूल करना है। वह क़ानून और व्यवस्था की रक्षा के लिए भी उत्तरदायी है। इस नाते उसे व्यक्तियों और संस्थाओं से व्यवहार करना होता है जिनके ऊपर उसे कोई न्यायिक अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिये क्योंकि उनको वह उनके अहित में प्रयोग कर सकता है। किन्तु डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट होने के नाते उसे ज़िले के फ़ौजदारी न्याय के प्रशासन पर अधिकार प्राप्त है जिसके कारण वे व्यक्ति जिनका कि उससे संघर्ष होता है उसकी दया पर रह जाते हैं। उसके अधीन मजिस्ट्रेट राजनीतिक मामलों में न्याय और स्वतन्त्रता से काम नहीं ले सकते, क्योंकि उनकी स्थिति और उन्नति उस की सद्भावना पर निर्भर करती है, इसलिए वे उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकते। 'यद दण्ड नाकाफ़ी है; यदि फिर ऐसा हुआ तो मैं तुम्हारे दुराचरण की सरकार से शिकायत कर दूंगा', इस प्रकार की धमकियों से, जो कि सर हेनरी कॉटन ने अपनी पुस्तक 'न्यु इण्डिया' में उद्धृत की हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यायिक तथा कार्यपालिक कार्यों के सम्मिश्रण से क्या क्या कठिनाइयाँ और ख़तरे उत्पन्न हो सकते हैं। भारत में जनमत इसका सदैव विरोध करता रहा है; हाल ही में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के न्यायिक कार्यों को उससे वापिस लेने के कुछ प्रयत्न किये गए हैं।

(४) **अपील** :— भारतीय न्याय पद्धति में दीवानी, फ़ौजदारी तथा माल के मामलों में अपीलों की बड़ी उदार व्यवस्था की गई है। दीवानी के मामलों में आम तौर से दो अपील करने का अधिकार है। कुछ विशेष स्थितियों में तीसरी अपील प्रिवी काउन्सिल (अब उच्चतम न्यायालय) के सामने की जा सकती थी, यदि विवादग्रस्त धनराशि दस हज़ार रुपये या उससे अधिक हो। फ़ौजदारी के मामलों में एक अपील की व्यवस्था है। माल के मामलों में भी दो अपील हो सकती हैं।

दीवानी मामलों में मुन्सिफ के निणर्य के विरुद्ध डिस्ट्रिक्ट जज या सिविल जज के यहाँ अपील की जा सकती है। अपीलीय न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। सिविल जज अथवा डिस्ट्रिक्ट जज के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है और वहाँ से प्रिवी कौंसिल (अब उच्चतम न्यायालय) को अपील की जा सकती है। अपने प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र का प्रयोग करते हुए उच्च न्यायालय जो निर्णय करता है, उसके विरुद्ध अपील की सुनवाई उसका अपीलीय पक्ष करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थानीय स्वायत्त शासन का विकास

विषय प्रवेश :— कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के अतिरिक्त आधुनिक राज्यों का एक और अंग भी होता है। वह है: *स्थानीय स्वायत्त शासन* की संस्थायें। इन संस्थाओं के द्वारा नगर तथा ग्राम के छोटे क्षेत्रों के निवासियों को अपने स्थानीय विषयों (सफ़ाई, चिकित्सा, बिजली, पानी, प्रारम्भिक शिक्षा इत्यादि) का प्रबन्ध स्वयं करने का अवसर मिलता है, जिससे स्थानीय ज्ञान और प्रतिभा के उपलब्ध हो जाने से ये काम अधिक कुशलतापूर्वक किये जा सकते हैं और दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार का भार भी हल्का हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं का दूसरा और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इनके द्वारा नागरिकों को शासन चलाने का प्रशिक्षण मिलता है; इसीलिये इन्हें जनतन्त्र का पालना (Cradle of Democracy) कहा जाता है। जनतन्त्र उन्हीं देशों में, जैसे कि ब्रिटेन में, अधिक सफल हुआ है जिनमें कि स्थानीय स्वायत्त शासन की एक लम्बी परम्परा पाई जाती है। डी टाकविल का यह कहना एकदम सही है कि, "एक राष्ट्र में स्वतन्त्र सरकार स्थापित हो सकती है, किन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना उसमें स्वतन्त्रता की भावना नहीं आ सकती। इसलिये भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं के विकास पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

प्रस्तुत विषय का विवेचन हम जे. एच. लिन्डसे के निम्नलिखित शब्दों से आरंभ करेंगे: "ब्रिटिश भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की कहानी उन सतत और दीर्घकालीन प्रयासों की कहानी है जो कि भारत में पहिले से चली आ रही संस्थाओं के उपयोगी तत्त्व को कायम रखने तथा इंग्लैण्ड में उपयोगी पाये गये विचारों द्वारा उसे दृढ़ बनाने के लिए किये गए।"

क्योंकि अंग्रेज़ों ने भारत की पुरानी संस्थाओं के उपयोगी तत्त्व को बनाये रखने का प्रयास किया, इसलिये दो शब्द उनके विषय में कह देना अप्रासंगिक न होगा।

पूर्व-ब्रिटिश भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थायें:— हिन्दू काल में एक ग्राम में उसके सामान्य विषयों का प्रबन्ध करने के लिये कुछ कर्मचारी हुआ करते थे। वे थे: (१) *प्रमुख* अथवा *मुखिया* जो कि ग्राम में मालगुज़ारी को वसूल करने वाला, सामान्य नियन्त्रक तथा पंच होता था; (२) *पटवारी* जो कि खेती का हिसाब रखता था; (३) *चौकीदार* जो कि अपराधों की सूचना देता था, यात्रियों को चेतावनी देता था, तथा फ़सल की रक्षा करता था; (४) *सीमारक्षक* जो कि ग्राम की सीमाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षित रखता था; (५) तालाबों तथा जलधाराओं का रक्षक; (६) धर्म पुरोहित; (७) अध्यापक; (८) ज्योतिषी; तथा (९) ग्राम के शिल्पकार, जैसे कि लोहार तथा बढ़ई, कुम्हार, धोबी, नाई, तथा कवि। ये सब ग्राम समाज के नौकर होते थे और भूमि अथवा खाद्यान्न के एक भाग के रूप में उन्हें अपनी सेवाओं का प्रतिकार दिया जाता था।*

आगे चलकर प्रिंसिपल आनन्द कहते हैं कि प्राचीन काल में ग्राम शासन की सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता थी *पंचायत*। उसका मुख्य कार्य प्रशासकीय तथा न्यायिक था। उसकी रचना के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है; विभिन्न स्थानों में उसका निर्माण विभिन्न प्रकार से होता था। कुछ स्थानों में वह ग्राम में परिवारों के कर्ताओं (Heads) से मिलकर बनती थी, कुछ में ग्राम के समस्त वयस्क पुरुषों को मिलाकर, और कुछ में निर्वाचन द्वारा उसका निर्माण होता था। उसकी प्रक्रिया अनौपचारिक होती थी। सर हरबर्ट रिज़ले ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है: "पंचायत की रचना पद्धति का वर्णन यूरोप की राजनीतिक शब्दावली में नहीं किया जा सकता। लोग एक स्थान पर इकट्ठा हो जाते हैं; वे आपस में बातचीत करते हैं, और अन्त में उनकी बातचीत में से एक धारणा उत्पन्न होती है जो कि सब का मत होता है। उनके निर्णय सर्वसम्मति से होते हैं, इसलिये बहुमत कोई नहीं होता; उसमें कोई अल्पमत भी नहीं होता क्योंकि अल्पमत वालों को बातचीत द्वारा समझा दिया जाता है और वे बहुमत वालों से ही सहमत हो जाते हैं।"†

अंग्रेज तथा प्राचीन प्रणाली :— ग्राम प्रशासन की यह प्रणाली मुस्लिम काल में चलती रही। किन्तु सामाजिक भावना के ह्रास के कारण इसकी सजीवता और कुशलता जाती रही। इसका एक कारण मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद अराजकता और अव्यवस्था का फैलना भी था। ब्रिटिश सरकार ने मुखिया, पटवारी तथा चौकीदार को कायम रक्खा। परन्तु अब वे ग्राम समाज के नौकर न रह कर सरकार के नौकर हो गए और उन्हें पैसे के रूप में वेतन मिलने लगा। ब्रिटिश सरकार ने ग्राम पंचायतों को पुनर्जीवित करने का भी कुछ प्रयास किया। बम्बई के गवर्नर एलफ़िन्स्टन ने १८२१ में यह घोषणा की: "हमारा मुख्य यन्त्र ग्राम पंचायत रहना चाहिये और वह समस्त नवीन रूपों, तथा हमारी ओर से विनियमन और हस्तक्षेप से मुक्त रहनी चाहिये।" मद्रास की चौकीदारी और पहरेदारी की प्रणाली को नियमित पुलिस में विलय करने के प्रस्ताव का विरोध करते हुए सर टॉमस मुनरो ने १८२४ में यह लिखा: "स्थानीय प्रशासन के किसी भी भाग के लिए कोई भी ऐसी प्रणाली उपयुक्त नहीं हो सकती जो कि प्राचीन संस्थाओं से न ली गई, या उनके साथ वह घुली मिली न हो।" ब्रिटिश सरकार

* सी. एल. आनन्द : दी गवर्नमेन्ट ऑव इण्डिया, पृष्ठ १२८-९

† प्रिंसिपल आनन्द द्वारा उद्धृत : पूर्व कथित पुस्तक, पृष्ठ १२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने ग्राम चौकी और पहरे की प्रणाली को नियमित पुलिस के साथ सम्बद्ध करके और ग्राम पंचायत को दुर्भिक्ष सहायता के लिये प्रयोग करके उनका लाभ उठाने का प्रयास किया। परन्तु वह प्रयास सफल नहीं हुआ; पुरानी प्रणाली की सारी भावना ही लुप्त हो गई थी; एक समय के सजीव अंगी के अंगों में फिर से जीवन लाना दुस्साध्य था।

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही बहुत से प्रान्तों में ग्राम पंचायतों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जाने लगा। *ग्राम पंचायत अधिनियम* बनाये गए और बहुत से ग्रामों में पंचायतें स्थापित की गईं। यह प्रयोग सफल नहीं हुआ; चुनाव जातिवाद के आधार पर लड़े गये; इसकी सफलता के लिए जो सामाजिक भावना आवश्यक है उसका पूर्ण अभाव था। कानून ग्राम राज का केवल बाह्य ढांचा खड़ा कर सकता था, उसमें प्राण नहीं फूंक सकता था। इसलिये यदि यह प्रयोग सफल नहीं हो पाया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

कम्पनी की सरकार द्वारा नगर तथा ग्राम परिषदों की स्थापना :— अंग्रेज़ लोग प्राचीन प्रणाली के उपयोगी तत्त्व को क़ायम रखने की अपेक्षा ब्रिटिश बॉरो तथा काउण्टी परिषदों के ढर्रे पर नवीन संस्थाओं की स्थापना में अधिक सफल हुए। इस दिशा में प्रथम क़दम १६८७ में उठाया गया जबकि जेम्स द्वितीय ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को मद्रास में नगर महापालिका (Corporation) स्थापित करने का अधिकार दे दिया। *कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स* की आज्ञानुसार मद्रास में एक नगर महापालिका स्थापित की गई जिस में एक मेयर, बारह आल्डरमैन (Aldermen) तथा लगभग साठ साधारण सदस्य थे। इस प्रकार यह ब्रिटिश नमूने पर बनाई गई। किन्तु यह बहुत दिन तक जीवित नहीं रही। बम्बई तथा कलकत्ता में नगरपालिका स्थापित करने और मद्रास नगर महापालिका के पुनर्गठन के लिए १७२६ में एक चार्टर स्वीकार किया गया। नगरपालिका स्थापित करने का प्रयोग १८४२ तक तीन प्रेज़ीडेन्सी नगरों तक ही सीमित रहा जबकि एक अधिनियम (जो कि केवल बंगाल पर ही लागू हो सकता था) के द्वारा किसी भी नगर के निवासियों को यह अधिकार दिया गया कि वे 'जन स्वास्थ्य तथा सुविधा की अधिक समुचित व्यवस्था' के लिये कुछ कर सकते थे। यह केवल उन्हीं स्थानों पर हो सकता था जिनके कि दो तिहाई निवासी उसके लिये आवेदन करें और प्रत्यक्ष कर द्वारा उसके व्यय की पूर्ति करने के लिए तय्यार हों। केवल एक नगर ने इस अवसर का उपयोग किया। १८६४ तथा १८६८ के बीच में बनाये गये विभिन्न अधिनियमों के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों में बहुत सी नगरपालिकायें (Municipal Boards) स्थापित की गईं। उनका मुख्य उद्देश्य नगरों की सफ़ाई की अधिक समुचित व्यवस्था करना था। उन्हें प्रशासकीय सुविधा के लिए स्थापित किया गया था, स्थानीय स्वायत्त शासन लाने के लिए नहीं। उनके सदस्यों को सरकार मनोनीत करती थी; उनका जनता द्वारा चुनाव नहीं होता था। इस प्रकार की संस्थायें ग्रामों में स्थापित नहीं की गईं; वे नगरों तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सीमित थीं।

लार्ड मेयो का प्रस्ताव :— भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का सूत्रपात लॉर्ड मेयो के प्रान्तीय वित्त पर उस प्रसिद्ध प्रस्ताव से होता है जिसका उल्लेख हम गत अध्याय (वित्तीय विकेन्द्रीकरण) में कर चुके हैं। उस प्रस्ताव में स्थानीय स्वशासी संस्थाओं की आवश्यकता पर निम्नांकित शब्दों में ज़ोर दिया गया :—

"परन्तु इस (वित्तीय विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता) से भी बढ़ कर हमारी दृष्टि में एक अधिक महान् और एक अधिक व्यापक उद्देश्य है। शिक्षा, सफ़ाई, चिकित्सा तथा स्थानीय सार्वजनिक कार्यों पर व्यय होने वाले धन के सफल प्रबन्ध के लिए स्थानीय दिलचस्पी तथा देखभाल आवश्यक हैं। इस प्रस्ताव के पूर्ण रूप से लागू होने पर स्वशासन के विकास, स्थानीय संस्थाओं को मज़बूत बनाने तथा प्रशासन में भारत-वासियों तथा यूरोपियनों के पहिले की अपेक्षा अधिक संसर्ग के अवसर मिलेंगे।"

कई प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन अधिनियम बनाये गये जिनमें नगरपालिकाओं, जिनकी संख्या बढ़ा दी गई थी, के निर्माण में निर्वाचन सिद्धान्त प्रविष्ट किया गया। उनके लिये धन की व्यवस्था करने के लिए स्थानीय कर तथा अबवाब (Cess) लगाये गये। कुछ प्रान्तों में आय का एक भाग स्थानीय ग्राम्य समितियों को दे दिया गया। इस प्रयत्न में अधिक सफलता नहीं मिली। थोड़े से स्थानों में निर्वाचन किया गया, किन्तु बहुत अच्छे व्यक्तियों ने निर्वाचन के लिये खड़ा होना पसन्द नहीं किया। इस योजना की विफलता का कारण कदाचित् यह था कि स्थानीय संस्थाओं को काफी शक्तियां नहीं दी गई थीं।

भारत सरकार ने प्रान्तीय वित्त पर एक नया प्रस्ताव पास किया जिस में प्रान्तीय सरकारों से यह पूछा गया कि आय और व्यय की कौनसी मदों को प्रान्तों से स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित किया जा सकता है और स्थानीय स्वायत्त शासन को अधिक वास्तविक बनाने के लिए क्या किया जाना चाहिये। १८८१ में भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों के नाम गश्ती चिट्ठियाँ निकालीं जिन में व्यय की उन मदों को इंगित किया गया जो कि स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित की जा सकतीं थीं। यद्यपि ज़िला कलक्टर स्थानीय ज़िला समिति का पदेन (Ex-officio) अध्यक्ष रहा, तथापि उसके कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप को कम करने पर प्रस्ताव में ज़ोर दिया गया।

स्थानीय स्वशासन पर लार्ड रिपन का प्रस्ताव :— भारत में स्थानीय स्वशासक संस्थाओं के विकास के इतिहास में लार्ड मेयो के प्रस्ताव की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण वह प्रस्ताव है जो कि लार्ड रिपन की सरकार ने १८८२ में पास किया। इस प्रस्ताव से ही भारत में वास्तविक स्वायत्त शासन का सूत्रपात होता है। इससे पहले जो कुछ था वह स्थानीय प्रशासन था जो कि प्रशासकीय सुविधा के लिए अपनाया गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लार्ड रिपन ने सच्चे अर्थों में स्थानीय स्वशासन को अपनाने की चेष्टा की; उसने उसे 'राजनीतिक शिक्षा के एक यन्त्र' के रूप में अपनाया। उसका विचार था कि जब स्थानीय प्रशासन में स्थानीय ज्ञान तथा स्थानीय दिलचस्पी से काम होगा तो उसमें कुशलता अपने आप बढ़ जायगी।

उक्त प्रस्ताव में निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया :—

(१) सारे देश में, नगरों तथा ग्रामों में, स्थानीय संस्थाओं का एक जाल बिछा देना चाहिये और उनके कार्यों तथा आय को निश्चित बना देना चाहिये। स्थानीय संस्थाओं में स्थानीय ज्ञान तथा दिलचस्पी लाने के लिये यह आवश्यक है कि उनका अधिकार क्षेत्र अधिक विस्तृत न रक्खा जाय। उस समय विचार यह था कि ग्राम्य क्षेत्रों में ज़िला तथा ताल्लुक़ा परिषद और नगरों में नगरपालिका परिषद स्थापित की जायें और उनको आय और व्यय की कुछ निश्चित मद दे दी जायें।

(२) स्थानीय परिषद के सरकारी सदस्यों की संख्या एक तिहाई से अधिक न हो। ग़ैर सरकारी सदस्यों को, जहां तक सम्भव हो सके, निर्वाचन द्वारा रक्खा जाय। निर्वाचन का आधार उतना व्यापक हो जितना कि स्थानीय स्थितियों के अनुकूल हो। ऐसी परिषदों में सम्भ्रान्त व्यक्तियों को आने को प्रेरित करने के लिए यह प्रस्थापित किया गया कि उनकी सदस्यता काल में उन्हें राय, राव अथवा खान बहादुर की उपाधियों से विभूषित किया जाय।

(३) यह अनुभव करते हुए कि लार्ड मेयो के किये हुए पहिले के प्रयत्न अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप के कारण सन्तोषजनक रूप से सफल न हो सके, इस प्रस्ताव में यह सुझाव दिया गया कि जहाँ भी सम्भव हो स्थानीय परिषद का अध्यक्ष एक निर्वाचित ग़ैर-सरकारी व्यक्ति होना चाहिये। हाँ, प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति उसके लिए आवश्यक थी। ग़ैर-सरकारी अध्यक्ष रखने की व्यवस्था इसलिये की गई ताकि ग़ैर-सरकारी सदस्य यह महसूस कर सकें कि वास्तविक सत्ता हमारे ही हाथों में है।

(४) सरकारी नियन्त्रण अन्दर की अपेक्षा बाहर से होना चाहिये। धन प्राप्त करने, कुछ अधिकृत करों के अतिरिक्त शेष करों के लगाने तथा स्थानीय संस्था की सम्पत्ति किसी को बेच देने इत्यादि के लिए ज़िलाधीश (District Magistrate) की स्वीकृति आवश्यक थी। प्रान्तीय सरकार को कुछ स्थितियों में परिषद की कार्यवाही को रद्द कर देने तथा लगातार और स्पष्ट कर्त्तव्यहीनता की स्थिति में उसे मुअत्तिल करने का अधिकार दिया गया।

इस प्रस्ताव के कुछ ही बाद इसमें निर्धारित नीति को क्रियान्वित करने के लिए विभिन्न प्रान्तों में *स्थानीय स्वायत्त शासन अधिनियम* बनाये गए। बहुत से प्रान्तों में नगर, ज़िला तथा ताल्लुक़ा परिषद स्थापित की गईं। बम्बई, आसाम तथा बंगाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में एक बड़ी हद तक निर्वाचन सिद्धान्त को अपनाया गया; जबकि पंजाब में २९ में से १२ ज़िलों में मनोनीत करने की पद्धति को क़ायम रक्खा गया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में समस्त ज़िला परिषदों के सदस्यों को मनोनीत किया गया; मद्रास ज़िले के उप-विभागों के परिषदों के सदस्यों को मनोनीत किया गया। ज़िलाधीश मद्रास में ज़िला परिषदों का पदेन अध्यक्ष, और बम्बई तथा बंगाल में मनोनीत किया अध्यक्ष बना रहा, जब कि यू० पी० में जहाँ कि सदस्यों को अपना अध्यक्ष चुनने की स्वतन्त्रता थी, वे साधारणतया ज़िलाधीश को ही चुनते थे। इससे स्पष्ट है कि लार्ड रिपन के इरादे उस हद तक पूरे नहीं हुए जिस तक कि वह आशा करता था और स्थानीय स्वशासन की ओर प्रगति बहुत धीमी रही। किन्तु इससे स्थानीय शासन पर उसके प्रस्ताव का महत्त्व कम नहीं हो जाता; भारत के इतिहास में वह सदैव स्मरणीय रहेगा। इसमें स्थानीय स्व-शासन के पक्ष का सब से ज़ोरदार शब्दों में समर्थन किया गया और उसके विरुद्ध उठाई जाने वाली आपत्तियों का उत्तर दिया गया।

विकेन्द्रीकरण आयोग (Decentralisation Commission) **की रिपोर्ट**— भारत में स्थानीय स्वशासन के विकास के इतिहास में अगला महत्वपूर्ण चरण *शाही विकेन्द्रीकरण आयोग* की रिपोर्ट से आरम्भ होता है। इस आयोग ने १९०७-९ में इस विषय का सांगोपांग सर्वेक्षण किया। इसने स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करने के लिए ग्राम पंचायतों की स्थापना, तथा उप-ज़िला विभागों की परिषदों को पुनर्जीवित करने और अधिक शक्तियाँ और स्वतन्त्रता देने का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त यह सिफारिश की गई कि प्रत्येक ज़िले की एक परिषद हो जिसे सम्पूर्ण ज़िले के लिए सामंजस्यकारी तथा वित्तीय शक्तियां प्राप्त हों। स्थानीय परिषदों को अपने बजट पर अधिक नियन्त्रण और व्यय करने की अधिक स्वतन्त्रता दी जाय। उनके निर्माण में निर्वाचन सिद्धान्त अधिक व्यापक रूप से अपनाया जाय। किन्तु ज़िला परिषदों के लिए उसने सरकारी अध्यक्ष रखने का ही समर्थन किया। नगरपालिकाओं के लिये इसने निर्वाचित ग़ैर सरकारी अध्यक्ष रखना अधिक अच्छा समझा।

भारत सरकार ने आयोग की सिफारिशों के बारे में प्रान्तीय सरकारों को अपने विचार अभिव्यक्त करने को आमंत्रित किया। सारे सोच विचार के बाद अप्रैल, १९१५ में एक प्रस्ताव तैयार किया गया। इसमें आयोग की सिफारिशों को प्रायः स्वीकार कर लिया गया और प्रान्तीय सरकारों को उन्हें धीरे धीरे क्रियान्वित करने को कहा गया।

१९१८ का प्रस्ताव :— इसी बीच में भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति का प्रतिपादन करते हुए श्री मान्टेगु ने २० अगस्त, १९१७ को *हाउस ऑव कॉमन्स* में अपनी ऐतिहासिक घोषणा की। उसके कारण भारत सरकार के लिए स्थानीय स्व-शासन के विषय में अपने विचारों में कुछ संशोधन करना आवश्यक हो गया। १६ मई, १९१८ को भारत सरकार ने इस विषय पर एक अन्य प्रस्ताव तैयार किया। इसका आधारभूत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त यह था कि उत्तरदायी संस्थाओं की जड़ें तब तक दृढ़ नहीं हो सकतीं जब तक कि उनका आधार व्यापक न हो और यह कि नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन यह है कि स्थानीय स्व-शासन के क्षेत्र में वे मत का बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग करें और प्रशासकीय शक्तियों का कुशलतापूर्वक उपयोग करें। इस प्रस्ताव में स्थानीय संस्थाओं के ऊपर से समस्त अनावश्यक नियन्त्रण उठा लेने की सिफारिश की गई। उन पर लोकप्रिय नियन्त्रण को पूर्ण करने के लिए यह सिफारिश की गई कि उनमें साधारणतया निर्वाचित सदस्यों का जबर्दस्त बहुमत होना चाहिये और उनका अध्यक्ष निर्वाचित और ग़ैर-सरकारी व्यक्ति होना चाहिये। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने तथा सरकारी अधिकारियों के अनुभव का लाभ उठाने के लिए प्रान्तीय सरकार द्वारा थोड़े से व्यक्तियों को मनोनीत कर देने की भी व्यवस्था की गई। कुछ स्थितियों में नगर-पालिकाएँ किसी सरकारी अधिकारी को भी अपना अध्यक्ष चुन सकती थीं। क्योंकि ग्राम्य क्षेत्रों को नागरिक क्षेत्रों की अपेक्षा कम उन्नतिशील समझा गया, इसलिये प्रान्तीय सरकारों को यह कहा गया कि वे, जहाँ भी संभव हो, अध्यक्ष के निर्वाचन की व्यवस्था करें, और यदि निर्वाचन संभव न हो सके तो अध्यक्ष पद पर नियुक्ति तो किसी ग़ैर-सरकारी व्यक्ति की ही की जाय। अपने बजट तैयार करने में नगरपालिकाओं को पहिले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता दे दी गई। बाह्य नियन्त्रण को कुछ कम कर दिया गया। प्रान्तीय सरकारों को ग्राम पंचायतों के विकास को प्रोत्साहित करने का भी निर्देश दिया गया।

इस प्रस्ताव का एक तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि पंजाब के अतिरिक्त समस्त प्रान्तों में ज़िलाधीश को ज़िला परिषद् के अध्यक्ष पद से हटा दिया गया। अन्य सिफ़ारिशों के क्रियान्वित होने से पहिले ही श्री मांटेगु ने भारत की यात्रा की और सांविधानिक सुधारों के विषय में रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गई। उनकी इस सिफ़ारिश ने कि स्थानीय स्व-शासन का विकास प्रान्तीय सरकारों के हाथों में छोड़ देना चाहिये स्थिति में बहुत परिवर्तन कर दिया। द्वैध शासन प्रणाली के अन्तर्गत स्थानीय स्व-शासन को एक हस्तान्तरित विषय बना दिया गया। (हस्तान्तरित विषय का प्रबन्ध लोकप्रिय मंत्रियों के हाथों में था।) इससे इसने काफ़ी प्रगति की।

सारांश :— भारत में ज़िला परिषद् तथा नगरपालिका सरीखी स्थानीय संस्थाओं को ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश काउण्टी तथा बॉरो काउंसिलों के ढर्रे पर बनाया। ये अधिक प्रगति इसलिये न कर सकीं क्योंकि सरकारी अधिकारियों ने कुशलता तथा तत्काल फल प्राप्त करने के प्रलोभन में पड़ कर इस सर्वमान्य सिद्धान्त का पालन नहीं किया कि स्थानीय संस्थाओं का नियन्त्रण अन्दर से नहीं, वरन् उनका निर्देशन बाहर से होना चाहिये। उन्होंने इनके शिक्षात्मक महत्त्व को अनुभव नहीं किया; उनमें लॉर्ड रिपन की प्रखर कल्पना का अभाव था। सरकारी अधिकारियों को आवश्यकता से अधिक लम्बे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय तक स्थानीय संस्थाओं में रक्खा गया ; इससे स्थानीय पहिल-बुद्धि (Initiative) तथा उत्तरदायित्व की भावना का विकास रुद्ध हो गया। धन का अभाव स्थानीय संस्थाओं के विकास में एक अन्य गम्भीर बाधा थी। निर्वाचन सिद्धान्त को भी काफ़ी विकसित नहीं किया गया। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि स्थानीय संस्थायें सरकार के विभाग मात्र बन कर रह गईं। *मॉण्ट-फ़ोर्ड सुधारों* से पूर्व तो इन पर सरकारी अधिकारियों का इतना अधिक नियन्त्रण था कि इन्हें ब्रिटिश नमूने की स्थानीय स्वशासन की संस्थायें समझा ही नहीं जा सकता था।

द्वैध शासन प्रणाली के अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन :— जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, *मॉण्ट-फ़ोर्ड सुधारों* ने स्थानीय स्वायत्त शासन के विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों के हाथों में दे दिया और उन्हें लोकप्रिय मन्त्री के अधीन कर दिया। लोकप्रिय मंत्रियों के लिए स्थानीय संस्थाओं की रचना तथा कार्य-पद्धति को अधिक से अधिक लोकतंत्री बनाना स्वाभाविक ही था। प्रायः प्रत्येक प्रान्त में नगरपालिका तथा ज़िला परिषद् अधिनियम बनाये गये ; मताधिकार को अधिक व्यापक बनाया गया और स्थानीय संस्थाओं में निर्वाचित अंश में वृद्धि की गई। मनोनीत करने की पद्धति को केवल अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने और सरकारी विशेषज्ञों के परामर्श प्राप्त करने तक ही सीमित कर दिया गया। समस्त नगरपालिकाओं तथा ज़िला परिषदों के अध्यक्ष निर्वाचित होने लगे। इस प्रकार से अन्दर से सरकारी नियंत्रण को पूर्ण रूप से हटा दिया गया और स्थानीय संस्थाओं को अपने साधनों का विकास करने तथा अधिनियमों में दिये हुए कार्यों को करने की अधिकतम स्वतंत्रता दे दी गई। किन्तु बाहर से उन पर प्रान्तीय सरकारों का नियन्त्रण कई प्रकार से चलता रहा जिसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। ग्राम पंचायत क़ायम करने के लिए भी क़ानून बनाये गये।

किन्तु स्थानीय स्वशासन को अधिक से अधिक सफल बनाने की मंत्रियों की इच्छा के बावजूद प्रगति की गति कुछ धीमी ही रही। इसका मुख्य कारण था धन का अभाव। वित्त विभाग, जो कि गवर्नर के प्रति उत्तरदायी एक कार्यपालिक पार्षद (Executive Councillor) के अधीन रहता था, लोकप्रिय मन्त्रियों की मांगों के प्रति एक सौतेली मां जैसा रवैया रखता था। श्री मांटेगु के भारत मंत्री पद के छोड़ने पर तो स्थिति और भी ख़राब हो गई।

प्रान्तीय स्वायत्त शासन के काल में प्रगति :— १९३५ के *भारत शासन अधिनियम* के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन के स्थापित हो जाने पर लोकप्रिय मंत्रियों ने स्थानीय स्वशासन के सुधार के प्रश्न को गम्भीरतापूर्वक उठाया। बम्बई तथा यू. पी. प्रान्तों में इस समस्या का अध्ययन करने के लिए समितियां नियुक्त की गईं। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तथा कुछ अन्य प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं के सुधार हेतु क़ानून बनाए गये। बम्बई में ग्राम पंचायतों का पुनर्गठन किया गया और अन्य स्थानीय संस्थाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कुछ सुधार किया गया। परन्तु बहुत से प्रान्तों में लोकप्रिय मंत्रीमण्डल २८ मास के अल्पकाल तक ही सत्तारूढ़ रहे, इसलिये स्थानीय स्वशासन की समस्या का समाधान एक व्यापक स्तर पर और सफलतापूर्वक कहीं भी नहीं किया जा सका। सांविधानिक गति-रोध के समय कोई प्रगति सम्भव न थी। जब १९४६ में फिर लोकप्रिय मंत्रीमंडल बने तो इस प्रश्न को फिर हाथ में लिया गया। अब की बार ग्राम पंचायतों की स्थापना तथा उन्हें काफ़ी प्रशासकीय और न्यायिक शक्तियाँ देने पर ज़ोर दिया गया।

स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रगति :— स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्थानीय संस्थाओं के सुधार की दिशा में महान् प्रगति हुई। प्रायः समस्त राज्यों में स्थानीय संस्थाओं की रचना को अधिक लोकतन्त्री बनाने, उनके कार्य-क्षेत्र को विस्तृत करने तथा उनके लिये अधिक धन की व्यवस्था के लिये क़ानून बनाये गये। ब्रिटिश काल में जिन राज्यों में नगरपालिका तथा ज़िला परिषदों का अप्रत्यक्ष निर्वाचन था, वहाँ उसे प्रत्यक्ष बना दिया गया। उत्तर प्रदेश में नगरपालिकाओं के अध्यक्षों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से होने लगा। पहिले जिन क्षेत्रों में निरंकुश राजाओं का शासन था वहाँ भी स्थानीय स्वशासन लाया गया। राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का सम्मान करते हुए बहुत से राज्यों में ग्राम पंचायतें स्थापित की गईं।

नियोजन (Planning) के अपनाने तथा बहुत से ग्राम्य क्षेत्रों में सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा केन्द्रों की स्थापना से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इन तथा स्थानीय संस्थाओं के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिये। श्री बलवन्त राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति ने इस प्रश्न पर विचार किया और सम्पूर्ण देश में एक से ही आधार पर ग्राम्य स्थानीय स्वशासन में आमूलचूल परिवर्तन करने की सिफ़ारिश की।

स्थानीय संस्थाओं के प्रकार :— भारत में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को नागरिक तथा ग्राम्य— इन दो मुख्य श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। बम्बई, मद्रास, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, वाराणसी, आगरा तथा इलाहाबाद में नगर महापालिकायें (Corporations) हैं; इनसे छोटे नगरों में, जिनकी जन-संख्या बीस हज़ार या अधिक है, नगरपालिकायें हैं; नगरों के सैनिक क्षेत्रों में 'कैन्टुन्मेंट बोर्ड' हैं; और विकासशील नगरों में नये क्षेत्रों को एक नियोजित रूप से विकसित करने के लिये 'इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट' हैं। ग्राम्य क्षेत्रों में कस्बों के विकास के लिए 'टाउन एरिया' (दस हज़ार तथा बीस हज़ार के बीच की जन-संख्या के लिए) और 'नोटीफ़ाइड एरिया' (दस हज़ार से कम की जन-संख्या के लिये) हैं। ग्राम्य क्षेत्रों में मुख्य संस्थायें हैं: ज़िला परिषद् तथा ग्राम पंचायत। कुछ राज्यों में इन दो के बीच भी कुछ संस्थायें थीं जिन्हें 'तहसील बोर्ड' तथा 'ताल्लुका बोर्ड' कहा जाता था। परन्तु धीरे धीरे ये विलुप्त सी हो गईं। तहसील बोर्डों को यू. पी. में १९०६ में तथा मद्रास में १९३४ में हटा दिया गया। इस प्रकार से ग्राम्य क्षेत्रों में स्थानीय संस्थाओं की एक द्विचक्री प्रणाली (Two-tier

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

system) स्थापित हो रही थी। किन्तु 'बलवन्तराय मेहता समिति' की रिपोर्ट ने एक नवीन त्रिचक्री प्रणाली (Three-tier system) का सुझाव दिया है। राजस्थान में इसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया गया है। स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के संघटन में वहाँ एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया गया है जोकि अन्य राज्यों के लिये एक अनुकरणीय आदर्श बन सकता है। वहाँ एक त्रिचक्री संघटन खड़ा किया गया है जिसका आधार 'ग्राम पंचायत' है; बीच में ब्लॉक स्तर पर 'पंचायत समिति' है तथा सब से ऊपर ज़िले के स्तर पर 'ज़िला परिषद्' है। ग्राम पंचायत का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है और पंचायत समिति तथा ज़िला परिषद् का अप्रत्यक्ष रूप से, जिनका निर्माण मुख्य रूप से ठीक अपने से नीचे की स्थानीय संस्थाओं के अध्यक्षों को मिलाकर होता है। ग्राम पंचायतों के अध्यक्ष, जिन्हें सरपंच कहते हैं, पंचायत समिति के सदस्य होते हैं, और पंचायत समितियों के सदस्य, जिन्हें प्रधान कहते हैं, ज़िला परिषद् के सदस्य होते हैं। ग्राम तथा ब्लॉक स्तर पर अनुसूचित ज़ातियों, अनुसूचित वन्यजातियों, स्त्रियों तथा सहकारी आन्दोलन और ग्राम्य विकास से सम्बन्धित व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व के लिये सह-सदस्यता की व्यवस्था की गई है। राज्य की विधान सभा में ज़िले का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य पंचायत समितियों तथा ज़िला परिषद् के सह सदस्य होते हैं, परन्तु उन्हें वोट देने का अधिकार नहीं होता। नियोजन, बजट तथा क्रियान्वीकरण की व्यापक शक्तियाँ इन संस्थाओं को दी गई हैं। ज़िले के अधिकारी का कार्य एक परामर्शदाता तथा सामंजस्य-कर्त्ता का है। निर्णय करने अथवा हस्तक्षेप करने का अधिकार उसे नहीं है।

स्थानीय संस्थाओं के कार्य :— हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं को क्या क्या कार्य हैं और उनकी आय के कौनसे स्रोत हैं, इस सब का वर्णन करना आवश्यक नहीं है। केवल इतना कहना ही यहाँ पर्याप्त होगा कि हमारी नगरपालिका परिषदों के कार्य ब्रिटेन की बॉरो कौंसिलों से बहुत कम हैं। इनके कोई पुलिस सम्बन्धी कार्य नहीं हैं, और व्यापार तथा सामाजिक सेवा सम्बन्धी कार्य भी ब्रिटिश संस्थाओं से बहुत कम हैं। इस पिछड़ेपन का कारण यह है कि राज्यों की सरकारों ने स्थानीय प्रगति की कोई समुचित योजनायें नहीं बनाई हैं और उनकी आय के साधन सीमित हैं। राज्य सरकारों को स्थानीय प्रगति की पंचवर्षीय अथवा दस-वर्षीय योजनायें बनानी चाहियें और उन्हें क्रियान्वित करने में स्थानीय संस्थाओं की सहायता करनी चाहिये। अपने सुन्दर ग्रंथ 'Local Self-Government in India' में डा० एम. पी. शर्मा ने एक यह सुझाव रक्खा है कि स्थानीय स्वशासन के विषय में नीति के सामंजस्य, अनुसंधान, आंकड़ों तथा सूचना के एकत्रण के लिए केन्द्रीय सरकार को एक केन्द्रीय संगठन स्थापित करना चाहिये।

ज़िला परिषदों के कार्यों का विकास नगरपालिकाओं से भी कम हुआ है। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा जन स्वास्थ्य और सफ़ाई के लिये अभी बहुत कुछ करना शेष है। पक्की सड़कें आवश्यकता से बहुत कम हैं और जो हैं भी उनकी स्थिति प्रायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खराब रहती है। बलवन्त राय समिति ने पुराने ढर्रे की ज़िला परिषदों (District Boards) को हटा कर उनके स्थान में नवीन प्रकार की ज़िला परिषद तथा पंचायत समितियां स्थापित करने की सिफ़ारिश की है। उत्तर प्रदेश में हाल ही में इस सिफ़ारिश को क्रियान्वित कर दिया गया है।

स्थानीय संस्थाओं के ऊपर राज्य का नियन्त्रण :— अपनी उपरोक्त विवेचना में हमने देखा कि *मॉन्ट-फोर्ड सुधारों* से पूर्व हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं के अधिक सफल न होने का एक कारण यह था कि उनके ऊपर भीतर और बाहर से सरकार का अत्यधिक नियन्त्रण रहता था। परन्तु धीरे धीरे भीतर का नियन्त्रण कम होता चला गया। किन्तु एक स्थानीय संस्था को कितनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त क्यों न हो, उस पर बाहर से केन्द्र का कुछ न कुछ नियन्त्रण अनिवार्य होता है। केन्द्रीय नियन्त्रण का उद्देश्य स्थानीय संस्थाओं के कार्यों को सीमित करना और उनके ऊपर अनुचित बन्धन लगाना नहीं, बल्कि उनके कर्त्तव्य पूर्ति में उनकी सहायता करना है और यह देखना है कि वे अपने समुचित अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण न करने पायें। यह नियन्त्रण व्यवस्थापन, वित्त तथा प्रशासन के द्वारा किया जाता है। स्थानीय संस्थाओं के निर्माण तथा शक्तियों का निर्णय राज्य की सरकार करती है। उनके सदस्यों की संख्या, उनकी निर्वाचन पद्धति, करारोपण तथा कर की वसूलयाबी इत्यादि सैंकड़ों बातों का निर्धारण सरकार द्वारा बनाये हुए नियमों द्वारा किया जाता है। प्रशासकीय स्तर पर यह नियन्त्रण निरीक्षण, सूचना, उनके नियमों को स्वीकृत तथा अस्वीकृत करने, उनके कर्मचारियों की अपील सुनने, कुछ स्थितियों में उनके सदस्थों तथा अध्यक्ष को हटाने तथा कुछ गम्भीर स्थितियों में स्वयं संस्था को तोड़ने के अधिकार द्वारा किया जाता है। स्थानीय संस्थाओं के वित्त के ऊपर नियन्त्रण उन के ऋण लेने तथा करारोपण के प्रस्तावों को स्वीकृति देने तथा कुछ स्थितियों में उनके बजट को स्वीकार करने की शक्ति द्वारा किया जाता है। न्यायालयों को स्थानीय क़ानूनों की व्याख्या करने तथा उन्हें असांविधानिक घोषित करने का अधिकार है।

स्थानीय संस्थाओं पर राज्य सरकार अब तक जो नियन्त्रण करती रही हैं, वह रचनात्मक न हो कर औपचारिक तथा नकारात्मक ही अधिक रहा है। परन्तु सकारात्मक तथा रचनात्मक नियन्त्रण में ख़तरा यह है कि वह अत्यधिक हो सकता है और स्थानीय स्वायत्तता (Autonomy) के विकास में बाधा डाल सकता है। बलवन्त राय मेहता योजना में, जिस की कि आज बहुत मान्यता है और जिसे शायद सारे राज्यों द्वारा अपना लिया जायेगा, उस ब्रिटिश पद्धति का स्पष्ट रूप से उल्लंघन किया गया है जिसे कि अंग्रेज़ों ने भारत में चलाया था। इसमें एक ही संस्था में परम्परागत स्थानीय कार्यों तथा राज्य के कार्यों का सम्मिश्रण करने की चेष्टा की गई है। इसलिये इस संस्था को पहिले की अपेक्षा अधिक सरकारी बनाने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थानीय संस्थायें केन्द्रीय शक्ति के स्थानीय अंग बन सकती हैं, जैसा कि वे सोवियट रूस में हैं। स्थानीय संस्थाओं को नियोजन के साथ सम्बद्ध करने का यह स्वाभाविक परिणाम होगा। नियोजन कार्य में जन सहयोग प्राप्त करने का इसके अतिरिक्त और कोई साधन नज़र नहीं आता कि *ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों* तथा *ज़िला परिषदों* को विकास तथा नियोजन के उस कार्य से युक्त कर दिया जाय जोकि अब ज़िलाधीश द्वारा अपनी ज़िला विकास अधिकारी की हैसियत से किया जा रहा है। ज्यों ज्यों समय गुज़रेगा स्थानीय स्व-शासन एक नवीन कलेवर ग्रहण कर लेगा।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०

नागरिक सेवाओं (Civil Services) का विकास

विषय प्रवेश :— नागरिक सेवायें भी एक देश के शासन का उतना ही महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं जितना कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका। बल्कि एक प्रकार से तो ये उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कारण यह कि प्रशासन की कुशलता मंत्रियों की बुद्धिमत्ता तथा योग्यता की अपेक्षा स्थायी कर्मचारियों के चरित्र तथा योग्यता पर अधिक निर्भर करती है। भारत में ब्रिटिश प्रशासन की सफलता का एक बहुत बड़ा कारण नागरिक सेवाओं के उच्चाधिकारियों का दक्ष तथा चरित्रवान् होना था। इसलिए ब्रिटिश भारत में नागरिक सेवाओं के विकास पर दृष्टिपात करना वांछनीय होगा।

सब से पहला युग :— कम्पनी के प्रारम्भिक समय में, यहां तक कि उस के कुछ राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी, प्रशासन का दैनिक कार्य 'राइटर्स' (Writers) तथा 'फ़ैक्टर्स' (Factors) द्वारा किया जाता था, जिन्हें वेतन बहुत थोड़ा दिया जाता था और अपने कार्य का प्रशिक्षण बिल्कुल नहीं मिलता था। उन का अनुराग एक कुशल प्रशासन की अपेक्षा व्यक्तिगत लाभ में अधिक होता था और वे निजी व्यापार करने तथा रिश्वत लेने में भी नहीं हिचकते थे। इस के कारण बंगाल में द्वैध शासन के काल में कम्पनी का प्रशासन अत्यधिक भ्रष्ट तथा लुटेरा हो उठा। इस दोष का निवारण करने के लिए क्लाइव ने कम्पनी के कर्मचारियों को एक संविदा (Covenant) करने पर विवश किया जिस के द्वारा उन को निजी व्यापार करने तथा उपहार और रिश्वत लेने का निषेध कर दिया गया। इसीलिए उन्हें *संविदाबद्ध नागरिक सेवा* (Covenanted Civil Service) कहा जाता था। सेवाओं के विकास की दिशा में अगला क़दम लार्ड कार्नवालिस ने उठाया जिसने समस्त ऊंचे पदों को अंग्रेज़ों के लिए सुरक्षित कर दिया और उन के वेतन बढ़ा दिये। भारतीयों को केवल छोटे पदों पर ही नियुक्त किया जा सकता था। कार्नवालिस की धारणा यह थी कि ऊंचे और उत्तरदायी पदों को संभालने के लिये भारतीय लोग अयोग्य थे।

पाठकों को स्मरण होगा कि समस्त पदों पर नियुक्तियाँ 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' द्वारा की जाती थीं। उनके द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्तियों को बिना किसी प्रशिक्षण तथा परीक्षा-काल (Probation) के ही भारत भेज दिया जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए लार्ड वेल्ज़ली ने उनके प्रशिक्षण हेतु कलकत्ता में एक कालिज स्थापित किया। सरकारी कर्मचारी बनने की इच्छा से भारत आने वाले व्यक्तियों को कोई पद प्राप्त करने से पूर्व भारतीय भाषाओं, क़ानून तथा इतिहास में तीन वर्ष का एक पाठ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम करना होता था। डायरेक्टरों को यह योजना पसन्द न आई, और उन्होंने इस उद्देश्य के लिए १८०६ में हेलीबरी में एक अपना निजी कालिज स्थापित किया। १८१३ के अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि भारत में किसी भी व्यक्ति को एक 'राइटर' अथवा 'फ़ैक्टर' तब तक नियुक्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उसने हेलीबरी में चार अवधियां पूरी न कर ली हों। हेलीबरी का कालिज १८५८ तक चलता रहा।

अगला युग :— बहुत दिनों तक डायरेक्टरों की भारत में नियुक्तियाँ करने की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहे। १८३३ के चार्टर एक्ट ने स्थिति में अवश्य कुछ परिवर्तन किया; उसमें यह व्यवस्था की गई कि जितने स्थान नियुक्तियों के लिए रिक्त हों, डायरेक्टरों को उससे दो गुने हेलीबरी के कालिज के लिए मनोनीत करने चाहियें और केवल उच्चतम स्थान प्राप्त करने वाले उम्मीदवारों को ही नियुक्त किया जाना चाहिये। संसद ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और उसी समय से कम्पनी की 'कवेनेण्टेड सिविल सर्विस' के लिये नियुक्तियां एक प्रतियोगिता परीक्षा, जो कि लन्दन में होती थी, के आधार पर की जाने लगीं। वह परीक्षा समस्त जन्मजात ब्रिटिश प्रजा जन चाहे वे यूरोपीय हों चाहे भारतीय, के लिये खुली होती थी। १८५८ में, जबकि सत्ता कम्पनी से हाथों के निकल कर 'क्राउन' के पास आई, हेलीबरी का कालिज बन्द कर दिया गया और 'इंण्डियन सिविल सर्विस' के लिए नियुक्तियां करने की शक्ति भारत मंत्री को दे दी गई। प्रतियोगिता परीक्षा के सिद्धान्त की पुनः पुष्टि की गई, किन्तु भरती के लिये अधिकतम आयु की सीमा घटाकर २२ वर्ष कर दी गई। चुने हुए उम्मीदवारों के लिये इंग्लैण्ड में एक वर्ष का परीक्षा काल (Probation) रक्खा गया। १८६६ में अधिकतम आयु की सीमा को घटा कर २१ वर्ष कर दिया गया, और परीक्षा काल को बढ़ा कर दो वर्ष कर दिया गया। इन सब बातों का प्रभाव यह हुआ कि सिविल सर्विस में भारतीयों के आने की प्रायः कोई सम्भावना नहीं रही। भारतीय युवकों के लिये २१ वर्ष की आयु समाप्त करने से पूर्व इंग्लैण्ड में परीक्षा में भाग लेना अत्यन्त दुष्कर था। १८७० में केवल सात भारतीय उम्मीदवारों ने परीक्षा में भाग लिया जिसमें केवल एक सफल हुआ। इण्डियन सिविल सर्विस के लिये नियुक्तियों की उक्त व्यवस्था ने १८३३ में उत्पन्न की गई आशाओं और १८५८ में दिये गये इस वचन को निरर्थक बना दिया कि भारतवासियों को उनकी योग्यता के अनुसार सरकारी नौकरियों में निष्पक्ष रूप से तथा स्वतन्त्रतापूर्वक लिया जायेगा। उस वचन को पूरा करने के लिये १८७० के भारत सरकार अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि भविष्य में किसी भी भारतीय को इण्डियन सिविल सर्विस में आने से न रोका जाय यद्यपि उसकी भरती पूर्व-वर्णित क़ानून के अनुसार न हुई हो। गवर्नर जनरल को ऐसे नियम बनाने थे जिनके अनुसार कि सिविल सर्विस परीक्षा न करने वाले भारतीयों को भी उन पदों पर नियुक्त किया जा सकता था जो कि परीक्षा पास कर लेने वालों के लिये सुरक्षित थे। इस सम्बन्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक नियम बनाने में भारत सरकार को पूरे नौ वर्ष लगे। इन नियमों में सपरिषद गवर्नर जनरल को ही सम्भ्रांत परिवारों के योग्य तथा सुशिक्षित भारतीय नवयुवकों को उन पदों पर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया जो कि इण्डियन सिविल सर्विस के लिए सुरक्षित थे। इस प्रकार से नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की संख्या प्रति वर्ष इंग्लैण्ड में भारत मंत्री द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों के एक छठे भाग से अधिक नहीं हो सकती थी। यह योजना अच्छी प्रकार न चल सकी। उक्त नियमों के अधीन जो ६९ व्यक्ति नियुक्त किये गये उनके पास पर्याप्त शिक्षात्मक योग्यता न थी और अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में वे प्रायः अयोग्य सिद्ध हुए। आठ वर्ष के परीक्षण के उपरान्त इस व्यवस्था का परित्याग कर दिया गया।

१७७८ में इंग्लैण्ड में सिविल सर्विस परीक्षा के लिए आयु की सीमा घटा कर १९ वर्ष कर दी गई। किन्तु यह देख कर कि यह भारतीय विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त दुष्कर थी इसे बढ़ा कर १८९२ में २३ वर्ष तथा १९०६ में २४ वर्ष कर दिया गया। १८७१ से १९१४ तक के काल में प्रतियोगिता परीक्षा में बैठने वाले भारतीय उम्मीदवारों की संख्या बढ़ती गई, यद्यपि यह वृद्धि बहुत धीमी गति से हुई। १८७० में यह संख्या ७ थी और १९१४ में यह २६ हो गई। १९१४ में उत्तीर्ण होने वाले भारतीय उम्मीदवारों की संख्या ७ और अंग्रेज़ों की ४९ थी। १८७० से १९१४ तक के समय में सफल भारतीय उम्मीदवारों की संख्या केवल १७ थी।

एचीसन (Aitchison) **कमीशन** :— इस बीच में भारत में कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। अपने सर्वप्रथम अधिवेशन में ही उसने यह मांग की कि सिविल सर्विस के लिये परीक्षायें इंग्लैण्ड के साथ ही साथ भारत में भी होनी चाहियें। केवल तभी इण्डियन सिविल सर्विस में भारतीयों को उच्च पद प्राप्त हो सकते थे। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए १८८६ में लॉर्ड डफ़रिन ने सर चार्ल्स एचीसन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने परीक्षा को इंग्लैण्ड के साथ साथ भारत में भी करने की मांग को ठुकरा दिया और यह विचार प्रकट किया कि इण्डियन सिविल सर्विस के विशिष्ट अंग्रेज़ी स्वरूप को क़ायम रखने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें भरती करने के लिए परीक्षा केवल इंग्लैण्ड में ही होनी चाहिये। इसने गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त सिविल सर्विस की व्यवस्था का भी अन्त कर दिया क्योंकि वह अपने अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने में विफल रही थी।

उच्च पदों पर भारतीयों को पहिले की अपेक्षा अधिक संख्या में नियुक्त करने के दृष्टिकोण से कमीशन ने इंग्लैण्ड में भारत मंत्री द्वारा नियुक्त किये जाने वाले पदों में कमी करने की सिफ़ारिश की। इसने समस्त नौकरियों को तीन वर्गों में विभक्त करने का प्रस्ताव किया जो कि ये थे: साम्राजी (Imperial). प्रान्तीय (Provincial), तथा अधीनस्थ (Subordinate)। प्रथम श्रेणी की नौकरियों के लिए भरती इंग्लैण्ड में भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्री द्वारा एक खुली प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर होनी थी जिसके लिये आयु-सीमा बढ़ाकर २३ वर्ष कर दी गई। प्रान्तीय नौकरियों के लिए भरती अपनी आवश्यकतानुसार प्रत्येक प्रान्तीय सरकार द्वारा होनी थी। साम्राजी नौकरियों के लिये सुरक्षित पदों में से कुछ संख्या को प्रान्तीय नौकरियों के सदस्यों के लिये खुला रखने की व्यवस्था की गई। ऐसे पदों को 'लिस्टेड' (Listed) कहा जाने लगा। स्थानीय सरकारों से परामर्श करके भारत सरकार ने ९३ स्थानों को ऐसे पदों की श्रेणी में रखने का निर्णय किया।

इंग्लैण्ड के साथ साथ भारत में प्रवेश परीक्षा करने का प्रस्ताव :— एचीसन कमीशन की सिफ़ारिशों के ऊपर अन्तिम रूप से जो आदेश जारी किये गये उनके अनुसार भारत सरकार ने सार्वजनिक सेवाओं का पुनर्गठन किया ही था कि भारत मंत्री लॉर्ड किम्बरले ने उसके विचारार्थ हाउस ऑफ कामन्स द्वारा पास किया हुआ वह प्रस्ताव भेजा जिसमें कि इण्डियन सिविल सर्विस में भरती के लिए इंग्लैण्ड के साथ ही साथ भारत में भी परीक्षा करने का समर्थन किया गया था। मद्रास के अतिरिक्त समस्त प्रान्तीय सरकारों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उनका तर्क यह था कि भारत में ब्रिटिश शासन की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि यूरोपीय अधिकारियों की संख्या में कोई विशेष कमी न की जाय। भारत सरकार ने भी इस प्रस्ताव का विरोध किया; उसके विचार में इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने से सिविल सर्विस में अंग्रेज़ों की संख्या खतरनाक रूप से कम हो जायगी। मुसलमानों ने भी इसका विरोध किया। ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार के मत को स्वीकार करते हुए इस प्रस्ताव को रद कर दिया। भारत मंत्री ने यह निर्णय किया कि भारतवासियों की उचित और न्यायसंगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम उपाय यह होगा कि ऊंचे पदों पर उन भारतीयों को लिया जाय जो कि अधीनस्थ सेवाओं में अपनी योग्यता और विश्वासपात्रता सिद्ध कर दें।

इस प्रसंग में यह बात और उल्लेखनीय है कि देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये इण्डियन सिविल सर्विस के अतिरिक्त कई नवीन अखिल भारतीय सेवायें स्थापित हो गई थीं जिनमें से मुख्य थीं: इण्डियन पुलिस सर्विस, इण्डियन मेडीकल सर्विस, इण्डियन सर्विस ऑफ़ इन्जीनियर्स, इण्डियन फ़ौरेस्ट सर्विस, तथा इण्डियन एजुकेशनल सर्विस।

इस्लिंग्टन कमीशन :— मार्च, १९११ में केन्द्रीय धारासभा में एक महत्वपूर्ण बहस हुई जिसमें गैर-सरकारी सदस्यों ने उच्चतर सार्वजनिक सेवाओं में भारतीयों को अधिक भाग देने का ज़ोरदार समर्थन किया। भारत सरकार ने एक नया कमीशन नियुक्त किया जिसके अध्यक्ष लॉर्ड इस्लिंग्टन थे। श्री गोपालकृष्ण गोखले उसके एक सदस्य थे। कमीशन ने १९१५ में अपनी रिपोर्ट पेश की, किन्तु युद्ध द्वारा उत्पन्न स्थिति के कारण वह १९१७ के मध्य से पूर्व प्रकाशित न हो सकी।

इस्लिंग्टन कमीशन की सिफारिशों पर मॉन्टेगु तथा लार्ड चेम्सफ़ोर्ड ने अपनी रिपोर्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विचार किया; अब हम कमीशन के प्रसंग को छोड़ते हुए उन्हीं की सिफारिशों पर प्रकाश डालेंगे जिन्हें कि १९१९ के भारत सरकार अधिनियम में क्रियात्मक रूप दिया गया।

मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट की सिफारिशें :— पाठकों को स्मरण होगा कि श्री मॉन्टेगु ने हाउस ऑफ कॉमन्स में घोषणा की थी कि भारत में ब्रिटिश शासन का ध्येय उत्तरोत्तर उत्तरदायी शासन की स्थापना करना है और इस दिशा में पहला कदम प्रान्तीय शासन के क्षेत्रों में उठाया जायेगा। सच्चे अर्थों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि काफी संख्या में ऐसे व्यक्ति उपलब्ध हों जो कि शासन की सम्पूर्ण कला में सिद्धहस्त हों। इसलिए रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई कि सार्वजनिक सेवाओं में भारतीयों की संख्या में काफी वृद्धि कर दी जाय।

सार्वजनिक सेवाओं की विशेषताओं को सुरक्षित रखने के लिए रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई कि केवल उतने ही भारतीयों को उनमें भरती किया जाय जिनको कि वे सुगमता से प्रशिक्षित कर सकें और सिविल सर्विस की भावना से ओत प्रोत कर सकें। उनका यह भी विचार था कि एक ऐसी मांग उत्पन्न करना जिसकी कि पूर्ति न की जा सके ग़लत होगा। इन सामान्य बातों को ध्यान में रखते हुए रिपोर्ट के रचयिताओं ने यह सिफारिश की कि उच्च पदों में से ३३ % की भरती भारत में की जाय और एक नये आयोग (Commission) के नियुक्त होने तक इस प्रतिशत में १½ % प्रति वर्ष वृद्धि कर दी जाय। उस समय इंग्लैण्ड में प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा भरती की पद्धति से आवश्यक संख्या में भारतीय उम्मीदवारों का आ जाना सम्भव नहीं हो सकता था, इस लिये रिपोर्ट ने इस परीक्षा के इंग्लैंड के साथ साथ भारत में किये जाने की सिफारिश की। प्रवेश परीक्षा के आधार पर चुने गये भारतीय उम्मीदवारों को प्रशिक्षण के लिए इंग्लैण्ड भेजा जा सकता था; इंग्लैण्ड में प्रशिक्षण को आवश्यक समझा गया। रिपोर्ट में समस्त सरकारी नौकरियों में प्रजातीय भेदभाव को हटा देने पर भी बल दिया गया।

सरकारी नौकरियों में यूरोपियनों की संख्या सीमित कर देने तथा सांविधानिक परिवर्तनों के होने से यह आवश्यक हो गया कि उपलब्ध यूरोपीय सरकारी अधिकारियों में से सर्वोत्तम भारत आयें। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए रिपोर्ट में इंग्लैण्ड में भरती होने वालों के लिये अधिक वेतन, पेन्शन तथा समुद्र पार नौकरी के भत्ते इत्यादि की सिफारिश की। १९१९ के भारत सरकार अधिनियम में इन समस्त सिफारिशों को क्रियान्वित कर दिया गया।

प्रान्तीय क्षेत्र में आंशिक उत्तरदायित्व के हस्तान्तरण की सम्भावना से सिविल सर्विस के कुछ सदस्य चिंतित हो उठे; इसमें उन्हें भारतीय मंत्रियों के प्रति अधीनता का खतरा दिखाई देने लगा। ऐसे समस्त व्यक्तियों को आनुपातिक पेन्शन लेकर समय से पूर्व अवकाश प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया। अनुमान किया जाता है कि १९२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक लगभग ३४५ अधिकारियों ने इस सुविधा का लाभ उठाया। बहुत से सरकारी कर्मचारियों ने युद्ध के लिए अपनी सेवायें अर्पित कर दी थीं और उसमें उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। इस प्रकार भारतीय नौकरियों में यूरोपीय कर्मचारियों की बहुत कमी थी। बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण लन्दन में प्रवेश परीक्षा के लिए सुयोग्य व्यक्ति अपने को पेश नहीं कर रहे थे। दूसरी ओर, जिस गति से भारतीय नौकरियों का भारतीयकरण किया जा रहा था उससे भारतवासी सन्तुष्ट नहीं थे। इस सारे प्रश्न पर विचार करने के लिए १९२३ में एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया; उसके अध्यक्ष लार्ड ली थे, इसलिए वह 'ली कमीशन' के नाम से विख्यात है।

ली कमीशन की सिफारिशें :— हस्तान्तरित विभागों में काम करने वाले उच्च सरकारी अधिकारियों पर मंत्रियों के नियन्त्रण को वास्तविक और प्रभावक बनाने के लिए इस कमीशन ने यह सिफारिश की कि इण्डियन एजुकेशनल सर्विस, वेटरीनरी सिविल तथा मेडिकल सर्विस तथा इन्जीनियरिंग सर्विस के लिए भरती लन्दन में भारत मंत्री द्वारा पूर्णतया रोक दी जाय। इन नौकरियों के लिए भरती अब से प्रान्तीय सरकारों द्वारा की जाय। इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन पुलिस सर्विस, इण्डियन फ़ौरेस्ट सर्विस, इण्डियन मेडिकल सर्विस तथा इन्जीनियरिंग सर्विस के सिंचाई विभाग के लिये भरती का अधिकार भारत मन्त्री के पास ही रहने दिया गया। परन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सम्मान करते हुए इन नौकरियों में भारतवासियों की संख्या पहिले से बढ़ा दी गई। सिविल सर्विस के लिये प्रत्यक्ष भरती में आधे यूरोपियन और आधे भारतवासी रक्खे गये। इसके अतिरिक्त उच्च पदों पर २०% प्रान्तीय नौकरियों से उन्नति देकर रखने की सिफारिश की गई। पुलिस सर्विस के लिए प्रत्यक्ष भरती पाँच यूरोपीय और तीन भारतीय के अनुपात से होनी थी। इसके अतिरिक्त २०% स्थानों की पूर्ति प्रान्तीय नौकरियों में से उन्नति देकर होती। ऐसा ही अनुपात सिंचाई विभाग के लिए भी रक्खा गया। फौरेस्ट सर्विस में ७५% कर्मचारी भारतवासी होते। अन्य नौकरियों के लिये भिन्न भिन्न अनुपात रक्खा गया। केन्द्रीय धारासभा (Legislative Assembly) में सरकार की ओर से कमीशन की उपरोक्त सिफारिशों को स्वीकार कर लेने का प्रस्ताव पेश किया गया। स्वराज दल के नेता पण्डित मोतीलाल नेहरू ने उन्हें तिरस्कृत करने की मांग की। धारासभा ने स्वराज दल के संशोधन को ४६ के मुक़ाबिले में ६८ के बहुमत से स्वीकार कर लिया। परन्तु धारा परिषद (Council of State) ने सरकारी प्रस्ताव को ही, बिना किसी संशोधन के, स्वीकार किया।

१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत सरकारी नौकरियां :— ली कमीशन ने सरकारी नौकरियों को तीन वर्गों— इम्पीरियल (Imperial), प्रान्तीय (Provincial) तथा अधीनस्थ (Subordinate) में विभक्त करने की सिफारिश की थी। उसने यह भी सिफारिश की थी कि प्रान्तों में जब सुरक्षित विषयों (Reserved Subjects) को लोकप्रिय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्रियों को हस्तान्तरित कर दिया जायेगा तो उनसे सम्बन्धित नौकरियों को भी प्रान्तीय कर देना चाहिये। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में इस धारणा को स्वीकार नहीं किया गया। इसमें सरकारी नौकरियों को इन तीन वर्गों में विभक्त किया गया :— संघ सरकार द्वारा भरती की गई नौकरियां; प्रान्तीय सरकारों द्वारा भरती की गई नौकरियाँ; तथा भारत मंत्री द्वारा भरती की गई नौकरियाँ।

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम में भारत की विभिन्न सरकारी नौकरियों पर नियुक्त किये गये व्यक्तियों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था थी। संविधान द्वारा दिये गए उनके अधिकारों तथा उनके समुचित हितों की रक्षा करना गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर का विशेष उत्तरदायित्व था। भारत मंत्री द्वारा नियुक्त किये हुए किसी भी सरकारी नौकर को उसे अपनी सफाई पेश करने का अवसर दिये बिना पदच्युत नहीं किया जा सकता था. अथवा उसके पद को कम नहीं किया जा सकता था। बिना समुचित प्रतिकार दिये किसी पद का उन्मूलन नहीं किया जा सकता था। संघीय तथा प्रान्तीय सरकारी नौकरों का वेतन तथा पेन्शन इत्यादि संघीय तथा प्रान्तीय राजस्व में से दिया जाता। अपने कर्त्तव्य पालन के समय सद्संकल्प के साथ किये हुए समस्त कार्यों के सम्बन्ध में दीवानी तथा फौजदारी के अभियोगों के लिये सरकारी नौकरों को अभिमुक्ति दे दी गई और गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर की अनुमति के बिना उन पर कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता था। ऐसी व्यवस्था उन्हें प्रान्तीय स्वायत्त शासन के अन्तर्गत भारतीय राजनीतिज्ञों द्वारा सम्भाव्य आरोपों से बचाने के लिए की गई।

इस सम्बन्ध में अंतिम उल्लेखनीय बात यह है कि इस अधिनियम में एक संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन की स्थापना की व्यवस्था की गई। संघीय तथा प्रान्तीय कमीशनों का मुख्य कार्य अपने अपने अधिकार-क्षेत्रों में विभिन्न नौकरियों के लिए परीक्षायें करना था। इसके अतिरिक्त उनका कार्य भरती की पद्धति, नियुक्ति, उन्नति, स्थानान्तर, अनुशासन की कार्यवाही इत्यादि के सम्बन्ध में संघीय तथा प्रान्तीय सरकारों को परामर्श देना भी था। गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर की पूर्व-स्वीकृति से उन्हें और अधिक कार्य भी दिये जा सकते थे।

उपसंहार :— उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों की प्रबल धारणा रही कि भारत में ऊँचे पदों पर, जहाँ तक भी हो सके, अंग्रेजों को ही रक्खा जाय। लार्ड कार्नवालिस के समय से ही उनका यह विचार रहा कि ऊंचे ऊंचे सरकारी पद सम्भालने की समुचित योग्यता भारतवासियों में नहीं है। जब ऊंचे पदों पर भारतवासियों को नियुक्त किया भी जाने लगा तो भारतीयकरण की गति बहुत धीमी रक्खी गई। हाँ, कुछ ऐसे उदारचित्त अंग्रेज भी थे जिन्हें कि यह देखकर खेद होता था कि भारतवासियों को अपने ही देश के शासन में कोई भाग नहीं लेने दिया जाता। उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए सर टॉमस मुनरो को इस बात का बड़ा दुख था कि अंग्रेज़ों ने भारतवासियों को अपने देश के प्रशासन से इतना पूर्णरूपेण वंचित कर दिया जितना कि कभी भी किसी विजेता देश ने पराजित देश को नहीं किया।

१९१९ के भारत सरकार अधिनियम के बनने तक भारत में सरकारी नौकरियों के भारतीयकरण की गति अत्यन्त धीमी रही। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, १८७० से १९१४ तक के ४४ वर्ष के काल में इण्डियन सिविल सर्विस में भारत मंत्री द्वारा केवल १७ भारतीय नियुक्त किये गये। *मॉन्ट-फोर्ड सुधारों* में इस गति को कुछ तीव्र किया गया, किन्तु उससे भारतीय राजनीतिज्ञ सन्तुष्ट नहीं हो सके। अंग्रेज़ों की इस पक्षपातपूर्ण नीति के दुष्परिणाम हम आज तक भुगत रहे हैं; आज भी हमारे देश में काफी प्रशासकीय अनुभव तथा दक्षता नहीं है। हम आशा करते हैं कि समय गुज़रने पर इस स्थिति में कुछ सुधार होगा।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्थापिका का विकास

विषय प्रवेश :— यद्यपि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के विकास का वर्णन हम यथास्थान बड़े विस्तार से कर चुके हैं, तथापि उसकी मुख्य विशेषताओं का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ देना अनावश्यक न होगा।

प्रारम्भिक अवस्था में स्वतंत्र व्यवस्थापिका का अभाव :— भारत में कम्पनी के शासन की प्रारंभिक अवस्था में कोई अलग व्यवस्थापिक अंग नहीं था; उस समय कार्यपालिका को ही अपना कार्य चलाने के लिये नियम बनाने का अधिकार था, जैसा कि सभी निरंकुश शासनों के अन्तर्गत होता है। यह स्थिति १८५३ के चार्टर एक्ट तक रही जिसमें कि प्रथम बार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के कार्यों में विभेद किया गया और विधि निर्माण के लिये एक विशेष प्रक्रिया रक्खी गई। उससे २० वर्ष पहिले १८३३ के चार्टर द्वारा विधेयकों का मसविदा तय्यार करने में सहायता देने के लिये गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में एक विधि सदस्य (Law Member) रक्खा गया। इस विधि सदस्य की नियुक्ति को भारत सरकार के व्यवस्थापिक अंग की आधारशिला समझा जा सकता है। परन्तु उसकी नियुक्ति से सरकार के व्यवस्थापिक तथा कार्यपालिक कार्यों में कोई विभेद नहीं हुआ; विधि निर्माण कार्यकारिणी का ही एक कार्य बना रहा।

व्यवस्थापिका का विकास :— व्यवस्थापिका का जन्म होता हुआ हमें उस समय दिखाई पड़ता है जब कि १८५३ के चार्टर एक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में विधि निर्माण के लिये छः मनोनीत सदस्य बढ़ाये गये जिनमें से चार विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधि थे।

दूसरा क़दम १८६१ के भारतीय परिषद् अधिनियम में बढ़ाया गया। यह दो कारणों से प्रसिद्ध है :— (१) इसके द्वारा प्रथम बार ग़ैर-सरकारी भारतीय जनमत को विधि-निर्माण के कार्य से सम्बद्ध किया गया, यद्यपि भारतीय सदस्यों को गवर्नर जनरल मनोनीत करता था। उनकी संख्या कम से कम छः और अधिक से अधिक १२ हो सकती थी; उनकी अवधि दो वर्ष होती थी। (२) इसके द्वारा बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को विधि-निर्माण की वह शक्ति फिर से दे दी गई जो कि १८३३ के अधिनियम द्वारा उनसे छीन ली गई थी। विधि-निर्माण के कार्य के लिये बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों की कार्यकारिणियों में भी कुछ सरकारी और ग़ैर-सरकारी सदस्य और बढ़ा दिये गये।

इस दिशा में १८९२ के भारतीय परिषद् अधिनियम द्वारा जो प्रगति हुई उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्व भली भांति समझने के लिये हमें यह याद रखना चाहिये कि १८६१ के अधिनियम के अन्तर्गत जो परिषद् (Councils) स्थापित हुई थीं वे केवल विधायिनी समितियाँ मात्र थीं जिनका एकमात्र उद्देश्य विधि-निर्माण के कार्य में कार्यकारिणी को परामर्श तथा सहायता देना था। नीति निर्माण सम्बन्धी उनका कोई कार्य न था; वे न तो कोई प्रश्न पूछ सकती थीं और न सरकार की कोई आलोचना कर सकती थीं। १८९२ के अधिनियम में उससे पहिले की स्थिति में दो बातों में सुधार किया गया:— (१) एक तो यह कि परिषद्ों को प्रश्न पूछने तथा बजट पर बहस करने (किन्तु वोट देने का नहीं) का अधिकार देकर इसने उन्हें केवल विधायिनी समितियों की अपेक्षा कुछ अधिक बना दिया; वे एक हद तक नीति निर्माण सम्बन्धी सभायें बन गईं। (२) इसमें निर्वाचन सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता प्रदान की गई। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय परिषदों की सदस्य संख्या में कुछ वृद्धि कर दी गई।

१९०९ के भारतीय परिषद् अधिनियम में प्रगति की ओर और बड़ा क़दम उठाया गया। परिषद्ों की सदस्य संख्या में ही न केवल काफी वृद्धि की गई, बल्कि प्रत्येक प्रान्तीय परिषद् में ग़ैर-सरकारी (मनोनीत तथा निर्वाचित) सदस्यों का बहुमत कर दिया गया। किन्तु केन्द्र में सरकारी बहुमत को ही क़ायम रक्खा गया। परिषद्ों की शक्तियों में बहुत वृद्धि कर दी गई; उन्हें बजट पर बहस करने, उसके ऊपर प्रस्ताव पेश करने और उन पर सदन को विभक्त करने का अधिकार दे दिया गया। वे सामान्य सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों पर प्रस्ताव पेश कर सकती थीं और उन पर वोट दे सकती थीं। मूल प्रश्न पूछने वाले सदस्य को एक पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। इन सब का अर्थ यह था कि परिषदों को सरकार की विधायिनी समितियां मात्र समझने की पुरानी धारणा का परित्याग कर दिया गया था; उन्हें अब नीति पर विचार करने वाले निकाय (Bodies) बनाया जा रहा था। परन्तु इन समस्त नव-प्राप्त शक्तियों और कार्यों के बावजूद वे संसद नहीं बन पाईं; कार्यकारिणी को वे अपने प्रति उत्तरदायी नहीं बना सकती थीं; कार्यकारिणी पूर्ववत् निरंकुश और अनुत्तरदायी बनी रही।

१९१९ के अधिनियम द्वारा नवीन तत्त्व का प्रवेश:— १८८६ में लार्ड डफ़रिन द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त कि परिषदों को भारतीय जनमत का अधिकाधिक प्रतिनिधि तो बनाया जाय किन्तु उन्हें कार्यकारिणी पर नियन्त्रण करने का कोई अधिकार न दिया जाय, के विकास की अंतिम अवस्था १९०९ के अधिनियम में मिलती है। समस्त शक्तियां कार्यकारिणी के हाथों में रक्खी गईं। उस सिद्धान्त के आधार पर और अधिक प्रगति अब नहीं हो सकती थी। प्रान्तीय क्षेत्र में एक हद तक उत्तरदायी शासन के सिद्धांत को अपना कर १९१९ के भारत सरकार अधिनियम ने एकदम एक नवीन आधार तय्यार किया। इसमें केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं में निर्वाचित सदस्यों के बहुमत की व्यवस्था की गई और हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के लिए मंत्रियों को धारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभाओं के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। जहाँ तक कि हस्तान्तरित अर्द्ध भाग का सम्बन्ध था प्रान्तीय धारा सभाओं ने संसद का स्वरूप ग्रहण कर लिया। किन्तु केन्द्र में कार्यकारिणी पूर्ववत् ही अनुत्तरदायी बनी रही। केन्द्रीय धारा सभा की शक्तियों में काफ़ी वृद्धि की गई; यह एक नीति-विचारक निकाय बन गया जिसका कि वित्त पर सीमित अधिकार था। परन्तु यह कार्यकारिणी को केवल प्रभावित कर सकती थी, नियन्त्रित बिल्कुल नहीं। इस अधिनियम में द्वि-आगारिक व्यवस्थापिका के सिद्धान्त को अपनाया गया; केन्द्रीय व्यवस्थापिका में दो सदन रक्खे गये: व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) तथा राज्य परिषद (Council of State)।

१९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रगति:— इस दिशा में १९३५ का भारत सरकार अधिनियम एक अगले युग का प्रवर्तन करता है। इसके द्वारा सरकारी सदस्यों का पूर्ण रूप से विलोप हो गया; प्रान्तीय धारा सभाओं के समस्त सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से और पहिले की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक मताधिकार के आधार पर होने लगा, और सम्पूर्ण कार्यपालिका को विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। केन्द्र में भी मंत्रियों को संघीय सभा के प्रति उत्तरदायी बनाने की व्यवस्था की गई। परन्तु इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिये कि गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व तथा विवेकात्मक शक्तियों ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं की शक्तियों को काफी हद तक कम कर दिया था। दूसरे शब्दों में १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भी उत्तरदायी शासन के आदर्श की पूर्ण रूप से प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि कार्यकारिणी पर लोकप्रिय व्यवस्थापिका का नियन्त्रण सीमित ही था। इस अधिनियम में द्वि-आगारवाद के सिद्धान्त को कुछ प्रान्तों के लिए भी अपनाया गया।

इस प्रसंग में हमें यह सदैव याद रखना चाहिये कि १८६१, १८९२ तथा १९०९ के अधिनियमों के अन्तर्गत स्थापित व्यवस्थापिकाओं की तो ख़ैर बात ही छोड़िये, १९१९ और १९३५ के अधीन भी धारा सभायें संप्रभुतासम्पन्न नहीं थीं। उन्हें कोई संविधान सम्बन्धी अधिकार प्राप्त न थे; संविधान में संशोधन करने का अधिकार ब्रिटिश संसद को था। उनके द्वारा पारित विधियों को गवर्नर जनरल, अथवा गवर्नर, तथा सम्राट् भी रद्द कर सकता था। उनकी विधि-निर्माण शक्तियां भी कई बातों से सीमित थीं। इन सब की तफ़सील में जाना यहां आवश्यक नहीं है।

धीरे धीरे निर्वाचन सिद्धान्त अपनाया गया। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, इसे १८९२ के अधिनियम द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से और १९०९ के अधिनियम द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपनाया गया। परन्तु कुछ विशेष प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों (मुसलमानों तथा व्यापार संघों इत्यादि के लिए) को छोड़ कर १९०९ के अधिनियम के अन्तर्गत भी निर्वाचन अप्रत्यक्ष ही था। सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों के लिए निर्वाचन को प्रत्यक्ष सर्व प्रथम बार १९१९ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत बनाया गया। मताधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कई बातों से सीमित था; यह सम्पत्ति तथा शिक्षा की योग्यताओं पर आधारित था। १९३५ के अधिनियम ने मताधिकार को बहुत व्यापक बना दिया; इसने स्त्रियों को भी मताधिकार प्रदान कर दिया, परन्तु सर्वव्यापी वह अभी नहीं बन पाया। सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार तो केवल तभी आया जबकि भारत स्वाधीन हो गया।

व्यवस्थापिका के विकास की एक विलक्षण विशेषता :— अन्त में हम भारत में व्यवस्थापिका के विकास की एक विलक्षण विशेषता का उल्लेख करेंगे। व्यवस्थापिका की शक्तियों के बढ़ने के साथ ही साथ गवर्नर जनरल की शक्तियों में भी वृद्धि हुई। यह उस सिद्धान्त का एक आवश्यक परिणाम था जिस पर कि ब्रिटिश नीति उस समय से आधारित थी जबकि शासन कार्य में भारतवासियों को भाग देने का निर्णय किया गया था। उस सिद्धान्त का प्रतिपादन १८८६ में लार्ड डफ़रिन ने इन शब्दों में किया था : "यदि हमने देश के सर्वोच्च प्रशासन पर अपने नियन्त्रण को तनिक भी ढीला हो जाने दिया तो वह हमारी एक बड़ी भारी भूल होगी। यदि हम इस सिद्धान्त पर अटल रहे और अपने साम्राज्यवादी उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह करते रहे तो हम भारत में अपने अपने प्रान्तों के शासन कार्य में पहिले की अपेक्षा अधिक भाग लेने के इच्छुक शिक्षित वर्गों की उचित तथा प्रशासनीय आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकेंगे।"

इस बात के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं। जब १८५३ में यह निर्णय किया गया कि विधि निर्माण के उद्देश्य के लिए गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में छः अधिकारी मनोनीत करके उसे कुछ विस्तृत किया जाय तो गवर्नर जनरल को आपत्काल में अपनी परिषद् से परामर्श किये बिना ही अध्यादेश जारी करने का अधिकार दे दिया गया। जब १८६१ के अधिनियम के द्वारा मनोनीत ग़ैर सरकारी सदस्यों को विधि-निर्माण के कार्य से सम्बद्ध किया गया तो कुछ मामलों में विधेयकों के पेश करने के लिये गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक बना दी गई और गवर्नर जनरल को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के क़ानूनों को रद्द करने का अधिकार दे दिया गया। १८९२ के अधिनियम ने, जिसने कि व्यवस्थापिका के सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार दिया, गवर्नर जनरल (प्रान्तीय गवर्नरों को भी) को उन्हें रोक देने की शक्ति भी प्रदान कर दी। १९०९ के अधिनियम में निर्वाचन सिद्धान्त को अपनाया गया, किन्तु साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलों को ला कर और निर्वाचन को अप्रत्यक्ष तथा कुछ मामलों में दोहरा अप्रत्यक्ष बनाकर निर्वाचन सिद्धान्त के महत्त्व तथा मूल्य को प्रायः नष्ट कर दिया गया। धारासभाओं में प्रस्ताव पेश हो सकते थे और उन पर मतदान भी हो सकता था, किन्तु उनके प्रस्ताव सिफ़ारिश मात्र होते थे जिन्हें कि कार्यकारिणी अपनी इच्छा से तिरस्कृत कर सकती थी। जैसा कि पहिले बार बार कहा जा चुका है, धारासभाओं की रचना तथा उनके कार्यों के दृष्टिकोण से उन्हें कुछ लोकतन्त्री बनाने की चेष्टा तो अवश्य की गई, किन्तु शासन पूर्ववत् ही निरंकुश बना रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९१९ से आगे भी हम ऐसा ही नाटक देखते हैं। *मॉन्ट-फ़ोर्ड सुधारों* में प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन स्थापित किया गया, किन्तु गवर्नरों के हाथों में इतनी शक्तियाँ रख दी गईं कि वे लोकप्रिय मंत्रियों के ऊपर अपनी इच्छा थोप सकें। गवर्नर धारासभा द्वारा तिरस्कृत विधेयकों को पास कर सकता था, उसके द्वारा ठुकराये हुए अनुदानों को स्वीकार कर सकता था। यह सब कुछ तथा और बहुत कुछ गवर्नर अपने विशेष उत्तरदायित्व के नाम पर कर सकता था। केन्द्र में भी गवर्नर जनरल को इसी प्रकार की शक्तियां दी गईं। वहाँ पर व्यवस्थापिका सभा में तो निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रक्खा गया किन्तु उसके महत्त्व को एक वर्गतन्त्री तथा रूढ़िवादी राज्य परिषद् (जिसकी शक्तियाँ सभा के समान ही थीं) ने काफी हद तक नष्ट कर दिया। गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त वह 'गवर्नर जनरल के अधिनियम' भी बना सकता था। १९३५ के अधिनियम में गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को विशेष उत्तरदायित्व तथा विवेक सम्बन्धी इतनी शक्तियाँ दी गई थीं कि प्रान्तीय स्वायत्त तथा केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व की बात एक ढोंग बनकर रह गई थी।

इस सब से यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है कि जब जब भी धारासभाओं के लोकतन्त्रीकरण की दिशा में कोई क़दम उठाया गया तभी साम्राज्य के हितों को सुरक्षित रखने के लिये गवर्नर जनरल तथा गवर्नर की शक्तियों को और बढ़ा दिया गया।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२२

भारतीय राज्य

विषय प्रवेश :— भारत संसार में एक सब से अधिक सुगठित भौगोलिक इकाई है; यहाँ एक गहरी और आधारभूत सांस्कृतिक एकता भी पाई जाती है, तथापि राजनीतिक रूप से भारत कदाचित् ही कभी एक रहा हो। वह प्रायः सदैव अगणित स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त रहा है। अशोक तथा समुद्रगुप्त सरीखे महान् सम्राटों के अधीन भी 'स्वायत्त राज्यों की विविधता एक साम्राज्य को एक बहुरंगी चित्र बनाती थी। सम्राट इन शासकों के ऊपर प्रभुता रखने का दावा करता था जोकि उसके प्रति भक्ति रखते थे; अपनी विदेश नीति को उसकी कूटनीतिक चालों के अधीन रखते थे; साधारणतया युद्ध में उसकी सहायता करते थे, और उसे नज़राना भेंट करते थे; किन्तु अन्य बातों में वे अपनी सम्प्रभुता बनाये रखते थे। जब कभी सम्राट की सत्ता कमज़ोर पड़ जाती थी तो अधीनस्थ शासक अपनी स्वाधीनता का दावा करने लगते थे।'*

औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् फिर से वही कहानी दोहराई गई। मुग़ल सूबेदारों और अधीनस्थ शासकों ने अपनी स्वाधीनता का दावा करना आरंभ कर दिया और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा रखने वाले लोग द्रुतगति से विघटित होते हुए मुग़ल साम्राज्य को काट काट कर अपने लिए स्वाधीन राज्य बनाने लगे। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में सत्ता प्राप्त की और उसने अपनी स्थिति को दृढ़ करना आरंभ किया तो उसे बहुत से राजाओं और नवाबों से व्यवहार करना पड़ा। इसने धीरे धीरे उन पर अपना आधिपत्य जमा लिया और जब १८५८ में सत्ता ब्रिटिश क्राउन के हाथों में आई तो उस समय तक भारत का लगभग दो तिहाई चित्र लाल रंग से रंजित हो चुका था। शेष (फ्रांस तथा पुर्तगाल के अधीन कुछ छोटे मोटे क्षेत्रों के अतिरिक्त) पीले रंग में रंगा होता था जोकि उन प्रदेशों को सूचित करता था जोकि भारतीय नरेशों के अधिकार में थे। ये प्रदेश ब्रिटिश भारत का भाग नहीं थे और इनके निवासी ब्रिटिश प्रजा नहीं थे, यद्यपि इनके शासक स्वयं ब्रिटिश सम्राट के अधीन थे। यहाँ पर हमें यह याद रखना चाहिये कि भारत का यह पीला भाग जिसे कि कभी कभी *'भारतीय भारत'* कह कर पुकारा गया है एक प्रशासकीय इकाई नहीं था। यह सैंकड़ों विभिन्न प्रकार के राज्यों का एक विलक्षण समूह था जिसमें से कुछ बड़े थे किन्तु अधिकतर बहुत छोटे थे, कुछ आधुनिक थे किन्तु अधिकतर सामन्तवादी थे, कुछ उदार थे किन्तु अधिकतर निरंकुशवादी थे।

* वी० पी० मेनन : Integration of Indian States, पृष्ठ १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९४७ में भारत स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् *ब्रिटिश भारत* और *भारतीय भारत* का विभेद समाप्त हो गया, और कन्या कुमारी से लेकर काश्मीर तक तथा आसाम से लेकर काठियावाड़ तक (पाकिस्तान को छोड़ कर) सम्पूर्ण देश एक राजनीतिक इकाई बन गया और उसमें एक सर्वोच्च सत्ता स्थापित हो गई। राज्यों के एकीकरण की कहानी का उल्लेख इस अध्याय के अन्त में किया जायेगा। पहिले तो हम उन सम्बन्धों पर विचार करेंगे जो कि ब्रिटिश शासन के प्रारंभ से लेकर १९४७ में उसके अन्त तक ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय नरेशों में रहे।

भारतीय राज्यों तथा कम्पनी के बीच सम्बन्ध :— ब्रिटिश शासन काल में यह सम्बन्ध सदैव एकसा नहीं रहा; अंग्रेज़ों की राजनीतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि के साथ साथ इसमें परिवर्तन होता रहा। सर विलियम ली वार्नर के अनुसार इस सम्बन्ध की तीन अवस्थायें रही हैं। प्रथम, रिंग-फ़ेन्स नीति; दूसरी, अधीनस्थ मैत्री; तथा तीसरी, सर्वोच्च सत्ता। यहाँ पर हम इन तीनों के विषय में दो शब्द कहेंगे।

रिंग-फ़ेन्स नीति (Ring-Fence Policy) :— अपने राजनीतिक जीवन के आरंभ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी बहुत शक्तिशाली नहीं थी; शक्तिशाली मराठों अथवा निज़ाम पर वह अपना वैसा प्रभुत्व न जमा सकी जैसा कि उसने बंगाल के कठपुतली नवाब पर जमा लिया था; वह उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। जब कभी उसे किसी स्वतन्त्र शासन से संधि करनी पड़ती थी तो ऐसा वह समानता के आधार पर ही कर सकती थी। परन्तु अपनी तटस्थता की नीति के बावजूद कम्पनी भारतीय राज्यों से समय पड़ने पर युद्ध करती थी और उनसे प्रदेश छीन लेती थी। यह नीति वेलज़ली तथा हेस्टिंग्स सरीखे साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्तियों के उद्देश्य के अनुकूल न थी, इसलिये इसका परित्याग कर दिया गया और इसके स्थान में *अधीनस्थ मैत्री* की नीति अपनाई गई।

अधीनस्थ मैत्री (Subsidiary Alliance) **की नीति** :— यह विश्वास करते हुए कि एक न एक दिन भारत में अंग्रेज़ों की सर्वोच्च सत्ता स्थापित अवश्य होगी, लार्ड वेलज़ली ने *कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स* के इस आदेश को कि उसे भारतीय शासकों से नहीं उलझना चाहिये चुपचाप ताक पर उठा कर रख दिया और वह अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये प्रयास करने लगा। उसने भारतीय राज्यों के साथ अधीनस्थ मैत्री संधियां करनी आरंभ कीं। इस प्रकार की संधि करने वाले राज्य को यह बात माननी होती थी कि वह कम्पनी को सूचित किये बिना और उसकी अनुमति के बिना अन्य किसी राज्य से न तो युद्ध करेगा और न कोई संधि वार्ता। जो राज्य कुछ बड़े थे उनको ब्रिटिश अफ़सरों की कमान में सेना रखनी होती थी और उनके शासकों को ऐसा सेनाओं के प्रतिपोषण के लिए कुछ प्रदेशों का परित्याग करना होता था। छोटे राज्यों के लिए कम्पनी को नज़राना देना आवश्यक था। बदले में कम्पनी ऐसे राज्यों की बाह्य आक्रमण तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंतरिक विद्रोह से रक्षा करने का वचन देती थी। कम्पनी के साथ इस प्रकार की संधि करने वाले प्रत्येक बड़े राज्य में एक ब्रिटिश रेज़ीडेन्ट होता था।

इस प्रणाली से कम्पनी को संधि करने वाले राज्यों पर बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त हो गया। इससे गवर्नर-जनरल को प्रत्येक ऐसे राज्य में सचमुच न रहते हुए भी उपस्थित रहने (अपने रेज़ीडेन्ट द्वारा) का अवसर मिल गया; इससे कम्पनी के प्रति राज्य के शासक की भक्ति निश्चित रूप से पक्की हो गई। इससे भी बढ़कर बात यह कि इससे कम्पनी को महत्त्वपूर्ण स्थानों पर बिना ही किसी व्यय के अपनी सेनाएँ रखने का अधिकार प्राप्त हो गया। लार्ड हेस्टिंग्स ने इस नीति को और विकसित किया और प्रायः समस्त राज्यों को इसके चंगुल में फंसा लिया। 'जिस समय १८२३ में वह भारत से गया तो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण हो चुका था और उसके चित्र की आधारभूत रेखायें खींची जा चुकी थी। पंजाब तथा सिंध को छोड़कर भारत के प्रत्येक राज्य पर कम्पनी का आधिपत्य था। अपनी राजकीय मुहर में गवर्नर-जनरल अब मुग़ल साम्राज्य का सेवक नहीं था; मुग़ल शासन की काल्पनिक सत्ता भी समाप्त हो गई थी; अब उसके स्थान पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य खड़ा था।'*

इस संधि के करने वाले राज्यों के न केवल पर-राष्ट्र सम्बन्धों पर कम्पनी का अधिकार हो जाता था, बल्कि उनके आन्तरिक प्रशासन पर भी उसका ज़बर्दस्त प्रभाव स्थापित हो जाता था, यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से कम्पनी कुछ गम्भीर स्थितियों के अतिरिक्त आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का दावा नहीं करती थी। कम्पनी के जो रेज़ीडेन्ट राज्यों में रहते थे वे केवल एक विदेश के कूटनीतिक प्रतिनिधि ही नहीं थे, उन्होंने धीरे धीरे एक उच्चतर सत्ता के कार्यपालिक और नियन्त्रण करने वाले अधिकारियों का रूप ग्रहण कर लिया था। उनके दम्भ और अभिमान का एक उदाहरण हमें कर्नल मैकाले के उन शब्दों में मिलती है जोकि उसने कोचीन के राजा को वहाँ की राजधानी को जाते समय लिखे थे। उसने लिखा : "रेज़ीडेन्ट को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि उसके कोचीन के निकट पहुँचने पर राजा उसके आगमन की प्रतीक्षा करेगा।" यह मैत्री संधि आगे चलकर सर्वोच्च सत्ता में बदल गई।

अधीनस्थ मैत्री संधि की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसने इसे स्वीकार करने वाले राज्यों को एक दूसरे से अलग थलग कर दिया। उनमें से कोई भी दूसरे राज्य के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रख सकता था। उनके एक जगह मिलकर किसी सामान्य नीति के अपनाने की कोई सम्भावना नहीं रही। इसीलिए इस प्रणाली को कभी कभी *अधीनस्थ पार्थक्य* (Subordinate isolation) की नीति कहकर पुकारा गया है।

तीसरी बात यह कि कम्पनी तथा नरेशों के बीच इन संधियों में बड़ी विविधता

* वी. पी. मेनन : Integration of the Indian States, पृष्ठ ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाई जाती थी, अर्थात् भिन्न भिन्न नरेशों के साथ भिन्न भिन्न प्रकार की संधियाँ की जाती थीं और उनकी भाषा में भी बड़ी संगतिहीनता पाई जाती थी। बड़ौदा, मैसूर तथा अवध के साथ जो संधियाँ की गईं उनके द्वारा कम्पनी को उनके विदेशी सम्बन्धों पर नियन्त्रण के अतिरिक्त उनके आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने का बड़ा व्यापक अधिकार प्राप्त हो गया। राजपूत राजाओं के साथ जो संधियां हुईं उनके द्वारा कम्पनी को उनके विदेशी सम्बन्धों तथा युद्ध की अवस्था में उनके साधनों पर अधिकार मिला, किन्तु अपने अपने प्रदेशों में राजागण पूर्णरूप से स्वतन्त्र बने रहे। आरम्भ में जो संधियाँ हुईं वे न्यूनाधिक समानता के आधार पर हुईं, किन्तु बाद की संधियों में भारतीय राज्यों को हीन स्थिति स्वीकार करनी पड़ी। इसका उदाहरण है निज़ाम हैदराबाद के साथ संधि। स्वतन्त्र राज्यों के बीच जो संधियाँ होती हैं उनका उद्देश्य साधारणतया अतीत अथवा वर्त्तमान की किसी समस्या को सुलझाना होता है, किन्तु कम्पनी और भारतीय नरेशों के बीच जो संधियाँ हुईं उनके द्वारा तो एक नवीन स्थिति उत्पन्न होती थी और नरेशों को उनके भावी आचरण के विषय में कुछ शर्तों से जकड़ दिया जाता था।

इस काल में कम्पनी तथा भारतीय नरेशों के बीच सम्बन्धों के विषय में एक अन्य बात भी उल्लेखनीय है। संधि प्रणाली के द्वारा कम्पनी को जो अधिकार मिले और भारतीय राज्यों के ऊपर जो कर्त्तव्य थोपे गये, उनके अतिरिक्त उत्तराधिकार तथा आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी कुछ ऐसी नज़ीरें (Precedents) क़ायम हो गईं जिनके पीछे कोई क़ानूनी शक्ति न होते हुए भी उन्हें केवल इसलिये मानना पड़ता था क्योंकि कम्पनी के पास शक्ति थी और भारतीय राज्य उसके सामने निर्बल और विवश थे। कम्पनी की बढ़ती हुई शक्ति और विवश होकर राज्यों के उन नज़ीरों का अनुसरण करने का परिणाम यह हुआ कि मैत्री का सम्बन्ध राज्यों की पराधीनता और सहयोग का सम्बन्ध अंग्रेज़ों की सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) में बदल गया। इस प्रकार का सम्बन्ध कम्पनी के शासन काल से ही स्थापित होने लगा था; १८५८ में भारत का शासन कम्पनी के हाथों से निकल कर 'क्राउन' के पास चले जाने से यह पूर्णरूप से स्थापित हो गया, विशेष रूप से १८७६ में महारानी विक्टोरिया द्वारा सम्राज्ञी (Empress) की उपाधि धारण करने के उपरान्त तो यह सम्बन्ध और भी दृढ़ और स्पष्ट हो गया। इस के फलस्वरूप भारतीय नरेश, जो कि अठारहवीं शताब्दी में वैधानिक रूप से पराधीन होते हुए भी व्यवहार में संप्रभुतासम्पन्न थे, वास्तव में पराधीन हो गये, यद्यपि कुछ संधियों में उन की वैधानिक संप्रभुता को स्वीकार किया गया था।

क्राउन तथा भारतीय राज्य (रियासत):— भारत के शासन का उत्तरदायित्व क्राउन द्वारा ग्रहण कर लेने पर राज्यों के प्रति भारत सरकार की नीति में एक बात में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। पंजाब में पटियाला, जीन्द तथा नाभा की रियासतों ने, मध्य भारत में ग्वालियर ने, और दक्षिण में हैदराबाद ने अंग्रेज़ों की जो सहायता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे देख कर ब्रिटिश शासक यह अनुभव करने लगे कि रियासतें भारत में ब्रिटिश राज्य के दृढ़ स्तम्भ सिद्ध हो सकती हैं। लार्ड केनिंग ने रियासतों को ब्रिटिश शासन के अस्तित्व के लिये आवश्यक बतलाया। रियासतों को विजय करके ब्रिटिश अधिकार में लाने की जिस नीति का लार्ड डलहौज़ी ने इतनी स्फूर्ति और कुशलता के साथ पालन किया थी, उसका परित्याग कर दिया गया। उसके स्थान में १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने अपनी सुविख्यात प्रतिघोषणा में रियासतों के अस्तित्व, अधिकारों तथा गौरव की रक्षा करने की नीति घोषित की। यहाँ पर उस प्रतिघोषणा के शब्दों को उद्धृत करना अनावश्यक न होगा :—

"हमें अपने साम्राज्य की वर्त्तमान सीमाओं को और विस्तृत करने की कोई इच्छा नहीं है; और जबकि हम अधीनस्थ प्रदेशों पर कोई आक्रमण सहन नहीं करेंगे, हम दूसरों की भूमि पर भी किसी आक्रमण को स्वीकृति प्रदान नहीं करेंगे। हम देशी नरेशों के अधिकारों, प्रतिष्ठा तथा गौरव का उतना ही सम्मान करेंगे जितना कि हम स्वयं अपने का करते हैं; और हम चाहते हैं कि उन्हें तथा हमारे प्रजाजन को वह समृद्धि तथा सामाजिक सम्पन्नता प्राप्त हो जो कि आन्तरिक शांति तथा सुशासन के वातावरण में ही पनप सकती हैं।"

यह एक महान् निर्णय था। इस का अर्थ यह था कि भारतीय रियासतों को सदा के लिये भारत का एक अभिन्न अंग मान लिया गया, और उन्हें क्षणिक इकाइयां समझने तथा धीरे धीरे उन्हें समाप्त करने की कोई इच्छा नहीं रही। महारानी के इस आश्वासन को पूरा करने के लिए दो क़दम उठाये गये। गवर्नर जनरल ने बहुत सी सनद जारी कीं जिनके द्वारा हिन्दु राजाओं को यह सूचना दी गई कि वे जन्मजात उत्तराधिकारी के अभाव में पुत्र को गोद ले सकते हैं, और मुसलमान शासकों को सूचित किया गया कि उत्तराधिकार मुस्लिम क़ानून के अनुसार माना जायेगा। इस प्रकार उस 'डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स' (Doctrine of Lapse) का परित्याग कर दिया गया जिसके द्वारा लार्ड डलहौज़ी ने झाँसी, सतारा, नागपुर, सम्बलपुर तथा अन्य राज्यों को ब्रिटिश शासन में मिला लिया था। दूसरे उन समस्त संधियों को जो कि विभिन्न नरेशों के साथ कम्पनी ने की थीं एकदम एक साथ सम्पुष्टि प्रदान कर दी गई। इस का एक दुष्परिणाम निकला। इससे वे समस्त अस्पष्टतायें और असंगतियां बनी रह गईं जो कि दूर कर देनी चाहिये थीं।

सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy):— परन्तु संधियों का पालन करने तथा नरेशों के अधिकारों और प्रतिष्ठा का सम्मान करने के वचन के बावजूद वे दिन प्रतिदिन सर्वोच्च सत्ता अर्थात् अंग्रेज़ी शासन के अधिकाधिक अधीन होते गये। रियासतों पर नियन्त्रण करने के लिए सर्वोच्च सत्ता (Paramount Power) अधिकाधिक अधिकारों का दावा करने लगी। उन में से एक अधिकार था जन्मजात उत्तराधिकारियों के मामले में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तराधिकार को मान्यता प्रदान करना। मध्य प्रान्त के चीफ़ कमिश्नर को लिखे गये एक पत्र में भारत सरकार ने यह दावा किया कि 'एक देशी रियासत में उत्तराधिकार तब तक अवैध है जब तक कि किसी न किसी रूप में ब्रिटिश सत्ता की स्वीकृति उसे प्राप्त न हो जाय।' एक विवादग्रस्त उत्तराधिकार का निर्णय करना सर्वोच्च सत्ता का अधिकार तथा कर्त्तव्य था। इस का अर्थ यह हुआ कि एक रियासत के शासक को राजसिंहासन उसके अधिकार के रूप में नहीं मिलता था; वह ब्रिटिश शासन की ओर से एक उपहार होता था। इससे रियासत के शासक ब्रिटिश शासन के और भी अधिक अधीन हो गये। अवयस्क शासकों के अभिभावक बन जाने का अधिकार तो इस में सम्मिलित ही था।

दूसरे, सर्वोच्च सत्ता ने शासन में गम्भीर अव्यवस्था की स्थिति में रियासतों के आन्तरिक प्रशासन में भी हस्तक्षेप करने के अधिकार का दावा करना आरम्भ कर दिया। लार्ड केनिंग ने नरेशों को यह स्पष्ट रूप से बता दिया कि यदि उनके राज्यों में कोई गम्भीर अव्यवस्था और अराजकता फैली तो ब्रिटिश सरकार अवश्य उसमें हस्तक्षेप करेगी। इससे कुछ पहिले १८५८ में उसने यह घोषणा की थी: "इङ्गलैंड का क्राउन समूचे भारत में निर्विवाद शासक तथा सर्वोच्च सत्ता है। ..... इङ्गलैंड की प्रभुता में एक वास्तविकता है जो कि पहिले कभी नहीं थी और जो कि नरेशों द्वारा न केवल महसूस की जाती है बल्कि उत्सुकतापूर्वक स्वीकार भी की जाती है।" नवम्बर, १९०९ में एक व्याख्यान देते हुए लॉर्ड मिन्टो ने सर्वोच्च सत्ता तथा भारतीय रियासतों के बीच सम्बन्धों का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया था:—

"हमारी नीति यह है कि हम देशी रियासतों के आन्तरिक मामलों में, अपवादस्वरूप कुछ बहुत थोड़ी सी स्थितियों को छोड़ कर, हस्तक्षेप न करें। परन्तु उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता का आश्वासन देने और बाह्य आक्रमण से उनकी रक्षा करने के उत्तरदायित्व का भार वहन करने के स्वाभाविक परिणामस्वरूप हमारा यह भी उत्तरदायित्व है कि हम यह ध्यान रक्खें कि उनका प्रशासन कुशलतापूर्वक चलाया जाय। हम नहीं चाहते कि हम पर कुशासन के अप्रत्यक्ष यन्त्र बनने का आरोप लगे। कुछ मामले, रेलवे, तार तथा अन्य साधन, ऐसे भी हैं जिनमें कि भारत सरकार के लिये संपूर्ण राष्ट्र तथा सर्वोच्च सत्ता, दोनों के हितों की रक्षा करना आवश्यक है परन्तु सर्वोच्च सरकार तथा रियासतों के बीच सम्बन्ध आधिपत्य (Suzerainty) का है।"

भारतीय रियासतों पर क्राउन के आधिपत्य का दावा सबसे अधिक ज़ोरदार शब्दों में लॉर्ड रीडिंग के उस पत्र में पाया जाता है जो कि उसने मार्च १९२७ में निज़ाम हैदराबाद को लिखा था। निज़ाम ने यह दावा किया था कि आन्तरिक मामलों में उसका राज्य उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश सरकार थी। इस दावे के उत्तर में लॉर्ड रीडिंग ने लिखा:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भारत में ब्रिटिश क्राउन की संप्रभुता सर्वोच्च है, इसलिये एक भारतीय राज्य का कोई भी शासक ब्रिटिश सरकार के साथ समानता के आधार पर वार्ता नहीं कर सकता। उसकी सर्वोच्चता केवल संधियों और समझौतों पर ही आधारित नहीं है, बल्कि वह उनसे सर्वथा स्वतन्त्र है, और विदेशी मामलों के क्षेत्र में अपने अधिकारों के अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार का यह भी अधिकार और कर्त्तव्य है कि वह भारतीय राज्यों के साथ की गई समस्त संधियों और समझौतों का सम्मान करने के साथ साथ सम्पूर्ण भारत में शांति तथा व्यवस्था क़ायम रक्खे। .....

"भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षप करने का अधिकार ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्च सत्ता का एक अन्य आवश्यक परिणाम है। ..... परन्तु भारतीय राजाओं की बाह्य सुरक्षा की भांति उनकी आन्तरिक सुरक्षा भी अन्ततोगत्वा ब्रिटिश सरकार की रक्षण शक्ति पर निर्भर करती है, और जहाँ साम्राज्य के हितों का सम्बन्ध है, अथवा किसी राज्य की जनता के सामान्य हितों को उसकी सरकार की ओर से कोई गम्भीर ख़तरा उत्पन्न होता है तो उसका निदान करने का अन्तिम उत्तरदायित्व सर्वोच्च सत्ता का होना चाहिये। विभिन्न परिमाण में जो आन्तरिक संप्रभुता राजाओं के पास है वह सर्वोच्च सत्ता द्वारा इस उत्तरदायित्व के उचित निर्वाह के अधीन है।"

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि केनिंग, मिन्टो तथा रीडिंग के मतानुसार अंगरेज़ों की सर्वोच्च सत्ता किसी संविदा पर आधारित नहीं थी, बल्कि 'उसे परिस्थितियों और नीति ने एक विशेष रूप दिया था; यह इतिहास, सिद्धान्त तथा आधुनिक तथ्य का एक सम्मिश्रण' था। इस शब्द (Paramountcy) की परिभाषा करना बड़ा कठिन है; *बटलर कमेटी* भी इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कह सकी कि *सर्वोच्च सत्ता* को सर्वोच्च रहना चाहिये, अर्थात् उसे आवश्यकतानुसार अपने व्यवहार तथा रवैये को निर्धारित करने के लिये पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहना चाहिये। सरदार के. एम. पणिक्कर के शब्दों में यह 'क्राउन' के, सामान्य तथा विशेष, दोनों प्रकार के उन अधिकारों का जटिल सम्मिश्रण थी, जो कि रियासतों की संप्रभुता को सीमित करते थे।"

विदेशी सम्बन्धों के क्षेत्र में भारतीय नरेशों का बिल्कुल कोई हाथ न था। उन्हें किसी भी देश से कूटनीतिक अथवा राजकीय सम्बन्ध रखने, युद्ध की घोषणा करने अथवा संधि करने, यहाँ तक कि किसी विदेशी उपाधि को प्राप्त करने का भी पूर्ण निषेध था। उनके कोई विदेशी सम्बन्ध ही नहीं थे। केवल इतना ही नहीं, भारतीय नरेश आपस में भी एक दूसरे से कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। उन्हें एक दूसरे से तथा शेष भारत से अलग रखने की नीति को बड़ी कठोरता के साथ क्रियान्वित किया जाता था। यदि रियासत का कोई प्रजाजन विदेश जाना चाहता था तो उसे भारत सरकार से पासपोर्ट प्राप्त करना होता था। विदेशी मामलों के क्षेत्र में सारा भारत एक ही था।

आन्तरिक प्रशासन के क्षेत्र में रियासतें सैद्धांतिक रूप से स्वतन्त्र थीं; वे अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छानुसार चाहे जैसे क़ानून बना सकती थीं, कर लगा सकती थीं और व्यय कर सकती थीं। किन्तु संप्रभुता के 'क्राउन' के पास आ जाने पर भारत सरकार इस क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करने लगी और भारतीय नरेशों के सामने झुकने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहा। सरकार उत्तराधिकार को मान्यता प्रदान करने और विवादग्रस्त मामलों में उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय करने, गोद को स्वीकृति देने, रियासतों के बीच झगड़ों का निर्णय करने, आन्तरिक विद्रोह को कुचलने, गम्भीर कुशासन को रोकने तथा नैतिकता के विद्रोही घोर अपराधों के रोकने के अधिकार का दावा करती थी। इन अधिकारों की मांग रियासतों के अपने ही हितों के नाम पर की जाती थी। ब्रिटिश प्रजाजन पर अधिकार क्षेत्र प्राप्त करने के लिये, ब्रिटिश सिक्कों की रक्षा के लिए और न्याय प्रणाली के समुचित संचालन में सहायता प्राप्त करने के लिये हस्तक्षेप करने के अधिकार की मांग सम्पूर्ण भारत के हितों के नाम पर की जाती थी। रेलवे और हवाई अड्डे बनाने, तथा छावनियाँ स्थापित करने के लिये भूमि प्राप्त करने के अधिकार और तार विभाग, नमक बनाने तथा शस्त्रों की बिक्री पर एकाधिकार रखने का दावा साम्राज्य के हितों में किया जाता था।

भारत के शासन का उत्तरदायित्व 'क्राउन' के हाथों में आजाने पर भारतीय रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया; बहुत से मामलों में तो ऐसा उग्र रूप धारण किया कि गम्भीर कुशासन के कारण रियासतों के कुछ शासकों को गद्दी छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। जब रियासत अलवर के राजपूत सरदारों ने अपने महाराज के विरुद्ध इसलिए विद्रोह किया क्योंकि वह एक मुस्लिम महिला से विवाह करना चाहता था तो ब्रिटिश सरकार ने विद्रोहियों का पक्ष लिया जिन्होंने कि एक 'शासन परिषद्' (Council of Regency) स्थापित कर दी। आगे चलकर जब महाराजा के विरुद्ध फिर विद्रोह हुआ तो गवर्नर जनरल ने राजा की सत्ता से भी ऊपर एक प्रबन्धक समिति स्थापित करदी। यह सब कुछ १८०३ की उस संधि के होते हुए हुआ जिसके अनुसार कम्पनी को रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये था। १८६५ में जबवा के राजा पर दस हज़ार रुपये का जुर्माना किया गया; १८६७ में टोंक के नवाब को गद्दी से उतार दिया गया, और १८९२ में क़लात के खान को इसलिये त्यागपत्र देने को विवश किया गया क्योंकि उसने अपने कोष में चोरी के अपराध में पाँच स्त्रियों और एक पुरुष की हत्या करा दी थी और दो अन्य पुरुषों का अत्यन्त पाशविक ढंग से अंगभंग करा दिया था। १८७५ में गम्भीर कुशासन के आधार पर बड़ौदा के मल्हार राव गायकवाड़ को गद्दी छोड़नी पड़ी थी। निकट भूत में नाभा, अलवर तथा इन्दौर के शासकों को सिंहासन का परित्याग करने के लिये विवश किया गया।

प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने के अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार रियासतों पर एक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा अधिक सूक्ष्म ढंग से अधिकार का प्रयोग करती थी। यह 'रेज़ीडेन्ट्स' अथवा 'पोलिटिकल एजेन्ट्स', जोकि बहुतसी रियासतों में रक्खे जाते थे, के द्वारा किया जाता था। छोटी छोटी रियासतों में वे खुल्लमखुल्ला राजाओं को अपने अधीन समझते थे। बड़ी रियासतों में और उन रियासतों में भी जिनमें कि सुयोग्य प्रशासक मौजूद थे, वे काफ़ी अधिकार रखते थे। शासकों के बीच मनमुटाव और द्वेषभाव को जान बूझ कर बनाये रक्खा जाता था।

सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) के इस सामान्य अथवा आधारभूत स्वरूप, जो कि समस्त रियासतों पर लागू होता था, के अतिरिक्त एक विशेष स्वरूप भी था जो कि विभिन्न राज्यों पर भिन्न भिन्न रूप और परिमाण में लागू होता था। कुछ रियासतों के साथ की हुई संधियों के अनुसार ब्रिटिश सरकार को शासक तथा उसके सामन्तों के बीच होने वाले झगड़ों में हस्तक्षेप करने का अधिकार था। पटियाला के महाराजा को जो सनद दी गई उसके अनुसार अपने राज्य में बाल हत्या, सती इत्यादि कुप्रथाओं को रोकना उसका कर्त्तव्य था। कुछ रियासतों में दीवान अर्थात् मुख्य मन्त्री की नियुक्ति के लिए सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी। कुछ रियासतों में मृत्यु दण्ड के लिये *सर्वोच्च सत्ता* की स्वीकृति आवश्यक थी।

रियासतों पर नियन्त्रण करने का यन्त्र :— रियासतों के साथ व्यवहार करने के लिए भारत सरकार एक विशेष विभाग रखती थी जिसे *राजनीतिक विभाग* (Political Department) कह कर पुकारा जाता था। गवर्नर जनरल स्वयं इस विभाग का अध्यक्ष होता था। यह विभाग बहुत से अधिकारियों, जिन्हें *राजनीतिक अधिकारी* (Political Officers) कहते थे, के द्वारा रियासतों के साथ भारत सरकार के सम्बन्धों का संचालन करता था। समस्त राजनीतिक अधिकारियों का पद समान नहीं होता था। काश्मीर, हैदराबाद, मैसूर तथा बड़ौदा सरीखी महत्त्वपूर्ण रियासतों में जो अधिकारी रहता था, उसे *रेज़ीडेन्ट* (Resident) कहा जाता था। छोटे राज्यों को विभिन्न एजेन्सियों में विभक्त कर दिया गया था। उनमें से कुछ थीं: राजपूताना एजेन्सी, मध्य भारत एजेन्सी, पंजाब रियासत एजेन्सी, पश्चिमी भारत रियासत एजेन्सी, तथा मद्रास रियासत एजेन्सी। प्रत्येक एजेन्सी का एक अधिकारी होता था जिसे पहिले *एजेन्ट* कहते थे, किन्तु आगे चल कर उसे रेज़ीडेन्ट कहा जाने लगा। एक एजेन्ट अपनी एजेन्सी में सम्मिलित समस्त रियासतों के लिये कार्य करता था। एजेन्सी के विभिन्न भागों में रेज़ीडेन्ट कुछ स्थानीय रेज़ीडेन्ट अथवा राजनीतिक एजेन्ट रखता था। भारत सरकार तथा रियासतों के मध्य सम्बन्धों का संचालन करने के अतिरिक्त ये अधिकारी रियासत के प्रशासन के विषय में नरेशों को परामर्श भी देते थे। इनकी रज़ामन्दी के बिना कोई भी महत्वपूर्ण बात नहीं हो सकती थी, यहां तक कि एक वैवाहिक सम्बन्ध भी इनकी मरज़ी के बिना स्थापित नहीं हो सकता था। एक रियासत में एक राजनीतिक अधिकारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पद किसी भारतीय को कभी नहीं दिया गया।

इस प्रसंग में एक प्रश्न का उठना स्वाभाविक है और वह यह कि भारतीय नरेशों ने अंग्रेज़ों की इतनी अधीनता कैसे स्वीकार कर ली। इसका उत्तर यह है कि उन्होंने अपनी प्रजा पर निरंकुश शासन करते रहने के अधिकार के मूल्य के रूप में एक विदेशी सत्ता के सामने इतना झुकना स्वीकार किया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि रियासतों में मध्यकालीन निरंकुश तंत्र के चलते रहने का मुख्य कारण उसे सर्वोच्च सत्ता का प्रश्रय प्राप्त होना था। भारतीय नरेश यह बात भली भाँति जानते थे कि जब तक वे अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार करते रहेंगे तब तक वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी पुरानी ढर्रे की निरंकुशता चलाते रह सकते हैं, बशर्ते कि उनका कुशासन बिल्कुल ही असह्य न हो उठे।

रियासतों के सम्बन्ध में मॉन्ट-फोर्ड रिपोर्ट :— श्री मांटेग्यु तथा लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने रियासतों के सर्वोच्च सत्ता तथा ब्रिटिश सरकार के साथ सम्बन्धों की समीक्षा की और अपने विचार अपनी रिपोर्ट में अभिव्यक्त किये। उन्होंने कहा कि भारतीय नरेश ब्रिटिश भारत में होने वाली घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से यह सुझाव दिया कि राजाओं को अपने अपने राज्यों में कुछ राजनीतिक सुधार करने चाहियें।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि जिन परिस्थितियों में बहुत सी संधियां हुई थीं, उनमें आधारभूत परिवर्तन हो गया था, रिपोर्ट के लेखकों ने यह सुझाव दिया कि सम्बन्धित पक्षों की रज़ामन्दी से स्थिति में परिवर्तन किया जाय जिसके परिणामस्वरूप यह आवश्यक नहीं कि नीति में कोई परिवर्तन किया जाय, बल्कि वर्तमान व्यवहार को भविष्य के लिये सरल, प्रमाणित तथा संहिताबद्ध कर दिया जाय। इस सुझाव से नरेशों में काफी वादविवाद खड़ा हो गया; कुछ ने इसका समर्थन किया और कुछ ने विरोध। उस वादविवाद के फलस्वरूप एक प्रक्रिया अपनाई गई जिसके द्वारा रियासतें ब्रिटिश सरकार के साथ सीधे सम्बन्ध रख सकती थीं और अपने अधिकारों को प्रभावित करने वाली किसी बात के सम्बन्ध में अपना मत अभिव्यक्त कर सकती थीं।

मॉन्ट-फ़ोर्ड रिपोर्ट की दूसरी महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिश यह थी कि राजाओं को एक दूसरे से अलग थलग रखने की नीति का परित्याग करके उन्हें सामान्य हितों के मामलों में परस्पर परामर्श करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। इसके फल-स्वरूप नरेन्द्र मण्डल की स्थापना हुई।

नरेन्द्र मण्डल (Chamber of Princes) :— जिस समय नरेन्द्र मण्डल बना तो उसमें १०८ नरेश तो ऐसे थे जो कि स्वयं अपने अधिकार में उसके सदस्य थे और १२ सदस्य ऐसे थे जो कि १२७ गैर-सलामी (Non-salute) रियासतों द्वारा चुने गये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। प्रथम श्रेणी में ऐसी रियासतें थीं जिनके शासकों को ग्यारह या उससे अधिक तोपों की सलामी का अधिकार था तथा वे रियासतें जिन्हें कि वाइसराय उसकी सदस्यता के योग्य समझता था, सम्मिलित थीं। शेष रियासतों का नरेन्द्र मण्डल में कोई प्रतिनिधित्व न था। आगे चलकर प्रथम श्रेणी की रियासतों की संख्या बढ़ाकर १३५ और दूसरी श्रेणी की संख्या घटा कर १०८ कर दी गई। वाइसराय मण्डल का पदेन (ex-officio) अध्यक्ष होता था। उसका कार्य उसके एजेण्डा की स्वीकृति देना था। मण्डल के दो अन्य पदाधिकारी थे : *चान्सलर* तथा *प्रो-चान्सलर*। इसकी एक स्थायी समिति (Standing Committee) भी थी जिसमें चान्सलर, प्रो-चान्सलर तथा चार या पांच अन्य सदस्य होते थे। मण्डल की बैठक वर्ष में एक बार होती थी, स्थायी समिति की दो, तीन या इससे भी अधिक बैठकें एक वर्ष में हो जाती थीं। मण्डल का कार्य अपने पास भेजे हुए समस्त प्रश्नों पर वायसराय को परामर्श देना तथा राज्यों से सम्बन्धित अन्य प्रश्नों को उठाना होता था। *राजकीय घोषणा* (Royal Proclamation) में इसके कार्यों का वर्णन इन शब्दों में किया गया था :—

"भारतीय रियासतों से सामान्य रूप से सम्बन्धित, तथा ब्रिटिश भारत अथवा मेरे शेष साम्राज्य और रियासतों को संयुक्त रूप से प्रभावित करने वाले मामलों में मेरा वाइसराय स्वतन्त्रतापूर्वक परामर्श लेगा। अलग अलग रियासतों तथा उनके शासकों, अथवा अलग अलग राज्यों के मेरी सरकार के साथ सम्बन्धों से उस (मण्डल) का कोई सम्बन्ध न होगा, जबकि रियासतों की वर्त्तमान प्रणाली तथा उनकी कार्य की स्वतन्त्रता को किसी प्रकार का कोई आघात नहीं लगेगा।"

मण्डल एक परामर्शदाता निकाय था; इसके कार्यपालिका अथवा प्रशासन सम्बन्धी कोई कार्य न थे। इसमें अलग अलग राज्यों के मामलों और उनके अधिकारों पर बहस नहीं हो सकती थी। इसे बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसका मुख्य कारण बड़े तथा छोटे राज्यों के हितों के बीच संघर्ष का होना था। बहुत दिन तक बड़े बड़े राज्य इससे अलग रहे। आगे चल कर इसकी स्थायी समिति को पुनर्गठित किया गया जिसमें ३५ सदस्य रक्खे गये जिनमें से १८ का स्थान स्थायी या अर्द्ध-स्थायी था। १९२९ के बाद मण्डल की बैठकों में प्रेस के प्रतिनिधि भी जाने लगे।

सर्वोच्च सत्ता के विषय में बटलर समिति :— लार्ड रीडिंग ने निज़ाम को अपने पत्र (जिसके कुछ अंशों को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) में जिस शब्दावली का प्रयोग किया और जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनसे भारतीय नरेशों में एक हलचल मच गई। मई, १९२७ में वाइसराय द्वारा बुलाए गये एक सम्मेलन में जिन नरेशों ने भाग लिया उन्होंने रियासतों तथा *सर्वोच्च सत्ता* (Paramount power) के बीच सम्बन्धों की एक निष्पक्ष जांच कराने की मांग की। उसके फलस्वरूप दिसम्बर, १९२७ में भारत मंत्री ने सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नरेशों ने अपने मामले की वकालत करने के लिए कुछ प्रसिद्ध अंग्रेज़ सांविधानिक वकीलों को किया जिनके अध्यक्ष थे सर लेस्ली स्कॉट। उन वकीलों ने बड़ी चतुरता और कुशलता के साथ उनके पक्ष का समर्थन किया और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि सर्वोच्च सत्ता के अनुसार ब्रिटिश सरकार को रियासतों के केवल विदेशी सम्बन्धों और आन्तरिक सुरक्षा के विषय में हस्तक्षेप करने का अधिकार था, उनके आन्तरिक प्रशासन में दखल देने का उसे कोई अधिकार न था। संधियों ने ब्रिटिश सरकार को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं दिया। बटलर समिति ने इस तर्क को ठुकरा दिया; उसने यह धारणा प्रकट की कि सर्वोच्च सत्ता 'केवल एक ऐसा संविदात्मक सम्बन्ध नहीं है जोकि एक शताब्दी से भी अधिक पहिले की गई संधियों पर आधारित हो, बल्कि यह एक सजीव, विकासशील सम्बन्ध था जिसकी रचना उन परिस्थितियों और नीति के द्वारा हुई थी जोकि इतिहास, सिद्धान्त तथा आधुनिक तथ्य के ऊपर आधारित हैं। यह मानना कि रियासतों का जब अंग्रेज़ों के साथ संसर्ग हुआ तो वे स्वतन्त्र थीं ऐतिहासिक रूप से सही नहीं।' उसने दावा किया कि सर्वोच्च सत्ता को सर्वोच्च रहना चाहिये और परिस्थितियों के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये।

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार द्वारा रियासतों के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप करने के अधिकार के प्रश्न पर बटलर समिति का निर्णय नरेशों के विरुद्ध रहा। परन्तु एक दूसरी बात में उन्हें सफलता मिली। उनकी ओर से यह तर्क किया गया कि रियासतों के सम्बन्ध में 'क्राउन' को जहां कुछ अधिकार प्राप्त हैं, वहां उसके कुछ कर्तव्य भी हैं। नरेशों ने अपने विदेशी सम्बन्ध तथा बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा का भार क्राउन को सौंपा था, ब्रिटिश भारत की सरकार को नहीं, और उनकी भक्ति क्राउन के प्रति ही थी। यह भक्ति व्यवस्थापिका के प्रति भारत सरकार सरीखे किसी तीसरे पक्ष को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती थी। बटलर समिति ने इस धारणा को स्वीकार कर लिया। उसने अपने विचारों को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया :—

"यदि ब्रिटिश भारत में उपनिवेश सरकार की भांति कोई सरकार बनाई गई तो स्पष्टतः ही ऐसी सरकार एक नई सरकार होगी जो एक नवीन तथा लिखित संविधान के ऊपर आधारित होगी। ऐसी कोई बात अभी नहीं हुई है। ··· किन्तु हम इस बात की ओर अवश्य ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि राजाओं को ऐसा हो जाने की वास्तविक और गम्भीर आशंका है। इस सम्बन्ध में हमारी स्पष्ट और दृढ़ धारणा यह है कि सर्वोच्च सत्ता तथा नरेशों के सम्बन्धों के ऐतिहासिक स्वरूप को देखते हुए नरेशों की रज़ामन्दी के बिना उनको ब्रिटिश भारत में एक ऐसी सरकार के साथ, जोकि भारतीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो, किसी सम्बन्ध में नहीं बांध देना चाहिये।"

बटलर समिति के इस विचार को मानते हुए १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत सर्वोच्च सत्ता को संघ सरकार के अधिकारक्षेत्र से बाहर रक्खा गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९४७ में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो गई; उसे भारत की उत्तराधिकारिणी सरकारों को हस्तान्तरित नहीं किया गया। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने रियासतों की समस्या को किस प्रकार सुलझाया, उसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। यहां तो हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि १९३५ के अधिनियम में दी हुई संघ योजना इसलिये क्रियान्वित न की जा सकी क्योंकि भारतीय रियासतों की एक पर्याप्त संख्या संघ में मिलने के लिये तैयार नहीं हुई। मिलने की शर्तों के ऊपर क्राउन तथा रियासतों में समझौता नहीं हो सकता। इस समय से भारतीय रियासतों के साथ सम्बन्धों का संचालन गवर्नर-जनरल के बजाय क्राउन की ओर से वायसराय द्वारा होने लगा।

रियासतों का प्रशासन :— अब तक हम सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) के विकास का वर्णन करते रहे हैं; इसकी परिभाषा हम दे चुके हैं; अब हम एक दूसरी समस्या पर आते हैं, और वह है रियासतों का प्रशासन। उनके प्रशासन का कोई सामान्य विवरण देना बड़ा कठिन है क्योंकि उनमें प्रशासन की कोई एक पद्धति नहीं थी। सारी रियासतों में नरेशों की सत्ता और शक्तियां एक सी नहीं थीं; पूर्ण स्थानीय स्वतंत्रता से लेकर केवल नाममात्र की सत्ता तक की श्रेणियाँ उनमें मिलती थीं। उनमें सामान्य बातें तो केवल दो थीं : एक तो यह कि उन सबका अस्तित्व अंग्रेजी शासन की सर्वोच्च सत्ता पर निर्भर करता था और दूसरे यह कि उन सब में निरंकुश राजतंत्री शासन व्यवस्था पाई जाती थी। केवल औंध का संविधान जनतंत्री था।

कुछ राजाओं ने अपने राज्यों में धारासभायें और मंत्रिमंडल भी स्थापित कर लिये थे, किन्तु कोई महत्त्वपूर्ण अधिकार उन्हें नहीं दिया गया था। धारासभायें बजट पर बहस कर सकती थीं और प्रशासन की आलोचना कर सकती थीं, किन्तु कार्यपालिका पर उनका कोई नियन्त्रण न था। मंत्रिमंडल केवल परामर्शदाता निकाय थे; वे स्वयं राजाओं के प्रति उत्तरदायी थे; उनका कोई लोकप्रिय स्वरूप नहीं था। केवल काश्मीर और मैसूर में शासक गण दो मंत्रियों को धारासभा के निर्वाचित सदस्यों में से चुनते थे। इस प्रकार की प्रगति की गति बहुत धीमी थी।

रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए आन्दोलन :— राजनीतिक शक्तियों की कोई राजनीतिक सीमायें नहीं होतीं; कांग्रेस द्वारा उत्प्रेरित और महायुद्ध द्वारा उत्तेजित राजनीतिक जागृति ब्रिटिश भारत की सीमाओं का अतिक्रमण करके देशी रियासतों में भी फैल गई। उनकी प्रजा भी नागरिक स्वतंत्रताओं और उत्तरदायी शासन की माँग करने लगी। कई रियासतों में प्रजामण्डल बने जिन्होंने प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना की मांग की। मैसूर, ट्रावनकोर, काश्मीर, हैदराबाद, जयपुर, राजकोट तथा अन्य राज्यों में राजनीतिक विद्रोह हुए जिन्हें उनके राजाओं ने अंग्रेजों की सर्वोच्च सत्ता की सहायता से कुचल दिया। कांग्रेस को रियासतों की प्रजा की राजनीतिक आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, किन्तु उसने यह स्पष्ट कर दिया कि रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिये संघर्ष स्वयं उनकी प्रजा को ही करना होगा; वह तो उन्हें केवल नैतिक सहायता और सहानुभूति ही दे सकती थी। १६३८ में एक *रियासती प्रजा सम्मेलन* (States' Peoples Conference) पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में किया गया। फलतः कुछ रियासतों में प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना की दिशा में कुछ क़दम उठाये गये और उन्हें कुछ शक्तियाँ दे दी गईं। लॉर्ड लिनलिथगो ने अनुभव किया कि यदि राजाओं ने अपने शासन में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार न किये तो बहुत शीघ्र ही उन्हें जन आन्दोलनों के सामने झुकना पड़ेगा। इसलिये उसने उन्हें यह परामर्श दिया कि उनको अपने राज्यों के प्रशासन में कुछ आमूलचूल परिवर्तन करने चाहियें; उन्हें राज्य की आय में से अपने व्यक्तिगत भाग को कम करना चाहिये, निरर्थक करों को हटा देना चाहिये, वित्त को दृढ़ आधार पर रखना चाहिये तथा अपने कर्मचारियों की योग्यता में वृद्धि करनी चाहिये। सांविधानिक स्तर पर उसका विचार यह था कि राजाओं को अपने अपने प्रदेशों में प्रतिनिधि संस्थायें स्थापित करनी चाहियें तथा सांविधानिक शासन स्थापित कर देना चाहिये। एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे छोटे छोटे राज्यों की थी जो कि अलग अलग लोकतंत्री संस्थाओं के व्यय का भार नहीं उठा सकते थे। ऐसे राज्यों को लॉर्ड लिनलिथगो ने यह सुझाव दिया कि उन्हें मिलकर संघ बना लेने चाहियें और उन संघों में लोकतंत्री व्यवस्था क़ायम कर देनी चाहिये। भारत मंत्री भी लॉर्ड लिनलिथगो की बात से सहमत था, किन्तु उसका विचार यह था कि यह सब करने का प्रस्ताव स्वयं राजाओं की ओर से आना चाहिये। इसी बीच में *विश्व-युद्ध* आरम्भ हो गया और राज्यों को *अखिल भारतीय संघ* में सम्मिलित करने तथा उनमें सांविधानिक तथा प्रशासकीय सुधारों के लाने के प्रश्न को खटाई में डाल दिया गया।

रियासतें तथा क्रिप्स मिशन :— युद्ध में राजाओं ने तन मन धन से सरकार की सहायता की। ब्रिटिश सरकार ने भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की और भारतीय प्रश्न को सुलझाने के लिये उसने जब सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा तो उसने राजाओं के हितों को याद रक्खा। क्रिप्स के योजना के निम्नलिखित दो अनुच्छेद यहां पर उद्धरणीय हैं :

(१) 'एक भारतीय राज्य चाहे किसी संविधान को माने या न माने, नवीन स्थिति में जहाँ तक आवश्यक होगा वहां तक उसकी संधि व्यवस्था में संशोधन करने के लिये बातचीत करना आवश्यक होगा।'

(२) 'भारतीय रियासतों को अपनी जनसंख्या के उसी अनुपात में प्रतिनिधि नियुक्त करने को आमंत्रित किया जायेगा जिसमें कि सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि आयेंगे, और उनकी शक्तियां भी वैसी ही होंगी जैसी कि ब्रिटिश भारत के सदस्यों की।'

क्रिप्स योजना में प्रत्येक रियासत को जो सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार दिया गया वह यह था कि वह नवीन संविधान को अस्वीकार करके अपनी अलग सत्ता क़ायम रख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती थी। राजाओं ने कई बातों में स्पष्टीकरण की मांग की जिन में से दो मुख्य ये थीं:— (१) क्या भारतीय संघ में सम्मिलित न होने वाले राज्यों को अपना एक अलग संप्रभुता-सम्पन्न संघ बनाने का अधिकार होगा? (२) क्या क्राउन भारतीय संघ में सम्मिलित न होने वाले राज्यों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता रहेगा? संक्षेप में, वे जानना यह चाहते थे कि क्या उनके लिये यह सम्भव हो सकता था कि वे प्रस्थापित संघ से अलग रहते हुए भी अपनी प्रजा पर अपना निरंकुश शासन जमाये रखने में क्राउन का संरक्षण प्राप्त करते रहें। सर स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स ने उनको बताया कि यह सब कुछ बाद में होने वाली व्यवस्था के स्वरूप पर निर्भर करता था, किन्तु उन्होंने उनको यह विश्वास दिलाया कि सर्वोच्च सत्ता अन्य किसी पक्ष को हस्तान्तरित नहीं की जायेगी और संधियों में उनकी रज़ामन्दी के बिना कोई संशोधन नहीं किया जायेगा।

क्रिप्स ने राजाओं को यह सुझाव दिया कि अपनी प्रजा की शिकायतों को जानने के लिये उन्हें कोई प्रभावक साधन अपनाना चाहिये। राजाओं को यह सुझाव बिल्कुल पसन्द न आया। *नरेन्द्र मण्डल* के चान्सलर ने इस सुझाव को सम्राट की इस घोषणा के विरुद्ध बताया कि रियासतों के लिये कैसा संविधान सर्वोत्तम है, इसका निर्णय करने का अधिकार केवल राजाओं को होगा।

सर स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स उपरोक्त दो शंकाओं का कोई सन्तोषजनक समाधान न कर सके। इसलिये राजाओं को ऐसा लगा कि ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के हितों में संघर्ष होने की स्थिति में ब्रिटिश सरकार राजाओं की सहायता नहीं करेगी। इसलिए वे अपने हितों को सुरक्षित रखने के साधन स्वयं सोचने लगे; उन्होंने सम्राट की सरकार से यह आश्वासन देने की मांग की कि उनके हितों को ब्रिटिश भारत के हितों की बलिवेदी पर बलिदान नहीं किया जायेगा।

लॉर्ड वेवल का परामर्श:— १७ जनवरी, १९४६ को *नरेन्द्र मण्डल* के सम्मुख भाषण देते हुए लार्ड वेवल ने राजाओं को यह आश्वासन दिलाया कि क्राउन के साथ उनके सम्बन्ध में कोई भी परिवर्तन उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं किया जायेगा। किन्तु इसके साथ ही साथ उसने उन्हें यह परामर्श भी दिया कि उनको अपने प्रशासन में सुधार करना चाहिये और उसमें अपनी प्रजा को भाग लेने देने का अवसर देना चाहिये। उसने छोटे छोटे राज्यों को अपने साधनों को एक जगह मिलाने और पर्याप्त आकार की राजनीतिक इकाइयां बनाने की सलाह दी।

केबिनेट मिशन तथा रियासतें:— केबिनेट मिशन ने स्वतन्त्र भारत (ब्रिटिश भारत तथा भारतीय रियासतों, दोनों को मिलाकर) के लिये संविधान बनाने के लिए एक निकाय स्थापित करने के प्रश्न पर विचार विमर्श में भाग लेने के लिए भारतीय नरेशों को आमंत्रित किया। उन्होंने *नरेन्द्र मण्डल* के चान्सलर; मध्याकार रियासतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रतिनिधित्व करने वाले पटियाला, बीकानेर तथा नवानगर के शासकों से संयुक्त रूप से; और छोटी छोटी रियासतों के प्रतिनिधि डूंगरपुर तथा बिलासपुर के शासकों से संयुक्त रूप से बातचीत की। निज़ाम हैदराबाद का प्रतिनिधि नवाब छतारी, महाराजा ट्रावन्कोर का प्रतिनिधि सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर, तथा महाराजा जयपुर का प्रतिनिधि सर मिर्ज़ा इस्माइल भी केबिनेट मिशन से मिले। मिशन के साथ साक्षात्कार करते समय रियासतों के प्रतिनिधियों के सामने एक मुख्य विचार रहा, और वह यह कि रियासतों की संप्रभुता को, जिस हद तक भी सम्भव हो, सुरक्षित रक्खा जाय। अपने आन्तरिक प्रशासन में ब्रिटिश भारत द्वारा दख़ल देने के विचार से वे घृणा करते थे। उनकी इच्छा यह थी कि सर्वोच्च सत्ता क्राउन के ही पास रहे। *नरेन्द्र मण्डल* के चान्सलर, नवाब भोपाल, राजाओं को भारतीय राजनीति में एक तीसरी शक्ति बनाने का स्वप्न देख रहे थे। किन्तु यह घोषणा करके कि एक नवीन शासन के स्थापित होते ही रियासतों पर क्राउन की सर्वोच्च सत्ता का अन्त हो जायेगा; क्राउन के साथ अपने सम्बन्धों पर आधारित रियासतों के अधिकार समाप्त हो जायेंगे और रियासतों ने क्राउन के सामने जिन अधिकारों को समर्पित कर दिया था वे उन्हें वापिस मिल जायेंगे, मिशन ने इन समस्त आकांक्षाओं पर तुषारापात कर दिया। २२ मई को प्रेस को दिये गये एक वक्तव्य में मिशन ने कहा :—

"यदि रियासतें अपने प्रशासन को उच्चतम स्तर पर लाने का भरसक प्रयत्न करें तो उससे निश्चित रूप से ही उनकी स्थिति दृढ़ होगी। जिन रियासतों के वर्त्तमान साधन ऐसे स्तर को प्राप्त करने के लिये अपर्याप्त हों, उन्हें मिल कर एक ऐसी प्रशासकीय इकाई बना लेनी चाहिये जोकि सांविधाजिनक ढांचे के अनुकूल हो। अपने यहाँ प्रतिनिधि संस्थायें स्थापित करके और उनके द्वारा जनमत को जानते रहने से भी रियासतों की स्थिति मज़बूत बनेगी। ..... जब ब्रिटिश भारत में स्व-शासक अथवा स्वाधीन सरकार या सरकारों की स्थापना हो जायेगी तो सम्राट की सरकार का उन सरकारों पर इतना प्रभाव नहीं होगा जिससे कि वे *सर्वोच्च सत्ता* (Paramountcy) के कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। इसके अतिरिक्त, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि इस उद्देश्य के लिये भारत में अंग्रेज़ी सेनाएँ नहीं रक्खी जायेंगी। इसलिए सम्राट की सरकार *सर्वोच्च सत्ता* के अधिकारों का परित्याग कर देगी; तर्क की यही मांग है और रियासतों की ओर से भी ऐसी ही इच्छा अभिव्यक्त की गई है। इसका अर्थ यह है कि क्राउन के साथ अपने सम्बन्धों के कारण रियासतों को जो अधिकार मिले हुए हैं वे समाप्त हो जायेंगे, और रियासतों ने जो अधिकार *सर्वोच्च सत्ता* को समर्पित किये हुए हैं वे उन्हें वापिस मिल जायेंगे। इस प्रकार, एक ओर रियासतों और दूसरी ओर ब्रिटिश क्राउन तथा ब्रिटिश भारत के बीच वर्तमान राजनीतिक समझौतों का अन्त हो जाएगा। इससे जो रिक्त स्थान (void) उत्पन्न होगा उसे रियासतों को या तो ब्रिटिश भारत में उत्तराधिकारिणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार अथवा सरकारों के साथ संघीय सम्बन्ध में बन्धकर अथवा उसके या उनके साथ कोई विशेष राजनीतिक समझौता करके भरना होगा।" *नरेन्द्र मंडल* के चान्सलर, नवाब भोपाल, ने कुछ बातों के विषय में स्पष्टीकरण चाहा। उसने यह आशा प्रकट की कि भारत की नई सरकार द्वारा की जाने वाली नवीन सुरक्षा व्यवस्था रियासतों को अपनी अपने सेनायें रखने में कोई बाधा न डालेगी। लॉर्ड वेवल ने इसका उत्तर यह दिया कि उसके द्वारा उठाये गये अधिकतर प्रश्नों का निर्णय *संविधान निर्मात्री परिषद* में ब्रिटिश भारत के सदस्यों तथा रियासतों के प्रतिनिधियों के बीच वार्ता से ही हो सकता है; उनका निर्णय उसके या केबिनेट मिशन के हाथों में नहीं था। इस उत्तर से चान्सलर एकदम निराश होगया; उसका ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग को एक संविधान निर्मात्री परिषद् में लाने में कैबिनेट मिशन सफल न हो सका। भारत को विभाजित करने का निर्णय किया गया। प्रधान मंत्री एटली ने हाउस ऑफ कामन्स में यह घोषणा की कि नवीन उपनिवेशों को सत्ता हस्तान्तरित हो जाने पर रियासतों पर क्राउन की सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो जायेगी; उनके तथा क्राउन के बीच की गई संधियों का अन्त हो जायेगा और रियासतें स्वतन्त्र हो जायेंगी। एटली ने अपने वक्तव्य में यह भी कहा कि क्राउन तथा रियासतों के बीच वर्तमान सम्बन्धों के समाप्त हो जाने का अर्थ यह नहीं कि रियासतें शेष भारत से अलग थलग द्वीप बन जायेंगी; उसने उन्हें एक न एक उपनिवेश में मिल जाने की सलाह दी। १९४७ के भारत स्वाधीनता अधिनियम में भी एक धारा यह थी कि भारतीय रियासतों पर ब्रिटिश सत्ता का अन्त हो जायेगा।

सर्वोच्च सत्ता (Paramountcy) **का अन्त तथा उसके बाद**:— ब्रिटिश सरकार का यह निर्णय कि सत्ता हस्तान्तरण के साथ सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो जायेगी अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण था, क्योंकि इसका अर्थ यह लगाया गया कि रियासतें पूर्ण रूप से स्वाधीन हो जायेंगी और यदि वे चाहें तो दोनों में से किसी भी उपनिवेश में मिलने से इन्कार कर सकती हैं। ११ जून को सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने यह घोषित कर दिया कि ट्रावन्कोर ने अपने आप को एक स्वाधीन तथा संप्रभुतासम्पन्न राज्य बनाने का निर्णय कर लिया है। अगले ही दिन निज़ाम ने भी वैसी ही घोषणा कर दी। नवाब भोपाल ने नरेन्द्र मण्डल के चान्सलर पद से त्यागपत्र देते हुए अपने पत्र में लिखा कि मैं सर्वोच्च सत्ता का अन्त होते ही पूर्ण रूप से स्वाधीन हो जाऊंगा। इन घोषणाओं से यह भय उत्पन्न हो गया कि कहीं अन्य राजागण भी इसी मार्ग का अनुसरण न करने लगें। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भारत के इस 'बलकानीकरण' की प्रवृत्ति का विरोध किया; उस ने यह धारणा प्रकट की कि सर्वोच्च सत्ता के अन्त का अर्थ यह नहीं हो सकता कि रियासतें सर्वथा स्वाधीन हो जायेंगी। इस के विपरीत जिन्ना ने यह विचार प्रकट किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता के अन्त पर प्रत्येक रियासत को, यदि वह चाहे तो, स्वाधीन रहने का अधिकार होगा। इस प्रकार एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई ; देश की एकता ख़तरे में पड़ गई। कुछ ब्रिटिश प्रशासकों का 'जो कि जीवन भर भारत में रहे थे अन्तिम क्षण तक यह विश्वास था कि भारतीय नरेश अपने आप को लोक-तन्त्री नेताओं की सत्ता के अधीन रखने को कदापि तय्यार न होंगे, और, क्योंकि उनके पास अपनी सेनायें थीं, वे अपनी सत्ता पर किसी भी आक्रमण का सामना करेंगे जिस के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से ही गृह युद्ध छिड़ जायेगा जिस में नवीन भारत नष्ट हो सकता है।'*

भारत की स्वतंत्रता का निर्णय हो जाने पर भारत सरकार के राजनीतिक विभाग का अन्त हो गया और उसके स्थान पर एक रियासत विभाग (States Department) स्थापित किया जिस के मंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल और सचिव वी. पी. मेनन थे। सर्वोच्च सत्ता का अन्त हो जाने से उत्पन्न संकट को दूर करने के लिए लॉर्ड माउण्टबेटन से कहा गया कि वह विदेशी मामलों, संवाद-वाहन के साधनों तथा सुरक्षा के विषयों में रियासतों को समुचित उपनिवेश में मिल जाने के लिए प्रेरित करें। लॉर्ड माउण्टबेटन ने नरेशों से कहा कि इन तीन विषयों में किसी उपनिवेश से मिल जाने से उन्हें सारी सम्भव स्वतंत्रता प्राप्त रहेगी और इस के साथ ही साथ उन्हें ऐसे कार्यों के भार से मुक्ति मिल जायेगी जिन्हें करना उन के लिये सम्भव नहीं हो सकेगा। उस ने उन्हें यह आश्वासन दिया कि इन विषयों के सम्बन्ध में मिलने से उन पर कोई वित्तीय भार नहीं पड़ेगा और अन्य किसी विषय में उन की संप्रभुता पर कोई आघात नहीं किया जायेगा। उस ने यह स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि वैधानिक रूप से रियासतें किसी भी उपनिवेश से मिलने के लिए स्वतंत्र थीं, तथापि कुछ भौगोलिक आवश्यकतायें ऐसी थीं जिन्हें टाला नहीं जा सकता था। कोई ५६५ रियासतें अधिकतर भौगोलिक दृष्टि से भारतीय उपनिवेश के साथ सम्बद्ध थीं। अपनी अत्यन्त तर्कपूर्ण तथा प्रभावपूर्ण अपील के अन्त में लॉर्ड माउण्टबेटन ने कहा : "जिस प्रकार से आप अपने प्रजाजन से, जिन के कल्याण के लिए आप उत्तरदायी हैं, दूर नहीं भाग सकते, उसी प्रकार आप अपने पड़ोसी उपनिवेश की सरकार से भी नहीं भाग सकते।"

रियासतों का भारतीय संघ से मिलन (Accession):— रियासतों के भारत में मिलने की उस गम्भीर समस्या को, जिसे कि लॉर्ड लिनलिथगो तीन वर्ष में भी न सुलझा सके थे, लॉर्ड माउण्टबेटन के चातुर्य, सरदार पटेल की महान् राजनीतिज्ञता तथा बीकानेर, पटियाला, बड़ौदा तथा ग्वालियर के राजाओं की देशभक्ति ने दो मास के अल्प काल में हल कर दिया। समस्या की जटिलता को देखते हुए यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि यह इतने थोड़े समय में हल हो जायेगी। जूनागढ़, हैदराबाद तथा

* चाणक्य : The Indian Revolution, पृष्ठ १२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काश्मीर के अतिरिक्त उन समस्त रियासतों ने, जो कि भौगोलिक रूप से भारत से मिली हुई थीं, भारत में मिल जाने की घोषणा कर दी। इस प्रकार देश का वह बलकानीकरण टल गया जिस का होना कुछ निराशावादी लोग तथा भारतीय स्वतंत्रता के शत्रु निश्चित समझते थे। वी. पी. मेनन के अनुसार भारत उस महान् सेवा को कभी नहीं भूल सकता जो कि लॉर्ड माउण्टबेटन ने हमारे इतिहास के इस सब से अधिक नाजुक समय में की और न ही 'हम उन राजाओं को भूल सकते हैं जिनके स्वेच्छापूर्ण तथा राष्ट्रभक्ति-पूर्ण सहयोग के बिना रियासतों के मिलन की नीति क्रियान्वित नहीं की जा सकती थी।' इन बातों के अतिरिक्त, मेनन के शब्दों में, इस नीति के सफल होने में सब से बड़ा हाथ सरदार पटेल की महान राजनीतिज्ञता का रहा है। इसलिये हम उसके सम्बन्ध में यहाँ पर दो शब्द कहेंगे।

सरदार पटेल की नीति:— रियासत मन्त्री (States Minister) बनते ही सरदार पटेल ने एक ऐतिहासिक वक्तव्य दिया जिसमें उस नीति की रूपरेखा दी गई जो कि भारत सरकार रियासतों के सम्बन्ध में अपनाना चाहती थी। उसमें उन्होंने कहा: "भूतकाल में अपने आपस के संघर्षों, झगड़ों तथा द्वेष के कारण हम कई बार विदेशी आक्रमणों के सामने परास्त हुए हैं और हमारा अधःपतन हुआ है। ऐसी ग़लतियाँ हम अब नहीं कर सकते।" इसलिये उन्होंने भारत तथा रियासतों की सुरक्षा के लिये देश के विभिन्न भागों में पूर्ण एकता तथा सहयोग की अपील की। उन्होंने राजाओं को यह आश्वासन दिया कि भारत सरकार का कोई इरादा रियासतों पर अपनी सर्वोच्च सत्ता जमाने का नहीं है, किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा कि सरकार देश के किसी भी भाग में अराजकता नहीं फैलने देगी। ९ दिसम्बर, १९४७ को संविधान निर्मात्री परिषद् में भाषण करते हुए उन्होंने कहा: "सर्वोच्च सत्ता मर चुकी और उसका किसी को कोई दुख नहीं। किन्तु यह सोचने का कोई कारण नहीं कि सर्वोच्च सत्ता के विलुप्त हो जाने पर भारत में कोई सत्ता ही नहीं रह गई है। भारत सरकार एक सरकार के रूप में कार्य करने के लिये संकल्प-बद्ध है और वह भारत के किसी भी भाग में अराजकता नहीं फैलने देगी, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये।" उन्होंने एक ऐसा फार्मूला तय्यार किया जिससे कि राजाओं का वंशानुगत गौरव तथा सम्मान भी सुरक्षित रहे और वे अपने तथा संपूर्ण देश के कल्याण के लिये भारत में मिल भी सकें।

राजाओं का उत्तर:— राजाओं का राष्ट्रभक्तिपूर्ण पथ-प्रदर्शन करने तथा उन्हें यह विश्वास दिलाने कि भारत में मिल जाना स्वयं उनके हित में है, का श्रेय बीकानेर के महाराजा सर सादूलसिंह तथा पटियाला के महाराजा सर यादवेन्द्रसिंह को है। नवानगर के जाम साहब ने भी इस दिशा में बड़ा काम किया। जिन शासकों ने आरंभ में विरोधी रुख अपनाया उनमें प्रमुख थे: भोपाल के नवाब, तथा इन्दौर, ट्रावन्कोर, जोधपुर और जैसलमेर के महाराजागण। इनमें से पहिले तीन तो स्वाधीनता की घोषणा करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोच रहे थे और शेष दो जिन्ना के साथ बातचीत कर रहे थे। किन्तु अन्ततोगत्वा ये सब सन्मार्ग पर आ गये और १५ अगस्त, १९४७ से पहिले ही भारत में मिल गये। जूनागढ़ के नवाब ने भारत में मिलने की इच्छा प्रकट की, किन्तु वह पाकिस्तान में मिल गया। काश्मीर और हैदराबाद किसी भी उपनिवेश में नहीं मिले। उनको आगे चलकर मिलाया गया।

जूनागढ़ :— जूनागढ़ की जनता ने, जिसकी ज़बर्दस्त बहुसंख्या हिन्दुओं की थी, जब यह सुना कि अपने वचन और इरादे के विरुद्ध नवाब पाकिस्तान में मिल गया तो उसने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और शामलदास गाँधी के नेतृत्व में अपनी सरकार स्थापित कर ली। नवाब, रियासत के शासन को अपने प्रधानमन्त्री सर शाहनवाज़ भुट्टू के हाथों में छोड़कर, कराची भाग गया। स्थिति को अपने हाथों से निकलता हुआ देख कर और जनता को रक्तपात तथा अन्य कष्टों से बचाने के उद्देश्य से उसने भारत सरकार के साथ मिलने की इच्छा प्रकट की और ९ नवम्बर, १९४७ को जूनागढ़ भारत में मिल गया। जो लोग इस दिलचस्प घटना का सविस्तार विवरण जानने के इच्छुक हों उन्हें वी० पी० मेनन के ग्रन्थ, 'दी इन्टीग्रेशन ऑफ़ दी इण्डियन स्टेट्स' को देखना चाहिये।

हैदराबाद :— हैदराबाद भारत की प्रमुख मुस्लिम रियासत थी। उसकी जनसंख्या का लगभग ८०% हिन्दू थे। हैदराबाद उन तीन या चार रियासतों में से थी जिन्होंने अपने आप को पूर्ण स्वाधीन रखने का इरादा प्रकट किया था। निज़ाम की इच्छा अपनी रियासत को एक उपनिवेश बनाने तथा ब्रिटिश कॉमनवैल्थ का एक सदस्य बन जाने की थी। इसलिये उसने दिल्ली में संविधान निर्मात्री परिषद् में कोई सदस्य नहीं भेजा।

११ जुलाई को निज़ाम ने बरार, हैदराबाद के लिये उपनिवेश पद तथा भारत के साथ मिलने के प्रश्नों पर बातचीत करने के लिये एक शिष्टमण्डल लॉर्ड माउन्टबेटन के पास भेजा। हैदराबाद को उपनिवेश पद देने के विषय में गवर्नर जनरल ने शिष्टमण्डल से कहा कि यदि कोई रियासत कॉमनवैल्थ का सदस्य बनना चाहती हो तो वह भारत या पाकिस्तान में मिलकर ही बन सकती है। उसने शिष्ट मण्डल को यह समझाने का बहुत प्रयत्न किया कि हैदराबाद के लिए भारत में मिल जाना बड़ा आवश्यक और हितकर होगा। शिष्ट मण्डल ने इसका उत्तर यह दिया कि निज़ाम ऐसा करने के लिए इसलिये तय्यार नहीं होगा क्योंकि इससे उसकी संप्रभुता अक्षुण्ण नहीं रह जायेगी। वह भारत सरकार के साथ, हैदराबाद के मिलन के बिना ही, एक *यथापूर्व-स्थिति समझौता* (Standstill Agreement) करना चाहता था; भारत सरकार इसके लिए बिल्कुल तय्यार न थी। क्योंकि हैदराबाद को १५ अगस्त से पहिले मिला लेना असम्भव पाया गया, इसलिए लॉर्ड माउण्टबेटन से और दो मास तक उसी दिशा में अपने प्रयत्न जारी रखने के लिए निवेदन किया गया।

हैदराबाद के शिष्टमण्डल के बहुत बार दिल्ली आगमन के फलस्वरूप भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार निज़ाम के साथ यथापूर्व-स्थिति समझौता करने के लिये तय्यार हो गई, बशर्ते कि वह *मिलन पत्र* (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर न करते हुए भी मिलन के मुख्य तत्त्व को स्वीकार कर ले। निज़ाम के साथ शांतिपूर्ण समझौता करने की दृष्टि से भारत सरकार ने उसके साथ यह एक बहुत बड़ी रियायत की थी। निज़ाम की कार्यकारिणी परिषद ने उसे यह समझौता स्वीकार कर लेने की सलाह दी। निज़ाम ने कार्यकारिणी के निर्णय को स्वीकार कर लिया, किन्तु समझौते पर हस्ताक्षर करना अगले दिन के लिए स्थगित कर दिया। इस बीच में क़ासिम रिज़वी ने राजधानी में कुछ गड़बड़ करादी और निज़ाम पर उस समझौते को स्वीकार न करने तथा दिल्ली फिर से एक शिष्ट मण्डल भेज कर उसी पहिली योजना को मनवाने, जिसे कि भारत सरकार पहिले ही ठुकरा चुकी थी, प्रयत्न करने के लिये ज़ोर दिया। क़ासिम रिज़वी ने यह तर्क किया कि काश्मीर में जो संकट उत्पन्न हो गया था, उसे देखते हुए भारत सरकार हैदराबाद की मांग को ठुकराने की स्थिति में नहीं होगी। लॉर्ड माउण्टबेटन को लिखे गये एक पत्र में निज़ाम ने यह धमकी दी कि यदि भारत सरकार ने मेरे साथ यथापूर्व-स्थिति समझौता न किया तो मेरी रियासत पाकिस्तान में मिल जायेगी। निज़ाम के अपने निर्णय से पलट जाने तथा अपने पत्र में ऐसे अराजनीतिज्ञतापूर्ण शब्द लिखने पर लॉर्ड माउण्टबेटन ने शिष्ट मण्डल के नेता की भर्त्सना की और उसे कहा कि उक्त निर्णय को न मानने से भारत सरकार को तो थोड़ी सी असुविधा ही होगी, किन्तु स्वयं निज़ाम के लिये यह घातक होगा। शिष्ट मण्डल के प्रयत्नों के विफल हो जाने पर निज़ाम ने विवश होकर २९ नवम्बर, १९४७ को पहिले ही समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये।

भारत सरकार ने निज़ाम हैदराबाद के साथ विशेष रियायत इस आशा से की थी और उसके साथ यथापूर्व-स्थिति समझौता यह सोचते हुए किया था कि कम से कम एक वर्ष तक तो उस रियासत में साम्प्रदायिक शांति बनी रहेगी और इस बीच में उत्तेजना जाती रहेगी तथा अन्ततोगत्वा हैदराबाद भारत के साथ मिल जायेगा, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि निज़ाम तथा उसके रज़ाकार सलाहकारों का उद्देश्य कुछ भिन्न था; वे यह सोच रहे थे कि एक वर्ष में उन्हें अपनी स्थिति दृढ़ करने का समय मिल जायेगा और एक दिन वे पूर्ण स्वाधीनता का दावा कर सकेंगे। उपरोक्त समझौते की स्याही भी अभी सूखने न पाई थी कि निज़ाम की सरकार ने दो अध्यादेश जारी किये जोकि स्पष्ट रूप से समझौते की शर्तों का उल्लंघन करते थे। एक के द्वारा भारत को समस्त बहुमूल्य धातुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और दूसरे के द्वारा यह घोषित कर दिया गया कि भारतीय सिक्के हैदराबाद में क़ानूनी सिक्के नहीं माने जायेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हुआ कि निज़ाम की सरकार ने पाकिस्तान को बीस करोड़ रुपये का एक ऋण दिया है। भारत सरकार तथा निज़ाम की सरकार में खिंचाव उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिये यही कुछ कम न था; किन्तु इससे भी बढ़कर बात यह हुई कि रज़ाकारों (लड़ाकू मुस्लिम स्वयंसेवक) ने अपनी साम्प्रदायिक हरकतों को और तीव्र कर दिया; उनके नेता क़ासिम रिज़वी ने बड़े आपत्तिजनक भाषण दिये जिन से साम्प्रदायिकता की भावना भड़क उठी। हिन्दू भयभीत होकर रियासत से भागने लगे। हैदराबाद का शिष्ट-मण्डल भारत सरकार के साथ वार्तालाप करने के लिये कई बार दिल्ली आया। भारत सरकार ने इस बात के लिये अनुरोध किया कि अन्य रियासतों की भाँति हैदराबाद को भी भारत में मिल जाना चाहिये। निज़ाम मिलन की तो बात भी नहीं सुनना चाहता था; वह तो समानता के आधार पर भारत सरकार के साथ समझौते की बात सोच रहा था। इसके अतिरिक्त रियासत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने के विषय पर भी बातचीत हुई। निज़ाम तथा उसके परामर्शदाताओं को यह विषय बड़ा अरुचिकर लगा; उन्होंने ऐसी योजनाएं तैयार कीं जिनके अनुसार मुसलमानों की एक छोटी सी अल्प संख्या बहुत दिन तक सत्तारूढ़ रहती। इस बीच में रज़ाकारों की हरकतों के कारण हैदराबाद में क़ानून और व्यवस्था की स्थिति बड़ी द्रुतगति से बिगड़ती जा रही थी।

लॉर्ड माउण्टबेटन ने हैदराबाद के भारत में मिलन की समस्या को सुलझाने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा; उसके भारत से जाने के तीन दिन पहिले, १८ जून, १९४८ को बातचीत भंग हो गई। इस विफलता का मुख्य कारण यह था कि लायक़ अली मंत्रीमण्डल जोकि पूर्ण रूप से रज़ाकारों के नियन्त्रण में था, न तो मिलन (Accession) के लिए तैयार हुआ और न उत्तरदायी शासन के लिए। निज़ाम तथा उसके सलाहकारों का विश्वास यह था कि काश्मीर समस्या में उलझे होने के कारण भारत सरकार उनके विरुद्ध कोई कठोर कार्यवाही नहीं कर सकती। उनके इस रवैये को ब्रिटिश प्रेस के एक भाग के भारत-विरोधी दृष्टिकोण से भी सम्बल मिला।

वार्तालाप भंग हो जाने के बाद हैदराबाद की स्थिति एकदम बहुत बिगड़ गई। रियासत के कुछ भागों में आतंक का राज छा गया; वहाँ ब्राह्मणों की हत्यायें की गईं, उनकी आँखें निकाली गईं, स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया और सम्पत्ति लूटी गई और घर जलाये गये। इसके विरुद्ध विरोध प्रदर्शित करते हुए निज़ाम की कार्यकारिणी परिषद के एक सदस्य जे० वी० जोशी ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। रज़ाकारों ने साम्य-वादियों के साथ मैत्री करके भारत की सीमाओं के अन्दर लूटमार शुरू कर दी। ऑस्ट्रेलिया के एक निवासी सिडनी कॉटन ने कराची से बहुत से शस्त्र हैदराबाद में अनधिकृत रूप से पहुँचाये। इसके अतिरिक्त हैदराबाद में से गुज़रने वाली रेलगाड़ियों पर रज़ाकार लोग आये दिन आक्रमण करने लगे। भारत सरकार ने निज़ाम से रज़ाकारों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए कहा और शांति तथा व्यवस्था क़ायम करने के लिए अपनी सेना भी पेश कीं; किन्तु निज़ाम रज़ाकारों के हाथों में खेल रहा था, इसलिये एक न सुनीं। बहुत कुछ सोच विचार के पश्चात् भारत सरकार ने रियासत में व्यवस्था क़ायम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिए तथा उसके आसपास के भारतीय क्षेत्रों में सुरक्षा की भावना स्थापित करने के लिये हैदराबाद में सेना भेजने का निर्णय किया। हैदराबाद की सेनाओं ने कोई विशेष विरोध न किया। सारी कार्यवाही १०८ घंटे में ही समाप्त हो गई। १७ सितम्बर को हैदराबाद की सेना ने शस्त्र डाल दिये और लायक़ अली मंत्रीमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। १८ सितम्बर को मेजर जनरल चौधरी रियासत के सैनिक शासक (Military Governor) बन गये। प्रमुख रजाकारों को गिरफ्तार कर लिया गया। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि जनता के एक भाग को साम्प्रदायिक दंगों का जो भय था वह निराधार सिद्ध हुआ; हैदराबाद की कार्यवाही के समय सारे देश में एक भी साम्प्रदायिक घटना नहीं हुई।

निज़ाम भारत से मिल गया और उसने भारतीय संघ के प्रति भक्त रहने का वचन दिया। उसे एक सांविधानिक शासक के रूप में सिंहासन पर रहने दिया गया, किन्तु वास्तविक शासन मेजर जनरल चौधरी को सोंप दिया गया जिसकी सहायता के लिए कुछ नागरिक प्रशासक नियुक्त कर दिये गये। रियासत में बहुत से सुधार किये गये और १९५२ में उत्तरदायी शासन स्थापित कर दिया गया।

काश्मीर :— जूनागढ़ तथा हैदराबाद के बाद अब हम काश्मीर पर आते हैं जिसके ऊपर एक हिन्दू महाराजा का शासन था, किन्तु जिसकी अधिकतर प्रजा मुसलमान थी। काश्मीर की समस्या जूनागढ़ और हैदराबाद से, जोकि भौगोलिक रूप से भारतीय संघ के अंग थे, कहीं अधिक जटिल और कठिन थी। जम्मू तथा काश्मीर की रियासत को चार प्राकृतिक भागों में बांटा जा सकता है : दक्षिण में जम्मू, मध्य में काश्मीर की घाटी, उत्तर में गिलगित, तथा काश्मीर और गिलगित के बीच में लद्दाख़। इन चारों के बीच में संवाद तथा वाहन के विशेष साधन न थे। काश्मीर को जाने वाली सड़क पाकिस्तान में को गुज़र कर जाती थी। जिन नदियों के द्वारा काश्मीर के जंगलों से लकड़ी लाई जाती थी वे पाकिस्तान में होकर निकलती थीं। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि काश्मीर की सीमायें अन्तर्राष्ट्रीय थीं। पूर्व में तिब्बत था, उत्तर-पूर्वी सीमा पर चीन का सिन्कियांग प्रान्त था। और उसकी उत्तर-पश्चिमी सीमायें अफ़गानिस्तान से मिलती थीं। उत्तर में कुछ ही मील के फ़ासले पर सोवियट रूस था। काश्मीर की सीमाओं के इस अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ने काश्मीर की समस्या को और भी जटिल बना दिया और राष्ट्र संघ में कुछ बड़े राज्यों को भारत के विरुद्ध खड़ा कर दिया।

महाराजा हरीसिंह जम्मू तथा काश्मीर को एक स्वतंत्र राज्य बनाने का स्वप्न देख रहा था। लॉर्ड माउण्टबेटन ने महाराजा हरीसिंह को स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि ब्रिटिश सरकार जम्मू तथा काश्मीर को एक उपनिवेश के रूप में स्वीकार नहीं करेगी। उसने महाराजा को यह आश्वासन दिया कि यदि वह किसी एक उपनिवेश से मिल गया तो उसे कठिनाई न होगी और यदि वह पाकिस्तान से मिल गया तो भारत इससे कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुरा न मानेगा। परन्तु महाराजा कोई भी निर्णय न कर सका। पाकिस्तान के साथ मिलने से काश्मीर के वे मुसलमान जिनके नेता शेख़ अब्दुल्ला थे तथा जम्मू के हिन्दू विक्षुब्ध हो जाते। भारत के साथ मिलना पाकिस्तान से मिले हुए गिलगित तथा अन्य क्षेत्रों को क्रुद्ध कर देता। इस चक्कर में पड़े हुए महाराजा ने पाकिस्तान में मिले बिना उसके साथ एक *यथापूर्व-स्थिति समझौता* (Standstill Agreement) कर लिया। यह भारत में भी न मिला।

पाकिस्तान ने काश्मीर को अपने में मिलाने के लिए महाराजा पर ज़ोर डालना आरंभ किया। खाद्य पदार्थ, पेट्रोल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति रोक दी गई, और काश्मीर तथा पाकिस्तान के बीच यात्रियों के स्वतंत्र आवागमन में बाधा डाली जाने लगी। काश्मीर पर 'मारो और भाग जाओ' के ढर्रे के आक्रमण किये गये जिनके कारण काश्मीर के राजा को अपनी सेनाओं को ४५० मील की सीमाओं पर फैलाना पड़ा। क़बाइलियों-वज़ीरियों, अफ़रीदियों, मसूदों— तथा छुट्टी पर पाकिस्तान की सेना के सिपाहियों ने, पाकिस्तान सेना के अधिकारियों की कमान में, काश्मीर के ऊपर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण २२ अक्तूबर, १९४७ को आरंभ हुआ। रियासती सेना की एक बटालियन, जिसमें मुसलमान और डोगरे थे, आक्रान्ताओं का सामना करने के लिए भेजी गई। मुस्लिम सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया, उन्होंने अपने कमाण्डर को मार डाला और वे आक्रान्ताओं से मिल गये। महाराजा ने ऐसी स्थिति की कभी कल्पना भी न की थी। इससे वह भयभीत हो उठा। उसने रक्षा के लिए भारत सरकार से सहायता मांगी। भारत-सरकार ने यह उत्तर दिया कि वह रियासत की सहायता तभी कर सकती है जब कि वह भारत में मिल जाय; किसी ऐसे प्रदेश में जो कि भारत का भाग न हो, भारत सरकार को अपनी सेनायें भेजने का कोई क़ानूनी अधिकार न था। महाराजा ने *मिलन पत्र* (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर दिये और उसे भारत सरकार के पास भेज दिया। जिस समय मेनन मिलन पत्र लेकर आया तो शेख अब्दुल्ला दिल्ली में ही थे। उन्होंने उसे स्वीकार करने के लिये भारत सरकार पर बहुत ज़ोर दिया। सरकार ने उसे इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि शांति तथा व्यवस्था स्थापित हो जाने पर रियासत में लोक निर्णय (Plebiscite) कराया जायगा। इस निर्णय का शेख अब्दुल्ला ने पूर्ण समर्थन किया। यह निर्णय २६ अक्तूबर को हुआ था। २७ अक्तूबर को भारतीय सेना वायुयानों द्वारा काश्मीर पहुंचने लगी। सेनाओं का यह वायु मार्ग द्वारा भेजा जाना एक आश्चर्यजनक कारनामा था जिसके लिए लॉर्ड माउण्टबेटन ने उसमें लगे हुए सब लोगों को बधाई दी। उन्होंने कहा कि मैंने अपने सारे युद्ध के अनुभव में इतने थोड़े से समय में इस प्रकार का कारनामा कभी नहीं देखा, और न सुना। यहाँ पर उस वीरता और कुशलता का वर्णन नहीं किया जा सकता जिससे कि भारतीय सिपाही आक्रान्ताओं से लड़े और उन्हें वापिस भगाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब भारतीय सेना आक्रान्ताओं को भगाने में लगी हुई थी तो महाराजा काश्मीर ने शेख अब्दुल्ला को एक संकटकालीन अन्तरिम सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जोकि उसने बना ली। इस प्रकार काश्मीर भारत में मिला और उसे एक ऐसा शासन मिला जिसे लोकप्रिय समझा जा सकता था।

जिन्ना ने जब यह सब कुछ सुना तो वह बहुत विक्षुब्ध हुआ। उसने पाकिस्तान की सेनाओं को भारतीय सेनाओं से लड़ने के लिए काश्मीर भेजने का आदेश दिया। परन्तु पाकिस्तान के कार्यवाहक प्रधान सेनापति जनरल ग्रेसी ने ऐसी कार्यवाही की कठिनाइयां जिन्ना के सामने रक्खीं। फलतः विवश होकर उस इरादे का परित्याग करना पड़ा। काश्मीर भारत तथा पाकिस्तान में विवाद का विषय बन गया। लॉर्ड माउण्टबेटन ने बातचीत द्वारा समझौता कराने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु उसमें कोई सफलता न मिल सकी। उनके सुझाव पर काश्मीर का प्रश्न राष्ट्र संघ में ले जाया गया। यह आज भी राष्ट्र संघ के सामने ही पड़ा है, इसका कोई निराकरण अभी तक नहीं हो पाया है।

इस प्रकार हमने देखा कि कितनी महान् राजनीतिज्ञता, कुशलता तथा धैर्य के साथ उस सब से कठिन समस्या को सुलझाया गया जोकि रियासतों पर अंग्रेज़ों की सर्वोच्च सत्ता के समाप्त हो जाने से उत्पन्न हो गई थी, और देश के बलकानीकरण के बहुत ही गम्भीर तथा वास्तविक खतरे को टाला गया। भारत के सांविधानिक विकास के इतिहास में यह एक सुनहला अध्याय है। रियासतों के भारत संघ में मिल जाने से सारा देश एक राजनीतिक इकाई बन गया। किन्तु कुछ उतनी ही महत्त्वपूर्ण समस्यायें और रह गईं जिनका निराकरण अभी होना था। उन समस्याओं का कारण यह था कि रियासतों की संख्या इतनी बड़ी थी; उनमें आकार, जनसंख्या, आय इत्यादि की बड़ी ज़बर्दस्त विविधता थी और उन सब में न्यूनाधिक निरंकुश शासन था। यहां पर हम यह देखेंगे कि रियासत मंत्री होने के नाते सरदार वल्लभभाई पटेल ने इन समस्याओं को किस प्रकार सुलझाया।

विलय तथा एकीकरण (Merger and Integration) :— ब्रिटिश भारत द्वारा प्रकाशित एक स्मरण-पत्र में भारतीय रियासतों की संख्या ६०१ बतलाई गई थी। बटलर कमेटी के अनुसार यह संख्या ५६२ थी। सर वार्नर लीज़ ने अपनी पुस्तक 'नेटिव स्टेट्स ऑफ़ इण्डिया' में रियासतों की संख्या ६९३ बतलाई थी। रियासतों की न केवल संख्या इतनी बड़ी थी; उनमें जनसंख्या, आकार इत्यादि की भी बहुत विविधता थी। जहां एक ओर रियासत हैदराबाद थी जिसका क्षेत्रफल ८२७०० वर्ग मील था, जिसकी जनसंख्या एक करोड़ पैंसठ लाख से ऊपर थी, और जिसकी वार्षिक आय दस करोड़ के लगभग थी, वहाँ दूसरी ओर बिलबाड़ी थी जिसका क्षेत्रफल कुछ एकड़ था, जिसकी जनसंख्या एक सौ से भी कम थी, और जिसकी वार्षिक आय एक सौ रुपये (युद्ध से पहिले)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लगभग थी। कोई ६०० रियासतों में से केवल तीन का क्षेत्रफल पचास हज़ार वर्ग मील से ऊपर था, और केवल चार का क्षेत्रफल दस हज़ार और बीस हज़ार वर्ग मील के बीच में था। १६८ रियासतों का क्षेत्रफल १६८ वर्ग मील से कम था।

हैदराबाद, काश्मीर तथा मैसूर सरीखी बड़ी रियासतें तो स्वाधीन प्रशासकीय इकाइयों के रूप में क़ायम रह सकती थीं; किन्तु काठियावाड़, मध्य भारत तथा उड़ीसा की छोटी छोटी रियासतें भी इस स्थिति में रह सकती हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। काठियावाड़ में २८३ रियासतें थीं जिनमें से २७४ की आय का योग एक करोड़ ३५ लाख रुपये था। इस आय में से २७४ राजघरानों का पोषण तथा २७४ अलग अलग और अर्द्ध-स्वाधीन प्रशासन चलने थे। स्पष्टतः ही यह एक प्रमादपूर्ण कल्पना थी। 'यदि १७१ छोटी रियासतों की आय को जोड़ा जाय तो योग ६५०,००० और प्रत्येक रियासत का औसत ३८१३ रुपये आता है। इस क्षुद्र धनराशि में से एक राज्य का प्रशासन चलाने तथा अन्य आवश्यक कार्य करने की कल्पना की जाती है।' इस समस्या का निराकरण करने का केवल एक ही साधन था, और वह यह कि रियासतों को अपने पड़ौसी प्रान्तों में विलीन करके, या उन्हें मिलाकर बड़ी बड़ी इकाइयाँ बनाकर उनकी संख्या को घटाया जाता। स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार ये दोनों प्रक्रियायें अपनाई गईं, बहुत सी रियासतों को प्रान्तों में विलीन कर दिया गया और शेष को मिला कर संघ बना दिये गये। गुजरात की अधिकतर तथा दक्षिण की कुछ रियासतों को बम्बई में विलीन कर दिया गया, और मद्रास प्रेज़ीडेन्सी में स्थित रियासतों को मद्रास में मिला दिया गया। मध्य प्रान्त तथा उड़ीसा की रियासतों को अपने अपने प्रान्तों में विलीन कर दिया गया। काठियावाड़ की रियासतों को मिलाकर सौराष्ट्र संघ बनाया गया; पंजाब की रियासतों को 'पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ' (Pepsu) में संगठित कर दिया गया; शिमला पहाड़ी रियासतों को मिलाकर हिमाचल प्रदेश बना दिया गया; इन्दौर, ग्वालियर तथा अन्य मालवा रियासतों से मध्य भारत बना; और बुन्देलखण्ड की रियासतों ने मिलाकर विन्ध्य प्रदेश का रूप धारण कर लिया। भोपाल, त्रिपुरा, तथा अन्य कुछ रियासतों, जिनको कि अन्य राज्यों के साथ न तो विलीन किया जा सका और न एकीकृत, को केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र बना दिया गया और उन्हें संविधान की प्रथम अनुसूचि (Schedule) के भाग 'ग' (C) में रख दिया गया। विलय तथा एकीकरण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप रियासतों की संख्या केवल १५ रह गई। लगभग ६०० की संख्या को केवल १५ कर देना एक महान् कारनामा था।

यह विलय और एकीकरण किस प्रकार हुआ, इस सब का सविस्तार वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं; जो लोग इस प्रक्रिया का विस्तृत अध्ययन करना चाहें उन्हें मेनन के ग्रन्थ 'दी इन्टीग्रेशन ऑफ़ दी इण्डियन स्टेट्स' का अध्ययन करना चाहिये। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व भी देश में यह एक सबल धारणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाई जाती थी कि छोटे छोटे राज्यों का इतनी बड़ी संख्या में होना राजनीतिक रूप से अवांछनीय और आर्थिक रूप से अव्यावहारिक है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड लिनलिथगो के विचारों का उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। १९३९ में लुधियाना अधिवेशन में रियासत प्रजामण्डल ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा इस बात की सिफारिश की थी कि छोटी छोटी रियासतों को अपने निकटस्थ ब्रिटिश प्रान्तों में विलीन हो जाना चाहिये और शेष को मिलकर बड़ी बड़ी प्रशासकीय इकाइयां बना लेनी चाहियें। १९४६ तथा ४७ के अधिवेशनों में इस प्रस्ताव की पुनः पुष्टि की गई। इस प्रस्ताव को केवल ब्रिटिश सरकार ही क्रियान्वित करा सकती थी, किन्तु वह तो रियासतों को भारतीय राजनीति की शतरंज पर अपने मोहरों के रूप में प्रयोग करना चाहती थी, उनके शासन में सुधार करने में उसकी कोई दिलचस्पी न थी। परन्तु लॉर्ड वेवल ने, क्राउन का प्रतिनिधि होने के नाते, विलय की एक योजना रक्खी जिसके अनुसार छोटी छोटी रियासतों को ऐसी बड़ी रियासतों में विलीन कर दिया जाता जिनके साथ कि उनका भौगोलिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संसर्ग होता। इस योजना का प्रभाव काठियावाड़ में ७००० वर्ग मील के क्षेत्र तथा आठ लाख से ऊपर जनसंख्या पर पड़ता। इस सम्बन्ध में सरकार ने जो विज्ञप्ति जारी की उसमें से निम्नलिखित अवतरण उद्धृत करने योग्य हैं:—

"*क्राउन प्रतिनिधि* बहुत दिन से और बड़ी गम्भीरता के साथ उन जटिल समस्याओं पर विचार कर रहे हैं जोकि सैंकड़ों छोटी छोटी इकाइयों के होने से उत्पन्न हो गई हैं। ..... उनके अलग अलग साधनों की क्षुद्रता और परस्पर सहयोग के अभाव के कारण भौगोलिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक रूप से इतने बड़े स्तर पर खण्ड खण्ड हो गये हैं जैसा कि देश में अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। इन अधिकतर इकाइयों में राज्य की आय इतनी थोड़ी है कि उससे ताल्लुकेदारों और हिस्सेदारों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति भी कठिनाई से ही हो पाती है, और इसलिये जनता की भलाई के लिए जो कुछ किया जाता है वह प्रायः नगण्य है। ..... सर्वेक्षण से यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुकी है कि वर्तमान व्यवस्था को आमूलचूल रूप से सरल बनाये बिना कोई वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती।"

लॉर्ड वेवल की योजना को काठियावाड़ की रियासतों के न तो शासकों ने पसन्द किया और न प्रजा ने। इसलिये इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका। जिस कार्य को ब्रिटिश सरकार सम्पन्न न कर सकी उसे सरदार पटेल ने कर दिखाया। उनकी गांधीवादी नीति को कांग्रेस, रियासतों की प्रजा तथा शासकों, सबका समर्थन प्राप्त हो गया। प्रजा उनको अपना सच्चा मित्र और हितैषी समझती थी; नरेशों को भी उनमें विश्वास था क्योंकि वे जानते थे कि गांधी जी का एक अनुयायी होने के कारण सरदार पटेल उनके साथ अन्याय नहीं करेंगे और उनके उचित अधिकारों की रक्षा करेंगे। सरदार ने उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ की रियासतों (जहां की विलय कि प्रक्रिया सबसे पहिले आरंभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई थी) के शासकों से स्पष्टरूप से कहा कि उनकी सुरक्षा का एकमात्र उपाय उनका अपनी प्रजा का कल्याण करना है। किन्तु अपने सीमित साधनों से वे इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते थे। शासकों तथा प्रजाजन, दोनों की सुरक्षा इसी में है कि उनकी रियासतें उड़ीसा में विलीन हो जायें। यदि शासकगण विलय के लिए तय्यार हो जायें तो उनकी सम्पत्ति, प्रासादों तथा व्यक्तिगत विशेषाधिकारों को सुरक्षित रक्खा जायेगा और उन्हें 'प्रिवी पर्स' (Privy Purse) भी मिलेगी। शासकों ने अनुभव किया कि उनका अस्तित्व जनता तथा भारत सरकार की सद्भावना पर निर्भर करता है, जोकि उन्हें प्राप्त नहीं थी, और यदि जन आन्दोलन के कारण भारत सरकार ने उनकी रियासतों को अपने हाथों में ले लिया तो उनको अपनी 'प्रिवी पर्स' भी न मिलेंगी। इसलिये उन्होंने ने बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक सरदार पटेल की सलाह को मान लिया। विलय के फलस्वरूप 'पूर्व राज्य संघ' विघटित कर दिया गया। शासकों की प्रशंसा करते हुए सरदार पटेल ने कहा: "त्याग का प्रदर्शन करके राजागण सदैव के लिये अपनी जनता की श्रद्धा तथा भक्ति के पात्र बन गये हैं।" गांधी जी को भी यह विलय की नीति पसन्द आई; उन्होंने इसे स्वयं शासकों के लिये हितकर बताया।

किन्तु विलय की नीति राजाओं को अच्छी नहीं लग सकती थी। जोधपुर, भोपाल, बीकानेर तथा अन्य रियासतों के शासकों ने इस प्रश्न को लॉर्ड माउण्टबेटन के सामने उठाया। माउण्टबेटन ने उड़ीसा के राज्यों के विलय का समर्थन किया, किन्तु उन्हें यह विश्वास दिलाया कि उसे बड़ी रियासतों पर लागू नहीं किया जायेगा। इसके बाद काठियावाड़ की रियासतों की समस्या को सुलझाया गया और उन्हें मिलाकर सौराष्ट्र संघ बना दिया गया। यह प्रक्रिया तब तक चलती रही जब तक कि छोटी छोटी तथा मध्याकार रियासतों को उनसे मिले हुए प्रान्तों में मिलाकर, अथवा वृहत्तर प्रशासकीय इकाइयां बनाकर, रियासतों की कुल संख्या को घटाते घटाते १५ न कर दिया गया।

रियासतों का लोकतन्त्रीकरण :— भारत सरकार के सम्मुख दूसरी बड़ी समस्या थी रियासतों के शासन को लोकतन्त्री बनाने की। ब्रिटिश काल में, छोटी बड़ी, प्रत्येक रियासत में राजतंत्री शासन था। जब ब्रिटिश भारत में स्वराज के लिये युद्ध चल रहा था तो रियासतों की जनता भी उत्तरदायी शासन के लिये आन्दोलन करने लगी। १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् उसकी यह इच्छा और भी तीव्र हो उठी और उड़ीसा की छोटी छोटी रियासतों में गम्भीर अव्यवस्था फैल गई। जब उनके शासक गण अपने अपने राज्यों में शांति तथा व्यवस्था क़ायम न रख सके तो भारत सरकार ने हस्तक्षेप किया और उन पर उड़ीसा में विलीन हो जाने के लिए ज़ोर दिया। एक वक्तव्य में सरदार पटेल ने कहा: "मैं अनुभव करता हूँ कि इस महत्त्वपूर्ण घटना के महत्त्व को भली भाँति समझने के लिए समझौते की पृष्ठभूमि तथा मूलभूत नीति का समझना आवश्यक है। प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण, जो कि बहुत दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कांग्रेस की नीति की आधारशिला रहा है, १५ अगस्त से अत्यन्त आवश्यक हो उठा है। बहुत से राजाओं ने तो समय की इस मांग को समझ भी लिया है और उस के अनुसार धीरे धीरे आचरण करना आरम्भ कर दिया है। कुछ राज्यों में प्रगति धीरे धीरे हुई है, कुछ में द्रुतगति से हुई है, परन्तु हर कहीं यह निश्चित रूप से हुइ है।" उन्हों ने राजाओं को चेतावनी दी कि तुम्हारा भविष्य अपनी जनता और देश की सेवा करने में है, अपनी निरंकुशता का दावा करने में नहीं।

हमें राजाओं को इस बात का श्रेय देना पड़ेगा कि उन्हों ने समय की पुकार को सुना और स्वेच्छा से शासन सत्ता अपनी जनता को समर्पित कर दी। यह एक महान् त्याग था जिस के लिये देश सदैव उन के प्रति कृतज्ञ रहेगा। उत्तरदायी शासन स्थापित करने के दृष्टिकोण से ही उन मध्याकार रियासतों को, जिन्हें कि प्रान्तों में विलीन नहीं किया जा सकता था, बड़ी इकाइयों के साथ एकीकृत कर दिया गया। एकीकरण ने निरकुंश शासन के स्थान पर लोकप्रिय सरकार की स्थापना में सहायता दी। इस प्रकार भारतीय राज्यों में एक रक्तहीन क्रांति हो गई।

अपनी पुस्तक 'दी इण्डियन रिवोलूशन' (The Indian Revolution) में चाणक्य यह प्रश्न उठाता है: 'प्राचीन परम्पराओं तथा प्रथाओं के शिकंजे में जकड़े हुए एक देश में यह विलक्षण, ऐतिहासिक किन्तु रक्तहीन क्रांति किस प्रकार हो गई? जो शासक अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये इतनी वीरता के साथ मुग़लों के विरुद्ध लड़े थे, उन की सन्तान ने और उन मराठों, जो कि अपनी संप्रभुता के लिए अंग्रेज़ों से जूझे थे, के प्रतिनिधियों ने स्वेच्छापूर्वक किस प्रकार अपने राज्यों का परित्याग कर दिया?'

इस प्रश्न का उत्तर चाणक्य यह देता है कि पश्चिमी शिक्षा के प्रसार, भारतीय राष्ट्रवाद की भावना के विकास, आर्थिक जीवन के एकीकरण, राजनीतिक दलों के विकास, इत्यादि बातों ने भारत के अन्दर स्वतन्त्र राज्यों की धारणा को एकदम समय के प्रतिकूल तथा अमान्य बना दिया था। भारतीय नरेशों को सत्तारूढ़ रखने में मुख्य हाथ ब्रिटिश सरकार का था जो कि उन की प्रजा द्वारा विद्रोह करने की दशा में सदैव राजाओं की सहायता करती थी। यदि उन की सत्ता जनता की स्वतः भक्ति तथा सहायता पर आधारित होती, जैसा कि वह पहिले होती थी, तो राजाओं का अपनी सत्ता का समर्पण करने का यह दृश्य देखने में न आता। 'वास्तविक बात यह थी कि रियासतों की राजतन्त्री प्रणाली अपनी स्वयं की आन्तरिक शक्ति खो बैठी थी; स्वयं राजाओं की शक्ति दूसरों पर निर्भर करने लगी थी; उन का शासन ब्रिटिश सरकार की प्रतिछाया मात्र था और उन की संप्रभुता भारतीय राजतन्त्र के फटे पुराने परिधान से सुसज्जित होते हुए भी, अंतिम रूप से ब्रिटिश संगीनों के सहारे पर खड़ी थी।' भारतीय राष्ट्रवाद ने रियासतों में राजतंत्री भवन की बुनियादों को खोखला कर दिया था; अपने विरुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्तियों के पहिले ही धक्के से वह गिर पड़ा। किन्तु इस के कारण उस उदारता तथा राष्ट्रभक्ति की महत्ता कम नहीं हो जाती जिस का प्रदर्शन अधिकतर नरेशों ने किया। एकीकरण तथा जनतंत्रीकरण की नीति को क्रियान्वित करने में भारतीय राजाओं ने जो सहयोग दिया उस के लिये सरदार पटेल ने उन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की।

बिना बल का प्रयोग किये ही (हैदराबाद इसका अपवाद है) रियासतों का भारतीय संघ के साथ एकीकरण तथा उन का जनतंत्रीकरण सरदार वल्लभभाई पटेल का सब से महान् और विख्यात कारनामा है। यह गांधीवादी राजनीति की विजय है जिस के ऊपर हम गर्व कर सकते हैं। हमारे इस प्राचीन देश के इतिहास में यह घटना अमर रहेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

Bibliography

G. N. SINGH : *Landmarks in Indian Constitutional and National Development.*

PUNNIAH : *The Constitutional History of India.*

DR. ZACHARIAS : *Renascent India.*

COUPLAND : *India: A Restatement.*

C. Y. CHINTAMANI : *India Since Mutiny.*

JAWAHAR LAL NEHRU : *Autobiography.*
Discovery of India.

9076

DR. A. B. KEITH : *A Constitutional History of India.*

The Cambridge History of India, Vols. V and VI, and the additional volume by Dr. R. R. Sethi.

C. L. ANAND : *The Government of India.*

S. R. SHARMA : *Indian Constitutional History.*

COWELL : *Lectures.*

ASOKA MEHTA : *The Communal Triangle in India.*

AMIYA CHATTERJI : *The Constitutional Development of India: 1937–1947.*

पं० आचार्य प्रियव्रत वेद
वाचस्पति
स्मृति संग्रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY
Sign. Date
Checked
Bhawna 1.11.03
Any other
Checked

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Arya Samaj Foundation Chennai a

आर्यविवाह विज्ञान

ic Domain. Gurukul Kangri Collec